



प० मोहनवल्लभ पत ग्रंथ-माला—द्वितीय पुष्प

# भारतीय भाषाविज्ञान की भूमिका

संपादक

डॉ० भोलानाथ तिवारी

डॉ० माणिकलाल चतुर्वेदी

डॉ० भगतसिंह

प० मोहनवल्लभ पत स्मारक समिति के निमित्त

नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दरियागंज, दिल्ली

प्रकाशक

प० मोहन बल्लभ पत स्मारक समिति क निमित्त  
नशनल पब्लिशिंग हाउस दरियागज,  
दिल्ली ६

© प० मोहन बल्लभ पत स्मारक समिति

प्रथम संस्करण १९७२ ई० ।

मूल्य बत्तीस रुपए

मुद्रक

अमर प्रिंटिंग प्रेस,  
८/२५ विजय नगर,  
दिल्ली-६ ।

## स्वर्गीय आचार्य मोहनवल्लभ पंत

डाक्टर प्रेमनकर (हिंदी विभाग सागर विश्वविद्यालय) ने १० अक्टूबर को डरते डरते मुझे बताया कि आचार्य मोहनवल्लभ पंत के विषय में मैंने कुछ समाचार सुना है। मैंने कहा, वे अश्वस्थ हैं और आनुरालय में भरती हैं। उनका ४ अक्टूबर का पत्र मेरे पास है। उन्होंने बताया कि 'नाम्न इंडियन पत्रिका' में तो कुछ दूसरा ही समाचार छपा है। मैंने कहा कि मो क्या? उन्होंने कहा कि वे अब नहीं रहे। मुझे विश्वास नहीं हुआ। मैंने पत्रिका भेजवायी और उसमें समाचार पढ़कर फिर पीट लिया। अभी तो वे कुछ समय पूर्व प्रायः थे, थोड़ी खासी थी अभी कोई समावना नहीं थी। हा हत! यह क्या हो गया! उनके कदम श्याम थे, उनमें युवक की स्फूर्ति थी। उन्होंने अभी जीवन से नैराश्य व्यक्त नहीं किया। मृत्यु ऐसे के निवृत्त भी इतनी शीघ्र आ सकती है यह प्रकृति का नियति का, दुर्भेद्य रहस्य है।

संप्रति वे लगनऊ विश्वविद्यालय के अतगत विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा नियोजित शोध में सलग्न थे। इसी से महानगर में अपने बड़े पुत्र एकजीवक्यूटिव इंजीनियर श्री नरेन्द्र पंत के पास रहते थे। द्वितीय पुत्र श्री उपेन्द्र पंत विक्रम विश्वविद्यालय के अतगत भागवत विश्वविद्यालय उज्जैन, में हिंदी के प्राध्यापक हैं। छोटे भाई प्रो० गोविन्दवल्लभ पंत हैं जो काशी विश्वविद्यालय के इंजीनियरिंग कालेज में गणित के प्राध्यापक थे अब रांची में मेमरा नामक स्थान में गिरला इस्टी-ट्यूट आफ टेक्नॉलाजी में प्रोफेसर हैं। पत्नी में महाविद्यालय पहले ही हो चुका है। इनके एक छोटे भाई जीवन पंत दिवंगत हो चुके हैं। दूसरे छोटे भाई नन्दन पंत हैं।

पंत जी का जन्म सन १९०४ में हुआ था। देहावसान के समय उनकी आयु ६२ वर्ष की थी। अध्ययन काशी में किया था। यहीं में अध्यापन कार्य भी आरम्भ किया हिंदू स्कूल में अध्यापक हुए। अन्त में वल्लभ विद्यापीठ (गुजरात) में विश्वविद्यालयीन हिंदी विभाग के अध्यक्ष और प्रोफेसर थे जहाँ स वे कार्यनिवृत्त हुए थे। लाला भगवानदीन जी के पिछ्वा में वे प्रमुख थे। सतीष्यता के नाते उनसे मेरा साथ बहुत समय तक और घनिष्ठ रहा।

वीसवीं शताब्दी के आरम्भ में लाला भगवानदीन जी की हिंदी साहित्य के अध्यापक के रूप में कभी ख्याति थी इसकी कल्पना आज नहीं की जा सकती। हिंदी साहित्य के अध्ययन के लिए उस समय कोई (डा०) श्यामसुन्दर (दास) का नाम नहीं लता था और (आचार्य) रामचन्द्र (गुल) को भी नहीं भजता था। केवल भगवान (दाँत) का नाम जपने ही सब आता था। काशी में ही नहीं, बाहर के भी वे छात्र जो हिंदी साहित्य का अध्ययन करना चाहते थे लालाजी के सम्पर्क में आते और उनसे चरणा में बैठने का अवसर दूना करते थे। ऐसे ही अध्ययनपुत्र छान श्री



मोहनवल्लभ पत जे, जो अलमोडे के मालोज स्थान से हिन्दी साहित्य का ज्ञान प्राप्त करने के लिए काशी पधारे थे और लालाजी के सम्पर्क में रहने लगे थे। उस समय लालाजी का 'हिन्दी-साहित्य विद्यालय' एक छात्रालय में मायकाल लगा करता था। वही सतीष्य के रूप में पत जी से साथ हुआ। लालाजी के सम्पर्क में अधिवाधिक रहने के विचार से वे गहर में ही एक स्थान पर डेरा चाहते थे। नीलकंठ मोहल्ले के एक गिवमदिर में मेरा अध्ययनकक्ष था। उसे मैंने वासयोग्य बनवा कर पतजी के हवाले कर दिया, जिसमें वे लगभग १५ वर्षों तक रहे। इस प्रकार पतजी से मेरा नवत्येक वर्ष मित्रो की अपेक्षा अधिक हो गया। लालाजी हिन्दी साहित्य की अधिकाधिक वाञ्छित सामग्री एकत्र कर देना चाहते थे। उस युग में प्राचीन ग्रंथों की टीकाओं और उनकी प्रालोचनाओं की माँग अधिक थी। इस वे प्रकृति सम्पन्न नहीं कर पा रहे थे। इसलिए उन्होंने अपने गिण्या का सहारा लिया। कहने की आवश्यकता नहीं कि लाला जी की सहायता जिन गिण्या ने की उसमें पत जी अग्रगण्य थे। रामचरितमानस की टीका का पाठ उन्होंने मुझे सौंपा और कवितावली की टीका का पाठ पतजी को। सन् १९८५ में कवितावली की टीका पूर्ण हो गयी। अब उसे प्रकाशित करने का प्रश्न सामने आया। उस समय क्रांतिकारी आन्दोलन में मेरे सहकर्मी और सतीष्य श्री वजरमबली गुप्त थे। उनके साथे मैं साहित्य सेवक कार्यालय की स्थापना की गयी और कवितावली की उक्त टीका हम दोनों के साथ ही इस प्रकाशन संस्थान से प्रकाशित हुई। उस युग के गुरु शिष्य कितने निश्चय और स्पष्टवादी होतें थे इसका नमूना लाता जी का कवितावली का वक्तव्य है। अन्त में मैं अपने प्रिय शिष्य मोहनवल्लभ पत का भक्तिपूर्ण आभार प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार करता हूँ जिसने इस टीका के लिखने में मेरे सेवक का काम करके सहायता पहुँचाई है। मैं उस पढ़ा देता था और वह देता था कि इस मरी गैली में ही टीका रूप में निरालाजी। वह लिख लाता और मैं उसे दसकर गुड़ कर देता था। वही काफी प्रेम में भेजी गयी और उसी के अनुसार यह प्रति छपी है। है गिण्या के प्रति यह स्पष्टवादिता मात्र के साहित्य में? है गुरु के प्रति पूर्ण भक्ति किसी में जसी पतजी में थी। लाता जी का कवितावली का टीका इतनी अच्छी कि उसकी १५ २० सहस्र प्रतियाँ छपी हैं। पाठ्यप्रदेश का हिन्दी साहित्य का जिज्ञासु ऐसा निकला कि लालाजी की गैली का सख्त बन गया। मात्र प्राचान हिन्दी-कविता हिन्दी अध्यापक प्राध्यापक के लिए जवाब हो रही है। नई वाक्यधारा के तो मनमाने रूप में माने जा रहे हैं और पुरानी कविता में तो सुमन और परम्परा सम्पन्न रूप हाना चाहिए। हिन्दी के प्राध्यापक के पास यह परम्परा वहाँ है। लालाजी के सम्पर्क के कारण यह परम्परा पतजी को प्राप्त थी। इसलिए प्राचीन काव्य में महार और चिन्तण में वे हिन्दी के अग्र प्राध्यापक में ऊपर थे। उनके गुरु काय में सन्तुष्ट होकर जाना की न दागदगी की टीका का पाठ भी उन्होंने। उसका भूमिका मैंने लिखा। लाता जी दागदगी की भूमिका के अन्त में लिखते हैं हम भारत प्रिय गिण्या माद्वन बनभ पत तथा चिन्तनाय प्रमाण मित्र का भक्तिपूर्ण

आभार सप्रेम स्वीकार करते हैं, बिनाइस इस टीका के लिखने में हमारे लेखक का काम किया है ।

लाला जी प्राचीन प्रसिद्ध कवियों की रचनाओं के संग्रह भी प्रकाशित कराना चाहते थे । 'केशवपंचरत्न' तथा 'तुलसीपंचरत्न' प्रकाशित हो चुके थे । अब सूर-पंचरत्न का काय कराना था । लाला जी ने यह काय पंत जी को सौंपा । गुरु के निर्देशानुसार उन्होंने संग्रह प्रस्तुत किया । मुझे भूमिका लिखने का काय दिया गया । भूमिका-लेखन में श्री पंत जी ने भी साथ दिया । कुछ अंश उन्होंने लिखे और कुछ दिये । लाला जी ने उनके काय से संपुष्ट होकर ग्रंथ के संपादकों में अपने नाम के साथ उनका नाम भी रखा और बदनव्य में लिखा इस संग्रह काय में हमें दो शिष्यो—मोहनवल्लभ पंत और विश्वनाथ प्रसाद मिश्र—स बहुत अधिक सहायता मिली है । इन दोनों शिष्यों को हमारे दोनों हाथों का दोनों नत्र ही समझना चाहिए अतः हम गुरु के नाते आशिष्य देते हैं कि कृष्ण भगवान् इन पर ऐसी कृपा करें कि संसार में उत्तम साहित्य सेवा करते हुए अमर कीर्ति और उच्च प्रतिष्ठा प्राप्त करें ।

हिन्दी के किसी गुरु ने अपने किसी शिष्यका ऐसा प्रमाणपत्र न दिया होगा । अद्वैतलाल लाला जी का कहा गया कम हाना । पंत जी ने हिन्दी में अमर कीर्ति और उच्च प्रतिष्ठा प्राप्त की ।

यहां यह कह देना अप्रासंगिक न होगा कि सूरसागर से चयन करके जितने भी संग्रह अब तक प्रकाशित हुए हैं, उनमें महत्त्वपूर्ण सरस पदा के चुनाव की दृष्टि से सूरपंचरत्न आज भी श्रेष्ठ है ।

सं० १६८२ में अयोध्याकल्पद्रुम (गास्वामी दीनदयाल गिरि कृत) सटीक प्रकाशित हुआ । इसमें टीकाकारों के नाम हैं—

राजा भगवान् दीन (दीन)

प० मोहनवल्लभ पंत (विशारद)

विशारद प० मोहनवल्लभ पंत ने जो काय उस समय सम्पन्न किया था उसे पी० एच० डी० और डी० लिट० भी आज करन में बगले भावते हैं । हिन्दी की पुरानी पद्धति की परम्परा संस्कृत परम्परा के समानांतर विकसित हो रही थी । उसमें पद पदाय का महत्त्व पहले था आलोचना और शोध का तदन्तर । पंत जी जब पारम्परिक विद्वान् के दिवंगत होने से यह परम्परा समाप्तप्राय हो गयी ।

सन् १९३० में लाला जी का देहावसान हो गया । उस परम्परा को जीवित रखने का संकल्प लाला जी के पाद शिष्या ने लिया—सबश्री मोहनवल्लभ पंत रमादात चौबे श्री देवाचार्य वजरगवली गुप्त और विश्वनाथ प्रसाद मिश्र । लाला जी न बोरकवि भूपण के नाम से प्रचलित शिवादावनी का संपादन कर उसे हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, से प्रकाशित करवाया था । उनकी इच्छा थी कि भूपण की पूरी प्रथावली का सम्पादन मेरी (लाला जी की) पद्धति से हो । केशवदास की कविप्रिया की टीका के अन्त में नुकस और रसिकप्रिया की टीका कराना चाहते थे ।

वे यह भी चाहते थे कि ऐडमिशन (प्रवेशिका) और इंटर परीक्षा के लिए कोई ऐसी पुस्तक लिखी जाय जिसमें रस, ध्वनितार गुण दोष छंद सभी का विचार हो। उनकी इस आकांक्षा की पूर्ति के लिए उक्त पाचा व्यक्तिगता ने भूपण यथावली का वाद्य करना आरम्भ किया। रसिकप्रिया की टीका में पत जी और मैं लगा। रस ध्वनितार का ग्रंथ मेर और पत जी के सहयोग से 'कायाय-कौमुदी' के नाम से सम्पादित हुआ। मुख्यतः कायाय कौमुदी के पहले और दूसरे भागों में उनके सहयोग का उपयोग किया गया है।

पत जी ने काशी में रहते बी० ए० बी० टी० एम० ए० की परीक्षाओं में विनतापूर्वक उनीलता प्राप्त की। यहां के हिंदू स्कूल में वे अध्यापक हो गये। फिर बाहर चल गये और बाहर ही बाहर रहे। वे राजस्थान में रहे और अंत में वल्लभ विद्यापीठ में प्रोफेसर और हिंदी विभागाध्यक्ष हुए। उस बीच उन्होंने कम लिखा। पर जो लिखा वह उनके बहुष्य का उत्कल आदर्श है। उनकी रस की विवेचना बड़ी ही मार्मिक है। उनके जना मुनेत प० रामचंद्र शुक्ल का ही मैंने देखा था। मोनी की भाँति अंतर होन थे। छप्पे से भी कहीं अधिक सफाई उनके लक्ष में रहती थी। भाषा हृदय पर छा जान वाली होनी थी। गीत जगमगी पर अभी वे पिछले दिना काशी पधारे थे। उन्हा भाषण दृश्यस्पर्शकारी था। अभी कुछ ही दिन पूर्व कलकत्ते में बाणभट्ट पर उनका घण लगानार विद्वत्तापूर्ण भाषण हुआ था। लोग मंत्रमुग्ध हो मुनते रह गये थे। कौन जानता था कि यह अमन गिरा मुनते को फिर न मिलगी। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की योजना के रूप में वे बिहारी सतसई पर काय कर रहथ जा अधूरा ही रह गया।

पत जी सिद्धान्तवादी व व्यवहारवादी नहीं। हिन्दी के अधिकतर साहित्यिका में सिद्धान्तवाद के प्रति आस्था नहीं है। महासरस्वती के क्षेत्र में महादुर्गा या महा वाली का पठन करते करात रहने हैं। भीतर और बाहर से एकता कम ही दिखाई देत हैं। पत जी मिश्री के डले की भाँति सबन एक स थे। इन्हीं से सिद्धान्त का परिष्कार करन जाना से उनकी कभी नहीं पटी। वे परम आचारनिष्ठ व्यक्ति थे। आहार अयहार सब में। सनातनी शिक्षाधारा मानती है कि समार जो ससरण करता जाता है उसमें उस विनाश से बचाने बाल उस ही मज्जा महाजन होते हैं। प्राचीन हिन्दी साहित्य परम्परा की एक ऐसी कड़ी टूट गयी है जिससे समस्त दूसरी वन मिलती, तहा नला जा सता। व्यवहारशास्त्र जना जना कानी जा रही है सिद्धान्तशास्त्रों की कभी हानि ना रही है। भगवान् भी उन्हें मत्पुत्रों में नहीं रगता च हन व। समनवाज में उन्हा जलना चाहत थे। कथमा जानन जानते और सार निस्तरन करत सहाता पा नी या न उठ गत। श्री हरि गरलम।

## भूमिका

अनेक ग्रन्थ परंपराओं की भाँति ही, भारत में, भाषा के क्षेत्र में भी चिंतन मनन और विश्लेषण की परंपरा अत्यंत प्राचीन काल से मिलती है। पश्चिम के भाषाशास्त्रियों ने इस बात को एक स्वर से स्वीकारा है कि भारत के बाहर की यूनानी आदि संस्कृतियाँ भाषा चिंतन और भाषा विश्लेषण के क्षेत्र में अभी प्रायः कबहूँ से आगे भी नहीं बढ़ पाई थी, कि भारत विश्व को पाणिनि जमा भाषा शास्त्री दे चुका था। ये पाणिनि वही थे जिनके व्याकरण के बारे में आधुनिक भाषा विज्ञान के पिता बहलान बाल क्रूमफील्ड कहते हैं *This Grammar is one of the greatest monuments of human intelligence*

वस्तुतः भारत में प्राप्त प्राचीनतम वाङ्मय—वैदिक वाङ्मय—अनेक ग्रन्थ दृष्टियों से संपन्नता के साथ साथ भाषा चिंतन की दृष्टि से भी कम सम्पन्न नहीं है। इस संपन्नता का इससे बड़ा प्रमाण क्या हो सकता है कि अकेले ऋग्वेद में डॉ. सौ से अधिक ऋषियों के नाम भाषा चिंतक के रूप में मिलते हैं। वैदिक वाङ्मय में भाषा के प्रायः सभी पक्षों पर चिंतन की परंपरा के आरंभिक सूत्र न्यूनाधिक रूप में मिलने लगते हैं। ध्वनि के क्षेत्र में चिंतन सहिताम्ना में ता विशेष नहीं है किंतु ब्राह्मणों (जैसे ऐतरेय) तथा आरण्यकों (जैसे ऐतरेय) में उसका अपेक्षाकृत विस्तृत रूप मिलता है। भारतीय ध्वनिशास्त्रियों में प्रथम महत्वपूर्ण नाम औपमन्यवका है। ऋग्वैदिकशास्त्रकार शौनक, शुक्लमजुर्वेदशास्त्रकार कात्यायन (ये वाक्कार सभिन हैं), प्राचीन शिक्षाकार तथा प्रातिशास्त्रकार, पतञ्जलि परवर्ती शिक्षाकार तथा प्रातिशास्त्रकारों में हाते ध्वनि अध्ययन की यह परंपरा आगे बढ़ी है। व्याकरण की परंपरा कदाचित् और भी प्राचीन होगी। इसकी विकास यात्रा के मुख्य स्तम्भ हैं शाकल्य शाकटायन, गार्ग्य पाणिनि, व्याडि वाक्कार कात्यायन, पतञ्जलि वाक्कार वामन तथा जमादित्य, यासकार जिनद्रबुद्धि पदमजरीकार हरदत्त मिश्र तथा सिद्धान्त-कौमुदी प्रणेता भट्टोजि दीक्षित। इस प्रसंग में यह भी उल्लेख्य है कि जिस प्रकार आज भाषा विश्लेषण के विभिन्न स्कूल हैं ठीक उसी प्रकार प्राचीन भारत में भी व्याकरण के कई संप्रदाय थे, जिनमें मुख्य ऐंद्र, चांद्र, जनेंद्र शाकटायन, हेमचंद्र, कातत्र, सारस्वत, वोपदव आदि हैं। इतने संप्रदायों का विकास भी हमारी व्याकरण-परंपरा की आदृतता का ही परिचायक है। इन पाणिनीय संप्रदायों के व्याकरणों में हेमचंद्र ही सर्वोपरि है। ग्रन्थ भाषा की आत्मा है। हमारा यहाँ इस दिशा में चिंतन का आरंभिक रूप व्युत्पत्ति चिंतन में मिलता है। अकेले ऋग्वेद में लगभग दोन सौ शब्दों की व्युत्पत्तियों के सङ्केत मिलते हैं। इसमें ३० से अधिक

श्रुतियों के नाम 'युपति चित्त' के रूप में आए हैं जिनमें उच्चय्य शृंगमद दीपतमम मुख्य हैं। प्रायः निरुक्त-शास्त्री शाकटायन, निघटु शास्त्री शाकपूणि तथा निघटु और निरुक्तकार यास्क ने हाते अथ चित्तन की यह परंपरा प्राचीन भारतीय साहित्य में मुख्यतः सात दिग्भाषा में पनपी (१) बृहद्देवताकार गौतम व्याडि, कात्यायन पतञ्जलि काणिकाकार कौंडभट्ट नागार्णवादि व्याकरणों में (२) षोडशकारा में, (३) नैयायिका (मुख्यतः नव्य वाय) में (४) मीमांसका में (५) बौद्ध दर्शन में, जैन दर्शन में तथा (६) काव्य शास्त्रियों में। भाषा विज्ञान की विज्ञान में भी विश्व का प्राचीनतम चित्तन श्रुतवेद संहिता में ही मिलता है। इस दृष्टि से हमारे प्राचीन भाषाविदों गौतम, सध्वि उच्चय्य तथा शृंगमद आदि हैं। यह परंपरा औदुम्बरायण, व्याडि वार्तिककार कात्यायन पतञ्जलि, भट्ट हरि कौंडभट्ट तथा नागेश भट्ट में प्रायः बढ़ी है।

पालि तथा प्राकृत में भाषा चित्तन में कोई उल्लेख्य प्रगति नहीं हुई।

दक्षिण भारत में भाषा विद्वेषण की समृद्ध परंपरा रही है और उसका सबसे प्रमुख रत्न तमिः व्याकरण तोलकाप्पियम् है। इस दक्षिणी परंपरा पर उत्तरी चित्तन और पठति का प्रभाव तो है किंतु उसकी अपनी मौलिकताएँ भी हैं।

आधुनिक काल में यूरोप और अमेरिका में सपत्त के बाद भारत में इस क्षेत्र में ठोस कार्य का प्रारम्भ हुआ। आधुनिक भारतीय भाषाविदों पर प्रारम्भिक कार्य अंग्रेजी में हुए किंतु इधर विभिन्न भाषाओं—मुख्यतः हिन्दी, बंगाली मराठी गुजराती आदि—में भी कुछ अच्छे कार्य हुए हैं। हमारा यह नया चित्तन और कार्य अपनी परम्परा तथा पश्चिमी प्रभाव दोनों को लेकर प्रायः बढ़ रहा है और लगता है कि पाणिनि की भूमि पर पुनः इस दिशा में समुचित प्रगति हो सकेगी।

प्रस्तुत सग्रह भारतीय भाषाविज्ञान की भूमिका अत्यन्त समेप में यथार्थता के बिना कान से अब तक के भारतीय चित्तन और कार्य को एक स्थान पर रखने का एक प्रारम्भिक प्रयास है। अनेक मित्र सावधानी बरके भी लेख नहीं भेज पाए अथवा यह सग्रह कलाचिन्मय भारतीय भाषा चित्तन का अधिक सफल प्रतिनिधित्व कर पाता।

वर्तक बाह्यमय में भाषा चित्तन पर अभी तक कार्य प्रायः नहीं के बराबर हुआ है अतः उस यथार्थता के अभाव में अधिक पृष्ठ देना आवश्यक समझा गया। मेरे ही अनुरोध पर मेरे मित्र श्री शिवनारायण शास्त्री ने नगमन एक वष के अत्यन्त परिश्रम के उपरान्त यह ग्रन्थ लिखकर भारतीय भाषा चित्तन के एक प्रकार से अधकाल को प्रकाश में लाने का मूल्य प्रयास किया है। शास्त्री जी का यह कार्य—जसा कि स्वाभाविक है—व्यक्तिपरक (subjective) अधिक है, क्योंकि एक तो भाषा चित्तन वर्तक श्रुतियों का प्रतिपाद नहीं है अतः सभी निष्कर्ष लेखक के अपने ऊहा के परिणाम हैं साथ ही यह इस दिशा में पहला प्रयास भी है फिर भी यह ग्रन्थ अच्छा बन पड़ा है। इस सग्रह की योजना जब से मन में उठी थी, इस काल पर लेख इसमें सम्मिलित करने की मेरे मन में उत्कट इच्छा थी। शास्त्री जी ने मेरे अनुरोध की रक्षा अनुभव की, जिसके लिए मैं हृदय से उनका कृतन हूँ। इसमें कोई सदेह नहीं कि

वदिक वाङ्मय में भाषा चिन्तन पर अभी और काम करने की पर्याप्त अपेक्षा और गुंजाइश है किन्तु मुझे सतोष है कि शास्त्री जी का यह काय भावी कार्यों के लिए निश्चय ही बहुत प्रोढ़ नींव साबित होगा। यो इस दिशा में कार्य करने की शास्त्री जी की भी एक विस्तृत योजना है।

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, डा० भरतसिंह उपाध्याय डा० कैलाशचन्द्र भाटिया डा० सत्यवाम वर्मा डा० राजेन्द्र शुक्ल डा० शांतिस्वरूप गुप्त, डा० प्रवनीन्द्रकुमार श्री रमणभुमागौ, डा० बी० कृष्णम्बामी अय्यंगार, डा० न० बी० गजगोपालन, डा० कपिलदेव द्विवेदी, श्री जियालाल कम्बोज, डा० महेन्द्र, डा० कृष्णभुमागौ गाम्भीरी डा० चमन लाल अग्रवाल, डा० एस० नारायण अय्यर श्री त्रिलोकीनाथ गूज श्री सुधागु चतुर्वेदी तथा डा० शशिप्रभा के सत्रिय सहयोग के बिना इस यज्ञ की पूर्ति असम्भव थी। सपादसंगण इन सभी के प्रति हृदय से आभारी हैं। विभिन्न कारणों से कुछ लोगों के लक्ष इस ग्रन्थ में सम्मिलित नहीं किए जा सके हैं। हम उनके प्रति क्षमाप्रार्थी हैं।

डा० माणिकलाल गार्ग्य चतुर्वेदी (मालारविष्णु), डा० अमर्तसिंह तथा इन पत्नियों का योग—य तीनों ही इस यज्ञ में प्रारम्भ से अन्त तक साथ रहे हैं और कदाचित् सभी सभी के प्रति आभारी हैं। फिर भी डा० चतुर्वेदी तथा डा० सिंह के प्रति ऋण प्रणमन का महयोग्य दान के लिए मैं अपना विदोष आभार व्यक्त किए बिना नहीं रह सकता।

हिंदी जगत् के ज्ञान मान विद्वान् श्री प मोहनवल्लभ पंत की स्मृति में 'पंडित मोहनवल्लभ पंत ग्रन्थ माला प्रकाशित करने की वृहद् योजना मोहन वल्लभ पंत स्मारक समिति ने बनाई है। आशा है भविष्य में भी इस माला के अंतर्गत इस प्रकार के आवश्यक ग्रन्थों का प्रकाशन हुमा रहेगा।

मोक्षानाथ तिवारी

ई ४/२३ भाटल टाउन दिल्ली ८

पहली मई १९७२

## विषय सूची

- भूमिना—डा० भोलानाथ तिवारी ई ४/२३ माइन टाउन दिल्ली ६ ग ४
- १ ऋग्वेद सहिता म भाषा दशन—श्री शिवनारायण शास्त्री ई० ४/२५  
मॉडल टाउन, दिल्ली ६। १
- २ ऋग्वेद सहिता मे व्युत्पत्ति चिन्तन—श्री शिवनारायण शास्त्री २४
- ३ ऋग्वेदतर बविक वाडमय मे व्युत्पत्ति चिन्तन—श्री शिवनारायण शास्त्री ११८
- ४ निघण्टु और उसका भाषा चिन्तन मे योगदान—श्री शिवनारायण शास्त्री १५६
- ५ निरुक्त और उसका भाषा चिन्तन मे योगदान—श्री शिवनारायण शास्त्री १७३
- ६ गिन्ता ग्रन्थ—डा० भोलानाथ तिवारी २१६
- ७ प्रानिशास्त्र—डा० भोलानाथ तिवारी तथा श्री शिवनारायण शास्त्री २२१
- ८ महान् भाषाविद् शास्त्राचार्य—डा० सत्यकाम वर्मा संस्कृत विभाग  
स्नातकोत्तर माध्यम सस्थान, दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली २२८
- ९ महान् वाक्यशास्त्री श्रीदुम्बरदास—डा० सत्यकाम वर्मा २३६
- १० पाणिनीय व्याकरण पद्धति—डा० न० बी० राजगोपालन कन्द्रीय  
हिंदी सस्थान आगरा २४०
- ११ व्याडि और सग्रह—डा० राजेन्द्र गुप्त संस्कृत विभाग हिन्दू कॉलेज, दिल्ली २५८
- १२ बार्निक्कार कात्यायन—डा० अश्वनीद्रकुमार संस्कृत विभाग  
स्नातकोत्तर माध्यम सस्थान, दिल्ली विश्वविद्यालय २६३
- १३ महाभाष्यकार पतञ्जलि—डा० अश्वनीद्रकुमार २७०
- १४ आचार्य भट्ट हरि द्वारा वाणी विभाग विवचन—डा० कपिलदेव द्विवेदी  
राजकीय महाविद्यालय पानपुर बाराणसी २७८
- १५ स्फाटवाचन भा भाषा दशन—डा० भाणिकलाल गोविंद चतुर्वेदी राष्ट्रीय  
गिन्ता सस्थान नई दिल्ली २८६
- १६ प्राचीन भारत मे ग्रन्थ विचार—श्री जियानान काम्बोज ई ४६ गुर  
नानक माग आगानगर, दिल्ली २९८
- १७ वाक्यपणीय वस्तुविषय और महत्व—श्री रमणकुमार नौ, संस्कृत  
विभाग स च कालिज भुवनेश्वरनगर उ प्र ३२७
- १८ वाक्यशास्त्र म भाषा चिन्तन एक सर्वेक्षण—डा० सत्यदेव चौधरी हिन्दी  
विभाग स्नातकोत्तर माध्यम सस्थान दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली ३३४
- १९ पालि व्याकरण तथा कोणा का परम्परा—डा० भरतसिंह उपाध्याय,  
हिन्दी विभाग हिन्दू कॉलेज दिल्ली ३४२

- २० प्राकृत व्याकरणों की परम्परा—डॉ० भोलानाथ तिवारी ३५६
- २१ अपभ्रंश के अध्ययन की प्राचीन सामग्री—डॉ० भगत सिंह १८७० लक्ष्मी  
बाई नगर दिल्ली ३६१
- २२ ह्रमचंद्र और उनका शब्दानुशासन—डा० कृष्णकुमार गोस्वामी, ८७ बी, ३६२  
ग्रोन्म लाइस, बिस्ज्जवे दिल्ली
- २३ हिंदी व्याकरण की परम्परा (१६१० तक)—डॉ० कैलाशचंद्र भाटिया  
प्रगतिशक्ति अकादमी, मसूरी ३६७
- २४ हिंदी भाषा विश्लेषण की परम्परा—डॉ० महेन्द्र, हिंदी विभाग, पी०  
जी० डी० ए० बी० कालिज नई दिल्ली ३८८
- परिशिष्ट एक—डा० शशि प्रभा १०ए/३४, शक्तिनगर, दिल्ली ४०५
- परिशिष्ट दो—डॉ० महेन्द्र, पी० जी० डी० ए० बी० कालिज, दिल्ली ४०७
- २५ मराठी व्याकरण का संक्षिप्त इतिहास—डॉ० शांतिस्वरूप गुप्त,  
स्नातकोत्तर साय सस्थान दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली ४१०
- २६ पंजाबी भाषा एवं व्याकरण की परम्परा—डॉ० चमनलाल अग्रवाल  
हिंदी विभाग पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीचढ़ ४१८
- २७ पंजाबी व्याकरण तथा कोशों की परम्परा—निलाकीनाथ गहू हिंदी  
विभाग पंजाबी विश्वविद्यालय श्रीनगर ४२४
- २८ तोलकाप्पियस—डॉ० एम० नारायण धर्मराम रामलाल आनंद कालिज  
नई दिल्ली ४२६
- २९ तेलुगु भाषा के व्याकरण—डा० न० बी० रानगोपालन ४३२
- ३० मलयालम व्याकरण की परम्परा—मुधासु चतुर्वेदी हिंदी विभाग, श्री  
केरल वर्मा कालिज निचूर ४३६
- ३१ पंजाब के प्राचीन व्याकरण एक टिप्पणी—डॉ० बी० कृष्णस्वामी  
अय्यंगर केन्द्रीय हिंदी संस्थान, आगरा (के एक लेख के आधार पर  
डा० भोलानाथ तिवारी द्वारा प्रस्तुत) । ४४३
- ३२ प्रायः भारतीय भाषाओं की कुछ मुख्य वृत्तियों की संक्षिप्त सूची—  
डा० भगतसिंह ४४४
- ३३ भारतीय भाषावर्णानि शब्दावली की परम्परा—डॉ० शशिप्रभा ४४८
- ३४ भारत और भाषाविज्ञान—एम० बी० एम्मेयू (के एक भाषण का डॉ०  
माणिकलाल भाविंद चतुर्वेदी द्वारा प्रस्तुत मुक्त रूपांतर) । ४५५



से कम वाच्य में निष्पन्न है<sup>१</sup>। यह बोली जाने के कारण 'भाषा' का पर्याय है। अतः 'वाक' शब्द है। 'गिर' स्तुति करना' अथवा 'वाली' ✓ग (पाणिनि) ✓ग से करण म और 'बोलना' अथवा म कम वाच्य में निष्पन्न है<sup>२</sup>। एवं 'व' का पर्याय है। 'अध्या' शब्द 'न + ✓हन्' के योग से अर्थात् 'अध्य' प्रत्यय में निष्पन्न है और इसका अर्थ है अहंत्वया, अर्थात् अनन्तर। कनिष्ठ बार' प्रयुक्त अन्तर' शब्द इसी आशय को दूसरे 'अध्य' में प्रस्तुत करता है। 'अध्या' शब्द 'अध्य' भाषा में गाय के लिये भी प्रसिद्ध रहा है<sup>३</sup>। 'वाक' की उत्पत्ति अथवा शब्द को देने वाली गाय के रूप में की गई है<sup>४</sup>। अतः 'अध्या' शब्द 'वाक' के सन्दर्भ में एक द्वार जहाँ 'वाक' की निष्पत्ति को प्रकट करता है वही दूसरी ओर यह इस रूप में उत्पत्ति के माध्यम से 'वाक' के महत्त्व के बारे में ऋषियों की दृष्टि को भी प्रस्तुत करता है। 'गो' शब्द 'वाक' के लिये इसी दृष्टि से प्रयुक्त हुआ है। न केवल 'गो' ही, अपितु इसका पर्याय 'धेनु' शब्द भी 'वाक' के लिये इसी दृष्टि से प्रयुक्त किया गया है। 'धेनु' से मिलता जुलता 'धेना' शब्द तो 'वाक' के लिये बड़ा ही हो गया था<sup>५</sup>। 'सूनता' शब्द 'वाक' के सत्य हित और प्रिय रूप को दृष्टि में रख कर प्रयुक्त हुआ है। 'वाणी' शब्द भाष्यकारों के अनुसार स्तुति के अतिरिक्त 'छन्दो' अथवा 'छन्दो' बद्ध वाक्य के लिये भी प्रयुक्त हुआ है अतः यह 'वाक' का सामान्याधिक पर्याय नहीं है। स्यात् यह शब्द 'सम्भजन' अथवा 'वाली' ✓वम् ने 'सम्भजनीय' अर्थात् 'अपनाने योग्य (प्रिय वाक्य)' अथवा म निष्पन्न है। छन्दो-बद्ध वाक्य हृदय हासिली होती ही है।

१ द्र ऋ १।६५।२ इध्य-वाचमुप वक्षतेव होतु। तुलना करें ऋ १।४०।६ तमिषु बोधेमा विदधेयु शम्भुव मन्त्र देवा अनेहसम्भु, इमां च वाच प्रति ह्यथा नरो । निरुक्त २।२३ वाक्य कस्मात्? वचः । निरुक्त के पाँच अध्याय पृष्ठ २४३ भी देखें।

२ करण म द्र ऋ १।६।६ गीभिर्गृणत ऋग्मिषम् । और वही ४।१०।४, ५।१।४, ५।१।६ ६।१।७ ४।१।३ ५।४।३, ५।४।१ ६।२।२। कम में द्र ऋ ५।७।३ ४।३।१० ६।४०।५। निरुक्त के पाँच अध्याय पृष्ठ १२० भी देखें।

३ द्र ऋ ७।१५।६ उप त्वा सातये नरो विप्रास्तो यति धीतिभिः । उपाश्रय सहसिणी । इस पर सायण भाष्य अ-श्रय=शय रहिता स्तुति-रूपाऽस्मदोपा वाकः । वङ्कन् माधव ने भी 'अश्रय' का अनुवाद 'वाक' किया है। ऋ ७।३६।७ मा न परि ह्यदशरा चरती । सायण भाष्य अश्रय=व्याप्ता, चरती वाग्य देवता च ।

४ द्र ऋ १।१६।२७ ४० निषण्डु २।१।१ निरुक्त १।४३ ।

५ द्र ऋ ५।१००।११ सा नो मद्रेवमूज दुहन्ता धेनुवागस्मानुप सुष्टु तनु । ऋ १।१६।२६ २८ और निरुक्त १।४२ तथा ४३ बागेया माध्यमिका ।

६ द्र निषण्डु १।१।३६ ।

२ ऋषियों की दृष्टि में भाषा का महत्त्व ऋग्वेद संहिता के ऋषि जीवन में भाषा के महत्त्व से सुपरिचित हैं। उन्होंने अपने मन्त्रों में भाषा का व्यावहारिक और दार्शनिक महत्त्व का ध्यान यत्र-तत्र किया है। उत्तमद ऋषि इन्द्र से श्रेष्ठ धनों की कामना करने समय वाणी के माधुर्य (स्वाध्वन्) की कामना की नहीं भुना पाये हैं<sup>१</sup>। यह वाक् का स्वाद बोनन और सुनने वाले को आनन्द की अनुभूति के रूप में ही हो सकता है। बहस्पति ब्राह्मिरस ऋषि का कथन है कि जैसे बुद्धिमान् लोग सत्त्व को छालनी में छान कर काम में लाते हैं, वैसे ही वे लोग वाक् को मन में छान कर सम्यक् विचार से उसे निर्दोष कर के बोलते हैं। वे पहले तोलते हैं, फिर बोलने हैं। ऐसी वाणी बोलने वाले के सब लोग मित्र होते हैं, तथा ऐसी वाणी पर जीवन में सफलता निहित है<sup>२</sup>। अगस्त्य भैरव वरुण ऋषि वाक् की ही रमणीय द्रव्या वाली (रत्निनी) मानते हैं<sup>३</sup>। ऋग्वेद संहिता का श्रेष्ठतम दार्शनिक ऋषि ममता पुत्र दीधत्तमस ऋचव्य के अनुसार वाणी (सरस्वती) मनुष्य सभी वस्त्रों के लिये माँ के समान है। उसका स्तन धर्मात् शब्द सुख की लान (मयो भू) है। उस से मनुष्य सब प्रकार के अभीष्ट (वार्याणि) पदार्थों की पुष्टि पाता है। वह (शब्द) उसे श्रेष्ठ पदार्थ देता है, उस धन सम्पत्ति प्राप्त कराता (वसु विद्) है। वास्तव में वह मनुष्य को क्या नहीं देता? वह श्रेष्ठ दाता (या श्रेष्ठ धन वाला, 'मु दत्त') है<sup>४</sup>। शश-वण काण्व वाक् को देवी मानते हैं और स्वयं को वाणी के साथ ही जागरित मानते हैं। यह वाक् मनुष्यों को मति और श्रेष्ठ वस्तु प्रदान करती है<sup>५</sup>। पदार्थों (नाम धेय दधाना) का जो गुण श्रेष्ठ और परिपूर्ण भाव होना है, बहस्पति ब्राह्मिरस उन वाक् से प्रकट होता मानते हैं<sup>६</sup>। दीधत्तमस का कथन है कि वाणी

१ इन्द्र अष्ठानि द्रविणानि धेहि धिर्ति दक्षस्य सु भगत्वमस्मे ।

पोय रयीणामरिष्टि तनूना, स्वाधान वाच , सु दिगत्वमह्नाम् ॥२।२।१६॥

२ सक्तुमिय तित्तुना पुनतो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत ।

अत्रा सज्जाय सद्यानि जानते भर्तृणा लक्ष्मीनि हिताधि वाचि ॥१०।७।१२॥

तुलना करें मन पूना वन्देवाच वस्त्र-पूत पित्रेऽन्नम् ।

दृष्टि पूत लिपेत्पाद, पात्र-पूत समाचरेत् ॥

३ वाच वाच जरित् रत्निनीं कृतमुभा शस नासत्याज्जत मम । १।१८२।४॥

४ यस्ते स्तन शशयो, यो मयो भूर येन विश्वा पुष्यनि वार्याणि ।

यो रत्न धा, वसु विद्, अ मु दत्त, सरस्वति, तमिह धातवे क ॥१।१६४।४६॥

सायण स्तन = स्तनवन्धिषु स्थानीयाना प्राणिनामाप्यायन कारी लोभिक वदिषु सु शब्द रूप स्तन ।

५ अभुत्सु प्र देव्या साक वाचाऽहमश्विनो ।

व्यावर्ध्या मति, वि राति मर्येभ्य ॥ ८।६।१६ ॥

६ बहस्पते प्रथम वाचो अथ यत्प्ररत नाम धेय दधाना ।

पदेपां श्रेष्ठ, यद रिप्रमासीत् प्रेणा तदेपां निहित गुहाऽऽवि ॥१०।७।११॥

जगत् के व्यवस्थित सञ्चालन का पहला फन है<sup>१</sup>। प्रसङ्ग वाक्य का कथन है कि वाक् 'व्यवस्थित और मर्यादित जीवन का भाग है'<sup>२</sup>। वसिष्ठ मैत्रा-वरुण का कथन है कि वाणा अनन्तर (भरारा) और हजारों फन देने वाली (सहस्रिणी) है<sup>३</sup>। दीर्घ-तमस का कथन है कि वाक् समस्त पदार्थों की जानती है, उसके द्वारा जगत् की समस्त वस्तुओं का वर्णन हो सकता है, पर वाणी की इयत्ता की कोई मनी जानता<sup>४</sup>। उनके और सध्रि व रूप के मत में वाणी का प्रतिपाद्य अक्षर तत्त्व (आत्मा) है, तथा वाक् का उत्पन्न भी ब्रह्म ही है<sup>५</sup>। सध्रि ऋषि का कहना है कि वाणी का विषय उतना ही व्यापक है जितना व्यापक ब्रह्म-तत्त्व है<sup>६</sup>, मर्याद वाणी ब्रह्म के समान बिभु है<sup>७</sup>। अथर्वनाम भाष्य ऋषि ने मय-भजन स्तोत्र वाक् में तीन विशेषण दिये हैं (क) इरावती, (ल) चित्रा और (ग) त्विषीमती<sup>८</sup>। अमुन ये तीनों विशेषण मानवीय भाषा पर भी लागू होने हैं वाक् अमीष्ट की मिद्धि कर के भोग प्रदान करने के कारण 'इरावती' है। विविध शक्तियों, उत्तार चढ़ाव आदि के कारण चित्रा अथवा अपनाने योग्य (चायनीया)<sup>९</sup> है। त्विषीमती<sup>१०</sup>

१ यदा माग-प्रथम जा ऋतस्यादिडाचो भञ्जुवे मागमस्या ॥१॥१६४।३७ ॥

२ हरि सूत्रान पध्यामतस्येर्षति वाचमरितेव नावम ।

देवो देवानां गृह्यानि नामाऽविष्कुरोति बर्हिषि प्र वाचे ॥ ६।६५।२ ॥

३ उप त्वा सातये नरो विप्रासो यति धीतिभि ।

उपाक्षरा सहस्रिणी ॥ ७।१५।६ ॥

४ मन्त्रयन्ते विधो अमुष्य पृष्ठे विश्वविद वाचमविश्वमि-वाम ॥१॥१६४।१० ॥

वदन्त माधव विश्वस्य वेदमित्री, सर्वज्ञातायमान परिमाणा वाचम ।

५ पृष्ठ्यामि वाच परम व्योम (१॥१६४।३४) । ब्रह्माय वाच परम

व्योम (३५) ऋचो अक्षरे परमे 'योमन्, यस्मिन् देवा अधि विश्वे नि-वेबु' (३६) ।

सत्रि वरुण त (सु पण) और वाचा प्र एषति सप्त (१०।११४।७) ॥

६ यावद् ब्रह्म वि छित तावती वाक् (१०।११४।८) ॥

७ सम्भवत इसी मन्त्र-व्य का पल्लवन भाषे चल कर ब्रह्माकरण दाशनिता ने शब्द-त्रयवाद के रूप में किया है, जिसका प्रतिपादन 'वाक्य-पदोप' में और तत्र ग्रन्था में यत्र-तत्र किया गया है ।

८ वाच सु मित्रा वरुणाविरावती पञ्च अक्षित्रां वदति त्विषीमतीम ॥५।६३।६ ॥

९. यह अथ यास्क आदि की दृष्टि से किया है। ऋग्वेद संहिता में 'चित्र गच्छ √ चित् अथवा √ कित् स युत्पन्न के रूप में अभिप्रवृत्त है तथा इस का अर्थ भी केतु के समान 'प्र नापक' है। इ अगले अध्याय में ५० चित्र < √ चित् । गच्छ का विवरण देखें ।

१० तुलना करें ऋ १०।६८।३ अस्मे यहि धुमती वाचमातन् यहापते मनमोवा निविराम् ।

(प्रशस्त दीप्ति वाली) अथ प्रकाशन करने के कारण है।

३ वाक् के गुण अगस्त्य मैत्रावरुणि के अनुसार वाक् का गुण रमणीयता (प्रियता) और सोद्देश्यता (साधकता) है<sup>१</sup>। अचनानस आत्रेय भी सोद्देश्य (इरावती), रमणीय (चित्रा) और भोजस्वी (त्विषीमती) वाणी को श्रेष्ठ समझते प्रतीत होते हैं<sup>२</sup>। अवत्सार काश्यप यथाय कथन की ही वाणी का गुण समझते लगते हैं<sup>३</sup>। कुत्स आङ्गिरस ऋषि अश्विनो स कमठता से युक्त (अध्नस्वती) और मन का अनुसरण करने वाली (मनीषा) वाक् की कामना करते हैं<sup>४</sup>। अर्थात् उनके मत में वाणी में ये दो गुण होने चाहियें। कुरुमुनि काण्व ऋषि मौलिक (नव स्वस्ति) और यथाय परक (ऋत स्पृश) वाणी को श्रेष्ठ मानते हैं<sup>५</sup>। उनका आशय क्या है यह है कि वाणी में वक्ता की सूक्ष्म ब्रूम और कल्पना शक्ति की छाप तो ही ही पर यह इतनी उत्प्रेक्षा या अयुक्तिमय न हो कि यथाय से विलग जाये। गुत्समद (अपर-नाम आङ्गिरस ब्रौह्म होन) वाणी का सब से बड़ा गुण माधुर्य मानते हैं यह तत्त्व इस बात से विदित होता है कि इन्द्र स श्रेष्ठ द्रवा की प्रायना करते हुए वे वाक् के माधुर्य (स्वाद्यन्) की कामना करते हैं<sup>६</sup>। विद्वन्मनम ध्यध्व ने वाक् को घी और मधु (सह) से भी स्वादु बताया है<sup>७</sup>। 'घी से स्वादु कहने से शायद वाक् में पोषकता अभिप्रेत है तथा मधु में स्वादु' कहने से माधुर्य (मिठास) अर्थात् प्रियता अभिप्रेत है। इन दोनों पदार्थों से तुलना का समन्वित तात्पर्य वाक् की हितता और प्रियता है। दीप-तमम ओच्यसो शत्रु (उचित शब्द का प्रयोग शुद्ध वाणी)<sup>८</sup>, रमणीय उद्देश्य में युक्तता (रत्न वा वसु विद्)<sup>९</sup> को तो चाहते ही हैं इन गुणों के प्रतिरिक्ता वाक् में व्यञ्जकता और सामर्थ्य (विश्व विद्) के साथ साथ गाम्भीर्य (अ विश्वमिवा) भी होना चाहिये<sup>१०</sup>। देवापि आर्षि पण ऋषि वाणी में सोद्देश्यता (इपिरा), भोजम्बिता और स्पष्टता (सु मती) और निर्दोषता (अनमीवा) गुणों की कामना करते हैं<sup>११</sup>। नेम भागव<sup>१२</sup> ऋषि वाक् को धेनु(दुधार

१ द्र पृष्ठ ३, टि ३। २ द्र पृष्ठ ४, टि ८।

३ ■ ५:४४:६ याहगेव दहने, तादृगुच्यते।

४ अध्नस्वतीमश्विना वाचमस्मे कृत नो दत्ता वृयणा, मनीषाम ॥१११२:२४॥

५ वाचमष्टा पदीमह नव अक्तिमृत स्पृशम् । इन्द्रात्परि तत्र ममे ॥

८:७६:१२ ॥ ६ द्र पृष्ठ ३, टि १।

७ अ-नो यथाय यविषे शु क्षाय दस्य वच ।

घतगत स्यामीयो मधुनश्च वीचत ॥८:२४:२०॥

८ इषानो अजो विदधेयु दीक्षच्छुक्र वर्णामुद्र नो यसते धियम ॥१:१४३:७॥

९ द्र पृष्ठ ३, टि ४। १० द्र पृष्ठ ४ टि ४। ११ द्र पृष्ठ ४, टि १०।

१२ देवीं वाग्मजनयन्त देवात् सा नो मन्त्रेष्वस्य बुहाना धनुर्वागस्मानुप सु पृष्ठतु ॥ ८:१००:११ ॥

भाषा) के समान मानते हैं। हित और दुष्ट प्रचुर मात्रा में देना धेनु की विशेषता है। बाणी भी हित वरुण का दोहन (प्रकटन) प्रचुर मात्रा में कर, यही उनका आशय लगता है। अतः इस रूपक से वे हितता और अथ बहुलता की बाणी का गुण मानते प्रतीत होते हैं। उन्होंने वाक के अर्थ 'मन्त्रा' (प्रमाणक अर्थात् प्रिय), देवी (अथ प्रकाशक) और राष्ट्रीय मन्त्रा (अधिकार के प्रभाव से युक्त और प्रिय) विशेषणों का प्रयोग किया है<sup>१</sup>। इससे प्रतीत होता है कि वे प्रिय, प्रभाव वाली (रोब दाब और अंतर वाली) होते हुए भी प्रिय, एवम् अथ प्रकाशन में समर्थ वाक को अष्ट वाक समझते हैं। उसमें सायकना के साथ साथ धोज भी होना चाहिये<sup>२</sup>। पतञ्जल प्राजापत्य का अभिप्राय है कि वाक को सुस्पष्ट (छोतमाना) मन से छनी हुई (मनीषा) और सत्य होना चाहिये<sup>३</sup>। प्रस्वण वाक्य सच्चाई का बलून करने वाली (श्रुतस्य पश्चात्) वाक को ही अष्ट समझते हैं<sup>४</sup>। ब्रह्मसूत्रि भाट्टिरस का मन है कि बाणी को मन से छान कर जोलना चाहिये<sup>५</sup>। इसके अतिरिक्त वे वाक को पति व प्रेम में योगी श्रुतज्ञाना युवती के समान समझते हैं जो अपने प्रिय का अपना सब सब सौंपने का आतुर है<sup>६</sup>। इस से बड़ा विद्वत् उनका आशय यही है कि वाक भी अपना सब सब (अथ) अपने प्रिय अर्थात् श्रोता को भेंटि सौंपने का आतुर होनी है। अर्थात् वाक को इतना स्पष्ट (उसनी) और सुन्दर बनाने से युक्त (सुवासा) होना चाहिये कि श्रोता उसमें बलता के आशय की भेंटि भली भाँति समझ ले। सुवासानाक वाक को सत्य का प्रवक्ता मानते हैं<sup>७</sup>, अर्थात् सत्य वाक का एक विशिष्ट गुण है। वसिष्ठ मन्त्रा वरुण अनेकायक (सहस्रिणी)<sup>८</sup>, स्पष्ट (ज्योतिरप्रा) और आनन्ददायक (मधुदोषमूषो दुह्ने)<sup>९</sup> वाक की कामना करते हैं। अर्थात् वाक में वाक् और अथ—दोहा—स्पष्ट एव मधुर होना चाहिये। वामदेव गौतम<sup>१०</sup> के मत में वाक की अतिशय तथा अथ वाला विध (गत व्रजा) होने चाहिये ही, उसे इतना गम्भीर और प्रभाव-पूर्ण भी होना चाहिये कि विरोधी लोग

१ महाभारतपवित्रेनानि राष्ट्रीय देवानां नि वसाव मन्त्रा ॥ ८।१००।१०॥  
तथा पिछरी टि देखें। २ द्र पृष्ठ ४ टि १०।

३ पतञ्जली वाच मनसा विनति तां गन्धर्वोद्भवद् गर्भे अतः।

तां छोतमानां स्वयं मनीषामृतस्य पदे बध्नी नि पाति ॥ १०।१७७।२॥

४ द्र पृष्ठ ४, टि २। ५ द्र पृष्ठ ३ टि २।

६ अतः ॥ अथान् दवश वाक्मय, अतः त्व शृण्वन् शृणोत्येवम्।

उतो त्वस्म त व वि सखे जायेव पत्य उगती सु-वासा ॥ १०।७१।४ ॥

७ पिपतु मा तहतस्य प्र वाचन, देवानां ॥ मनुष्या अथ परि ॥ १०।३५।८॥

८ द्र पृष्ठ २, टि ३।

९ तिलो वाच प्र वद ज्योतिरप्रा मा एतद् दुह्ने मधु दोषमूष ॥ ७।१०१।१॥

१० एता अर्पति हृद्यात्समुदाच्छन व्रजा, रिपुणा नाव चप ॥ ४।५८।५ ॥

उसकी उपेक्षा न कर सकें। भली भाँति सोच समझ कर बोलने पर भी उसे सरिता के समान (प्रवाह भय) होना चाहिये<sup>१</sup>। विद्वामित्र गायित का कथन है कि बुद्धिमान् (धीरा) तथा कर्मठ (अपस) लोग वाली की भली भाँति विचार (मनीषा) में ध्यान लेते हैं (पुनर्ति)<sup>२</sup>। सद्यै वै रूप श्रोता की बुद्धि में पड़ जाना ही वाक् की सर्वातिशायी विधेयता मानते हैं<sup>३</sup>। सुपण काण्व के मत में माधुय ही वाक् का प्रमुख गुण है<sup>४</sup>।

निष्पथ उपयुक्त विवरण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वाली के निम्नोक्त १५ गुण ऋषिया को अभिप्रेत प्रतीत होते हैं १ प्रियता, २ माधुय, ३ हितता, ४ सादृश्यता, ५ भोजस्विता, ६ सुविचारिता, ७ अथ प्रचुरता, ८ सत्यता, ९ मोक्षिता, १० गाम्भीर्य ११ स्पष्टता, १२ प्रभाव शालिता, १३ प्रवाह मयता, १४ सौ शब्द और १५ निर्दोषता।

४ वाक् के दोष ऋग्वेद संहिता में कतिपय स्थानों में इन्द्र के शत्रुओं को मध्य वाच कहा गया है<sup>५</sup>। यहाँ 'मध्य' शब्द ब्राह्मण-काल के 'स्लेच्छ' शब्द<sup>६</sup> जैसा है। अतः यह शब्द 'भ्रष्ट उच्चारण' का वाचक है<sup>७</sup>, इन्द्र के शत्रुओं का उच्चारण संस्कृत भाषी आर्यों की दृष्टि में भ्रष्ट, अतएव हेय था। फलतः उन्होंने अपने शत्रुओं को 'मृध' और 'मृध वाच्' नाम दे दिया। इससे यह ध्वनित होता है कि आर्यों की स्पष्ट स्वर वण पदा भाषा का ठीक उच्चारण न कर पाना अना्यों का एक भाषिक दोष था। अतः वसिष्ठ मंत्रा वरुण के मत में अस्पष्ट उच्चारण वाक् का एक दोष है। अना्यों की भाषा आर्यों की समझ से बाहर होने के कारण उनके लिये वाक् (वाचि) है<sup>८</sup>। अतः उपयुक्त ऋषि की दृष्टि में 'अथ राहित्य' भाषा का दूसरा दोष है। बृहस्पति आङ्गिरस ने इस दोष को और स्पष्ट रूप से अ

१ सम्प्रत्यस्वर्ति सरितो न येना अन्तह वा मनसा पूयमानः ॥४॥४८॥६॥

२ पुनर्ति धीरा अपसो मनीषा वै वा विप्र उदियति वाचम् ॥४॥८॥५॥

३ को विष्ण्या प्रति वाच ववाद ? १०।११४।६। तथा निरुक्त ८।३ विष्ण्या = विषया भव । विषया विषेदघातपर्यं । यो सादिनीतिवा । यो सानिमीति वा ।

४ सत्य तदिद्वा वरुणा, कृतस्य वा मध्य ऊर्मि दुहते सप्त वाली ॥८॥१६॥३॥

५ द्र आगे '६ भाषाओं के भेद।' प्रकरण, तथा पृष्ठ ६, टि ७।

६ द्र शतपथ ब्राह्मण ३।२।१।२३ तस्मुरा अन्त वचसो 'हे लघो, हेऽलव' इति शब्द-न परा बभूवु । २४ तत्र तामपि श्वाचमूदुरुष जिज्ञास्याम । स स्लेच्छ । तस्मान् ब्राह्मणो स्लेच्छेत्, असुर्या हेया वाक् ।

७ द्र महा भाष्य, पस्पशा, (मन्जर सस्करण, पृष्ठ ११) तस्मुरा— 'हेऽलवो हेऽलव इति कुव त परा बभूवु । तस्माद् ब्राह्मणेन न स्लेच्छितव = नाप-भाषितव, स्लेच्छो ह वा एव यदप शब्द ।

८ द्र अमित्रानर घन-मानुषे वाचि वाच ॥ ८।१८।१ ॥

धेनु अफना, अफुणा वा' शब्दा से व्यक्त किया है<sup>१</sup>। अर्थात् अफ रति वाणी सूखी गाय के समान है। वह वाणी तो नाम मात्र की है। यह पून से रति (तनर के समान व्यर्थ) है।

५ वाक दवी देन है नेम भागव ऋषि ता कथन है नि देनामा ने वेनना वान् घोर इन्द्रिय सम्प न ममी प्रसार व दुपाये, पुपाये नियम घोर सरीगण पनुमो<sup>२</sup> को वाक प्रदा की है<sup>३</sup>, पनु इत वा मनीषिक लाभ उग्या है माता शक्ति स युवन पनुषा (अर्थात् मनुष्या न)<sup>४</sup>। गर्वापि मन्त्र नीन पनु मनुष्य है<sup>५</sup>। अत वाणी मनुष्य की प्रमुख विगया है। तन्नि वरूप के मन म वाणी को ईश्वर ने गरीर म (एक इन्द्रिय के द्वारा) स्थापित किया है<sup>६</sup>। अनामा की देन यह वाक काम धेनु है वह हम भोग (इष्ट) घोर बल (ऊर्ज) प्रदान कर के आनन्ति करती है<sup>७</sup>। पुता आनिरस वा कथन है नि इन्द्र ने ही रतौना को पटने पहल वाणी प्रदान की<sup>८</sup>। वाम देव गौतम वा यह मन प्रीन होता है नि मनुष्या को वाणी ईश्वर (वेन) म उसकी स्वामाविष शक्ति के रूप म प्राप्त हुई है। मनुष्य उसका परिष्कार करत है<sup>९</sup>।

६ वाक निरूप है उच्चरित ध्वनि के रूप मे वाक जहा अ निरूप है वहा व्यापक होने के कारण यह नित्य भी मानी जाती है<sup>१०</sup>। ऋक् महिता म भी यही भाग्य बखित है वही उच्चारण व द्वारा वाक के निर्माण की चर्चा की गई है<sup>११</sup>। इसके साथ ही व उच्चरित ध्वनि स भिन्न वाक् की सत्ता भी मानते थे जिसके लिये वाक की अनदवरता के बोधक अगार घोर 'अग्या द्वादश का प्रयोग

- १ अ घेवा चरनि मायवय वाच शुभ्रम अ फलामपुष्टयाम ॥ १०।७।१।५ ॥
- २ तवेमे पञ्च पशवो वि भक्ता गावो अत्रा पुष्या अत्रावय ॥
- ३ शुभ्यमारण्या पशवो मृगा वने हिता हता, सुपर्णा नकुना वयासि । तव वक्ष पनु पते अस्वतस, शुभ्य क्षरति दिव्या आपो धुमे ॥
- अथव सहिता ११।२।६, २४ । ४ निरुक्त मीमांसा पृष्ठ ६७ ।
- ५ देवी वाचमजनयत देवास्त ता विश्व रूपा पशवो यदति ॥ १०।१।११।
- ६ विद्व जीव चरते बोधयती विश्वस्य वाचमविमनया ॥ १।६२।६॥
- ७ ३ पृष्ठ ६ टि ७ । ६ को विष्ण्या प्रति वाच पवाद ? १०।१।४।६॥
- प्रकरणानुसार उत्तर होगा सुपर्णा अर्थात् ब्रह्म । ७ ३ पृष्ठ ५, टि १२ ।
- ८ यो ब्रह्मणे प्रथमो ना अविदत ॥ १।१०।१।५ ॥
- ९ त्रि पा हित पणिमिगु ह्यमान यवि देवास्तो घृतमववि दन । इन्द्र एक सूर्य एक जज्ञान वेनादेक स्व घया निवृत्तप ॥ ४।५।५४ ॥
- १० ३ निरुक्त १।२ इन्द्रिय नित्य वचनमोदुम्बरायस । व्याप्ति परगान्
- नग्नस्य । निरुक्त मीमांसा पृष्ठ १०६ ११३ ।
- ११ ३ अनुच्छेद १० उच्चारण के पर्याय । ११ उच्चारण की प्रक्रिया ।

तो उन युग में होता ही था<sup>१</sup>, वि रूप आङ्गिरस ऋषि ने जिसे स्पष्ट रूप से 'नित्य' कहा भी है<sup>२</sup> ।

७ माया के दो रूप—भोषिक और लिखित जागतिव व्यवहार में पदार्थ का बोध नाम और रूप से होता है<sup>३</sup> । पदार्थ बोध के लिये आश्रित भाषा के भी दो रूप हैं (क) जिस का ग्रहण श्रुति से होता है अर्थात् लिखित भाषा । (ख) जिस का ग्रहण ज्ञान के द्वारा होता है अर्थात् भुक् से उच्चरित और ज्ञान से श्रुत भाषा । वहस्पति आङ्गिरस न वाक को समझने की श्रुति से मनुष्या के तीन विभाग किये हैं (क) अ पठ गेवार, अगूठा-देव, जिसे काला अगर और भस्त बराबर हैं, (ख) जो सुन कर भी वाली को समझ नहीं पाता, अर्थात् जिसे भाषा सटकत ग्रहण के अभाव में आती ही नहीं है । (ग) जो वाक के दोनों रूपा का जान-कार है<sup>४</sup> ।

८ मायाओं के भेद ऋचाओं के दगन के समय मायाओं के कति पद भेदोंप भेदों की कल्पना विविध आचार्यों पर हो चुकी लगनी है । सम्भूत ऋषि की पुत्री वाक ने प्रयोजनाओं के आचार पर वाक के (क) देवा द्वारा मविन और (ख) मनुष्यों द्वारा सेवित भेदों की चर्चा की है<sup>५</sup> । उच्चारण के आचार पर वाक् और मृध वाक की चर्चा कुछ मन्त्रों में आयी है । 'वाक्' आयों की अपनी भाषा है, एव मृध वाक पणियों और असुरों की भाषा । 'मृध' शब्द का अर्थ बहुत स्पष्ट नहीं है । यास्क ने इसका अर्थ 'मृदु' किया है<sup>६</sup> । परन्तु यह अर्थ मनुष्यों की भाषा के विशेषण के रूप में ठीक नहीं घटता प्रतीत होता । भाष्यकारों ने<sup>७</sup> ठीक

१ द्र अनुच्छेद '१ माया क पदार्थ ।' पृष्ठ १, और पृष्ठ २, टि ३ ।

२ तस्म नूनमनि द्यवे माया विरूप, नित्यया वृणो चोदस्व सु द्युतिम् ॥ ८।७।६ ॥

३ मा नाममिमस्तो वशि विश्वाना रूपेभिर्जात वेदो, हुवान् ॥५।४।१०॥

४ द्र पृष्ठ ६, टि ६ । 'सहस्र मे ददतो अष्ट ऋष ।' (१०।६२।७) में 'अष्ट ऋष' का अर्थ कुछ विद्वानों ने आठ का अङ्क जिनके ज्ञान पर लिखा है (ऐसी माय) किया है ।

५ अत्रमेव स्वयमिद वदामि जुष्ट देवेभिस्त मानुषेभि ॥ १०।१२।५ ॥

६ द्र १।१७।२ वनो विश इद्र मृध वाक् । ५।२६।१० नि दुर्योण आ वृणइ मृध वाक् । ५।३२।८ नि दुर्योण आ वणइ मृध वाचम् । ७।१८।३ जेष्म पूर विदधे मृध वाचम् । ७।६।३ य-ऋतून्, अग्निनो, मृध वाक्, पणो रथर्द्धा य वया, अ यनान् ।

७ द्र निरुक्त ६।३१ वनो विश इद्र मृध वाक् (ऋ १।१७।२) = दान मनसो नो मनुष्यानिद्र मृदु वाक् कुरु । ८ द्र टि ६ ।

८ द्र मायण मुदमत हिसित । वेङ्ग मानव ७।६।३ परुष हिसक ।



ही इसका अर्थ हिंसित या परवृत्त किया है। 'मृध' का प्रयोग विदोष्य के रूप में भी भाष्यों के 'गुण' के लिये हुआ है<sup>१</sup>। यह प्रयोग ऐसा ही प्रतीत होता है, जैसे कि 'अष्ट उच्चारण' के लिये प्रयुक्त 'स्लेज्ज' शब्द अष्ट उच्चारण करने वाले लोगों के लिये रूढ हो गया है<sup>२</sup>। अतः 'मृध वाच्' का अर्थ 'इस प्रकार की तथा वणी वाली भाषा और मृध वाच् (बहु-शीहि) का अर्थ 'इस प्रकार की अष्ट उच्चारण वाली भाषा बोलने वाले लोग' होना चाहिये। इन अष्ट उच्चारण वाली भाषा बोलने वाले लोगों को 'वि-वाच्' (बहु-शीहि), अर्थात् भाष्यों की भाषा से भिन्न प्रकार की बोली बोलने वाले लोग' भी कहा गया है<sup>३</sup>। अतः लगता है कि प्रायः लोग अपनी स्पष्ट स्वरों और वणी वाली भाषा की दृष्टि में अप्रसन्न ध्वनियों वाली पणिया की भाषा को 'मृध वाक्' एवम् ऐसी बोली बोलने वाले पणिया आदि अपने शत्रुओं को 'मृध वाक्' और सङ्क्षेप में सांख्यिक रूप से 'मृध' कहा करते होंगे।

लगता है कि भाष्यों में भी भाषा के भेदोपभेद थे। सुहोत्र भाषाज्ञ<sup>४</sup> और मुन होत्र<sup>५</sup> का कथन है कि वि वाच् (विभिन्न बोलियाँ बोलने वाली) प्रजाएँ द्रुत को बुलाती हैं। गुरुसमद का यह कथन यहाँ ध्यान देने योग्य है कि द्रुत को बुलाने में एव-द्रुतरे के विरुद्ध दृढी दोनों सेनाएँ अलग अलग बुलाती हैं<sup>६</sup>। इन दृष्टि में द्रुत में एव-द्रुतरे का अर्थ विविध प्रकार से बुलाने वाली (प्रजाएँ) भी हो सकता है। किन्तु अथर्व संहिता (गौतम शाखा) में अथर्व ऋषि न वि वाचस जनम् का प्रयोग भिन्न भिन्न भाषाएँ बोलने वाले लोग अथर्व अथर्व प्रजाएँ का प्रयोग भिन्न भाषाएँ बोलने वाले लोग भिन्न भिन्न भाषाओं को अथर्व प्रजाएँ से धारण करती हैं<sup>७</sup>। अतः ऋग्वेदीय 'वि वाच' का अर्थ भी भिन्न भिन्न बोली बोलने वाले करना असङ्गत एवम् असम्भव नहीं है।

वाणी की निष्कृता को दृष्टि म रय वर भी वसिष्ठ मन्त्रा-वर्णि ने अधि

- १ धनमृधाय्यव द्विषो बहव, रसासि विन्व हा । ८।४।३।२६ ॥  
 पुराजने दुरितेभ्य, पुरा मृधेभ्य कवे । प्र ए चापुवसो तिर ॥४।३।०॥  
 २ द्र पृष्ठ ७ टि ६७।३ यो वावा वि वाचो, मृध वाक् पुरु सहस्राः  
 त्रिवा जघान (१०।२३।५)। विभेव वल, मुनुदे वि वाच (३।२।१०)। वेङ्कट  
 भागव ने इसका अर्थ भिन्न प्रकार से किया है वाचज्याभ्याकृता वि मुनुदे=व्या  
 चकार । भाग '१३ भाषा का वाचरण । प्रकरण देखें ।  
 ४ अथोचन्त चक्षुषो वि वाच (६।३।११)।  
 ५ त्वां ही द्रावसे वि वाचो हव ते चक्षुष्य दूर सातो । ६।३।३२ ॥  
 ६ य क्रदसो स यतो वि ह्वयेते परेऽवर उमया अ मित्रा ।  
 समान चिद्वयमा-तस्थिर्वासा नाना ह्वेते, स जनात, द्रुत ॥२।१२।८॥  
 ७ ६।३।३३ भी देखें ।  
 ८ जन विभ्रतो बहु वा वि वाचस, नाना वर्णाण पृथिवी ॥२।१।४५ ॥

वाच्' शब्द का प्रयोग किया है<sup>१</sup>। 'वध्रि' का प्रयोग 'वल (वधिया)' अथ मे 'वृपन् (विजार, माँद) के विपरीत हुआ है<sup>२</sup>। अतः 'वध्रि वाक् का अर्थ होगा 'वह वाणी जिसका कोई अर्थ नहीं होता, अथवा असर नहीं होता। 'वध्रि वाक् (बहु-श्रीहि) का अर्थ होगा 'निफल्य निरर्थक बोली बोलने वाल (लोग)'।

६ वाक् की सङ्ख्या। ऋग्वेद संहिता में वाक् की सङ्ख्या तीन और वाणिमा की सङ्ख्या सात कति पय मन्त्रो म बताई है। वृष्टि की इच्छा वाले वसिष्ठ मैत्रा वरुणि (अथवा कुमार आग्नेय<sup>३</sup>) का अपने ऋषि मन को<sup>४</sup> कहना है कि तू उद्योति जिनमे पहले आती है, तथा जो मधु का ग्राहण करने वाले ऊधस को दुहती हैं (=मधु दुहती हैं), ऐसी तीन वाक् को बोल<sup>५</sup>। इसी प्रकार त्रित आप्य<sup>६</sup>, उक्थ्य आङ्गिरस<sup>७</sup> और पराशर शाक्य<sup>८</sup> ने भी तीन वाक् की चर्चा की है। आप्य कारो (वेङ्कट माधव और सायण) के अनुसार तीन वाक् से ऋचा यजुष और साम अभिप्रेत हैं। इस दृष्टि में हम यह कह सकते हैं कि यह सङ्ख्या अभिव्यक्ति 'ली' के आधार पर वाक् के गद्य, पद्य और गेय भेदों को प्रकट करती है एवं वाक्य शास्त्र का विषय है, भाषा शास्त्र का नहीं।

इसी प्रकार विश्वामित्र गायिन ने कहा है कि सात वाणिमा एक गर्भ को धारण करती है<sup>९</sup>। वेङ्कट माधव और सायण ने यहाँ वाणी का अर्थ 'नदी' किया है। सम्भवतः बहने की आवाज करने के कारण 'वाणी' शब्द 'नदी' अर्थ में उसी प्रकार रूढ़ मान लिया गया है जिस प्रकार 'सरिता' अर्थ में स्वयं 'नदी'<sup>१०</sup>।

१ सुवात इन्द्र सु-जुर्का अ मित्रानरयमागुये वध्रि वाक् । ७।१८।६ ॥

२ वृष्णो वध्रि प्रति मान बुभुधतवत्रा वृत्रो अशमय्य व्यस्त ॥१।३२।७।

सि-पुन सोढ शिमीवा ऋधायतो वृषेव वध्रो रश्मि वृष्ट-योगज्ञा ॥२।२५।३॥

३ द्र कार्पायन की ऋक्सर्वानु क्रमणी एते कुमार आग्नेयोऽपश्यद्, वसिष्ठ एव वा ।

४ द्र सायण भाष्य ७।१०।१। ऋषिरात्मानं स्तुतो प्रेरयति ।

५ द्र पृष्ठ ६, टि ६। ६ तिस्रो वाक् उदीरते । ६।३३।४ ॥

७ प्रसवे त उदीरते तिस्रो वाचो भवस्युव । ६।५०।२ ॥

८ तिस्रो वाक् ईरयति प्र वल्लिऋ तस्य घीति ब्रह्मणो मनीषाम । ६।६७।३४॥

तथा ऋक्सर्वानु क्रमणी 'अस्य प्रेषा' (ऋ ६।६७) ऽऽटा पञ्चागतः । आद्य तृध वसिष्ठोऽपश्यत् । उत्तरानव 'पृथग् वसिष्ठा इन्द्र प्रमतिर् वसुक् इति । चतुर्वश पराशर ।

९ द्र ३।१।६ एक गर्भं वधिरे सप्त वाणी । ७।१ आ मातरा विविशु सप्त वाणी ।

१० अथर्व-संहिता ३।१३।१ यदव सम्प्रयतीरहाव नदता हते । तस्मादा नघो नाम स्य, ता वो नामानि सिधव ॥ द्र निरुक्त् २।२४, निरुक्त् मीमामा, पृष्ठ २।५।१६ और निरुक्त् के पाँच अध्याय, पृष्ठ २१०, भी देखें ।

और 'नद' का दृढ़ हो गये हैं। सुपुण वाक्य ने अवश्य भाषा के प्रसङ्ग में ही 'वाणी' की बात सटका बताई है<sup>२</sup>। उपयुक्त दोनों भाष्य कारों ने इस खलिव सूक्त पर भाष्य नहीं किया है। अतः यहाँ 'सात वाणियो' का आशय उनके मत में क्या है, यह हम नहीं कह सकते। परन्तु द्वित आत्म्य के इसी प्रसङ्ग के 'ऋषियो की सात वाणिया सोम की स्तुति करती हैं।<sup>३</sup> कथन पर दोनों भाषाकारों ने 'सात वाणियो' का अर्थ 'सात छंद' किया है<sup>४</sup>। अतः खिल मात्र पर भी यदि वे लोग भाष्य करते तो 'सात वाणियाँ=सात छंद' अर्थ ही करते।

निरूप्य इस कथन से दो बातें स्पष्ट हैं (क) 'सात वाणी' कथन भाषाओं की सटका का बोधक नहीं है। (ख) अभिव्यक्ति-शाली के आधार पर वाक् के पक्ष बढ़ और गद्य बढ़ भेद ऋषियो की प्रतीत थे। पिछले प्रघट्ट के इस निरूप्य का मिलान से यह स्पष्ट है कि वाङ्मय के (१) पद्य (२) गद्य, (ग) गेय भेद उस समय प्रतिष्ठित हो चुके थे।

१० उच्चारण के पर्याय लौकिक सस्कृत में प्रचलित 'उच्चारण' का 'उद् + √ चर् + इ (णिच्) + घन' से निष्पन्न है। इस का अर्थ है ऊपर को चलाना। शिवा-गात्र के अनुसार यह ऊपर को चलाना प्रक्रिया या है वक्ता जब कुछ कहना चाहता है तब आत्मा बुद्धि में कथ्य को रख लेता है, फिर बोलने की इच्छा होती है। इस से शरीर में विद्यमान अग्नि पर आधान होता है। यह आधान शरीर में विद्यमान वायु को प्रेरित करता है। वायु छाती की ओर बढ़ता है फिर गण्ड में आता है। वहाँ से ऊपर को वे का हवा वायु मूर्ध्नि में आता है। वहाँ से ऊपर को फन जाता है। १ म्बर २ काल (मात्रा), ३ स्थान ४ आत्म-तर प्रयत्न तथा ५ बाह्य प्रयत्न के कारण यह वायु तत्तद् वाणी की उत्पन्न करता है<sup>५</sup>।

उपयुक्त विवरण के आधार भूत श्लोको में क्रिया के लिये 'प्रेरयति', चरन्

- १ तद्वत् गवर्षात्पा च बोधणा नदम्य नावे परि वायु मे मन । १०११११॥
- २ इ पृष्ठ ७ टि ४। ३ अग्नि वाणीश्च वीणां सात नूपत ॥ ६१०३॥
- ४ अग्नेरेण मिमन सप्त वाणी । (११६४२४) ओम् नम पर भाष्य भी इस प्रसङ्ग में दृष्टव्य है। यहाँ भी 'वाणी' का अर्थ 'छन्द ही किया गया है।
- ५ आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थामनो पुष्टवते विवक्षया ।  
मन काधानिमाहति स प्रेरयति भास्वतः ॥  
माहनस्तुरति चरमं जनयति स्वरम् ।  
बुद्धे गोपय ॥  
सारोर्लो मूच्यमि हतो वक्ष्यमानं भास्वतः ।  
वाणीञ्चनयते तेषां विमान पञ्च वा स्मृतः ॥  
स्वरतः कालत स्थानान् प्रयत्नानुप्रदानतः । वाणिनीय निशा ६१०॥

और 'उदीण' शब्दों का प्रयोग विशेष ध्यान देने योग्य है। ऋग्वेद संहिता में 'उद् + चर' का प्रयोग 'वाक्' के सत्त्व में नहीं हुआ है। हाँ इस अर्थ वाली कुछ अर्थ क्रियाओं का प्रयोग कई बार 'उच्चारण' के सत्त्व में ही हुआ है। उस का व्योरा या है

'उच्चारण' के लिये ऋग्वेद संहिता में वाक् को कम बना कर ('वाचम्' के प्रयोग के साथ) 'इयति' का प्रयोग सर्वाधिक (पाँच) बार<sup>१</sup> तथा, 'उद्' उपसर्ग के साथ (उन्मियति वाचम्) दो बार<sup>२</sup> हुआ है। गतमद<sup>३</sup> प्रस्कण्व काण्व<sup>४</sup> अग्नि पुन (अथवा अग्नि पूष) स्थौर<sup>५</sup> न वाक् को प्रेरित करने की उपमा नदी 'सिन्धु' में नाव का डूबने से दी है<sup>६</sup>। उद् + √ईर<sup>७</sup> और √कृ<sup>८</sup> का प्रयोग भी इस (उच्चारण) अर्थ में दो दो बार हुआ है। बना संवार कर (सम्भवत कविता के रूप में) प्रस्तुत करने के लिये √तक्ष् का प्रयोग भी इसी प्रसङ्ग में सम्भवत हुआ है<sup>९</sup>। √वद् का प्रयोग भी असंख्य हुआ है<sup>१०</sup>।

निरूप्य। इन सब प्रयोगों के आधार पर यही कहा जा सकता है कि ध्वनि का उत्पादन प्रयत्न से होता है। ऋषिया की यही धारणा थी।

१ कतिऋद्वज्जनुष प्र सुवाण इयति वाचमरितेव नावम् । २।४२।१ ॥

उप यो भवो नमसि स्तमार्थं नयति वाच जनय यजध्य । ४।२१।२ ॥

एष प्रायेव जरिता त इद्रेयति वाच बृहदाशुषाण । ५।३५।४ ॥

हरि सृजाम पथ्यामृतस्येयति वाचमरितेव नावम् ।

वैवो देवानां गुह्यानि भामाऽविष्कृणोति वर्हिषि प्र वाचे ॥ ६।६५।२ ॥

मेद्राग्निभ्यां सु वचस्यामिर्यामि सिन्ध्याविव प्रेरय नावमर्कं । १०।११६।६ ॥

२ स्थुभना वाच उदियति वह्नि । १।११३।१७ ॥ ॥ पृष्ठ ७, टि २।

३ इ टि १ में २।४२।१ । ४ इ टि १ में ६।६५।२ ।

५ इ टि १ में १०।११६।६ ।

६ इस उपमा से इन लोगों का यही आशय प्रतीत होता है कि (क) जिस नदी की अधिकतम सरलता से नाव से पार किया जा सकता है, वैसे ही अपने अभिप्राय को भी वाक् के द्वारा ही सरलतम ढंग में प्रकट किया जा सकता है। (ख) जिस पार पहुँचने में विषये (कण धार) का कौशल सुतराम् अभिहित होता है, उससे अभाव में नाव मझ धार में ही रह जायेगी वैसे ही अपने आशय को सम्पूर्ण प्रकट कर के काम निजालने में भी वक्ता के वाक्चातुर्य की नितान्त अपेक्षा है। (ग) नाव में नौका का कौशल जब प्रयत्न में आता है वैसे ही वाक्चातुर्य भी प्रयत्न से साध्य है।

७ इ पृष्ठ ११, टि ६७ में घृन ६।२३।४ तथा ५०।२ ।

८ इ पृष्ठ ५ टि ४ तथा ७।१०३।८ आह्वण।स सोमिनो वाचमर्जन ।

९ इमां ते वाच वसूयन् प्रायशो रथ न धीर स्वधा अतन्मिषु । १।११०।६ ॥

१० इ ७।१०।१, ५ ६, ११ ।

और 'नद' शब्द रूढ़ हो गये हैं। सुपण् वाण्व ने अवश्य भाषा के प्रसङ्ग में ही 'वाणी' की सात सङ्ख्या बताई है<sup>२</sup>। उपयुक्त दोनों भाष्यकारों ने इस रसिक सूक्त पर भाष्य नहीं किया है। अतः यहाँ 'सात वाणियों' का आशय उनका मत म क्या है, यह हम नहीं कह सकते। परन्तु द्वित आक्षेप के इसी प्रसङ्ग के 'ऋषियों की सात वाणियाँ सोम की स्तुति करती हैं'<sup>३</sup> कथन पर दोनों आचार्यों ने 'सात वाणियाँ' का अर्थ 'सात छन्द' किया है<sup>४</sup>। अतः छिल मात्र पर भी यदि वे लोग भाष्य करते, तो सात वाणियाँ=सात छन्द अर्थ ही करते।

निष्कर्ष इस कथन से दो बातें स्पष्ट हैं (क) 'सात वाणी' कथन भाषाओं की सङ्ख्या का बोधक नहीं है। (ख) अभिव्यक्ति-शक्ती के आधार पर वाक के पद्य बद्ध और गद्य बद्ध भेद ऋषियों की प्रतीति थे। पिछले प्रपञ्च के इस निष्कर्ष का मिलाने से यह स्पष्ट है कि वाङ्मय के (१) पद्य, (२) गद्य, (३) गेय भेद उस समय प्रति प्थित हो चुके थे।

१० उच्चारण के पर्याय लौकिक संस्कृत में प्रचलित 'उच्चारण' शब्द उद्+✓वर+इ(लिख)+घन' से निष्पन्न है। इस का अर्थ है ऊपर की चलाना। शिक्षा शास्त्र के अनुसार यह ऊपर को चलाना प्रक्रिया यो है

वक्ता जब कुछ कहना चाहता है, तब आत्मा बुद्धि में कथ्य को रख लेता है फिर बोलने की इच्छा होती है। उस से शरीर में विद्यमान अग्नि पर आधान होता है। यह आधात शरीर में विद्यमान वायु को प्रेरित करता है। वायु छाती की ओर बढ़ता है, फिर कण्ठ में आता है। वहाँ से ऊपर की ओर का हुआ वायु मूर्ध्ना में आता है। वहाँ से ऊपर को फल जाता है। १ स्वर २ काल (मात्रा), ३ स्थान ४ आत्म्यन्तर प्रयत्न तथा ५ बाह्य प्रयत्न के कारण यह वायु तत्तद् वणों को उत्पन्न करता है<sup>५</sup>।

उपयुक्त विवरण के आधार भूत श्लोको में क्रिया के लिये 'प्रेरयति', चरन्

१ एवद्ग पर्वाख्या च योषणा नदस्य नादे परि पातु मे मन । १०।११।२॥

२ इ पृष्ठ ७, टि ४। ३ अग्नि वाणीऋषीणा सप्त नूपत ॥६॥१०३।३॥

४ असरेण मिमते सप्त वाणी । (१।१६।४।२४) और इस पर भाष्य भी उस प्रसङ्ग में द्रष्टव्य है। यहाँ भी 'वाणी' का अर्थ 'छन्द' ही किया गया है।

५ आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थमनो युद्धते विवक्षया।

मन कायाग्निमाहति, स प्रेरयति मास्तम् ॥

मादतस्तूरति चरमद् जनयति स्वरम् ।

कण्ठे गीघण्य ॥

सादीर्घा भूयमि हतो वक्त्रमापद्य मास्त ।

वर्णाञ्जनयते, तेषां वि भाग पञ्च वा स्मृत ॥

स्वरत, कालत स्थानात् प्रयत्नानुप्रदानत । पाणिनीय शिक्षा १०॥

घोर 'उगीण' गर्दों का प्रयोग विशेष ध्यान देने योग्य है। ऋग्वेद-संहिता में 'उद' वर का प्रयोग 'दाक्' के सम्मन में नहीं हुआ है। हा इस धर्म दानी कुछ अन्य क्रियाओं का प्रयोग कई बार 'उच्चारण' के सम्मन में ही हुआ है। उक्त का ध्योतक यह है

'उच्चारण' के लिये ऋग्वेद-संहिता में दाक् जो कन बन कर ('दाक्' के प्रयोग के साथ) 'इयति' का प्रयोग सवामिक (पाँच) बार तथा 'उद्' उन्नत<sup>१</sup> व साथ (उत्पिनि वाचम्) दो बार<sup>२</sup> हुआ है। सुत्तनद<sup>३</sup> प्रकृद = व<sup>४</sup>, धनि-पुन (पयवा धनि पूष) स्थीर<sup>५</sup> न वाक् को प्रेरित करने की उन्नत नहीं (निन्तु) में नाव को डकलने से दी है<sup>६</sup>। 'उद् + √ईर्' और √ईर् का प्रयोग भी उक्त (उच्चारण) धर्म में दो-दो बार हुआ है। बना-संवार कर (सम्भवतः कविता के रूप में) प्रस्तुत करने के लिये √तप् का प्रयोग भी इसी प्रसङ्ग में सम्भवतः हुआ है<sup>७</sup>। √वद् का प्रयोग भी समस्त हुआ है<sup>८</sup>।

निष्कर्ष। इन सब प्रयोगों के आधार पर यही कहा जा सकता है कि धनि का उत्पान प्रयत्न से होना है, ऋषियों की यही धारणा थी।

१ कनिष्ठदत्तनुष प्र बुवाण इयति वाचमरितेव नावम् । २।४२।१ ॥

उप धो नमो नमसि स्तमायिनयति वाच जनययजध्य । ४।२१।५ ॥

एष प्रायेव जरिता त इद्रेयति वाच बृहदाशुवाण । ५।३।४ ॥

हरि सुमान पय्यामृतस्येयति वाचमरितेव नावम् । -

देवो देवानां मुह्यानि नामाऽऽविष्करोति बह्वि प्र वाचे ॥ ६।६५।२ ॥

प्रेद्राग्निम्यो सु वचस्यामिर्यामि ति-वाविष प्रेरय नावमर्क ॥ १०।११६।६ ॥

२ स्पूमना वाच उदियति बह्वि । १।११३।७ ॥ इ पृष्ठ ७, टि २।

३ इ ति १ मे २।४२।१ । ४ इ ति १ मे ६।६५।२ ।

५ इ ति १ मे १०।११६।६ ।

६ इस उपमा से इन लोगों का यही आशय प्रतीत होता है कि (क) जम नदी को अधिक-तम सरलता से नाव से पार किया जा सकता है, वैसे ही अपने धर्मशाय को भी वाक् के द्वारा ही सरल तम ढंग से प्रकट किया जा सकता है। (ग) जम पार पहुँचने में विषये (जल धार) का कौशल मुनिराम् अपरिणत होना है, उक्त धर्माव म नाव मम धार म ही रह जायेगी वस ही अपने आशय को सम्यक् प्राप्त कर के काम निबामने में भी वचना के वाक्चातुय की नितान्त प्रयत्ना है। (ग) नव गने का कौशल अतः प्रयत्न में आता है वसे ही वाक्चातुय भी प्रयत्न से माध्य है।

७ इ पृष्ठ ११, ति ६७ म धृत ६।३३।४ तथा ५।०।२ ।

८ इ पृष्ठ ५ ति ४ तथा ७।१०।३८ आह्वणसः सोमिनो वाचमकृत ।

९ इमां ते वाच वसूयन् प्रायवो रव न धीर स्वधा धनमिषु ॥ १।११०।६ ।

१० इ ७।१०।१ ५, ६, ११ ।

११ उच्चारण की प्रक्रिया देवादि धाटि यल के धुगार वाक का अधिष्ठान प्राप्त है। अर्थात् वाक 'आस्य, म उद्भूत होनी है। यहाँ 'आस्य' का प्रयोग ध्यान देने योग्य है। निरुक्त म इसकी व्याख्या  $\sqrt{\text{अस्य}}$  (ये बना) म धीरे धा- $\sqrt{\text{स्पृ}}^2$  से की गई है<sup>३</sup>। पतञ्जलि ने  $\sqrt{\text{अस्य}}$  का व्याख्या करते हुए कहा है कि वक्ता 'आस्य' से वरुणों का प्रयोग करता है, अतः यह 'आस्य' है<sup>४</sup>। अर्थात् पतञ्जलि उच्चारण म विशेष उपयोगी होने से मुग गद्दर का यह नाम पड़ा है, यह मानते हैं। यासा की दूसरी व्याख्या म सार के द्वारा अतः की गीता करने की विशेष सामर्थ्य तो स्पष्ट ही है, पर  $\sqrt{\text{अस्य}}$  म उद्भूत क्या तात्पर्य अभिप्रेत है यह स्पष्ट नहीं है। दुर्गादाय ने इनके दो भाग्य बनाए हैं याा समय इसम अतः डालने के कारण अथवा वरुणों की बाहर फेंकने के कारण यह 'आस्य' कहलाता है<sup>५</sup>। ऋग्वेद-संहिता म 'आस्य' का प्रयोग कोई चार्डन बार आया है। इनमें से छह बार इसका प्रयोग बोलने के सम्म म हुआ है<sup>६</sup>। वेप सोलह म यह 'अस्य' के सद्म म आया है<sup>७</sup>। ऐसी स्थिति म 'आस्य' की दोनों व्याख्यायें श्रुत्यनुबूल हैं और भाषा के प्रसङ्ग म पतञ्जलि की व्याख्या उचित और मौजूद प्रतीत होती है। अतः 'आस्य' स यहाँ मुख का वह गद्दर प्रतीत होता है जहाँ आ कर यागु वरुणों की अभिव्यक्ति कर के बाहर की ओर सम्प्रेषित कर देता है। अतः 'आस्य' वाक का अधिष्ठान है।

नेम भागव का कथन है कि वाक अज्ञात अर्थों का अधिष्ठान करनी है<sup>८</sup>। गोतम राट्टगण के कथन स विन्ति होता है कि वे वाक का सम्बन्ध मन स मानन है<sup>९</sup>। अर्थात् मनन या विचार के बिना वाक की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। अतः वाक सब से पहले मन म सद्बुद्ध के रूप मे आती है। इस भाग्य की पुष्टि अथ ऋषियों के कथनों स भी होती है याम देव गोतम का कथन है कि वाणी हृदय

१ इयमि ते शुभती वाचमासन् ॥ १ ॥ १६८२ ॥

२ इ ११६ आस्यमस्यते । आस्यदत्त एतद्वनमिति वा । निरुक्त के पाँच अध्याय पृष्ठ ११५, ११७ ।

३ इ महा भाष्य १११६, पृष्ठ १६६ अस्यस्यनेन वरुणित्यास्यम् । अ नमेतदास्य दत्त इति वाऽऽस्यम् ।

४ आस्यमस्यते क्षेपायस्य—क्षिप्यते ह्येतद्वानि मुत्पेना नम । क्षिपति वा वरुणम् ।

५ इ ११६६११ ५१८१४ १०१५३११, ६४१२, ६८१२ ३ ।

६ इ ११७५११, ८४११६, ३४११० (४४५१३) ३१२६१७ ४४०१४, ५१६१, ६१७११ ८१२११३ ३६१३, ६६१३, ६६६१२, ६६१३ १०१७३३ ७६१६ ८७१२ ।

७ वाग्वदत्तविचेतनानि । ८१००११०॥

८ विश्वस्य वाचमभिदमनायो । ११६८१६॥

रूपी समुद्र से उद्भूत होती है। वह नदी के समान प्रवाहशील होती है तथा हृदय के भीतर रहती हुई मन से छन कर बाहर आती है<sup>१</sup>। कुत्स भ्राङ्गिरस के मत में वाक् मनीषा (मन से, मन की ओर, गति-शील है=मन का कहा करने वाली) है<sup>२</sup>। शन-कण काण्व का कहना है कि मैं अधिवयो की स्तुति के साथ जगा हूँ ह देवि वाक्, तूने मेरी गति का प्रकट किया है<sup>३</sup>। अर्थात् ये ऋषि यह मानते हैं कि वाणी मन की ही झोलती है=पहले मन में सङ्कल्प होता है, फिर वाक् उसे प्रकट करती है। एक अन्य ऋषि का कथन है कि वाक् हृदय (गर्भ) में स्थित है। शब्द उसका बछड़ा है और वह मुख में स्थित है। गर्भ-स्थ वाक् का कारण मन है, और मुख-स्थ वाक् का कारण जिह्वा है<sup>४</sup>। बृहस्पति भ्राङ्गिरस ने तो स्पष्ट रूप से उच्चारण की प्रक्रिया बताते हुए कहा कि बुद्धिमान् सोम मन से वाक् को छान कर बोलते हैं<sup>५</sup>। अर्थात् वाक् पहले मन में आती है और फिर शब्द के रूप में व्यक्त होती है। इसी प्रकार पतञ्जल प्राज्ञ पत्य ऋषि का कथन है कि वाक् का आत्मा (पतञ्जल) पहले मन में धारण करता है। मन वाक् को अपने अधीन रखने के कारण गन्धर्व (गो=वाक् को धारण करने वाला) है। मन का सङ्कल्प ही उच्चारण के द्वारा द्योतित होना है और कवि लोग उस की अभिव्यक्ति से उस की रक्षा करते हैं<sup>६</sup>। वाक् के उच्चरित होने से पूर्व के इस रूप के बारे में दीर्घ तमस ग्रीव्य का यह कथन है कि वाक् की तीन अवस्थाएँ उच्चारण से पूर्व होती हैं। ये अवस्थाएँ गुप्त हैं। इन्हें मनीषी लोग ही समझ सकते हैं। उच्चारण तो वाक् की चौथी अवस्था है<sup>७</sup>। विश्वामित्र गायिन का कथन है कि धीर कवि अपने गन्धर्व

१ द्र पृष्ठ ६ टि १० पष्ठ ७, टि १ एते अध्वर्युमयो धृतस्य । ४।२।५।२॥

२ द्र पृष्ठ ५ टि ४। ३ द्र पृष्ठ ३ टि ५।

४ गर्भे घोषामन्धुवत्समासन्धवीष्येन मनसोत जिह्वा । १०।४३।११॥

५ सवदुमित्र तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमकृत । १०।७२।२॥

६ पतञ्जो वाच मनसा विमर्ति, ता गन्धर्वो अवदद्गर्भे धात ।

ता द्योतमामा स्वय मनीषामृतस्य पदे कथयो नि पाति । १०।१७७।२॥

७ अवारि वाक्परि मिता पदानि, तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिण ।

गुहा ग्रीणि निहिता मेङ्गयति, तुरीय वाचो मनुष्या वदति । १।१६४।४५॥

सायण न इसकी व्याख्या कई दृष्टियाँ से की है। उनमें से निम्नलिखित दृष्टि से की व्याख्या ही मात्र को सर्वश्रेष्ठ लगा पाती है

अपरे मातृका प्रकारात्तरेण प्रतिपादयति परत पश्यन्ती, मध्यमा, वक्षरोति अत्वारोति । एकव नादात्मिका वाह मूलाधारादुदिता सती परेत्युच्यते । नादस्य च सूक्ष्मत्वेन दुनिरूपत्वात्सर्व हृदय-गामिनी पश्यन्तीत्युच्यते योगिमिद्वष्टु शक्यत्वात् । सर्व बुद्धि गता विवक्षा प्राप्ता, मध्यमेत्युच्यते मध्ये हृदयाख्य उदीय मानत्वा-मध्यमाया । अथ यदा सर्व वक्त्रे स्थिता तात्त्वोष्ठादि व्यापारेण



मा मा म मनी मीति विचार करके उपाय (समाय) करना है<sup>१</sup> । प्रमाण  
मना-मणि का कथन है कि उपचारण के मा-माक द्वारा पूर्णित न मने पर्याप्त  
माकाय में कम जाती है<sup>२</sup> । प्रत्येक उपाय के मा-माक की गहराई मा-मा<sup>३</sup> है और  
उपायों के मा-मा की गहराई से दो है कि मा-मा खुलने मात्र (मा-मा निर) की गहराई  
का गहराई (मा-मा) के मा-मा प्रमाण करता है<sup>४</sup> ।

यात्र का यह सारा व्यापार धर्माभि यात्र के लिए होता है। मुगल साम्राज्य में यात्री के द्वारा प्रचलित यात्रा व्यवस्था का मथुरा महार बजार है। नम भागवत उक्त ध्यान (दण्ड) और बज (ऊँच) बताया है। याम स्व गीतम के मत में वाली गाय और धर्म उत्तम धर्म प्रतीत होता है। यात्री ग ध्यान गाय पत को प्रकट किया जाता है। इस ध्यान के धर्म (धर्म) का निर्माण मनुष्य के द्वारा निहित स्वाभाविक धर्म (स्वयं) ग हा होता है। मृगगीत धर्मधर्म के अनुसार धर्म यात्र का धर्म और पुण्य है। यह धर्म (धर्म धर्मधर्म ग धर्मधर्म) लागा के धर्म ता यात्री दुष्कार गाय है और धर्म-धर्म सात-धर्मधर्म धर्मधर्मधर्म के लिए धर्म गाय है।

१२ यात्र के घटक तत्त्व दीप-जमन शौर्य ने यात्र की रचना 'मगर स बनाई है'। इन्हीं के जय स विजि होना है कि मगर रात्र १-४/ शर क यात्र स बना है तथा इनका अर्थ है शरित न होन वाता सर्पात् प्रक्षय'।

वर्द्धति, तदा घटारीशुष्यतः । एव 'घटवारि वाच पदानि परिभितानि । मनी  
 दिणो' = मनस स्वाभिन्, स्वाधीन मनस्वा । 'ब्राह्मणा = रषाक्षस्य गार्ह  
 ब्रह्मणोऽधि-गतारो योगिनः । परादि घटवारि पदानि विदुर = जानन्ति । तपु  
 मध्ये त्रीणि परादीनि शुक्ता निहितानि हृदयात्तवतिस्वात् । तुरीय तु पद घटारा  
 सञ्ज्ञक मनस्या सर्वं वर्द्धति ।

१. प्रयागं गुवाता परि वीत प्रागात्, स उ ध्या मवति जायमान ।

त घीरास कवय उमर्यति स्वाप्यो मनसा देवयत् ॥ ३५४ ॥

पुनरिति धीरा अपसो मनोया इव-या विप्र उदियति बाधम ॥ ५ ॥

२ अददशको नयमानो हवह गौरतदतो न रोदती चरदाक ॥ ११७६॥ ३ ॥

३ प्राचीविषद्वाच ऊमि न सिर्षगिर सोम पथमानो मनीषा । ६।६६।७ ॥

੪ ਦ੍ਰ ਪ੍ਰਥ ੭, ਟਿ ੪ ।      ੫ ਦ੍ਰ ਪ੍ਰਥ ੫, ਟਿ ੧੨ ।

६ इ पृष्ठ ८ ति ६ तथा यस्य नाम प्रख्यामा धृतस्या उप ग्रहा भूण

मानम् । ४।५८।२॥ ७ द्र पृष्ठ ८, टि १ ।

८ गायत्रेण प्रति मिमोते अकर्मकेण साम, त्रष्टुभेन वाकम् ।

वाकेन धाक् द्वि पदा चतुष्पदा, ऽसरेण मिमते सप्त वाणो ॥ १।१६४।२४॥

६ द्र ११६४।४२ तत क्षरत्य क्षर तत् ।

दीर्घ-तमस् के अनुसार 'अक्षर' शब्द मूलतः सृष्टि के मूल उत्स का वाचक है, जो पर-वर्ती दाशनिकों के 'ब्रह्म' के निवट का कोई तत्त्व है<sup>१</sup>। सम्भवतः वाणी के प्रसङ्ग में 'अक्षर' का अर्थ 'वण' हो, क्योंकि वाक् का मूल वण ध्वनि ही है। दीर्घ-तमस् का उपयुक्त कथन 'सात वाणियों' के विषय में है। सात वाणियों का अर्थ, जैसा कि हम पीछे (पृष्ठ १२ में) देख चुके हैं, छन्द है। वैदिक छन्द स्वर, या व्यञ्जनारूढ स्वरों की सङ्ख्या पर निर्भर करते हैं, यह तथ्य विदित ही है। अतः प्रकृत में 'अक्षर' शब्द स्वर, या व्यञ्जनारूढ स्वर, अर्थात् मङ्गरेजी के 'सिलेबल', का पर्याय ही प्रतीत होता है। यह शब्द वाणी के पर्याय के रूप में भी प्रयुक्त हुआ है, यह हम (पृष्ठ २ में) देख चुके हैं। यदि यहाँ उसे भी दृष्टि में रखें, तो इस कथन का निष्कर्ष यह निकलता है कि वाणी अर्थात् वाक्, का घटक अक्षर (वण) तत्त्व है जिसके कारण वाक् स्वयं भी अक्षरा मानी गई है। यह अक्षर ध्वनि के रूप में है क्योंकि वाक् ध्वनि ही है। अतः दीर्घ-तमस् के अनुसार अक्षर अर्थात् ध्वनि है। वाक् के रूप में उसकी अभिव्यक्ति मात्र होती है, उत्पत्ति, अर्थात् वाक् का न होने से होना, नहीं होता।

'अक्षर' शब्द वण अर्थ में है इस कथन की पुष्टि दीर्घ-तमस् के एक अर्थ कथन से भी होती है। अग्नि की प्रशंसा में इनका कहना है कि अग्नि हमारी 'शुक्र वणों' (=शुक्र=अच्छे, दीप्तिमान् वणों वाली) स्तुति की प्रेरित करता है<sup>२</sup>। यहाँ 'शुक्र वणों' में 'वण' से 'अक्षर' को लेने में कोई बाधा नजर नहीं आती। स्तुति वाक् ही तो है। वणों की शुक्रता से चमत्कार युक्तता=नाद और अर्थ के सौंदर्य से युक्त होना अभिप्रेत हो सकता है। विश्वामित्र ऋषि ने भी इन्द्र का वणन करते हुए कहा है कि इन्द्र ने स्तोता की स्तुतियों को चेतना दी इन्हें शुरु वण प्रदान किया<sup>३</sup>। नो घस् गीतम् ने वणों की इस प्रोज्ज्वलता को वस्त्र बुनने के एक सुन्दर रूपक से अर्थ प्रकार से कहा है कि इन्द्र के वृत्र वध के शौर्य-पूर्ण काय को देख कर उनसे प्रभावित देव परिनियों ने इन्द्र की प्रशंसा-रूपी वस्त्र को बुना<sup>४</sup>। यहाँ भी 'इन्द्र ने स्तोताओं को अपने शौर्य युक्त चरित से इतना उत्साहित किया कि उनकी वाणी अत्यन्त उज्ज्वल वणों में प्रवाहित हो उठी।' यही

१ ऋषी अक्षरे परमे योमयस्मिन् देवा अग्नि विश्वे नि पेषु ।

यस्तान् वेद, किमृचा वरिष्यति ? य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ॥१॥१६४।३६॥

२ इमानो अक्रो विदयेषु दीक्षन्त्यै वण्यमुदु नो यसते धियम् ॥१॥१४३।७॥

३ अचेतमद्विष्य हमा अरित्रे प्रेम वण्यमतिरञ्जुमासाम् ॥ ३।३४।५ ॥

४ अस्मा इदु न्नाश्चिद्देव-पत्नोरिन्द्रायकमहि हत्य ऊबु । १।६१।८ ॥

तुलना करें अभिज्ञान शकुन्तलम् ७।५

‘विच्छिन्ति’ गेष सुर सुन्दरीणां वण्यमो कल्प लतायुकेषु ।

सञ्चित्य गीति क्षममय वयं विधौकसस्त्विच्छरित लिखन्ति ॥

बहुता धर्मिप्रेत सवता है<sup>१</sup> । धरा वरुण<sup>२</sup> और अरुण<sup>३</sup> शब्द भाषा की स्वनि की इकाइयों के वाचक ही प्रतीत होते हैं ।

अरुणों से वाच बनती है यह कहा जा चुका है । विश्वामित्र गायिन का कथन है कि नामों के द्वारा वाणी को सवनीय बनाया गया<sup>४</sup> । इस कथन का आशय यह प्रतीत होता है कि अरुण<sup>५</sup> और भाषा<sup>६</sup> इन दो धाराओं के मेल से नाम है । अर्थात् अरुणों से नाम बनते हैं, और उन से भाषा । इस प्रकार भाषा की सवनीयता (सवम्प्य) नामों के द्वारा होती है । यहाँ नाम शब्द 'पञ्च-सामाय=सञ्ज्ञापक' के लिए ही प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है, नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपातो में स च-य-तम के लिए नहीं । इस अर्थ में नाम का प्रयोग ऋग्वेद संहिता में बृहदुक्थं वाम-देव्य<sup>७</sup> और बृहस्पति आदित्य<sup>८</sup> के द्वारा किया अवश्य गया है । 'पञ्च-सामाय' अर्थ में नाम का प्रयोग दान-वय आहारण में भी किया गया है<sup>९</sup> । एक अन्य ऋषि का भी कथन है कि हे ऋषियो, अमरता के लिए वाणिमों के द्वारा प्रयास करो । तुम गुह्य पदा का बनाओ । तुम्हारे इस प्रकार करने से देवता अमर हो जाते हैं<sup>१०</sup> । अर्थात् कवि लोग गहरे अर्थ वान शब्दों के प्रयोग वाली वाणी का द्वारा अपने वच्य को अमरता प्रदान कर देते हैं । यहाँ का 'पदा' शब्द विश्वामित्र गायिन के नाम का सम-स्थानिक ही प्रतीत होता है ।

विश्वामित्र के उपर्युक्त कथन का एक भाग्य और भी हो सकता है कि नामों से, अर्थात् शब्द मय सञ्ज्ञाएँ रख कर, वाणी का आशय व्यवहार में सुभीत के लिए किया गया ।

निरुक्त ऋग्वेद-संहिता के अनुसार वरुण<sup>११</sup> अर्थात् अरुणों, से पद बनते हैं

१ मही महर्षि पतयत्यस्यैवस्य कम मु कृता पुरुषि । ३।३।१६ ।

मुषेन्द्रो महर्षा वरिवश्चकार वेवेम्य सत्यतिश्चयणि ॥ १ ।

विदस्वत सदाने अस्य तानि विप्रा उक्थेभि कवयो गुणति ॥ ३॥

तुलना करें राम, तुम्हारा वृत्त स्वयं ही काव्य है ।

कोई कवि बन जाये सहज सम्भाव्य है ॥ साकेत ॥

२ तदियस्य वृषमस्य येनोरा नामभिर्ममिरे सवम्प्य यो । ३।३।७ ॥

३ चत्वारि ते अमुर्षणि नामा दाम्यानि महिषस्य सन्ति । १०।५।४ ॥

४ बृहस्पते, प्रथम वाचो अथ यत्प्ररत नाम धेय वधाना । १०।७।१॥

५ अथ वा इदं—नाम, रूप, कम । तेषां नाम्नां 'वाग्' इत्येतदेवाभ्युक्तमममो हि सर्वाणि नामान्युत्तिष्ठति । एतदेवां साम, एतद्धि सर्वैर्नामि समम । एतदेवां ब्रह्म, एतद्धि सर्वाणि नामानि विभक्ति (१।४।४।१) ।

६ सतो नूनं कवय, स शिशीत, वागीमर्षामिरमृताय तक्षय ।

विद्वान् पदा गुह्यानि कतन, येन देवासो अमृतत्वमानयु ॥१०।५।१०॥

निरुक्त के पाँच अध्याय (४।१६) भी देखें ।

और उनसे वाक बनती है।

१३ भाषा का व्याकरण कुछ मन्त्रों से विदित होता है कि ऋषामो के प्रणयन तक भाषा के व्याकरण का काय काफी धामे बढ चुका था। अर्थात् उस समय ऋषियों की गिष्ट मान कर उनकी भाषा के व्याकरण का प्रयास किया जा चुका था। बृहस्पति आङ्गिरस का कथन है कि वाक् के माग को बुद्धिमान् लोगो ने खोजा और उसे ऋषियों में प्रविष्ट पाया। उसे ले कर उन्होंने उस का बहुत तरह से विश्लेषण किया। सातो स्तोता<sup>१</sup> उसी (व्याकृत वाक) का प्रयोग अपनी स्तुतियो म करते हैं<sup>२</sup>। इसी प्रकार वाक आम्भृणि ऋषिका का भी कथन है कि मैं (वाक) शासन करने वाली, धन प्राप्त कराने वाली यन् के विधि विधाना की पहली समझने वाली है। बहुत समय तक स्वयं टिकने वाली और बन्त लोगो की बसाने वाली मुक्त (वाक) की देवा ने विविध प्रकार से व्याकृत कर दिया<sup>३</sup>। वेङ्कट माधव के अनुसार तो विश्वामित्र गायिन का भी कहना है कि इन्द्र ने अव्याकृत वाक का व्याकरण कर दिया<sup>४</sup>। दीध-तमस् औचध्य क एव मन्त्र<sup>५</sup> की शाब्दिक आचार्यों की दृष्टि न व्याख्या करते हुए सायण का कथन है कि शास्त्रात्मक वाक व्यापन करती है। घट आदि वस्तुमा का अग्नि धान करने वाली वह एक पद वाली है<sup>६</sup>। अथवा व्याकृत न होने से एक ही म खण्ड अवि ष्ठान वाली, अथवा एक ही रूप वाली, है। सुबत्त और तिष्ठत्त के भेद से दो प्रकार के पदा वाली है। नाम, आख्यात, उप सग और निपात के भेद से चार पदो वाली है। सम्बोधन समेत आठ विभक्तियों के भेद से वह आठ पदा वाली है और अव्यय

१ अर्थात् होतृ, मंत्रा वरुण, ब्राह्मणाश्वसिन्, नेष्टु, पोतृ, आग्नीध्र और अक्ष्ण वाक नामक ऋत्विज। इ ऐतरेय ब्राह्मण २८।१, सायण भाष्य, पृष्ठ ७०३।

२ मग्नेन वाच पदवीयमायन, ताम-वविद-नृपियु प्र विष्टाम।

तामा भूत्या व्यदधु पुरुत्रा, तां सप्त रेमा अग्नि सन्वते ॥१०।७।३॥

इ सायण अनन्तर तां वाचमा भत्य=आ हृत्य पुरुत्रा=बहुपु देशेषु

व्यदधु=व्यकापु, सर्वा-मनुष्यान्व्यापयामासुरित्यथ।

३ अहं राष्ट्री सङ्गमनी बसूना, चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम्।

तां मा देवा व्यदधु पुरुत्रा मूरि स्थाना भूर्यायन्यत्तीम ॥१०।१२५।३॥

४ नुनुदे वि वाच। (३।३४।१०) पर भाष्य वाचश्चाध्या-कृता वि नुनुदे =व्याचकार।

५ गौरीमिमाय सनितानि तप्तत्येक पदी, द्वि पदी, सा चतुष्पदी।

अष्टा पदी, नव पदी बभूवुषी सहस्राक्षरा परमे व्योमन् ॥१।१६४।४॥

६ व्याकरण इन्द्र क अनुसार अथ की अग्नि धायक ध्वनि पद कहलाती है अथ पदम-द्राणाम (निरुक्त १।२ पर दुग)। इस दृष्टि से पद एक ही है। नाम आख्यात आदि भेद तो उस अथ के अवा तर भेदो के आधार पर किये अवातर भे है। इ निरुक्त मीमांसा, पृष्ठ १०४ १, १२७ १३२।

पदों के साथ पूर्वोक्त आठ विभक्तियों को मिला कर वह नौ पदों वाली है। अथवा नाभि समेत उर, कण्ठ आदि<sup>१</sup> नौ स्थानों में होती हुई, बाएँ में अनन्त प्रकार से अभिव्यक्त हो जाती है। ह्रस्व के छिन्न अर्थात् प्रसाधार में अनन्त प्रकारों से व्याप्त अर्थात् अनन्त प्रकार की ध्वनियाँ होती हैं<sup>२</sup>। सायण की यह व्याख्या निराधार नहीं प्रतीत होती। कुरुमुनि वाण्व ऋषि ने आठ पदों वाली घोर सायण के अनुसार नौ गाँठों (या लड़ियों) वाली (नव शक्ति) एवम् श्रुत का स्मरण करने वाली (यथाय वरुण करने वाली) अपनी वाक को इन्द्र से थोड़ा कम बताया है<sup>३</sup>। अर्थात् इतनी समय वाक भी इन्द्र का वरुण पूरी तरह से नहीं कर सकती। इस मन्त्र के 'अग पनी घोर नव शक्ति' की वैद्वट माधव घोर सायण की व्याख्या आदेय नहीं प्रतीत होती। अग पनी से 'अगठ विभक्तियों वाली वाक् घोर नव शक्ति' से पूर्वोक्त<sup>४</sup> मौलिक<sup>५</sup> अथवा नौ स्थानों में सृष्ट, या सम्बद्ध<sup>६</sup> वाक अथ सेना उचित होगा। बसिष्ठ मैत्रावरुण का कहना है कि मुक्तवरुण ने बताया है कि अनन्तर वाक (अग्या) तीन गुणों से (—इक्कीस) नामों को धारण करती है। अध्ययन में तीन अपने अपने वासी को सिखाते हुए विद्वान्, मेधावी (वरुण) ने पद (१-२) के रहस्यों को बताया<sup>७</sup>। वैद्वट माधव ने यहाँ इक्कीस नामों से पृथिवी के निषण्ण पठित इक्कीस पर्याय अथ से कर अग्या से पृथिवी का वरुण माना है<sup>८</sup>। परन्तु यह कथन ऐतिहासिक दृष्टि से ठीक नहीं

१ अष्टौ स्थानानि वरुणानामुर कण्ठ, गिरस तथा।

जिह्वा मूल च, इ ताश च, मासिकोष्ठी च, तालु च ॥ या निम्ना १३ ॥

२ इ सायण भाष्य १।१६४।४१ केन्द्रिवेदमाहुर—गौरीद्=गरण

शीला गङ्गा-ब्रह्मारिमका वाग मिमाय=माति। प्रतिदार्थं धातु। प्रति छित्तानि घटादि इत्यादि तक्षती=तत्तद्वाचकत्वेन निष्पादयती एक पदी=अ-व्याहृतत्वेन च प्रति छाना, एक रूपा वाऽऽमता। द्वि पदी=सुप्तिश्च भेदेन पाद द्वय वती। चतुष्पदी=नामाख्यातोपसर्ग निपात भेदेन। अष्टा पदी=ग्रामश्रित सहिताष्ट (विभक्ति) भेदेनाष्ट पदी। नव पदी बभ्रुबुधो साध्यपरुक्तरश्मिभनव पदी अथवा स नाभिसेपर कण्ठादिषु नवसु पदेषु भवती पञ्चाव बहुविधानिष्यवित्तुपेयुषो परमे ध्योम नुत्कृष्ट हृदयाकाशे मूलाधारे सहस्राक्षराज्जेकाकारेण व्याप्ताज्जेक प्रकारा भवतीत्यथ।

३ वाचमष्टा पदीमह नव शक्तिमृत सृष्टम्। इन्द्रात्परि तत्र ममे ॥८१७६।२॥

४ इ '३ वाक के गुण १', पृष्ठ ५, टि ५।

५ उयाच मे वरुणो मेघिराय त्रि सप्त नामाऽग्या विभक्ति।

विद्वापदस्य गुह्या न वोचद् युगार्य विश उपराय शिक्षत् ॥ ७१७८।४ ॥

६ इ भाष्य त्रि सप्त=एक विंशति नामानि काचिद् गोविभर्तोति पृथिवी माह, तस्याहि याम्क पठितायेक विंशतिर्नामानि (इ निषण्ण १।१)। सायण ने इस व्याख्या की चर्चा भाष्य कार का नाम दिये बिना उद्धृत की है अथवा माह—गो = पृथिवी, तस्याश्च गोमर्मा, जमे ति पठितायेक विंशति नामानोति।

प्रतीत होता पर कालीन निषण्डु मे सङ्कुलित नाम सदस्या की चर्चा उस से प्राचीन ही नहीं अपितु संहिता के संधान से भी प्राचीन ऋचा मे मानना असङ्गत है। अतः यहाँ 'तीन गुने सात नामा से 'तीन वचनो वाली सात विभक्तिया से युक्त नाम पद' समझना कदा चिद् उचित है'।

वाम देव गौतम के एक मन्त्र<sup>२</sup> की व्याकरण सम्मत<sup>३</sup> व्याख्या मे आचार्य पतञ्जलि का कथन है कि शब्द रूपी महान् देव के नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात ये चार सौंग हैं। भूत, भविष्य और वर्तमान ये तीन काल इसके पाद हैं। नित्य और काय के भेद से दो प्रकार के शब्द इस के दो सिर हैं। सात विभक्तियाँ इस के सात हाथ हैं। चरस कण्ठ और सिर इन तीन स्थानों मे बँधा होने से यह तीन तरह से बँधा हुआ है। (अथ की) वर्षा के कारण यह वृषभ है। यह मरण धर्मों मनुष्यों मे प्रविष्ट है<sup>४</sup>।

१४ नाम करण क्रिया के आधार पर बृहदुक्थ वाम दध्य ने इन्द्र का वरण करते हुए कहा है कि तुम महान् के बत को प्रकट करने वाले (असुर्याणि) तथा न दबने वाले चार नाम हैं। तुम उन सब (नामों) को भली भाँति जानते हो, जिन से हे प्रशस्त घन वाले, तुम ने काय किये हैं<sup>५</sup>। इस कथन से विदित होता है कि इन नामों का तथा इन से प्रकट होने वाले कार्यों का गहरा सम्बन्ध है। अर्थात् तत्तत् काय करने के कारण इन्द्र के अमुक अमुक चार नाम<sup>६</sup> पडे हैं। इससे सिद्ध होता

१ द्र निवृत्त के पाँच अध्याय, पृष्ठ १८४।

२ चत्वारि शृङ्गा, त्रयो अस्य पादा, द्वे शीर्षे, सप्त हस्तासो अस्थि।

त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति, महो देवो मर्त्या प्रा विवेकः॥ ४।१८।३॥

३ यास्क ने निवृत्त १३।६ में इस मन्त्र की अधि-यन व्याख्या की है चार सौंग=चार वेद, तीन पाद=तीन सवन, दो सिर=दक्षिणोत्तरायण सात हाथ=सात छद, तीन प्रकार से बंधा=मन्त्र, ब्राह्मण और कम की विधियों (कल्पों) से। वृषभ=इच्छार्मों की पूति करने वाला साँढ यन्, प्रातः, माध्यदिन और सायन्तन सवना मे ऋग यजु और साम के रूप में शब्दावित (ऋत्विजा द्वारा) होना है।

४ द्र महा-माध्य, पृष्ठ १७ चत्वारि शृङ्गाणि=चत्वारि पद जातानि नामात्प्रातोपसर्ग निपाताश्च। त्रयो अस्य पादास्त=त्रय काला भूत भविष्यवर्तमानाः। द्वे शीर्षे=द्वौ गण्यमानौ नित्य, कायवच। सप्त हस्तासाः। अस्थि=सप्त विभक्तयः। त्रिधा बद्धस्त=त्रिषु स्थानेषु बद्ध उरसि कण्ठे, निरसीति। वृषभो वषणात्। रोरवीति=शब्द करोति। कुत एतत्? रीति नाद धर्मा। 'महो देवो मर्त्या प्रा विवेकः' इति महान् देव शब्द। मर्त्या=मरण धर्माणो मनुष्यास्त, ताना विवेकः।

५ चत्वारि ते असुर्याणि नामाऽगम्यानि महिषस्य सन्ति।

त्वमङ्ग, तानि विश्वानि वित्से येमि कर्माणि मघयज चक्य॥ १०।१४।८॥

६ छद् मन्त्रो वाले इस सूक्त मे इन्द्र के १ रत्नक, २ दासा का हस्ता,

है कि वृहदुक्थ के मत म द्रव्य का कोई नाम पढ़ने का आधार उस द्रव्य की कोई विशिष्ट श्रिया होती है ।

खिल रहित ऋग्वेद संहिता में लगभग पौने सात सौ पदों की व्युत्पत्ति को स्पष्ट करने वाले बारह सौ चासीस जो प्रयोग हैं<sup>१</sup>, उनसे भी यही पुष्ट होता है कि ऋषि नाम करण पदार्थ की विया के आधार पर होता है<sup>२</sup>, यह मानते थे ।

१५ भाषा शिक्षण का तरीका वसिष्ठ मन्त्रा-व्यष्टि ने वर्षा के मौसम में एक के पीछे एक टरति हुए मेढकों का गणन करते हुए कहा है कि वर्षा के बाद धित रगा (पृश्नि) मेढक पीले रंग के दूसरे मेढक से अपनी आवाज उसी प्रकार मिला रहा है, जैसे वाक सीखता हुआ कोई छात्र (गिन्यमाण) वाक के जानकार की (शास्त्र स्व) वाक को दुहराता है<sup>३</sup> । प्राचीन काल में शिक्षा मौखिक दी जाती थी, यह तथ्य सु विदित है । आज भी वेदाध्ययन में वेद पाठी लोग इसी पद्धति को काम में लाते हैं । सङ्केत ग्रहण की प्रक्रिया में उत्तम वृद्ध और बालक (अथम वृद्ध) में भाषा को सिलाना एवं सीखने में अनु-करण ही काम करता है । अतः वसिष्ठ के उपयुक्त कथन का आधार पर यह कहा जा सकता है कि वाक को सीखने का तरीका दूसरे को बोलत

३ घनवान् और ४ दानी स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है । इसमें 'मघवन्' शब्द तीन बार और इन्द्र शब्द चार बार आया है । इन्द्र के दातृत्व का गणन पहले, चौथे (४) मह से निष्पन्न 'महिय दान' से और पाँचवें मन्त्र में किया गया है । बल के कार्य का गणन १२ मन्त्रों में, ऐश्वर्य का १५ ५६, अर्थात् छह में से पाँच, मन्त्रों में किया गया है । इससे सङ्केत मिलता है कि ऋषि को इन्द्र के इन चार कार्यों के आधार पर पड़े कोई चार नाम अभिप्रेत हैं । 'मघवन्' और 'इन्द्र' का प्रयोग तो ऋषि ने यहाँ किया ही है । इन्द्र का सबसे बड़ा पराक्रम काय वृत्र वध है । अतः 'वृत्र हन्' तीसरा नाम हो सकता है । चौथा नाम अतुल्य मन्त्र में पड़ा महिय हो सकता है । इन्द्र के निये सु-बहुत प्रयुक्त वृषभ शब्द भी इसी आशय को पुष्ट करता है । अतः इन्द्र के चार नामों से १ इन्द्र २ मघवा ३ वृत्र हन् और ४ महिय अथवा वृषभ ये चार शब्द अभिप्रेत हो सकते हैं ।

१ इनकी शर्चा हम इस अध्याय के प्रारम्भ में ही कर चुके हैं तथा इनमें से कुछ पर विस्तरेण विचार अगले अध्याय में करेंगे । खिल के ऐम प्रयोगों को मिला कर यह सङ्ख्या क्रमशः सात सौ पद और बारह सौ सत्तर प्रयोग है ।

२ नैश्कतो का नामा-याख्यातनानि ।' सिद्धांत इसी परम्परा पर आधारित है । इन्द्र निष्कत भीमासा, पृष्ठ २०७ ।

३ यदीमेनां उग्रतो अम्य वर्षात् तृष्यावत् प्रावृष्यामतापाम ।

अश्वत्थी कृत्या पितर न पुत्रो अयो अयमुप यदत्तमेति ॥ ७।१०३।३ ॥

अयो अयमनु शुम्णात्यनोरपां प्र सगं यदमा दयाताम ।

मङ्गुको यदमि वृष्ट कनिष्क-पृश्नि सम्पृहक्ते हरितेन वाचम् ॥ ४ ॥

रवेपामयो ॥ यस्य वाच शास्त्रस्येव वृत्ति शिक्षमाण ॥ ५ ॥

देग कर उसका अनु करण करके स्वयं भी वैसे बोलना ही है ।

उपसंहार इस प्रकार हम ने देखा कि विश्व के इस प्राचीनतम साहित्य के प्रणेता भाषा चिन्तन की दृष्टि से पर्याप्त जागरूक हैं । उनकी जागरूकता यो तो उनके अपने समय में इस विषय से सम्बद्ध ऊहापोहो, वाद विवादो, तथा ग्रन्थों में ही अभिव्यक्त होती होगी, परन्तु कुछ भाँकी उनके स्तुति साहित्य में भी दृष्टि गोचर होती है । ये लोग भाषा चिन्तन के दार्शनिक पक्ष के कई पहलुओं पर महत्व पूर्ण दिशा देने मे प्रथम हैं । उनमे से कुछ पहलुओं को स्पष्ट करने का प्रयास प्रकृत अध्याय में किया गया है ।

अपने अध्येताओं से हम एक निवेदन और कर दें ऋग्वेद सहिता अपनी प्राचीनता के कारण भाव और भाषा दोनों दृष्टियों से भाज के अध्येता के लिये एक कठिन ग्रन्थ है । उस पर भी प्रकृत अध्ययन के लिए उस की व्यञ्जना को पकड़ना अत्यन्त आवश्यक है, अभिधा तो बहुत पीछे छूट जाती है । व्यञ्जना स्वयं का समपण स हृदय को ही करती है तथा स हृदय भी निर्धार्ति रूप से व्यञ्जना को सदा भावेन आत्म-सात् करने का दावा नहीं कर सकता । प्रकृत अध्ययन भी हम साहित्य की व्यञ्जना को पकड़ने मे निर्भ्रान्त होने का दावा नहीं कर रहा है । अतः विद्वान् अध्येता इस से सह मत या असह मत होने मे अपने विवेक और ज्ञान का सहारा अधिक मात्रा में लें । इस दिशा मे यह एक विनम्र प्रयास है और मैं आशा करता हूँ कि स ह्य विद्वान् इस दिशा को और अधिक प्रकाशित करेंगे ।



## ऋग्वेद-संहिता में व्युत्पत्ति-चिन्तन

ऋग्वेद संहिता के ऋषियों का व्युत्पत्ति सम्बन्धी चिन्तन बहुत विरसित स्थिति में था। ऋषि लोग अपनी भाषा का व्याकरण पर्याप्त विराद रूप से कर चुके थे। वण, पद पदाय, और वाक्य का विश्लेषण उस समय तक वैज्ञानिक रीति में हो चुका प्रतीत होता है।

उपयुक्त कथन की पुष्टि में यद्यपि हम उस काल के किसी व्याकरण ग्रन्थ को प्रस्तुत नहीं कर सकते, तथापि ऋग्वेद-संहिता के मायिक प्रयोगों की व्याख्या व्युत्पत्ति चिन्तन की दृष्टि से कर्म पर कुछ तथ्य उभरते हैं जो इस बात के पायक हैं कि उस समय भाषा की आधारभूत इकाई 'पद' का वैयुत्पत्तिक विश्लेषण 'प्रकृति' और प्रत्यय के रूप में ही नहीं, अपितु समास और 'तद्धित' के रूप में भी प्रकृत्यय, प्रत्ययाय, समासाय और तद्धिताय के विवेचन के साथ अवश्य किया जा चुका होगा। हाँ उस विश्लेषण की लिपि बढ किया गया था, कि नहीं, इस विषय में आज हमारे पास पक्ष या विपक्ष, मे कोई जानकारी नहीं है।

ऋग्वेद संहिता की भाषा शब्द सम्पत्ति और अर्थ सम्पत्ति की दृष्टि से अधिक विस्तृत होते हुए भी पूरुत व्याकरण लक्षणोपपन्न है। वे तमाम बाटीकियाँ हममें अपनी गई दृष्टि गोचर होती हैं, जो किसी भी व्याकृत भाषा में हो सकती हैं यह वैदिक भाषा के पाश्चात्य वैज्ञानिकों के व्याकरणों से स्पष्ट है। हाँ, पाणिनीय व्याकरण के 'छात्र' बहुलम और 'बहुल छदसि' आदि दजना बार दुहराये सूत्रों एवं वैदिक भाषा के विषय में पाणिनीय व्याकरण के सभी नियम ढीले हैं बल्लिप्त हैं<sup>१</sup>। आदि निष्कर्षों से अवश्य यह भान होता है कि ऋषियों की भाषा स्वच्छिन्न थी, व्याकृत लक्षणों से बहुत बचने वाली नहीं थी पूरुत व्याकृत नहीं थी<sup>२</sup>।

इस प्रकार की भाषा उनके प्रयोक्ताओं की भाषा चिन्तन सम्बन्धी जागरूकता

१ द्र. परिभाषा ३५ सर्वे विषयश्च दत्त वि बल्यते।

२ पतञ्जलि के अनुसार अष्टाध्यायी में लौकिक एवं वैदिक भाषा का व्याकरण किया गया है अथ शब्दानुशासनम्। केषां शब्दानाम्? लौकिकानां वैदिकानां च (महाभाष्य, पृष्ठा, पृष्ठ १, ३)। वस्तुतः हमें लौकिक भाषा के व्याकरण की ही प्रामुखता दी गई है। वैदिक भाषा के व्याकरण की तो लौकिक से भेद की मोगी माटी आते ही दी गई है। यही कारण है कि अष्टाध्यायी की वैदिक भाषा का भी पूरुत व्याकरण मानन पर उपयुक्त भानि होती है।

का स्वतन्त्र-स्फूर्त एवं सवाचिक महत्त्व पूर्ण प्रमाण है। इस के अतिरिक्त ऋग्वेद-संहिता में ऐसे अनेकों भाषिक प्रयोग मिलते हैं, जो भाषा के व्युत्पत्ति चिन्तन के बिना सम्भव नहीं प्रतीत होते। जैसे—

(१) त्रित प्लात ऋषि ने 'द्रविणस्यु' के साथ 'द्रविणसश्चकान' का प्रयोग कर के 'चाहना' अर्थ में विद्यमान 'यु' प्रत्यय वाले शब्द की व्याख्या उस का विग्रह करके की है<sup>१</sup>।

(२) मधु च्छन्दस के पुत्र जेत् ने 'मय' (दिया जाने वाला धन) के साथ √मह (देना) क्रिया का प्रयोग कर के इन दोनों के व्युत्पाद्य 'युत्पादक' सम्बन्ध का प्रकाशित किया है<sup>२</sup>। उनके पिता मधु च्छन्दस वश्वामित्र ने भी वही प्रकार का प्रयोग किया है<sup>३</sup>। वाम देव गीतम ने इसी आशय को √दा (देना) का प्रयोग कर के स्पष्ट किया है<sup>४</sup>। भरद्वाज बाहस्पत्य<sup>५</sup> और आमङ्ग प्लायोगि<sup>६</sup> ऋषि का कथन भी ऋग्वेदीय ऋषियों के 'मघ' शब्द के बारे में परम्परा प्राप्त 'युत्पत्ति चिन्तन' को ही प्रकट करता है। ये कोई अनुप्रास चमत्कार के लिए किये, अथवा अकस्मात् हो गये, प्रयोग नहीं हैं।

(३) इसी प्रकार मधु च्छन्दस वश्वामित्र<sup>७</sup> मेधातिथि काण्व<sup>८</sup>, नो घस गीतम गानम राहूगण<sup>९</sup>, अगस्त्य मन्त्रा वरुणि<sup>१०</sup>, गौरिवीति शाकल्य<sup>११</sup>, बभ्रु घात्रेय<sup>१२</sup>, अगस्त्य घात्रेय<sup>१३</sup>, भारद्वाज बाहस्पत्य<sup>१४</sup>, ऋजिष्वन् भारद्वाज<sup>१५</sup>, वसिष्ठ मैत्रा वरुणि<sup>१६</sup>, श्रुष्टि गु काण्व<sup>१७</sup>, श्रुत कक्ष आङ्गिरस<sup>१८</sup> और नम प्रभेदन व ऋषे<sup>१९</sup> ऋषियों ने 'अक' के साथ √अघ का प्रयोग कर के इन दोनों के व्युत्पाद्य व्युत्पादक सम्बन्ध को सूचित किया है।

(४) बभ्रु गोपायन ऋषि ने तत्पुरुष 'अनङ् वाह' (रथ को डोने वाला) शब्द

१ एवा कविस्तुवीरवा ऋत न्ना द्रविणस्युद्रविणसश्चकान । १०।६४।१६ ॥

२ स्तोतृभ्यो महते मघम ॥ १।११।३ ॥

३ दूरो मघा च महते । ६।१।१० ।

४ दाता मघानि मघवा सु राधा । ४।१७।८ ।

५ मघोना महिष्ठा (इन्द्रा वरुणौ) । ६।६८।२ ॥

६ स्तुहि स्तुहीवेते धा ते महिष्ठातो मघोनाम । ८।१।३० ॥

७ गायति त्वा गायत्रिणोऽर्चत्यकमकिण । १।१०।१ ॥

८ य उघा अकमानुषु । १।१६।४ ॥

९ स्तुवति स्तुवत ऋग्मियाधार्वाणाक नरे विश्रुताथ ॥ १।६२।१ ॥

१० अच तो अक (मस्त) । १।८५।२ ॥

११ अचत्यक मदिरस्य पीतये । १।१६६।७ ॥

१२ द्र ५।२६।१२ । १३ द्र ५।३०।६ । १४ द्र ५।३१।५ ।

१५ द्र ६।२१।१० । १६ द्र ६।५०।१५ । १७ द्र ७।२३।६ ।

१८ द्र ८।५१।४, १०। १९ द्र ८।६७।१६ । २० द्र १०।११२।६ ।

के साथ इस का विग्रह भी दिया है<sup>१</sup> ।

(५) शत्रुघो के विलो को तोड़ने के कारण पड़े इन्द्र के 'पुरन्दर' नाम का प्रयोग समास के अलावा विग्रह में भी पुरां दर्ता', 'पुरा ददि' 'पुरा दर्मा' आदि शब्दों से किया गया है । ये प्रयोग भी ऋषियों के भाषा चिन्तन के पक्ष को स्पष्ट करते हैं ।

(६) व्याकरण शास्त्र में √व् और √उव् को परस्पर सम्बद्ध बताया गया है<sup>२</sup> । प्रत्यक्ष दखो दासि का इन पातुभा का युग पत् प्रयोग<sup>३</sup> इस सम्बन्ध के ज्ञान का सूचक है । अन्तर इतना ही है कि यह काय व्याकरण में लक्षण (नियम) के द्वारा किया जाता है<sup>४</sup>, तथा उपयुक्त मन्त्र में लक्ष्य से लक्षण का ज्ञान सूचित होता है । परिपूर्ण व्याकरण लक्ष्य और लक्षण को मिला कर ही होता है<sup>५</sup> । वस्तुतः तो लक्ष्य से जो भाषा में विकास व्यक्त होता है, व्याकरण उसी का अभिधान करता है ।

(७) ग्राम तोर पर √ग और √स्तु को पर्याय समझा जाता है । परन्तु वसिष्ठ मन्त्रा बहसि ने इनका एक ही मन्त्र में अलग अलग वाक्य में प्रयोग इनके सूक्ष्म अन्तर को दृष्टि में रख कर किया लगता है<sup>६</sup> । इसी प्रकार वामदेव गौतम ने √गस् और √स्तु में अन्तर को भी सूचित किया है<sup>७</sup> ।

वेद की भाषा अपार शब्द राशि, प्रायोगिक बहिष्य प्रत्यय समूह शब्द का बहुल्य, स्वरा का चमत्कार, वाक्य रचना की सीला पूर्ण चातुरी पद रचना का शिल्प आदि की दृष्टि से अगाध समृद्ध है । सहस्रो वर्षों से सर्वोत्तम तथा परिपूर्णतम माने जाने वाले व्याकरण अष्टाध्यायी के द्वारा परिष्कृत संहृत<sup>८</sup> भाषा तो उसके आगे गोष्पद (गीसी घरती में गाय के पर से बने पट्टे) जितनी ही है<sup>९</sup> । स्वरा की बारीकी के साथ उस का कलात्मक प्रयोग भाषा में 'युत्पत्ति चिन्तन के बिना ही

१ सन्निहरेय नामनङ्ग गृह य आ बहुदुशीनरण्या अम । १०।५।११।

२ इ अष्टाध्यायी ६।२।१६ अहि ज्या अयि व्यधि वष्टि विचति-वृश्चति वृश्चति भृञ्जतीनां दिति च ।

३ तदुगति विश्व इमे सत्तायस तदह वदिम पवमान, सोम । ॥ ६६।४॥

४ ॥ महा भाष्य पस्पशा वातिक १७ के अन्त में, पृष्ठ ४७ सूत्रत एव हि शब्दात् प्रति पद्यते । आतश्च सूत्रत एव । यो ह्युत्सूत्र कथयेन्, नादो गृह्येत ।

५ ॥ वही पृष्ठ ४५ लक्ष्य-लक्षणे व्याकरणम् । --- गवो लक्ष्य । सूत्र सम्प्लवम् । ६ गृह्यानां जमदग्निवत् स्तुवानां च वसिष्ठवत् । ७।६६।३॥

७ ता पा ता मद्रा उचस पुराञ्जुरमिष्टि शुम्ना अत जात सत्या ।

यास्वीजान शग्मान उचय स्तुवञ्छसत्रविण सद्य प्राप । ॥ ४।५१।७॥

८ इ 'महा भारता की टीका के प्रारम्भ में टीना कार देव बोध न दृष्ट इति श्वासे शब्दे मा स गाय कृया । अर्जरजातमित्येव पद न हि न विद्यते ॥

यान्युञ्जहार माहेद्राद्व्यासो व्याकरणाणवात् ।

पद रत्नानि कितानि सति पाणिनि गीतपदे ॥

हो गया, यह सोचना दुराग्रह ही प्रतीत होता है।

प्रकृत अध्याय में हम निवचन के परिप्रेक्ष्य में ऋषियों के भाषा चिन्तन के व्युत्पत्ति-सम्बन्धी पक्ष पर प्रकाश डालेंगे।

ऋग्वेद संहिता में 'व्युत्पत्ति चिन्तन' पर प्रकाश डालने वाले प्रयोग दो प्रकार के हैं (१) शब्दों की व्युत्पत्ति को भट्टित स्पष्ट करने वाले प्रयोग<sup>१</sup>। (२) ऐसे प्रयोग जिनसे वे शब्द स्पष्ट होते हैं जो अपनी प्रकृति से सस्कार (ध्वनि आदि में विकार) की दृष्टि से हट गए होने हैं<sup>२</sup>। इन शब्दों को दक्षत ही साधारण (अनघीत 'याकरण') जन इन की 'व्युत्पत्ति' का अनुमान नहीं कर सकते।

प्रथम प्रकार के प्रयोगों से व्युत्पत्ति चिन्तन के निचले घरातल का गान होता है, और द्वितीय प्रकार के प्रयोगों से कुछ कठिन शब्दों की व्युत्पत्ति पर प्रकाश पड़ता है। अतः द्वितीय प्रकार के प्रयोग इस विषय में अधिक महत्त्व पूर्ण हैं।

पहले प्रथम प्रकार के प्रयोगों के कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं

(१) वसिष्ठ मैत्रा वर्हणि ने क्षितियों पर क्षयण करते हुए<sup>३</sup> प्रयोग से निम्न बातें स्पष्ट की हैं (क) 'क्षिति' निवासायक ✓क्षि से (ख) अधिकरण में निष्पन्न है। वेद में ✓क्षि तीन हैं (अ) निवासायक, (आ) नाशायक और (इ) शासनायक। अधिकरण के प्रयोग से प्रकृत ✓क्षि की निवासायकता सूचित होती है।

अत्रि भीम ने 'पुष्ट करता हुमा राजा' = द्रष्टृ 'क्षितिया' का क्षयण करता है। प्रयोग से (क) क्षिति की शासनायक ✓क्षि से (ख) कम में निष्पन्न शब्द के रूप में सूचित किया है।

इन दोनों प्रयोगों से निम्न बातें स्पष्ट हुई (क) ऋषि यह जानते हैं कि 'क्षिति' नाम ✓क्षि क्रिया के कारण पड़ा है, (ख) इस के दो अर्थ हैं क्षि-प्रति। क्षि के अर्थ निवास और शासन हैं तथा ति के अधिकरण और कम। (ग) विभक्ति के प्रयोग में धातु और प्रत्यय के मध्य विद्यमान कारक सम्बन्ध को व्यक्त किया गया है।

(२) दीक्ष-तमस् औवध्य ने यज्ञायक 'ततु' के साथ ✓तन् के प्रयोग से यह सूचित किया है कि यह शब्द ✓तन् के कर्माधिक 'तु' प्रत्यय में निष्पन्न है<sup>४</sup>।

१ = निरुक्तम् २।१ अथम् निवचनम् । तद्येषु वदेषु स्वर सस्कारौ समर्था, प्रादेगिरेम विकारेणा वती स्यातां तथा तानि निर्भूयात् ।

२ द्र वही अयानावितेऽयं प्रादेगिरे विकारेऽय नित्य परोक्षेत केनचिद् वृत्ति सामायेन । अविवक्षमाने सामायेऽयमर-वण सामाया न्निर्भूयात् । न सस्कारमाद्रियेत ।

३ ध्रुवानु त्वाणु क्षितिषु क्षियन्तो व्यस्मत्पाश वरुणो मुमोचत् ॥७।८८।७॥

४ न स राजा व्ययते, यस्मिन्निद्रस्तीव्र सोम पिबति यो सखायम् ।

आ सत्वनरजति हति वज्र, क्षेति क्षिती सु मगो नाम पुष्यन् ॥५।३७।४॥  
माय दाशुपे ॥ १।१४२।१ ॥

यह व्युत्पत्ति १ गुत्समद<sup>१</sup>, २ नारद वाण्व<sup>२</sup>, ३ अक्षित काश्यप<sup>३</sup>, ४ हिरण्यस्तूप  
आङ्गिरस<sup>४</sup>, ५ पवित्र आङ्गिरस<sup>५</sup>, ६ अकृष्ट माय आदि<sup>६</sup>, ७ देवो<sup>७</sup>, ८ बृहदुवय  
वाम देव्य<sup>८</sup>, ९ बन्धु गोपायन<sup>९</sup>, १० यत्र प्राजा पत्य<sup>१०</sup> ने भी दी है। ध्रुत कस  
आङ्गिरस ने √यज और √तन् के अर्थ सम्बन्ध को सूचित किया है<sup>११</sup>। तु<sup>१२</sup> प्रत्यय  
दीधन्तमस<sup>१३</sup>, विश्वामित्र गायिन<sup>१४</sup> एवम् इय आत्रय<sup>१५</sup> ने कत्रय में भी दिया है।  
यह अनेकायक है।

(३) वसिष्ठ मन्त्रा-वरुणि ने 'नृ' के साथ 'नय' और 'नारी' का प्रयोग करके  
इनके सम्बन्ध को सूचित किया है<sup>१६</sup>।

(४) मधु चन्द्रदम वैश्वामित्र ने इन्द्र के प्रसिद्ध नाम 'शक्र' का आधार √शक्  
किया है, यह सूचित किया है<sup>१७</sup>। इसी प्रकार सम्य आङ्गिरस<sup>१८</sup>, वसिष्ठ मन्त्रा  
वरुणि<sup>१९</sup> मेधातिथि वाण्व<sup>२०</sup> और कुरुमुक्ति काण्व<sup>२१</sup> ने भी यही व्युत्पत्ति दी है।  
बयावरण भी इसी व्युत्पत्ति को मानते हैं<sup>२२</sup>।

√शक् धातु मूलतः 'समर्थ होना' अर्थ में है<sup>२३</sup>। दान दे कर दाता अपनी  
सामर्थ्य को प्रकट भी करता है, तथा बढ़ाता भी है। अतः इन प्रयोगों में यह धातु  
सामर्थ्य = दान-सामर्थ्य = दान अर्थ में अभिप्रेत है। इस प्रकार इन ऋषियों ने (५)

मध्य मध्य सत्तुमा-सवते विवि । १५६।४ ॥

यस्ते ध्वज्येऽपि सप्त सत्तुवि-सतिरे कवय मोतवा च ॥ १६४।५ ॥

१ द्र २।३।६ । २ द्र ८।३।१४ । ३ द्र ६।२२।६७ ।

४ द्र ६।६।६ । ५ द्र ६।७३।६ । ६ द्र ६।८६।३२ ।

७ द्र १०।५३।६ । ८ द्र १०।५६।६ । ९ द्र १०।५७।२ ।

१० द्र १०।१३।११ । ११ देवासी यज्ञमत्नतः ८।६२।२१ ॥

१२ द्र पृष्ठ २७, की टि ५ म पृष्ठ २८ पर उद्धृत १।१६४।५ ।

१३ ॥ पुत्रऽज्जनयज्ञतवे धनम । ३।२।१२ ।

१४ अहं तजिष्य ममिष्यते सज्जनयन्ति जन्तव ॥ १।७।२ ॥

१५ युवा जज्ञान वृषण रणाय, तमु बिनारी नय सगूव ।

प्र २ सेना नीरथ मुष्पो अस्तीन सत्वा गवेवण स एण ॥ ७।२० ५॥

१६ तमिससिष्य ईमहे स राये, स सुभोयै ।

स गळ उन न गरिन्द्रो वसु इयमान ॥ १।१०।६ ॥

१७ अर्वा गजाय गारिनि गधोवते । १।१४।२ ॥

१८ त्वमङ्ग गत्र वस्य मा गत्री न । ७।२०।६ ॥

१९ स न गत्रिष्वहा गक्त्वा दानवी अतरामर । ८।३२।१२ ।

२० न कीमिन्द्रो नि जतवे न गत्र परिगच्छवे । ८।७८।५ ॥

२१ द्र उणादि सूत्र १७० (२।१३) इकायि तज्जिब गति गुनिगग रक् ।

२२ द्र टि १७ म उद्धृत १।५६।२ टि १६ म उद्धृत ८।३२।१ और टि

१० में उद्धृत ८।७८।५ ।

✓शक के 'देना' और (ख) 'द' प्रत्यय के अर्थ (कृतत्व) को इन प्रयोगों से सूचित किया है।

ऋग्वेद संहिता में इस वर्ग के प्रयोग प्रचुर मात्रा में हैं। हमारा अभिप्राय इन उदाहरणों से भली भाँति स्पष्ट हो जाता है। अतः और उदाहरण दे कर अर्थ विस्तार करना अनावश्यक एवम् अनपेक्षित है।

निवचन के योग धातु की दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण दूसरे प्रकार के प्रयोगों को हम तनिक व्यापकता से प्रस्तुत कर रहे हैं

१ अक्षु  $\sqrt{}$ अञ्ज यह शब्द मूलतः वण वाचक है। ऋग्वेद संहिता में यथ 'वैत वण' को ले कर प्रकाश<sup>१</sup> के लिए और कृष्ण वण को ले कर अश्ववार<sup>२</sup> के लिये प्रयुक्त हुआ है। अतः वैश्वामित्र ने इस वृत्ति विभक्ति में तथा  $\sqrt{}$ अञ्ज के साथ प्रयुक्त किया है<sup>३</sup>। भरद्वाज बाहस्पत्य<sup>४</sup> और यम वैवस्वत<sup>५</sup> ने करण विभक्ति में तथा वमिष्ठ भ्रात्रा वरुणि<sup>६</sup> ने कर्म विभक्ति में  $\sqrt{}$ अञ्ज के किसी भाव्यात् अथवा नाम रूप के साथ प्रयुक्त किया है। 'अक्षु' और ' $\sqrt{}$ अञ्ज' में इतना ध्वनिगत भेद है कि क वर्गीय और ख वर्गीय ध्वनियों में कोई पारस्परिक सम्बन्ध है इस ज्ञान के बिना यह व्युत्पत्ति दे पाना सम्भव नहीं प्रतीत हुना। इस सम्बन्ध को यास्क ने भी 'अक्षु' के एव अर्थ के पर्याय 'नवन क निवचन (न +  $\sqrt{}$ अञ्ज + त) में स्पष्ट किया है<sup>७</sup>।

३ अग्नि अग्नि की व्युत्पत्ति पर विद्वानों में प्राचीन काल में ही मत भेद स्थापित हो चुके थे। यास्क ने इसके चार निवचन किये हैं, जिन में से दो को स्थोलाष्टीवि और साकपूणि ने किये निवचन बताया है<sup>८</sup>। ऋग्वेद संहिता में भी इस के दो निवचन अभिप्रेत लगते हैं

१ अग्नि  $\sqrt{}$ अश भरद्वाज बाहस्पत्य के मत में 'अग्नि' और 'अश' में

१ अ नीच टि ३ में ३।१७।१, उद्धत टि ८ में उद्धत ७।७६।२।

२ अ नीचे टि ५ में धृत १०।१४।६।

३ समिध्यमान प्रथमानु धर्मा समक्षुनिरुज्यते विश्व वार । ३।१७।१॥

४ अ वामञ्जत्वक्षुनिमतीनाम् । ६।६६।३॥

५ अहोनिरद्भिरक्षुनिष्यक्त यमो ददात्यवसानमस्मै । १०।१४।६॥

६ व्यञ्जते दिवो अत्तेष्वक्षुन, विशो न युक्ता उपसो यतते । ७।७६।२॥

७ अ निरुक्ताम् ८।१० नक्तेति रात्रि नाम । (क) अनविन सूतावध-  
शयनेन । (ख) अपि वाचनतावधक धर्मा ।

८ अ निरुक्ताम् ७।१४ अग्नि कस्मात् ? (१) अश एभिभवति । अश यतेषु प्र एष्यते । (२) अश नयति सनममान । (३) 'अ-अनोवनो भवती'ति स्थोलाष्टीवि । न अनोयति = न स्नेहयति । (४) त्रिम्य धारयतेभ्यो जायत इति साकपूणि — (क) इताद्, (ख) अक्ताद् दध्याद्वा, (ग) नीतात् । अ खल्वेतेरधारमादत्ते, गकारम-  
ननेर्वा बहुतेर्वा, नी पर ।

वैयुत्पत्तिक सम्बन्ध है<sup>१</sup> । दोना म 'धगू' भग्न समान है, तथा इससे √धग (गति की कल्पना सहज ही की जा सकती है । पादचार्य विद्वान् भी यही व्युत्पत्ति प्रमाण मानते हैं<sup>२</sup> । याज्ञवल्क्य ने सम्भवतः इसी प्रयोग से प्रेरणा पा कर 'अग्नि<अग्नि के विकास की बात नहीं है ।

२ अग्नि<√धञ्ज नामाव वाण्व<sup>३</sup> ने √धञ्ज के कर्ता के रूप में और भग्न प्रागाय<sup>४</sup> १ वचन के रूप में इस की व्युत्पत्ति का सङ्केत दिया है । यह √धञ्ज दीप्ति भग्न म है तथा अग्नि की इस स्वाभाविक विरोधना की सम्भव-सहिता ॥ √दीप के प्रयोग से स्पष्ट बताया गया है<sup>५</sup> । तीन धातुओं से अग्नि की व्युत्पत्ति मानने वाले शाकपूणि ने एक धातु √धञ्ज भी दी है<sup>६</sup> । "पादकरण परम्परा में सम्भवतः दीप्ति और प्रकाश को अग्नि के नाम-करण का आधार न मान कर उस के फैलने की ही प्रमुखता दी है तथा गत्ययक √धञ्ज से इस की व्युत्पत्ति बताई है<sup>७</sup> ।

३ अघा+<१ हन् 'अघा कुछ तारक-गुञ्जों का नाम है । सूर्या सावित्री ने इसका प्रयोग अग्नि-करण विभक्ति में √हन् के साथ किया है<sup>८</sup> । अग्नि-करण विभक्ति से प्रत्ययों की व्याख्या है, या इस शब्द के 'अ' भग्न की व्याख्या है<sup>९</sup>, यह स्पष्ट नहीं है । यह 'अ' 'आ' उपसर्ग की ह्रस्व करने से भी निष्पन्न हो सकता है । इस प्रकार का एक निवचन यास्क ने अघा+√हन्<अहि का किया है<sup>१०</sup> । अस्तु

१ अग्नि देवासी अग्निमिषते अत्र हतमम । ६।१६।४८ ।

२ इ मन्वानल, ए वेदिक रीडर फार स्टूडेण्ट्स, पृष्ठ ३ The name of Agni (Lat igni : Slavonic ogni) is Indo European and may originally have meant the agile as derived from the root ag to drive (Lat ago Gk a yw Skt ajami)

३ इग्नयः आहूय २।२।४।२ तद्वा एवमेतन्त्र देवानामभनयत । तस्मादग्निः । अग्निहव नामतद् यदग्निरिति । ६।१।१।११ स यदस्य सवस्याग्रममृगयत, तस्मादग्निः । अग्निहव तमग्निरित्याचक्षते परोक्षम् ।

४ अग्निर्देवा अभनयतु न । ६।३६।१ ।

५ अग्न, आ आहूयमिषर आ त्वामनयतु । ६।६०।१ ॥

६ वस्मादङ्गादीष्यते अग्निरस्य । १०।७।२। १४ प्रेक्ष-दोष्यत ऊर्ध्वो अग्निः । ४।

७ इ निष्कनम् ७।१४ स खत्वेतेरकारमादत्ते, गकारमनक्मेर्वा ।

८ इ उणादिसूत्र ८९० {४।१०} अङ्गेन लोप्यन् ।

९ अघामु हयते गावः । १०।८५।१३ ।

१० अर्थात् यह 'अ' भग्न सब नाम 'अ' (द्रष्टव्य अ+त्र=अत्र) 'अ+स्मिन्<अस्मिन्' भी हो सकता है अघामु हयत, इत्यथा । "पादार्थ न २म पद में अत्र ग्रहण नहीं किया है । अतः यह आशय उन्हें यभीष्ट नहीं लगता ।

११ इ निष्कनम् २।१७ अग्रमपीतरोहिर (क) एतस्मादेव । (ख) निहृमितोपसग—आ हतीति वा ।

इस प्रयोग से इतना तो विदित होता ही है कि 'सूर्या' को 'हृ<घ' के सम्बन्ध का जाना था। इस प्रवृत्ति के अन्य उदाहरणों में घन, जघन, दुघा, दोघ, द्रोघ और मघ शब्द द्रष्टव्य हैं।

४ अ जुय<√ज (जीण करना) यह शब्द 'अजय' के मौनिक मध्यम है। श्रुतमद ऋषि न इसी के उत्तर पद 'जुय' की व्युत्पत्ति जीण करना अर्थ वाली √ज से है इस ओर सङ्केत इसके साथ उभय प्रयोग से किया है<sup>२</sup>। यहाँ ऋ<उर' विपरिणाम द्रष्टव्य है। इस प्रवृत्ति के अन्य उदाहरण 'जुरव' और 'तुर' हैं।

५ अद्रि इस शब्द की व्युत्पत्ति पर भी मतभेद है

(१) अद्रि<आ+√ह। धाम दध गौतम ने इसकी व्याख्या कतरि √ह का प्रयोग कर के की है<sup>३</sup>। पर इससे इसके अ' अश की व्याख्या नहीं हो पाती। म्यूमरश्मि भागव ने इसे आ+√ह से कतरि व्युत्पन्न समझा प्रतीत होता है<sup>४</sup>।

(२) अद्रि<√अद्। अद्वाद काद्रवेय ने इस शब्द को √अद् (खाना) से व्युत्पादित समझा है, यह यास्क का कथन है<sup>५</sup>। ब्रह्मचर्य लोग भी यही व्युत्पत्ति मानते हैं<sup>६</sup>।

६ अधि<√धा अधि' के साथ कुणिक सौभर ऋषि के प्रयोग से कुछ ऐसा लगता है, जैसे ये 'अधि' को √धा से व्युत्पन्न समझते हो।

७ अनुच<अनु+√अञ्च्। 'अञ्च्' के द्वितीया बहु वचनान 'अनुच' के माघ पराच' और 'प्रतीच' के प्रयोग<sup>८</sup> से विदित होता है कि विश्वामित्र गायिन इन शब्दों में अमश अ आ और ई का भेद होते हुए भी इन्हीं एक ही प्रकृति से विभिन्न (क्रमशः अनु परा और प्रति) उपसर्गों के योग से बने शब्द मानते हैं। पाणिनि ने भी इन शब्दों की यही व्युत्पत्ति दी है<sup>९</sup>।

१ अर्थात् पाणिनि का रुढ़ अजय सङ्गतम्। (अष्टा ३।१।१०५) अयमभि प्रेत नहीं है।

२ अ जुयो जरयनरिम। २।१।२॥ इदम जुय जरयतमुक्षितम्। १।६।१

३ ते समृजत दहर्वांसो अद्रिम। ४।१।१४॥ अयो यवद्रि पुद हत दध। १।६।१॥

४ आवाणो न सूरय सिधु मातर आ इदिरासो अद्रयो न विश्वहा। १०।७६।६॥

५ यास्क न दोना व्युत्पत्तियाँ बता कर √अद् से अद्रि पर मात्र उद्धृत किया है। द निरुक्तम् ४।४ अद्रिर, (१) आ दृष्टात्थेनेन। (२) अपि वाज्ते स्यात्। 'ते सोमादो' (अ १०।१४।१) इति ह विज्ञायते। निरुक्त ने इस प्रसङ्ग पर निरुक्त के पाँच अध्याय, पृष्ठ ४३८ देखें।

६ द उणादि सूत्र ५०५ (४।६५) अदि शद्रि मू शुभिम्य क्रिन्।

७ विश्वा अधि भियोऽधित ॥२०।१२०।१॥

८ जहि प्रतीचो, अनुच, पराच ३।३०।६॥

९ द अष्टाध्यायी ३।२।५६ ऋत्विग्दधञ्चदिपुणिएणञ्चुपुजिक्रञ्च



८ अमिता < √मा वृहदुच्य वाम देव्य ने 'अमिता' के साथ 'मिमाना' का प्रयोग कर के<sup>१</sup> इनके सम्बन्ध का सङ्केत किया है। अर्थात् वे यह जानते हैं कि मा ध्वनि इ<sup>२</sup> ध्वनि में परि वर्तित हो सकती है। पाणिनि ने भी 'सकी व्यवस्था की है<sup>३</sup>।

॥ अरितृ < √अ 'अरितृ' के साथ ध्वनि की दृष्टि से इससे बहुत भिन्न स्वर विपरिणाम वाली इयति' क्रिया के प्रयोग<sup>४</sup> ॥ विदित होता है कि प्रत्यक्ष काव्य ऋषि 'अरितृ' और 'इयति' रूपों का मूल एक ही धातु को समझ रहे हैं।

१० अक < √अच 'अक' की व्युत्पत्ति का सन्देह कई ऋषियों ने किया है, यह हम पीछे देख चुके हैं। यह शब्द अनेकायक है निघण्टु में यह अन्न<sup>५</sup> (१।७।१८) और 'अण्' (३।२०।१०) के पर्यायों में सङ्कलित है ही, ऐक पदिक वाण्ड (४।२।२३) में अनेकायक पदा में भी आया है। इस की व्याख्या यास्क ने यही व्युत्पत्ति दे कर की है तथा इस देव मन्त्र, अन्न और वृक्ष<sup>६</sup> अर्थों में बताया है<sup>७</sup>। ऋग्वेद संहिता में भी इन अर्थ भेदों का प्रकाशित करने वाली व्युत्पत्तिर्णा मिलती हैं।

मधु-च्छन्दस वैश्वामित्र ने अक को √अच का कम बना कर स्तुत्य अर्थ में तथा ब्रह्मन् (स्तोत्र) के पर्याय के रूप में सत्त्वर्थाय प्रत्यय से युक्त 'अकिन्' का प्रयोग किया है कि ये लोग मन्त्र वाले हैं<sup>८</sup>। अतः मधु-च्छन्दस के अनुसार इस के दो अर्थ हैं (१) स्तुत्य देवता, (२) स्तुति=मन्त्र। गोतम राहूगण ने भी मन्त्रों को 'अक का अचन करने वाला' बताया है<sup>९</sup>। सायण ने इसका अर्थ 'स्तुत्य (इन्द्र)' किया है<sup>१०</sup>। इस व्याख्या की पुष्टि अगस्त्य मंत्रा बहणि के इस कथन से भी होती है कि महत् लोग सोम को पीने के लिए अचनीय (इन्द्र) को स्तुति करते हैं<sup>११</sup>। श्रुत वक्ष आङ्गिरस<sup>१२</sup> ने इन्द्र की प्रस्तुत सोम की प्रशंसा करने की प्राथना अपने साथी

४।६।१६८ चौ। ६।४।२४ अनिदिता हस्त उप धाया विडति।

१ सहोभिविन्व परि अचमू रज पूर्वा धामा-अमिता मिमाना। १०।५६।५॥

२ इ अष्टाध्यायी ७।४।४० अति स्थिति मा स्थामिन् ति किति।

३ इयति वाचमरितेव नाचमू। ६।६५।२॥

४ 'अक' नामक छोटा सा पौधा, पुराणा में इस का सम्बन्ध मूय से बताया गया है। 'अक' गल् मूय का पर्याय भी हो गया है।

५ इ निरक्तम् ५।४ अर्को देवो भवति, यदेनमचति। अर्को मन्त्रो भवति, यदेनाचति। अकमन् भवति, अचति मृतानि। अर्को वृक्षो भवति, सन्वृत्त वटु किन्ता।

६ गायन्ति एता गायत्रिणोऽ चत्त्यकमर्चिणः। १।१०।१॥

७ अचन्तो अकम जनयन्त इन्द्रियमधि धियो दधिरेपृ नि मातर। १। ५।२॥

८ इ मायण मन्त्र अकम=अचनीयमिन्द्रमचत=पूजयन्त।

९ अचत्त्यक मंदिरस्य पीतये। १।१६६।७॥

१० इन्द्राय महान सुत परि व्योम तु नो विर। अकमचतु कारय॥ ८।६२।१६॥

स्तोताओं से की है। यहाँ यह शब्द सोम, के अचनीय होने से साम के लिए प्रयुक्त हुआ है, किन्तु यास्क न 'अच' का अर्थ 'अन' अचनीय होने से नहीं, अपितु अर्चिता होने में किया है<sup>१</sup>।

मेघातिथि काण्व ने भी भरतो को अच का अचन करने वाला बताया है<sup>२</sup>। सायण ने शतपथ ब्राह्मण<sup>३</sup> के प्रमाण पर 'भरता ने वर्षा से जन (अक) सम्पादित किया<sup>४</sup>।' अर्थ किया है। पर ऋग्वेद-संहिता के आन्तरिक साक्ष्य पर यहाँ आधी वृषान के समय होने वाले शोर को ही भरता द्वारा की गई इन्द्र की स्तुति के रूप में 'भरता ने अक का अचन किया' समझना चाहिए। गौरिवीति शास्त्र का वचन है कि महत् शीघ्र इन्द्र का अचन करते हैं<sup>५</sup>। बभ्रु भ्रात्रेय ने भी स्तुत्य का चतुष्यन्त (तुम्य) तथा स्तुति को द्वितीयान्त (अकम्) के रूप में प्रयुक्त किया है<sup>६</sup>। अवम्यु भ्रात्रेय ने अक का स्तुति के करण (स्तोत्र मन्त्र) के रूप में विस्पष्ट प्रयोग किया है<sup>७</sup>, अतः ऊपर अर्चित मेघातिथि काण्व के 'अक का अर्थ 'स्तोत्र' ही समुचित प्रतीत होता है 'उदक' नहीं। दीघ तमस आचक्ष्य ने इस स्तोत्र रूप अक का वचन यों किया है कि अक छदो बद्ध होता है, तथा गाए जाने पर यही सामन् बन जाता है<sup>८</sup>।

इस अर्थ में व्युत्पत्ति प्रदर्शन के साथ 'अक' के निम्न ऋषियों के प्रयोग भी द्रष्टव्य हैं नो वस् गौतम<sup>९</sup>, गौरिवीति शास्त्र<sup>१०</sup>, भरद्वाज ब्राह्मण<sup>११</sup>, ऋजिष्वन्

१ द्र निरुक्तम् ५।४ \*अकमन भवति, अचति भूतानि। \* निघण्टु (२।७।१८) और माघवीय नामानुक्रमणी (पन्क्ति १३०) में भी यह पुनिलिङ्ग में है। देवराज ने इस की व्याख्या नहीं की है। दुग् ने 'तडि से अक का परा मश किया है, या 'अनम्' का, यह अर्थात्त्व नहीं है। वहाँ उद्धृत 'अक ही है। स्कन्द ने भी लिङ्ग पर कोई प्रकाश नहीं डाला है। संहिताभा म तपुमक गन् का प्रयोग नहीं हुआ प्रतीत होता। अतः यास्क का 'अक' प्रयोग चिन्त्य है।

२ य उग्रा अकमानचुरता घष्टास ओजसा। महद्भिरग्न, आ गहि॥१।१६।४॥

३ द्र १०।६।५।२ आपो वा अक।

४ द्र सायण भाष्य अकम् = उदकम् आनृबु = अर्चितवन्तो, वर्षण सम्पादितवन्त इत्यर्थ।

५ अचन्तीन्द्र भरत सत्यस्ये अण्डुमेन वचसा बाधत धाम। ५।२६।६॥

इस मन्त्र का त्रिष्टुभ वचस' प्रयोग ऋ १।१६।४।२४ का 'त्रिष्टुभ वाक्' ही होता है।

६ तुम्येदेते भरत ॥ नेवा अच त्यक् सुचन्त्यय ॥ ५।३०।६॥

७ ब्रह्माण इन्द्र मह्यन्तो अकं। ५।३१।६॥

८ भाष्यत्रेय प्रति विमोते अकम्, अकंण साम। १।१६।४।२४॥

९ द्र १।६।२।१। १० द्र ५।२६।१२। ११ द्र ६।२१।१०, ६६।६।

भारद्वाज<sup>१</sup>, वसिष्ठ<sup>२</sup> मैत्रावरुणि<sup>३</sup>, धृष्टिगुप्त<sup>४</sup>, नम प्रभेदन वैश्य<sup>५</sup> । इन लोगो ने 'स्तुति' अर्थात् 'मन्त्र' अथ 'म' 'यक' वी  $\sqrt{\text{मव्}}$  स वम अथवा परल अथ मे व्युत्पत्ति को सङ्केतित किया है ।

निष्पत्ति (१) वाच्य भेद से 'मक' की तीन<sup>६</sup> व्युत्पत्तियाँ अभिप्रेत हैं (क) कम स्तवनीय देवता मक है । (ख) भाव स्तुति अर्थात् मन्त्र । (ग) करण जिससे देवता की प्रशंसा की जाती है, वह मन्त्र । (२) प्रकृति की तात्त्व्य ध्वनि कण्ठम ध्वनि में बदल जाती है । अर्थात् उस समय (क) शब्द की प्रवेकायकता का, (ख) मारव भेद का और (ग) ध्वनि विपरिणाम का चिन्तन हो चुका था ।

श्रुग्देव-संहिता<sup>७</sup> या यह निवचन शब्दाश की व्याख्या का जहाँ तक सम्बन्ध है, पर-वर्ती काल में भी अपनाया गया है याज्ञवल्क्य ने 'भाप (जल) के पर्याय के रूप में 'मक' की व्याख्या ' $\sqrt{\text{मव्}} + \text{न}$ ' से बनाई है<sup>८</sup> । वयाकरण लोग भी  $\sqrt{\text{मव}} > \text{मव}$  व्युत्पत्ति को मानते हैं<sup>९</sup> ।

११ अर्थात्  $\sqrt{\text{मव}}$  'अर्थात्' का प्रयोग अमरस्य मैत्रावरुणि ने  $\sqrt{\text{क}}$  (गति) से निष्पन्न 'श्रुणो' के साथ कर के<sup>१०</sup> इन दोनों के व्युत्पत्ति सम्बन्ध को सङ्केतित किया है । इस व्युत्पत्ति में 'श्रु' > 'श्रु' तथा 'न' > 'ल' का ज्ञान भाषा चिन्तन का मङ्गल है ।

१२ सम्यग्भाङ्गिरस ने रूप वाचक 'मवत' का प्रयोग 'भा वत' के साथ किया है । कदाचिद् यज्ञ शब्द 'भा वत' > 'मवत' है यही उद्देश्य अभिप्रेत है । आगे इसका विकास 'मवट' के रूप में मिलता है हयत प्राणाय को  $\sqrt{\text{मव्}}$  स अभिप्रेत 'मवत' शब्द<sup>११</sup> साम वेदीय कौथुम-संहिता<sup>१२</sup> में, और बुध सौम्य का मवत<sup>१३</sup> तत्तिरीय संहिता<sup>१४</sup> में 'मवट' के रूप में बदल दिया है । यास्क<sup>१५</sup> ने 'मव' +  $\sqrt{\text{मव}}$

१ द ६।५०।१५।

२ द ७।२३।६

३ द ८।५१।४, १०।

४ द १०।११२।६।

५ यास्क ने इनमें से दो व्युत्पत्तियाँ ('क' और 'ग') दी हैं ।

६ द शतपथ-ब्राह्मण १०।६।१ सौश्व नवरत्न । तस्याघत भाषोऽभावत ।

मवते य मे कमभूदिति तवेवार्कस्यावतम् ।

७ द उणादि सूत्र ३२० (३।४०) कु-दा या राश्वि कलिम्ब क । यह केवल शब्द निवचन है, अर्थ निवचन नहीं ।

८ श्रुणोरपी मन्त्रमध्याह्न । १।१७।२ ॥

९ सिञ्चन्नि नमसाऽवतमुच्चावक परि-उमानम । ८।७२।१० ॥

गाव उपावतावतम् । १२ ।

१० द १।११७, २।६२२५ ।

११ सिञ्चामहा मवतमुद्रिण वयम् । १०।१०।१।५ ॥

१२ द ४।२।१।१ ।

१३ द निघण्टुम् ५।२३ मवतोऽवतितो मन्त्र-मवति । १०।१३ (मवतम्)

> अघत' व्याख्या दी है।

१३ अहि < √ हन् कई ऋषियो ने अहि' का प्रयोग √ हन् के साथ किया है<sup>१</sup>। अर्थात् उन्हें यह √ हन् से निष्पन्न के रूप में अभिप्रेत है। यास्क ने इसकी एक व्युत्पत्ति आ + √ हन् से की है<sup>२</sup>। शौनक<sup>३</sup> और आकटायन<sup>४</sup> ने भी इसे आ + √ हन् से ही निष्पन्न बताया है।

१४ प्राज्य < √ अञ्ज मूधवत् आङ्गिरस ने अग्नि की स्तुति में 'प्राज्य' को √ अञ्ज के साथ अग्नि को प्रदीप्त करने के कारण के रूप में प्रयुक्त किया है<sup>५</sup>। √ अञ्ज मूलतः 'प्रकाश करना' अर्थ में प्रयुक्त है यह 'अकटु', और 'नक्त' शब्दों से सूचित होता है। अग्नि प्रदीप्त होकर प्रकाश करता है। अतः यहाँ यह अर्थ 'प्रदीपन' में साक्षरूप रूप से उभरी तरह प्रयुक्त हुआ लगता है, जिस प्रकार विष्णु आङ्गिरस के घी से अतिथि अग्नि को लगाओ<sup>६</sup>।<sup>१</sup> कथन में √ बुध अन्ततः 'प्रदीपन' अर्थ में प्रयुक्त हुई है। उत्पन्न धामहीयव ने 'घत' को √ अञ्ज के कारण के रूप में प्रयुक्त किया है<sup>७</sup>। अतः 'प्राज्य' और 'घत' नाम इनके अभिप्रेत द्रव्य का अग्नि को दीप्त करने में उपयोग होने के कारण पड़े हैं। वैयाकरण लोग इसे आ + √ अञ्ज से मानते हैं<sup>८</sup>। शौनक ने इसके निवचन में 'अभि + √ अञ्ज' का प्रयोग किया लगता है<sup>९</sup>। यहाँ अभि वैयाकरणों के आ. का सम स्थानिक है, या निरर्थक है, यह बहुत स्पष्ट नहीं है। शाबरय इसे अकेले √ अञ्ज से मानते हैं। उन्होंने पद पाठ में अब ग्रहण नहीं किया है।

१५ आ ददिर < √ द नेम भागव ने इन्द्र के विशेषण 'आ-ददिर' की व्याख्या √ द से की है कि मैं (इन्द्र) आ-ददिर हूँ, (क्योंकि) मैं भुवनों को दीण करता हूँ<sup>१०</sup>। इस शब्द का प्रयोग ऋग्वेद संहिता में एक बार और सूक्त रश्मि भागवत द्वारा सोम के डण्डों की बुचलने वाले अग्नि (पत्थर) से उपमित मयती के प्रसङ्ग

==) अवातिताम्।

१ = २।११।५, १२।३, ११, ४।२८।१ ८।६६।५, १०।१३।२।

२ द निरुक्ताम् २।१७ अहिरयनादेत्यन्तरिते। अयमपीतरोहिरेतस्मादेव। निरुक्तापीतसग आहन्तीति वा। कोपी म 'वा' नहीं है। द 'निरुक्ता' के पाँच अर्थ, पृष्ठ २२२ टिप्पणी २।

३ = बृहदवता ५।१६६ अहिरा हति मेघान् स।

४ द उणादि मूत्र ५७७ (४।३७) आडि भि हनिम्या ह्रस्वश्च।

५ य समाञ्जनाज्येना बुलाना। १०।८८।४॥

६ घतवोधयतातिथिम। ८।४४।१। ७ घतेनाग्नि समज्यते। १०।११।४॥

८ घत' का विवरण आगे देखें।

९ द घटाभ्यामी ३।१।१०६ पर वानिष आडि-पूर्वादञ्जेरूप सङ्ख्यानाम्।

१० यदाञ्जनाभ्यञ्जनमा हरन्त्याज्यमेव तत्। अथव-म ६।६।११॥

११ आ ददितो मुषना ददरीमि। ८।१००।४॥



प्रचलित अथ रूपों में केवल 'इमस्य' (इसका) ही एक बार प्रयुक्त मिलता है<sup>१</sup>। लौकिक से प्रचलित तथा ऋग्वेद में उपलब्ध रूप हैं इमम्, इमा (इमानि का वैदिक रूप), इमा, इमानि, इमाम्, इमे (द्विवचन और बहुवचन)।

१७ इय < √ इष् इय अनेकायक है, पर 'अन' अथ म अधिक प्रसिद्ध है। इसकी व्युत्पत्ति (शब्द निवचन) तो निगन् व्याख्यात है, पर अथ निवचन स्पष्ट नहीं है कि यह किस अथ वाली √ इष् से निष्पन्न है। अगस्त्य मैत्रावरुणि ने पाणिनीय तन्त्र के 'इता' विकरण के प्रयोग से इस स्पष्ट करने का प्रयास किया लगता है<sup>२</sup>। सायण ने इस धातु का अथ 'इच्छा' किया है<sup>३</sup>। किंतु इस विकरण वाली √ इष् का प्रयोग 'गति' अथ में ही हुआ है नो घम् गीतम् ने कहा है कि हे बहुत बुलाये जाने वाले इन्द्र, तुम शत्रुओं की पहली किले बंदियों की ओर जाते हो (इष्णासि)<sup>४</sup>। सायण ने भी इस का अथ 'अभि गच्छसि' (अभि यान करते हो) किया है<sup>५</sup>। नो घस क एक और इसी तरह के प्रयोग<sup>६</sup> का अथ सायण ने 'गति' ही किया है<sup>७</sup>। घाम दव गीतम्<sup>८</sup> और अस्ति काश्यप<sup>९</sup> के भी √ इष् के इसी तरह के प्रयोगों का अथ सायण ने 'गति' ही किया है<sup>१०</sup>। अतः यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि अगस्त्य ने भी गत्यथ में ही √ इष् का प्रयोग किया है, तथा इप् (अन) को उन्होंने गति का कम होने से इस √ इष् से व्युत्पन्न समझा है। विश्व मनस वैश्वको भी इस विषय में सह मति प्रतीत होती है<sup>११</sup>।

१८ उवय < √ वच् 'कहना' अथ वाली √ वच् से 'उवय' की व्युत्पत्ति का सङ्केत अत्रि भौम<sup>१२</sup> नामा नदिष्ठ मानव<sup>१३</sup> के प्रयोगों से मिलता है। यहाँ धातु क प्रथम अक्षर (अतस्यवान् व) के स्थान में स्वर ('उ') है। अतः सम्प्रसारण की प्रकृति से य लागू परिचित है।

वारण इस पर यह टिप्पणी (द्र वहाँ टि १६) की है कि इस वचन का स्रोत अप्राप्त है। पर वस्तुतः यहाँ पिछली टिप्पणी में घृत ऋचा (८।११।२) ही अभिप्रेत है। इस पर निरुक्त के पाँच अध्याय, पृष्ठ २८५-२८५ देखें।

१ यदि मे सत्प्रमा वर, इमस्य पाह्ययस । ८।१३।२१ ॥

२ पूर्वोरिपचरति मध्व इष्णन् १।१८।१६ ॥ ३ द्र भाष्य इष्णन् = इच्छन् ।

४ येनावि हयस क्रतो अभित्राम् पुर इष्णासि पुरु हत पूर्वो । १।६३।२ ॥

५ द्र भाष्य ।

६ पुषे यच्छिणान् आयुवायघायमाणो नि र्छिणासि ननुन । ४।१७।३ ॥

७ द्र भाष्य इष्णान् = ग्रामीक्ष्येन प्रेरयन् । ८ मिनद् गिरि शवसा पश्यमिष्णान् । ४।१७।३ ॥ ॥ इष्णत्सूय न शोच्य । ६।१७।५ ॥

१० द्र भाष्य इष्णन् = गच्छन् । ११ पूर्वोरिष इवयतावति क्षप । ८।२६।३ ॥

१२ अस्मा इत्काव्य वच उवयभिद्राय शस्यम् । ५।३६।५ ॥

१३ अथदुक्थवचोमिरा हि नूनम् । १०।६१।२७ ॥

१६ उच्य < √ वच् घनस्य मन्त्रा वरुणि<sup>१</sup> और वाम ऋच गीतम<sup>२</sup> उपयुक्त सम्प्रसारण प्रवृत्ति से तो परिचित हैं ही उ होने 'उच्य' के ही अर्थ वामे तथा उसी से स्वर भक्ति (स्वरानाम स निष्पन्न 'उच्य' वा प्रयाग √ वच् के साथ करके इसकी व्युत्पत्ति का सङ्केत किया है। भाषा चिन्तन की दृष्टि से (१) तालव्य स्पश (च्) का कण्ठ्य स्पश (क) में विपरिणाम, (२) घातु के आदिम 'व' का सम्प्रसारण (उ) और (३) स्वर भक्ति का ज्ञान<sup>३</sup> इस व्युत्पत्ति से सूचित होता है।

२० उग्र < √ उज् कई ऋषियों ने 'उग्र' के साथ 'भोजस', 'भोजिष्ठ' 'भोजीयस' का प्रयोग कर क इनके पारस्परिक व्युत्पत्ति सम्बन्ध को सूचित किया है। इन में भरद्वाज बाहुस्पत्य<sup>४</sup> वसिष्ठ मैत्रा वरुणि<sup>५</sup>, रेम काश्यप<sup>६</sup>, दामान्त<sup>७</sup> के प्रयोग द्रष्टव्य हैं। ये सब 'उज्' √ उज् से निष्पन्न हैं। 'उग्र' म कप्रत्यय 'र' है 'भोजस' में भाषायक घस है, 'भोजिष्ठ' और 'भोजीयस' कप्रत्यय के प्रतिरिक्त तुलना का भी प्रकट करने वाले 'इष्ठ' और 'ईयस्' प्रत्ययों से निष्पन्न हैं। √ उज् के आख्यात रूप बाहुमय में नहीं मिलते। पालिनीय तन्त्र में उग्र की निपातन-मिष्ट<sup>८</sup> तथा 'भोजस' को √ उज् से व्युत्पन्न माना जाता है<sup>९</sup>। मास्त्र ने √ उज् और √ उज् का विकारप दिया है<sup>१०</sup>। √ उज् के नाम पदों में भी उपयुक्त चार पदों के प्रतिरिक्त एक भोजमन्<sup>११</sup> ही और है। भोजस का नाम घातुज

१ यदा मानास उच्यमबोधन । १।१८२।८ ॥

२ एता स घन, उच्यमानि वेधो.बोधाम कवये, सा जुपस्थ । ४।२।२० ॥

३ यहाँ 'अय' अण प्रत्यय प्रतीत होता है। अत 'उच् + य' में स्वर भक्ति है या 'उच् + अय' है यह निश्चय से नहीं कहा जा सकता। स्वर भक्ति यदि हो तो रूप 'उकय' घनना चाहिये। विशान् लोग दोनों पक्षों पर विचार करें।

४ वसिष्ठ न आ भर शूर, जव भोजिष्ठभोजो अमि मूत उपम । ६।१६।६ ॥

५ वाम वेष्ठा शुभा गोभिष्ठा, धिया सन्मिश्रा भोजोभिदरा । ७।५६।६ ॥

६ कदा वरिष्ठ वर आ भुरिम, उत्तोगभोजिष्ठ, तवत्तरस्विनमादा । ७।१० ॥

७ यहाँ अति सोम, उवेष्ठ, उपाणामि व, भोजिष्ठ । ६।६६।१६ ॥

८ अग्रन्पदिबदोभीमान । १७ ॥

९ इ उणदि-मूत्र १८६ (२।२६) ऋच्ये-उग्र वज्र विप्र कुञ्ज चुञ्ज-भूर भूर भद्रोप मेर मेल शुक्र शुक्ल गौर वरेरा भासा । भट्टोजि भीषित न इत्त √ उज् से बताया है उच्य समवाये (घातु पाठ ४।११५)। चतुर्थ ग ।

१० इ मापवीय घातु वति ६।२३ उग्र राजवे ।

११ इ उणादि मूत्र ६३१ (४।१६१) उग्रतेर्वा व लोपश्च ।

१२ इ निरुक्तम् ६।८ भोज (क) भोजतेर्वा, (ख) उग्रतेर्वा। दुग ने √ उज् की वदपथक बताया है। स्कन् ने इस नक्षत्र घातु बताया है भोज शब्द निगम प्रवचन निराह—भोजतेवा नक्षत्रस्य घातो, सामध्य-वमणो वा ।

१३ दिवस्तृचिस्था यथोक्त उद्धृतम्

रूप भी मिलता है<sup>१</sup> ।

२१ उत्स < उदन् < √ उद् श्यावाश्व आश्वे ने 'उदन्' (जल) की वामना करने वाले को उत्सो जैसे मरुत्<sup>२</sup> प्रयोग में 'उत्स' और 'उदन्' के पूर्व पदो ('उद्' और 'उदन्') की समानता की ओर कुछ प्रकाश डाला है। गोतम राहूगण ने √ उद् (गीला करना) के साथ करण के रूप में 'उदन्' का प्रयोग किया है<sup>३</sup> । इससे सूचित होता है कि 'उदन्' (जल) भिगोने का वरण होने से इस नाम से अभिहित है यह व्युत्पत्ति गोतम को अशोभ्य है तथा 'उत्स' का इस 'उदन्' से कोई सम्बन्ध है, यह श्यावाश्व का आशय है। यास्क ने 'उदन्' को √ उद् से कितु इसके कर्ता के रूप में, व्युत्पन्न बताया है<sup>४</sup> । कारको के पारस्परिक सम्बन्ध पर यदि विचार किया जाये, तो करण और कर्ता में बहुत अन्तर नहीं है। छेदन क्रिया के करण अग्नि को कर्ता के रूप में कहा भी जाता है कि यह तलवार बहुत सफाई से काटती है<sup>५</sup> । शृगु ने उदन् के परि वर्धित रूप 'उदक' को अथर्व स म उद् + √ धनु से बताया है<sup>६</sup> । 'उत्स' की यास्क ने कई व्याख्यायें की हैं। उनमें से एक में इसे √ उद् से बताया है<sup>७</sup> । वैयाकरणों में यही व्याख्या प्रसिद्ध है<sup>८</sup> ।

'उत्स' का पूर्वाङ्ग 'उद्' है। उसकी व्युत्पत्ति के बारे में ऋषियों के विचार यों हैं न मेघ आङ्गिरस ने 'उदन्' के साथ<sup>९</sup> और अत्रि भीम ने स्वतन्त्र रूप से<sup>१०</sup> 'उद्' का प्रयोग 'जल अथ म' किया है। अर्थात् न मेघ 'उद्' और 'उदन्' को समान शब्द ही मानते हैं। 'उद्' प्रकृति 'उत्स' से मिलते जुलते 'उद्' में भी है। यह शब्द

अपानोऽग्निं परि गोमिरावृतम् । ६।४७।२७।।

१ ■ १।१४०।६, २।१२।११, ३।३२।११ ।

२ इय वो अस्मत्प्रति ह्यते अतिस्तृष्णजे न विव उत्सा उद-यवे। ५।५७।१॥

३ अर्धेधो विष्णु रति भूम ॥ १।८५।५ ॥

४ इ निरुक्तम् २।२४ उदक कस्मात् ? उनत्सीति सत ।

५ तुलना करें सिद्धांत कीमुदी, कम कृत्-प्रकरणम् यदा सौकर्यातिशय श्रोतयित कृत् व्यापारो न विवक्ष्यते, तदा कारकान्तराण्यपि कृत् सङ्गता लभन्ते, स्व-व्यापारे स्व तन्त्रत्वात् । तेन पूव करणत्वादि सत्त्वेऽपि सम्प्रति कृत्त्वात्कृत्तरि सकार — साध्वसिन्धिनति, काष्ठानि पचति, स्यासी पचति ।

६ उदानिपुमहोरिति तत्समादुदकमुच्यते ॥ अथर्व-संहिता ३।१३।४ ॥

इस व्युत्पत्ति के अर्थ पर अ नान के चरम निदर्शन के लिये इ डा फतह सिंह, दो वेदिक एटिमॉलॉजी पृष्ठ १०५, और उसकी समीक्षा के लिये इ 'निरुक्त के पाँच अध्याय', पृष्ठ २४८ ।

७ इ निरुक्तम् १०।६ उत्स (१) उत्सवनाद्धा । (२) उत्स्य-दनाद्धा । उनत्तेर्वा ।

८ इ उणादि सूत्र ३४८ (३।६८) उदि गुधि कुविम्यश्च ।

९ अथा होत्र, गिवण, उप त्वा कामा-मह ससृजमहे, उदेव यत उदभि ॥

५।६८।७ ॥

१० उदा वयन्तामभि पाता अणा ॥ ५।४१।१४ ॥



स्वतंत्र रूप से माध्यदिन<sup>१</sup>, काण्व<sup>२</sup>, तत्तिरीय<sup>३</sup>, मत्रायसो<sup>४</sup> और काठक<sup>५</sup> सहिताना<sup>६</sup> में एवम् 'अनुद्र' (<न+उद्र) के रूप में वाच्यि हव्य के एक मन्त्र<sup>७</sup> में और यास्क द्वारा वक्तव्यिक रूप से सम्+उद्र<sup>८</sup> से, अथवा सम्+√उद् से व्याख्यात समुद्र<sup>९</sup> शब्द के उत्तर पद के रूप में प्रचुर बार उपलब्ध है। व्याकरण-परम्परा<sup>१०</sup> में भी 'उद्र' शब्द<sup>११</sup> √उद् से ही व्याख्यात है।

दुहरे मत्वर्थीय प्रत्यय (र+इन्=रिन्) के साथ 'उद्' नाम 'उद्रिन्' शब्द में भी है। गुत्समद<sup>१२</sup> और काण्व ने 'उत्त' और 'उद्रिन्' का युग पद प्रयोग कदा चिद् इन की प्रकृति की समानता को दृष्टि में रख कर ही किया लगता है<sup>१३</sup>। इन दोनों शब्दों में प्रकृति (उद्) एक ही है प्रत्यय (स और 'रिन्') का भेद है। इस सम्बन्ध में प्रस्वण्व<sup>१४</sup> और पुष्टि गु काण्व<sup>१५</sup> तथा कधीबद् दैघ-तमस<sup>१६</sup> और युध सौम्य<sup>१७</sup> के 'उद्रिन्' के प्रयोग भी द्रष्टव्य हैं।

२२ उह<√वृ नीय तमस औवप्य<sup>१८</sup>, भरद्वाज शार्ङ्गस्वत्य<sup>१९</sup> और पामु भारद्वाज<sup>२०</sup> ने उह<sup>२१</sup> के साथ √वृ से निष्पन्न 'वरीमन्' और 'वरीयस तथा 'वरुण'

१ द्र २४।३७। २ द्र २६।८।२। ३ द्र ५।५।२०।१।

४ द्र ३।१४।१८। ५ द्र ४७।१०।११।

६ अनुद्रे चिद्यो धृत्ता वरसते महितमाय वरुने श्विष्यते ॥ १०।११५।६॥

७ द्र निष्पत्तम् २।१० समुद्र कस्मान् ? (१) समुद्रवत् त्वस्मादाप । (२)

सममि द्रवत्वेनमाप । (३) सम्मो-तेऽस्मिन्मृतानि । (४) समुद्रको भवति । (५)

समुनसोति वा । इस प्रकार की व्याख्या के लिये द्र निरुक्त के पाँच अध्याय,

पृष्ठ २०२।

८ द्र उणादि सूत्र १७० (२।१३) स्कायि नञ्चि वचि शक्ति क्षिपि क्षुदि स्तुपि स्तुपि हवि रदि \*उदि श्विति शुमिम्भो रक् । ७ समझने में सुविधा के लिये यन्तमि हमने लीनी है। विद्वज्जन क्षमा करेंगे।

९ मट्टोजिजीवित ने न्त वा अय 'जल-वर' बताया है। श्रुत्वे सहिताना में 'जलवान्' पानी से भरा अर्थ है।

१० बहु साह सिचिबुक्तसमुद्रिणम् ॥ २।२४।४ ॥

११ श्रीणि सरानि पृथग्यो द्रुद्रुह्ये वचिण मधु । उत्त कवचमुद्रिणम् ॥ ८।७।१०॥

१२ उद्रोव वचि-नवतो न सिञ्चन सरतीन्द्र धीतय ॥ ८।४६।६ ॥

१३ उद्रोव वचि-नवतो समुन्वना सदा पीपेय दागुये ॥ ८।५०।६ ॥

१४ दिवत्कवचमय दधदुद्रिणम् ॥ ६।७।७ ॥

१५ सिञ्चावहा अवतमुद्रिण वय सु-वेकमनुष रिनम् ॥ १०।१०१।५ ॥

द्रुद्रुनाहावमवत सु-वरत्र सु-वेचनम् । उद्रिण सिञ्चे य दितम् ॥ ६॥

१६ सु रेतसा पितरा भूम वञ्चुदध प्रजाया अमृत वरीममि ॥ १।१५६।२ ॥

१७ या सप्त उक्षा म्पुवि उमो घता-मुपूयन पय ह वरानि ॥ ६।६२।१ ॥

१८ उरोवरीयो वरुणस्त द्रुलोनु । ६।७५।१८ ॥

पत्रों के प्रयोग में इस व्युत्पत्ति का सूचित किया है। पाणिनि ने 'इयस', 'इयस' प्रत्ययों से पूर्व 'उर' को 'वर' (हल त) आदेश कर के इस व्युत्पत्ति को पुष्ट किया है। उणादि-कार ने इस की व्युत्पत्ति  $\sqrt{\text{ऊणु}}$  (ढँकना) से दी है<sup>१</sup>।

२३ उपस  $< \sqrt{\text{उच्च}}$  ऋग्वेद संहिता में  $\sqrt{\text{उच्च}}$  (चमकना घातु पाठों में अघेरा हटाना) से 'उपस' की व्युत्पत्ति के सूचक प्रयोग कत्रघ में इकतालीस बार हुए हैं (१) सत्रह बार अघेली  $\sqrt{\text{उच्च}}$  के<sup>२</sup> (२) तेईस बार 'वि  $\sqrt{+}$  उच्च' के<sup>३</sup>, (३) एक बार 'वि वि  $+ \sqrt{\text{उच्च}}$ ' का<sup>४</sup>। मास्क न इसके (१) दिव्य और (२) धातु-रिक्त स्वरूपा को दृष्टि में रख कर (१) वश (काति, चाहना) से और (२)  $\sqrt{\text{उच्च}}$  (चमकना) से व्युत्पत्ति बताई है<sup>५</sup>।  $\sqrt{\text{वश}} > \sqrt{\text{उपस}}$  व्युत्पत्ति ऋग्वेद संहिता में नहीं है। वैयाकरण इसे  $\sqrt{\text{उप}}$  (टीका 'दाह') से व्युत्पन्न मानते हैं<sup>६</sup>। इन सब में ऋग्वेदीय ( $\sqrt{\text{उच्च}} > \text{उपस}$ ) व्युत्पत्ति ही 'उपा' के प्राकृतिक स्वरूप (भोर) को पूर्ण तया स्पष्ट करती है। ध्वनि विकास की दृष्टि से भी यह व्युत्पत्ति पूर्णतः वैज्ञानिक

१ द्र मन्त्राध्यायी ६।४।१५७ प्रिय<sup>१</sup> स्थिर<sup>२</sup> स्थिर<sup>३</sup> उर<sup>४</sup> बहुल<sup>५</sup> वक्ष<sup>६</sup> मृष<sup>७</sup> दीप<sup>८</sup> व-दारकाणां<sup>९</sup> प्र-ह्य<sup>१०</sup> स्फ<sup>११</sup> वर<sup>१२</sup> बहि<sup>१३</sup> गर<sup>१४</sup> बधि<sup>१५</sup> न्न<sup>१६</sup> प्राधि<sup>१७</sup> घ-वा<sup>१८</sup>।

\* ये सङ्ग माएँ क्रमशः स्थानी और आदेश के क्रमिक सम्बन्ध को बताने के लिये दी गई हैं।

२ द्र उणादि सूत्र ३० ३१ ऊर्णोनेनु लोपश्च। महति ह्रस्वश्च।

३ द्र १।४८।३, ७।११, ११३।१७ १२।१६, १८।१, ३।७।१०, ४।३६।१, ७।७२।४, ७।५।४, ७।६।६, ७, ८।१२, ६।०।४, १०।३५।३, ५।५।४।

४ द्र १।४८।१, ११३।७ ८ १० ११ ११८।११, १३ २।२८।६, ३।१।५२, ५।५।१, ४।१।५, १।४।४, २।३।१ ३।६।३, ४।५।२, ५।३।७।१, ६।२।८ ७।६६।५ १०।६।३, १५।१।५, ४।१।१, १२।२।७। 'वि  $+ \sqrt{\text{उच्च}}$ ' के प्रयोगों की अधिकता के कारण ही सम्भवतः व्याकरण-तन्त्र में 'प्रायेत्याय वि पूष १' प्रसिद्ध है 'वि पूषश्चाय प्र पुष्पत इति पुरुष कारे (द्र माधवीय धातु-वृत्ति १।२१४, पृष्ठ ६६)।

५ गृ सङ्ख्याशा मातृ मुष्टेव योयाऽऽविस्तव वृण्वे ह्ये कम्।

मद्रा स्वमुषो, वि-तर व्युच्च न तत्ते मया उपसो नश-त्ता। १।१२३।११॥

६ द्र निहकनम् २।१८ उपा कस्मात्? उच्चतेति सत्पा। रात्रेरपर काल। १।२।५ उपा यष्टे कान्ति कमण। उच्चतेरितरा मास्यमिका<sup>\*</sup>। प्रात-कालीन दिव्य (दिवो दुहिता) उपा यास्व की  $\sqrt{\text{उच्च}}$  से ही अभिप्रेत है।

\* द्र निषण्डु ५।५।३४।

७ द्र उणादि सूत्र ६७३ (४।२३३) उष कित्। दश पादो उणादि में इस  $\sqrt{\text{वस}}$  से निष्पन्न मान नर 'वस कित्'। भूत्र दिया है। ऋ १।४८।३ के 'उवातोपा' में सम्भवतः यह व्युत्पत्ति भी अभिप्रेत है। हर दत्त न पञ्च मन्त्ररी (७।४।४८) में 'उप कित्'। पाठ ही स्वीकार विषय है।  $\sqrt{\text{उप}}$  व अथ क लिमे तत्त्व-वायिनी तथा बाल मनो रमा देव्ये।

हैं<sup>१</sup>। सातव्य रूप और मूषम ऊष्म के पारस्परिक सम्बन्ध के लिये √मञ् > इप (इष्ट), √राज् > राष् (राष्ट्र) आदि धातु उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किये जा सकते हैं। वैयाकरण लोगो की व्युत्पत्ति तो अथ की दृष्टि से हाम्यास्पद है उपा की जीवन-दायी, मद्र मधुर अस्मिताहृष्ट उहे दाहक प्रतीत हुई। साहित्यिको को तो चन्द्र ज्योत्स्ना ही धार करती थी। 'टिड्दाणज' पण्डित की उत से तनिक उष्ण उपा ही तो दाहक होगी<sup>२</sup>।

२४ उल्ल < √वस (वसकना) पुं-स्त्री लिङ्गों में उपनयन इस शब्द का प्रयोग प्रति प्रम भाग्य<sup>३</sup>, मरदाज दाहस्पत्य<sup>४</sup>, वसिष्ठ मन्त्र वरणि<sup>५</sup> और वग्न अश्व<sup>६</sup> ने √वस के साथ किया है। देवातिथि काण्व ने उल्लिख्य का प्रयोग वसु के विशेषण के रूप में किया है<sup>७</sup>। इन प्रयोगों से विदित होता है कि वन अपिवा को उल्ल, उल्ला और उल्लिख्य शब्द √वस से निष्पन्न के रूप में समिप्रेत हैं। यहाँ 'व > उ' (सम्प्रसारण) का प्रयोग स्पष्ट है।

√वस का अर्थ √वस से निष्पन्न वसु का प्रयोग गौतम राहूण<sup>८</sup> और हरि मत्त आङ्गिरस द्वारा<sup>९</sup> 'पहिनना, धारण करना' अर्थ वाली √वस के साथ किया गया है। कानि का आवरण सा होता है। अतः सम्भवत इय कारण धाव रणायक √वस वसकना में भी प्रचलित हो गई थी ऐसा प्रतीत होता है। उपा की व्युत्पत्ति इस (वसकना अर्थ वाली) √वस से भी भ्रमिप्रेत थी यह हम पीछे कह ही आए हैं<sup>१०</sup>, सर्वाधिक छुति नील आदित्य का विवस्वत् नाम भी सम्भवत वसकने के कारण ही (√वस से) पड़ा है। यास्क ने तो यह व्युत्पत्ति दी ही है<sup>११</sup> प्रस्वप्न काण्व<sup>१२</sup> और इष्म दाह दाड् व्युत्<sup>१३</sup> ने इस अर्थ में व्युत्पत्ति का सङ्केत किया भी है। सायण ने यहाँ √वस को 'निवास अर्थ में माना है<sup>१४</sup>। परंतु

१ ॥ अश्वप्यायी ८।२।३६ वसव अस्म सृज-सृज यज राज आज-य भा य । डा मिहेश्वर वर्मा का णटिमानाजीव भाषा शास्त्र, पृष्ठ १४ और जे वाकेनगिल, 'आलन् इन्विसे ग्रामातिक', १।१२५, भी देखें।

२ अ दनया दयते वार्षाणि पूषा नयो अविति वस्त उल्ल । ५।४६।३ ॥

३ स इ रेभो न प्रति यस्त उल्ला । ६।३।६ ॥

४ यो ह स्य वा रविरा वस्त उल्ला । ७।६।१५ ॥

५ यो अश्वेभिवहते वस्त उल्ला । ८।४६। ६ ॥

६ त्व त न सुवेदमुत्तिम वसु । ८।४।१६ ॥

७ ते विश्ये देवा हि वस्वो वसवाना । १।६०।२ ॥

८ भा निर्माग्वसुत सादन-स्पृणो, रवि पिण्ड भवत वसीमहि ॥ ६।७२।८ ॥

९ द्र पृष्ठ ४१ टि ७ । १० द्र निष्कतम् ७।२६ विवस्वान् विवासनात् ।

११ वावसाना विवस्वति । १।४६।१३ ॥

१२ तमहा भुरिजोभिया स वसान विवस्वत । ६।२६।४ ॥

१३ ॥ क भा ६।२६।४ स वसान = वसन्त धात्रे ।

सोम के पीने (हरि) बरणा<sup>१</sup> को देखते हुए यह 'चमकना' अथ वाली भी हो सकती है। प्रमकण्व काण्व ने अन्यत्र<sup>२</sup> कुत्स भ्राज्जिरस<sup>३</sup> और विश्वामित्र गायिन ने<sup>४</sup> 'विवस्वत' का प्रयोग 'चमकीला' अथ में ही किया है।

यास्क ने उग्निया<sup>५</sup> की व्युत्पत्ति 'उत् + √घ्' से दी है<sup>६</sup>। व्याकरण लोग 'उघ्न' को √घस् से निष्पन्न मानते हैं<sup>७</sup>।

२५ ऊति < √घस् भो घस् गीतम<sup>८</sup>, गीतम राहुगण<sup>९</sup>, कुत्स भ्राज्जिरस<sup>१०</sup>, गुत्सम<sup>११</sup>, विश्व सामन आनेय<sup>१२</sup>, बसिष्ठ मैत्रा वरुणि<sup>१३</sup>, नारद वाण्व<sup>१४</sup> और इन्द्र व हुण्ड<sup>१५</sup> ने √घस् से भाव में 'ऊति' का सङ्केत किया है। यास्क ने इसे कृत सम्प्रसारण धातु (√घस्) से निष्पन्न तो माना ही है, साथ ही यह भी बताया है कि यापा में इस धातु के धातुस्थ वाले रूप अधिक हैं, सम्प्रसारण वाले रूप कम हैं<sup>१६</sup>। पाणिनि ने इसे निपातन सिद्ध बताया है<sup>१७</sup>।

२६ ऊव < √व यह शब्द पुस्तिक और प्रकारान्त है। यह ऋग्वेद संहिता में बाईस बार आया है। विश्व वाधु के मत में इस का अर्थ और व्युत्पत्ति

१ यदो विवस्वतो भियो हरि हिर्वति यातये ॥ १।१६।२ ॥

'निष्पन्न के पाँच अध्याय', ४।१६ भी देखें।

२ अग्ने विवस्वदुपमश्चित्र राधो अ मत्तय ।

आ वाधुये जात वेदो सह । १।४४।१ ॥

३ विवस्वता चक्षता यामपश्च देवा अग्नि धारयद्रविलोदाम् ॥ १।६६।२ ॥

४ विहृक्षत उपसो यामनक्तोविवस्वत्या सहि चित्रमकीकम् । ३।३०।१३ ॥

५ इ निदक्तम् ४।१६ उग्नियेति गो नाम । उत्क्राविलीक्ष्यो भीमा ।

इसकी व्याख्या के लिये 'निदक्त के पाँच अध्याय' देखें।

६ इ उग्नानि सूत्र १७० (२।१३) स्फायि तज्जिब बसि वाशि शुभिग्यो रक । सिद्धान्त कीमुदी, पृष्ठ १६१ वसे सम्प्रसारणे 'न १ पर सृपि सृजि सृपिहि सवनावीनाम्' (ग्रन्था ८।३।१०) — वक्षो = रश्मि । वला = गौ ।

७ प्र नू स मत्त शवसा जनी अति तस्यो व ऊतो मरुतो, अमावत । १।६४।१३ ॥

८ सोम यास्ते मयो भुव ऊतय सति वाधुये । तामिनोऽविता मवा । १।६१।६।

■ ■ १।११२।२ । १० इ २।११।१३ । ११ इ ५।२२।३ ।

१२ इ ७।१६।३ २०।२ । १३ इ ८।१३।१७ । १४ ■ १०।४६।३ ।

१५ इ निदक्तम् २।२ तद् यत्र स्वरावन तराऽ तस्याऽन्तर्जातु भवति तद् द्वि प्रहृतोनां स्यान्मिति प्र दिगिति । तत्र सिद्धायामनुप पक्षमानामामितरयोप विपाद पियेत् । तत्राप्येकेऽप्य निष्पत्तयो भवन्ति । तद् यथतद् — ऊतिर, मृड्, पृप्, पृषत कुणाश्मिति । इस सन्दर्भ की व्याख्या के लिये इ 'निदक्त के पाँच अध्याय', पृष्ठ १६६ ७ । निष्पत्तम् ५।३ ऊतिरवनात् ।

दोनों ही परिवर्तित हैं। ऋग्वेद संहिता में यह चोदह बार<sup>२</sup> वृत्र के द्वारा रोक कर रखी गई 'गो (घाघ जल)' के प्रसङ्ग में उनके बाड़े (भव रोष) के लिए आया उतीत होता है। यह बाड़ा जहाँ गुप्त (ढँका, छुपा हुआ) है, वही मजबूत भी है<sup>३</sup>। अतः यह 'आचगदन' अथवा 'व' स निष्पन्न है, यह कहना उचित तो प्रतीत होता ही है ऊपर सङ्केतित मात्रों में एव वसिष्ठ मन्त्र-वर्णिका के उर्जिजो ने गो के ऊँच को खोना<sup>४</sup>। कथन में इस अथवा 'व' के प्रयोग से पुष्ट भी होता है। 'गो' से सम्बन्ध के कारण पड़े गाय के बाड़ से आगे चल कर यह शब्द सामान्य छुपा हुआ गुप्त, मजबूत स्थान<sup>५</sup> अथवा भी रुढ़ हुआ मिलता है<sup>६</sup>।

२७ ऋषि, २८ ऋषयन्, २९ ऋमिष्य < √ अच्, नो घस् गीतम ने ऋमिष्य (स्तव्य) तथा 'मक (स्तोत्र) के साथ', दयावाच आत्रेय ने 'ऋवन्' के साथ<sup>७</sup> और लुग धानाक ने 'ऋव' (मदत) के साथ<sup>८</sup> इनकी प्रकृति √ अच् के प्रयोग से इन के निवचना का सङ्केत दिया है। मारक ने 'ऋच् (ऋच्) की व्याख्या √ अच् से की है<sup>९</sup>।

ऋग्वेद संहिता में उपनय '१ ऋचसे' (ऋचस=अचयितृ, च, एव<sup>१</sup>, √ ऋच् + भस्ते, तुमभ<sup>११</sup>), '२ ऋच्यते'<sup>१२</sup>, '३ ऋच्यते'<sup>१३</sup>, '४ ऋच्यमाना'<sup>१४</sup> और ५ ऋच्य

१ द्र वैदिक पदानुक्रम कोष, संहिता भाग, पृष्ठ २, पृष्ठ ६६२, टि. ६।  
२ द्र १।७२।८ ३।३२।६, ४।२।१७ ५।२६।२ ६।४ ४।५।२, १।७।१

६, ७।१६।७, ६।४, ८।६६।३, ६।८७।८ १०।७४।४, १०।८।८।  
३ गव्य चिद्रवमपि धानयत्त त चित्तर ज्ञानमाना अथ वन् ५।२६।१२।  
भीर्लोहोर् उलियाभ्यो वि हलहोर् ऊँच वा अमुजो अङ्गिरस्वान ॥६।१७।६॥  
स ऊँचस्य रेजययथा व्रतमिन्द्रो गवस्य वृत्र हा। ८।६६।३॥

एवा ययो परमादत्तरद्रे दू चित्सतीरुर्वा वा विवेद। ६।८७।८॥  
४ गव्य चिद्रवमुजिजो वि वृत्त तेवामनु प्र विव सखराय। ७।६०।४॥

टि. ३ में धृत मन्त्र भी इसी आशय के पोषक हैं।  
५ बृहत् इद् भानवी मा ऋजीकर्मिन् सच त विद्यतो न शुक्रा।  
मुहेत्र बद्ध सदसि स्वे अतर पार ऊँच अमृत दुहाना ॥ ३।११।४॥  
महश्चिदान्, एनसो अनीक ऊँचदेवानाम् उत मर्यानाम् ॥ ४।१२।५॥  
पृथ त, सृष्य दग्धमूत्र बृहस्पते, रत्नतादस्य योनिम् ॥ ४।५०।२॥  
६ सु वृचिर्नामि स्तुवत ऋमिषयाणां नरे वि अताय। १।६२।१॥  
सु वचित पर विमश के लिये द्र निरुक्त के पाँच अध्याय, पृष्ठ २४५।

७ अर्वा मरुद्भिर्ऋचवमि। ५।५२।१॥  
८ बृहस्पति सामभिर्ऋचवो अचतु। १०।३६।५॥  
९ द्र निरुक्त १।८ ऋचनी। १३।११॥ एवमभवति, यदेतमवति  
प्रत्यय = सर्वाणि भूतानि। १० द्र ६।३६।५। ११ द्र ७।६१।६।  
१२ द्र ८।३८।१०। १३ द्र ७।७०।६। १४ द्र ६।३८।२।

माने<sup>१</sup> के प्रयोगों से विदित होता है कि  $\sqrt{\text{अच्}}$  के साथ साथ  $\sqrt{\text{अच्}}$  भी प्रयुक्त होती थी। 'ऋच्' अग वाले शब्दों के साथ  $\sqrt{\text{ऋच्}}$  का प्रयोग न वर के  $\sqrt{\text{अच्}}$  का प्रयोग करने से विदित होता है कि ऋग्वेद के ऋषि (१) इन दोनों प्रकृतियों को परस्पर सम्बद्ध मानते थे, (२)  $\sqrt{\text{अच्}}$  के आभ्यास रूपा और 'अच' अश वाले नामों की तुलना में  $\sqrt{\text{ऋच्}}$  के आभ्यास रूप और 'ऋच्' अग वाले नाम बहुत कम प्रयोग में आते थे, अतः व्युत्पत्ति आदि के कार्यों में अपन समय में अधिक प्रचलित धातु को ही प्रदर्शित करते थे।  $\sqrt{\text{अच्}}$  और उस से निष्पन्न नामों की तुलना में  $\sqrt{\text{ऋच्}}$  और इस से निष्पन्न नामों के कम प्रयोगों को तथा पर कालिक संहिताओं में इन के घटते प्रयोगों का देखते हुए तो कहाँ चित यह भी कहा जा सकता है कि  $\sqrt{\text{ऋच्}}$  प्राचीन है और  $\sqrt{\text{अच्}}$ ,  $\sqrt{\text{ऋच्}}$  का ही अयाचीन रूप है।  $\sqrt{\text{ऋच्}}$  पाणिनीय तन्त्र में संस्कृतित तो है<sup>२</sup>, पर लौकिक वाङ्मय में प्रयुक्त शायद ही हुई हो।

३० ऋत् <  $\sqrt{\text{ऋ}}$  त्रित आभ्य न सत्य के साथ 'ऋत्' का प्रयोग  $\sqrt{\text{ऋ}}$  के एक त्रिया पद के साथ किया है<sup>३</sup>। इस से प्रतीत होता है कि यह गण्य व्यवस्थित दिव्य मर्यादा अथ में है और इस मर्यादा की गति 'नीलता' के कारण  $\sqrt{\text{ऋ}}$  से 'युत्पत्ति' के रूप में उद्भूत अभिप्रेत है। मर्यादा की साथ-साथ गति 'नीलता' और सत्ता में ही है। ऋषि ने गति 'नील' नदियों के व्यवस्थित नियमों के बहाव का 'ऋत्' के अन्तर्गत, और अपनी मर्यादा सत्ता से जड़ का उद्धार करने वाले सूर्य के प्रसङ्ग में 'ऋत्' के ही अन्तर्गत समानाधिकरण्यात् यत् का प्रयोग किया है। सायण ने 'ऋत्' को 'उदक' का पर्याय माना है।

३१ ऋत् <  $\sqrt{\text{ऋ}}$  प्रस्कण्य वाप्य न 'ऋत्' में गन्तव्य में भिन्न 'ऋत्' 'ऋत्' की भी यही व्युत्पत्ति सूचित की है<sup>४</sup>। इहों न 'ऋत्' गन्त का शीघ्र 'गमन' अथ में प्रयुक्त किया है। यान् रूढ रूप में इस से निरन्तर गति-नील (तुलना करें) समय < सम् +  $\sqrt{\text{इ}}$  गति) काल साभाय, या काल विनिय (समय का एक भाग, मौसम) अथ का बोध भी होता है। नरत्<sup>५</sup> आर वषाकरत्<sup>६</sup> सम्प्रदाया न भी इसी व्युत्पत्ति को अपनाया है।

३२ ऋषिज् < ऋत् +  $\sqrt{\text{अच्}}$  यह 'ऋत्' और 'अच्' (अच करने)

१ ऋ ६।४।१३।

२ ऋ धातु-नाठ ६।२२ ऋत् स्तुनी। अगभ्यास ३।१।६६ अच याच \* अच प्रच ऋचश्च। ७ माघवीय धातु-वत्ति में अग अग 'ऋत् प्रचश्च' उद्धृत है। वाशिका में यथा घन ही घत और व्याख्यात है।

३ ऋतमपत्तिं सि धव सत्य तातान मूय । १।१०।१२॥

४ यमिचत्ते पतत्रिणो द्वि पच चतुष्पञ्चनि। उव, प्राग्ननरत्तु । १।४८।१॥

५ न निरुक्तम् २।२५ ऋतुरर्त्तगति-कर्मम्।

६ ऋ उणादि सूत्र ७१ अर्त्तं च तु।

वाला) का समास है। ऋषियो ने इस शब्द के विग्रह का प्रयोग कई बार किया है। त्रित आप्य ने इस की तीन व्याख्याएँ की हैं (१) ऋतून् विद्वान् यजति = ऋतुभो = यज्ञ के भवसरो को जानता हुआ यज्ञ करता है<sup>१</sup>। (२) ऋतु गो यजति = ऋतुभो यर्थात् यज्ञ के भवसरो के अनुसार यज्ञ करता है<sup>२</sup>। (३) ऋतु भियजति = भोके भोके पर—भवसर के अनुसार—यज्ञ करता है<sup>३</sup>। इन म स प्रथम व्याख्या हविर्धान आह्नि ने<sup>४</sup> और द्वितीय देवापि आष्टि पेण ने<sup>५</sup> दी है। ये व्याख्याएँ शब्दों में भिन्न होते हुए भी अथवा एक ही तत्त्व का प्रतिपादन करती हैं कि यज्ञ के भवसर को समझ कर उनके अनुकूल यज्ञ काय करने वाला व्यक्ति ऋत्विज् कहलाता है। इन भवसरो तथा उन के कार्यों आदि के भेद से ऋत्विज् चार, सात, और सोलह होते हैं। भाषा विज्ञान की दृष्टि से इस निवचन से निम्न बातें प्रकाशित होती हैं (१) यह समस्त शब्द है, (२) उत्तर पद  $\sqrt{\text{यज्ञ}}$  से कन्ध में निष्पन्न है, (३) धातु के आदिम अक्षर को सम्प्रसारण हो गया है।

यास्क ने भी इस की तीन ही व्युत्पत्तियाँ दी हैं (१) ईर से, (२) ऋच +  $\sqrt{\text{यज्ञ}}$  से, (३) ऋतु +  $\sqrt{\text{यज्ञ}}$  से<sup>६</sup>। इन में से एक (तीसरी) वेदोक्त है। व्याकरण-परम्परा में भी यही व्युत्पत्ति प्रचलित है, तथा इस के तीन पक्ष प्रस्तुत किए गए हैं (१) ऋतु पर यज्ञ करता है, (२) ऋतु का यज्ञ करता है, (३) मौसम के अनुसार यज्ञ करता है<sup>७</sup>।

३३ श्लोक  $\sqrt{\text{उच}}$  वसिष्ठ मन्त्रावरुणि ने श्लोक का प्रयोग उद्योच क्रिया के साथ किया है<sup>८</sup>। सायण ने इन दोनों को सेवन करना अथवा श्लोक  $\sqrt{\text{वच}}$  में निष्पन्न बताया है<sup>९</sup>। यास्क<sup>१०</sup> और पाणिनि ने निवास अथवा श्लोक को

१ विशोहि देवा उगतो यविषः, विद्वान् ऋतु ऋतु पते यजेह । १०।२।१ ॥

२ अग्निष्टोता, ऋतु विद्वान् यजति देवा ऋतु गो यजति । १२।५ ॥

३ यथाऽयं ऋतुभिर्देव देवान्, एवा यजस्व तत्र यु जात । १०।७।६ ॥

४ स यतियो यजतु यजित्वा ऋतून् । १०।११।१ ॥

५ नि यीद होत्रम्, ऋतु वा यजस्व देवा-देवाये, हविषा सपय । १०।६५।४ ॥

६ इ निदत्तम् ३।१६ ऋत्विक्कस्मात् ? (१) ईरण । (२) ऋथ्यदा भवतीति शाकपूणि । (३) ऋतु याजी भवतीति वा ।

७ इ अष्टाध्यायी ३।२।५६ ऋत्विग्दधवसग्निगुण्यपञ्चमुजिकुञ्चो च । काशिका (१) ऋतो यजति, (२) ऋतु वा यजति (३) ऋतु प्रयुक्तो वा यजति = ऋत्विक् ।

८ नि यो वृम पौरुषेयीमुद्योच दुरोकमग्निरायवे शुशोच । ७।४।३ ॥

९ इ ऋ भा युद्योच । अत्र वचि सेवार्थं यतते, नि येवत इत्यथ । दुरोक = स-परान्तु सेव अथवा भवति, तथा ।

१० इ निदत्तम् ३।३ श्लोक इति निवास नाम उच्यते । हस्त लला के पाषाण पर संपादित वा सम्मल्लसरूप और राजवाड़े के सस्वरण। म यहाँ उच्यते

√उच् से निष्पन्न बताया है। पाणिनीय तत्र में √उच् 'समवाय' (इकट्ठा करना) अर्थ में है<sup>१</sup>। इस का समानान्तर 'गृह' शब्द √ग्रह से निष्पन्न है<sup>२</sup>। वसिष्ठ के प्रकृत मन्त्र में भी 'ओक' और √ग्रह के वैदिक रूप √गृभ से निष्पन्न 'गृभ' का युगपत्प्रयोग कदाचिद् इन दोनों की समानाधिकता की ओर सङ्केत करता है। वामदेव गौतम ऋषि ने 'ओक' के साथ 'उक्थ' (√वच् से निष्पन्न<sup>३</sup>) का युगपत्प्रयोग किया है<sup>४</sup>। सामयण ने 'उक्थ' का अर्थ 'स्तोत्र' और 'आव' का अर्थ 'आवास' किया है<sup>५</sup>। प्रवृत्ति निमित्त में बहुत भेद होने के कारण ये दोनों शब्द समान घातु ज नहीं हैं। अतः वामदेव का भाष्य यहाँ व्युत्पत्ति प्रदर्शन नहीं है।

३४ कम्भन् < √स्कम्भ घष्ठा-दष्टृ वै रूप के 'कम्भन्' के साथ √स्कम्भ और 'स्कम्भीयस्' के प्रयोग से सूचित होता है कि वे 'कम्भन्' को √स्कम्भ से करण में

(विसर्ग रहित) पाठ है। दुग ने इस निवचन की व्याख्या नहीं की है। स्कन्ध ने 'उक्थे' (स विसर्ग) की व्याख्या की लगती है। यह स्कन्ध भाष्य के एक कोप (हस्त लेख) में है भी। उन्होंने 'उक्थे' को पाठांतर बताया है ओक इति निवास नाम। उक्थेतिरिति पाठांतरम्। आह च—ओक उक्थ के (अष्टाध्यायी ७।३।६४) इति। 'उक्थे' पर डा सक्षमणसरूप ने यह टिप्पणी की है कि 'उक्थे' पाठ ही कोप में है, 'बी' कोप में 'उक्थे'। 'उक्थेतिरिति पाठांतरम्।' पाठ है। द्र पृष्ठ १२३, टि २२ 'उक्थे' ० अयमपि पाठ B'। हस्त लेखों का 'उक्थे' (विसर्ग रहित) 'उक्थे' (स विसर्ग) पाठांतर का अष्ट पाठ प्रतीत होता है। इस विषय में निरुक्त के पाँच अध्याय, पृष्ठ २७७, देखिये।

१ द्र अष्टाध्यायी ७।३।६४ ओक उक्थ के। तथा माघवीप घातु-वृत्ति ४। ११५ उक्थ समवाये। ओक। अक्थ<sup>६</sup>। 'ओक उक्थ के (अष्टा ७।३।६४) इति निपातनात्कुत्वम्। ओक ओकसी=गृहम्। अमुनि बाहुलकात्कुत्वम्।

७ कुत्व का विधान 'क' प्रत्यय में किया गया है। अतः यहाँ 'अक्थ'चित्त है। काशिका में सही व्युत्पत्ति दी गई है कतरि इगुपथ सक्षरण क प्रत्यय। माघव न सम्भवत अन्तोदात्तता के लिये 'अक्थ' बताया है। जयादित्य ने 'क' का विधान कर के इसे प्रत्यय स्वर से अन्तोदात्त सिद्ध किया है किमर्थ पुनरप्य षष्ठ्येव न व्युत्पाद्यते? स्वरायम। अन्तोदात्तोऽप्यभिष्यते। यजि सरयाद्युदात्त स्यात्।

१ पहला 'ओक' अकारान्त था। इसे भी वही अकारान्त न समझ लिया जाय, सम्भवत इसी कारण माघव ने इसका प्रथमा द्विवचनात् (ओकसी) रूप भी साथ में दिया है।

२ द्र निरुक्त ३।१३ गृहा कस्मात्? गृह्णीतीति सताम्।

३ द्र पीछे पृष्ठ ३८, '१८ उक्थ < √वच्।

४ अक्स्यत्र गणमानास उक्थरोको न रथ्या सु दृशीव पुष्टि ॥ ४।१६।१५॥

५ द्र ऋ भा अन्न कामा स्तोत्र गणमाना=स्तुवन्त। तदा सोऽय मिन्द्र स्तोत्राणां भावास इव भवति।



निष्ठा मानते हैं<sup>१</sup>। यहाँ दो विचार स्पष्ट दृष्टि गोचर होते हैं (१) 'कम्भन' में प्राप्ति 'स' का लोप, (२) 'स्वमीयम्' में मध्य वर्ती 'म्' का लोप। ये विचार यदि लोप के उच्चारण में प्राकृत प्रभाव के द्योतक हैं। 'स्वमीयम्' में 'ईयम्' की तद्धित मानने पर<sup>२</sup> यातु का वजनय नाम प्रकृति का रूप में प्रयोग भी यही दृष्टान्त है। 'म्' के लोप के लिये हिरण्य-रूप प्राप्तिरम,<sup>३</sup> कुण्डलपीरयि घमवा विवा मित्र साधिरा<sup>४</sup>, के 'स्वम्' और 'स्वम्' के प्रयोग भी दृष्टान्त हैं। सरस्वती साहित्य में 'कम्भन' के छुट्ट रूप 'स्वम्भा' का प्रयोग भी इसी व्युत्पत्ति की सूचित करने के लिये किया है<sup>५</sup>। यदि 'स्वम्भ' या 'स्वम्', 'स्वम्' 'स्वम्भा', 'स्वम्भा' का रूप में उपलब्ध है। इसी का पर्याय (√स्वम्भ स निष्पन्न) स्वम्भ भी 'स्वम्', 'स्वम्भा', 'स्वम्भ' और 'स्वम्भा' रूप में है।

१५ कीवट < किम + √ट विद्वामिन् साधिरा ने कीवट' के साथ किम + √ट' के प्रयोग से इन दोनों के सम्बन्ध की सूचित किया है<sup>६</sup>। इस का प्रयोग सप्तमी, य, व, म किया गया है। इस से इस की देश वाचकता<sup>७</sup> सूचित होती है। इस व्युत्पत्ति में कीवट के दो अंग अभिप्रेत हैं (१) की < किम् (२) वट < वृत्। यहाँ भाषा चिन्तन की दृष्टि से (१) समुच्चय (कट) में एक व्यञ्जन (ट) का लोप होने पर उसकी क्षति प्रति के लिये पूर्व वर्ती ह्रस्व को दीर्घ (२) दस्य ('त) ध्वनि का मध्यमीभाव ('ट) तथा (३) 'त्र' का घ म परिवर्तन स्पष्ट है।

पर वर्ती काल में धारक ने भी इस 'ट' की यही व्युत्पत्ति बताई है। हाँ

१ इन्द्रो "चास्वम्भ चिरकम्भनेन स्वमीयम्" ॥ १०१११५ ॥

२ "ष्ठ, ईयत्" आदि प्रत्यय पाणिनाय सत्र में तद्धित माने जाते हैं। आधुनिक व्याकरण इह कृत् मानते हैं। भाग ७४ दूर < √दु। पर दूसरी टिप्पणी देखें।

३ अथ स्वम्भास स्वमितास आरभे। १।३४।२॥ यहाँ आरभे शब्द आ + √रभ + ए (चतुर्थी प्रति रूपक तुमय) है। यह √रभ 'सहाय' अथ याने लौकिक √लम्ब के प्राचीन-तर रूप √रम्भ का शुद्ध रूप है। इस से 'लाठी अथ म रम्भ उसी प्रकार निष्पन्न है जिस प्रकार प्रकृत √स्वम्भ से स्वम्भ निष्पन्न है। जि शाक काण्व ने इस अर्थ में √रम्भ और रम्भ का प्रयोग किया है 'आ स्वा रम्भ न जिन्नपो ररम्भा अवतस्यत'। (८।४५।२०)। धारक ने भी अस्वम्भने सविता घामह हत्। (१०।१४६।१) की व्याख्या अमारम्भलोऽन्तरि सविता घामह हत्।' (निष्कृतम् १०।३२) में √रम्भ और √स्वम्भ की पर्यायता की प्रकट किया है। अतः यहाँ आरभे = आ + √लम्ब है।

४ विष्कम्भत स्वम्भनेना जनित्रो। ३।३१।१२ ॥

५ उप घा स्वम्भयु स्वम्भनेनाप्रथम पृथिवीं मातर वि ॥ ६।७२।२ ॥

६ किं ते कृष्वन्ति कीकटेयु ? शाबो नागिरि दुह्ने, न तपति घममा ३।५३।१४ ॥

७ इ इस के परिचय के लिये हमारी 'निष्कृत मीमांसा', पृष्ठ ३६८, १८ ३।

उत्तर-पद 'कट' के सम्भावित शुद्ध रूप 'कृत' की दो व्याख्याएँ—कम और भाव में—भी की हैं। कि (१) आय लोग उनके प्रति घृणा वग 'इहें ईश्वर ने क्यों बनाया ?' कहा करते थे। (२) ये लोग ही आयों की धार्मिक क्रियाओं यज्ञ आदि का मसौल 'इन क्रियाओं से क्या होगा ?' कह कर उढाया करते थे।

'किम' की ये दशान 'की' 'इ' और 'की वन्' शब्दों में होते हैं। यास्क ने 'की-वत्' का अनुवाद 'कियत्' किया है<sup>१</sup>। यह विकास पाणिनि के द्वारा भी विहित है<sup>२</sup>।

'कट' 'कृत' के दशान 'वि कट' में होते हैं। अथर्व वेद की वैष्णवादि संहिता के वि-कट<sup>३</sup> के स्थान में गौतम शास्त्रा में 'व्यङ्ग' मिलना है। प्रवृत्ति निमित्त की दृष्टि से 'विकट' और 'व्यङ्ग' पर्याय में ही हैं। इसमें विदित होता है कि 'विकट' कभी 'वि-कृत' रहता होगा<sup>४</sup>। ऋग्वेद-महिमा<sup>५</sup> और वैष्णवादि संहिता—दोनों—के पद पाठ में 'विकट' में भ्रम ग्रह। (विङ्कट) भी इस निष्कर्ष का बोधक है। 'वटार्ह' के लिये प्रयुक्त 'वट'<sup>६</sup> भी 'कृत' का ही वि-कृत रूप प्रतीत होता है।

३६ केतु'  $\sqrt{\text{चित्}}$ । मधु च्छन्स वैश्वामित्र ने  $\sqrt{\text{चित्}}$  के साथ 'केतु' का प्रयोग करण रूप में<sup>१</sup>, उनके पिता विश्वामित्र गार्ग्यिन<sup>२</sup> एवं बसिष्ठ मैत्रा वरुणि ने<sup>३</sup> कर्तृ अर्थ में किया है। यह  $\sqrt{\text{चित्}}$  अ कमक है एवं 'प्र ज्ञान अर्थ में है। मधु-च्छन्स ने अ कमक क्रिया को प्रेरणाधक रूप में स कमक बना कर 'केतु' (शुद्धा

१ द्र निरुक्तम् ६।३२ कीकटा नाम देशोऽनाय निवास । कीकटा = (१) कि कृता ? (२) कि क्रियामि ? इति-प्रेक्षा वा । वा लाम्पलसरूप के अनुसार (द्र निरुक्तम्, भूल मात्र, पृष्ठ १२६ टि ११) लघु पाठ के बोधो में दूसरे निवचन के अन्त में 'वा' नहीं है। वृहत्पाठ के बोधों में तो यह है ही दुय और स्कन्द ने भी इसकी व्याख्या की है। सामण द्वारा इस मात्र के भाष्य में उद्धृत निरुक्त-पाठ में भी यह है। अतः यहाँ 'वा' परम्परा पुष्ट है।

२ कीहृडिहृड सरमे वा हृशीका ? १०।१०८।३ ॥

३ आ की यत सतलूक चकच ? ३।३०।१७ ॥

४ द्र निरुक्तम् ६।३ आ कियतो वेणात् ?

५ द्र अष्टा ६।३।६० इव किमोरोदकी ।

६ २ २०।३०।१० । ७ अथ यो वक्रो विषहर व्यङ्ग । ७।५८।४ ॥

८ यास्क न इसे औपमयिक के मत में 'वि कात' से और अपनी वैकल्पिक व्याख्या में वि कुत्ति से निष्पन्न बताया है वि-कटो = वि-कात-गतिरिच्छोपम न्यव । कुटतेर्वा स्याद्—वि कुटितो भवति (निरुक्तम् ६।३०) ।

९ द्र १०।१२५।१ । १० सत्तिरीय संहिता २।३।१२।७

११ महो अण सरस्वती चेतयति केतुना । १।३।१२ ॥

१२ अग्निधिया ॥ चेतति केतुपक्षस्य पूष्य । ३।११।३ ॥

१३ अचेति केतुष्यस पुरस्तात् । ७।६०।२ ॥

वस्तु के वर्तमान को वर्णन के रूप में प्रयुक्त किया है। इस से विदित होता है कि 'केतु' प्रज्ञापन का साधन है। यज्ञ प्रारम्भ हो गया है, 'उपस आ रही है' अग्नि से इस बात का ज्ञान होता है, अतः वह एन एनों का 'केतु' (प्रज्ञापक) है। अतः 'केतु' में √चित् सवयव रूप में अभिप्रस्त है। उपयुक्त मात्रा यही कारण है कि 'केतु' का वाद निवचन (√चित् से व्युत्पत्ति सम्बन्ध कथन) ही किया गया है। अथ निवचन नहीं। इस व्युत्पत्ति में च् का न म वि परिणाम स्पष्ट है।

यह √चित् से सीधे व्युत्पन्न है, अथवा √चित् में व्युत्पन्न है, तथा 'एविया न व्युत्पत्ति प्रमाण' के साथ √चित् का प्रयोग कुछ कारणों से न कर के उस के स्थान में √चित् का प्रयोग कर दिया है, इस पर हम कुछ वक्तव्य प्रतीत होता है।

रात-हृष्य आश्रय' और वसु भारद्वाज<sup>२</sup> ने 'केतु' के स्थान पर 'वतु' का प्रयोग किया है। इस से यह विदित होता है कि उस समय 'केतु' और 'वतु' का 'अद' म। प्रापाततः 'केतु' √चित् में और 'वतु' √चित् से व्युत्पन्न प्रतीत होता है। ऋग्वेद संहिता में इन दोनों के प्रयोग की मात्रा के आधार पर हमारा यह विचार है कि √चित्, अर्थात् क कारवान् धातु प्राचीन थी और √चित् अर्थात् च-कारवान् धातु, उसका स्थान ले रही थी। च-कारवान् के नाम और आख्यात दोनों प्रकार के प्रयोग सीमित हैं, जबकि च-कारवान् के हर प्रकार के रूपों के प्रयोग मिलते हैं। पर वर्तमान काल में तो च-कारवान् (√चित्) का सवयव उच्चेद हो गया और च-कारवान् (√चित्) का ही बोल बाला रह गया, यहाँ तक कि पाणिनीय तन्त्र में √चित् केवल √चित् के व्युत्पत्ति के लिए ही सम्मानित है<sup>३</sup>। यही कारण प्रतीत होता है कि ऋषियों ने भी प्राचीन काल में अधिक प्रचलित √चित् से निष्पन्न 'केतु' की व्युत्पत्ति का सङ्कट अपने समय में अधिक प्रचलित √चित् से ही किया है अथवा प्राचीन 'केतु' के साथ अर्वाचीन √चित् का प्रयोग किया है।

१ सा मामिधानोऽश्वे पूर्वा उप जुवे सचा । स्वश्वात् ॥ चेतुना वाजां अग्निं प्र दाबने ॥ ५।६५।३ ॥ यहाँ शाकल्य ने 'सु चेतना' को दो स्वतंत्र पद माना है। स्वर की दृष्टि से भी 'सु' (उदात्त) तथा 'चेतुना' (अधोदात्त) अलग अलग पद हैं। सायण ने इसे समस्त एक पद मान कर 'सु चेतुना = शोभन प्रज्ञानो युधि (मित्रा वदणो)' अर्थ किया है। यह चिन्त्य है। समस्त 'सु चेतना' ('सु' उदात्त) का प्रयोग अवनानस आश्रय ने इस से पिछले सूक्त में किया है।

ता बाहवा सु चेतुना प्र यतन्त मरमा अचते ।

नेव हि जाय वसु विश्वासु तासु ओजुवे ॥ ५।६५।२ ॥

२ आ न सोम, पवमान किरा वस्वि-दो भव अथवा राघसो सह ।

निशा वयो धो, वसवे ॥ चेतुना, मा नो मयमारे अस्मत्परा सिच ॥ ६।८१।३ ॥

यह सायण ने 'सु' और 'चेतना' की पद-योजना शाकल्यनुसारी की है।

३ इ अष्टान्यायी ३।१।५ गुण तिन किदम्भ सन् । माधवीय धातु-वत्ति

१।६७३ कित निवासे, रोगापनयने च ।

✓कि के समानांतर ✓चित से भी 'केतु' के वजन पर लोगों ने 'चेतु' शब्द घड़ा, किंतु वह सु-बहु प्रचलित 'केतु' को पद च्युत नहीं कर सका। बल्कि स्वयं ही मृत हो गया<sup>१</sup>। यास्क ने कहा भी है कि कुछ प्राचीन नाम पद धातु रह जाते हैं, जबकि उनके आख्यात रूप प्रचलन से ग्रह चंद्र या लेते हैं<sup>२</sup>।

रात हव्य आत्रेय ने जहाँ 'केतु' के स्थान पर 'चेतु' का प्रयोग किया है, वही '✓कि<केतु' व्युत्पत्ति का सङ्केत भी किया है<sup>३</sup>। यह ✓कि भी ज्ञान' अथवा 'दशन' अथवा 'की' है, तथा 'केतु' इसका करण है।

पाणिनीय तन्त्र में स्वतन्त्र ✓कि लोक में प्रयुक्त नहीं है<sup>४</sup>, अपितु ✓घाय<sup>५</sup> के स्थान में कुछ विशिष्ट शब्द रूपों की सिद्धि के लिये 'की' रूप में आदिष्ट है<sup>६</sup>। उणादि कार ने 'की' के स्थान में 'कि' आदेश किया है तथा उससे 'केतु' की निष्पत्ति की है<sup>७</sup>।

अथ (प्रवृत्ति निमित्त) की दृष्टि से 'केतु' शब्द पारसी 'निशान' के समकक्ष है।

३० क्षत्रिय<क्षत्र विषय मनस वैयश्व ने 'क्षत्रिय' के उत्तराश 'इय' का अर्थ ✓अश्व प्राप्ति) स स्पष्ट किया है कि क्षत्रिय वह है, जो क्षत्र को पाए<sup>८</sup>। 'क्षत्रिय' शब्द का प्रयोग किये बिना यह व्युत्पत्ति विग्रह-वाक्य के रूप में दृष्टि में भी दी है<sup>९</sup>। अतः यहाँ 'इय' मत्सर्गोप (वाजा) अथवा वासा) प्रत्यय है, यह ऋग्वेदों का आशय स्पष्ट है।

पाणिनि ने क्षत्र से उस की अत्यन्त जाति अथवा 'क्षत्रिय' की व्युत्पत्ति दी है<sup>१०</sup>। ऋग्वेद संहिता के उपयुक्त दोनों प्रयोग वास्तविक के सदृश में हुए हैं। द्वितीय मात्र में तो प्रथम मात्र के 'क्षत्रिय' के स्थान पर ही जैसे 'राजन्' का प्रयोग किया गया है। इस से प्रतीत होता है कि ऋग्वेद संहिता के इन दो प्रयोगों में 'क्षत्रिय' का

१ यह केवल उपयुक्त दो मात्रों में प्रयुक्त मिलता है।

२ इतिरुक्तम् २।२ अथापि भाविकेभ्यो नमसा कृतो माध्यते—दमूना, क्षेत्र-साधा इति। अथापि मगमेभ्यो भाविका—उष्ण, पूतमिति।

३ नि केतुना जननां चिकेभे पूत दक्षसा ॥ १।६६।४ ॥

४ धातु पाठ में उपलब्ध कि ज्ञाने।' (भा धा वृ ३।१६) लौकिक नहीं है, अपितु छादस है। वदिक में इसका 'चिकेत्', चिकेतु, चिकित्तु, 'अचिकेत् और अचिकेतु रूप मिलते हैं।

५ इ माघवीय धातु-वृत्ति ८६५ घाय पूजा निशामनयो।

६ ॥ अष्टाध्यायी ६।१।३५ घाय की।

७ इ उणादि सूत्र ७३ घाय कि।

८ अतावाना नि वेदतु साम्राज्याय मुक्तु।

एत वता क्षत्रिया क्षत्रमा गतु ॥ ८।२५।८॥

९ अनाप्य वरुणो, मित्रो, अथवा क्षत्र राजान आगत। ७।६६।११ ॥

१० इ अष्टाध्यायी ४।१।१३८ क्षत्राद् घ।

अथ 'जाति विनेय' निश्चय स भवे ही न कहा जा सके, पर उक्त अथ की संख्या अशुभभाषना भी नहीं की जा सकती। त्रमस्यु पीठ-कृतम्<sup>१</sup>, वसिष्ठ<sup>२</sup> और जुहू प्रज्ञा प्राया अष्टिका<sup>३</sup> के द्वारा शास्त्रों के सन्दर्भ किये हुए 'क्षत्रिय' के प्रयोग भी इस अथ की सम्भावना के पोषक हैं।

ऋग्वेद संहिता और पालिनि न व्युत्पत्ति-वचन में एक घातर है ऋषिया की 'क्षत्र की प्राप्ति' के कारण 'क्षत्रिय' नाम पड़ना सम्भोष्ट है, जब कि पालिनि की 'क्षत्र से उत्पत्ति' के कारण। अर्थात् ऋषियों की व्युत्पत्ति में पौषिष अथ प्रवर्णित हुआ है, पालिनि की व्युत्पत्ति में योग वद अथ।

३८ गुहा, ३९ गुह्य, ४० गूढह < √गुह >। वैशानिधि काण्व<sup>४</sup>, परस्म<sup>५</sup>

१ मम द्वि-सा राष्ट्र क्षत्रिय राजानि कृष्टेदपमस्य वसे ॥ ४।४२।१ ॥

२ आ राजाना मह ऋतस्य गोपा सिन्धु पती क्षत्रिया मातमर्वाक ॥ ७।६४।२ ॥

३ तथा राष्ट्र गुप्ति क्षत्रियस्य ॥ १०।१०६।१ ॥

४ ऋग्वेद संहिता में छुपाना अथ वाली यह धातु ह्रस्वोपध (√गुह) और दीर्घोपध (√गूह) दो रूपों में प्रयुक्त मिलती है। कुछ रूप तो दोनों के प्रयुक्त हैं (१) गुह (√गूह लाट् म ए व) 'य इमे रीदसी नही समीची समजप्रमोद समीभिरित्र त गुह ॥' (८।६।१७)। गूह (√गूह से) 'मा वयो अस्मवप गूह एतत्' (७।१००।६)। (२) गूहमान (√गूह, जानच् पु प्र ण) 'य वाद् य वीर्षा गूहमानो अता १' (४।१।११) गूहमाना (√गूह, जानच् स्त्री अ ए व) 'अम गूह तवा गूहमाना १' (७।१०४।१७)।

प्रयोगों की मात्रा की दृष्टि से √गूह (ह्रस्वोपध) के आख्यात रूप तीन (गुह ८।६।१७ अमुक्षत् ५।४०।८ जुहुक्षत ८।३१।७) ही मिलते हैं, जब कि √गूह (दीर्घोपध) के आख्यात रूप बड़ा अधिक हैं तथा अधिक बार प्रयुक्त हुए हैं निरुपसर्ग ही सात (गूहते १०।२७।२४, गूहति १०८।४, गूहय ५।६३।४ गूहता १ ८६।१०, गूहताम् २।४०।२, अगूहत् २४।३, तथा गूह ७।१००।६, १०।२७।२४) रूप हैं। अथ संहिताओं में ह्रस्वोपध के आख्यात रूप नहीं मिलते, जब कि दीर्घोपध के कुछ अतिरिक्त रूप भी मिलते हैं। √गूह के आख्यात रूप के कुल प्रयोग सब संहिताओं में मिला कर आठ बार मिलते हैं। कृदन्त नाम भी √गूह (ह्रस्वोपध) के कुल आठ मिलते हैं गुह् १।६।७।३, गुह्य २।१६।५ गुहमान ४।१।११ (ये तीनों ऋग्वेदीय ही हैं), गुहा, गुह्य, गुह्यमान गुह (काठक-संहिता ५३।३, श्री विश्व बघु ने इस का पाठांतर कुह बताया है, ३ वैदिक-वदानुक्रम काण्व, १।२, पृष्ठ ११३२ टि ४ और पृष्ठ १२२६, टि ६) और गूह (ऋ ४।२१।६ ८)। √गूह (दीर्घोपध) के कृदन्त नाम चार हैं गूढह गूढवी (ऋ ७।८०।२ म ही), गूहन्ती (ऋ ४।४१।६ म ही) तथा गूहमान। वस्तुतः प्रथम दो रूप √गूह के ही हैं सवि (√गूह + त > गुड + ड > गुड > गूड गुह + त्वो > गु + त्वो < गूद्वी < गूद्वी) में दीर्घ हो गया है। ३ अष्टाध्यायी ६।३।१११ ड लोके पुनस्य दीर्घोऽण्।

विश्वामित्र-यधु (व य)<sup>६</sup> ने इन शब्दों के युगपत् प्रयोग से इस 'व्युत्पत्ति' को सूचित कर के (१) ह्रस्व और दीघ ('यु', 'गू') के विकार से युक्त एक ही धातु तथा (२) प्रत्ययाश से युक्त होने पर 'ह' ध्वनि के मूषयी भाव की प्रवृत्ति को प्रकट किया है। इस स्थिति में मूषयी भाव के दशन √सह से निष्पन्न 'साळह' ('म पाळह' के उत्तर पद) में गृत्समद<sup>७</sup>, भरद्वाज बाहस्पत्य<sup>८</sup> और वसिष्ठ मैत्रावरुणि<sup>९</sup> के व्युत्पत्ति प्रदर्शक प्रयोगों में होते हैं। यास्क ने 'गुहा' की व्युत्पत्ति √गूह से बताई है<sup>१०</sup>।

४१ गो < √गम् भरद्वाज बाहस्पत्य ने पशु विशेष वाचक 'गो' के साथ √गम् के प्रयोग से इस 'व्युत्पत्ति' का सङ्केत किया है<sup>११</sup>। व्याकरण-परम्परा में भी यही 'व्युत्पत्ति' मानी जाती है<sup>१२</sup>।

गो < √गा त्रिशोक काण्व ने गत्ययक √इ के साथ तथा गत्ययक √गा में निष्पन्न 'गातु' के साथ 'गो' (जल) का प्रयोग कर के इस व्युत्पत्ति का सङ्केत किया है<sup>१३</sup>। यास्क ने इन दोनों व्युत्पत्तियों का विकल्प सुझाया है। 'गो' के 'पृथिवी', 'पशु' (गाय) आदि अनेक अभिधेय और लाक्षणिक अर्थ हैं। सब अर्थों में उहू ये व्युत्पत्तियाँ ही अभिप्रेत हैं। पदार्थ का गति क्रिया से जैसा सम्बन्ध है, वैसे कारक का प्रयोग कर के उन्होंने अभिधेयों में भेद को स्पष्ट किया है<sup>१४</sup>।

इस विवरण से विदित होता है कि √गूह (ह्रस्वोपध) मौलिक है और √गूह् (दीर्घोपध) उस का परि वर्धित रूप है। पाणिनि ने भी √गूह् (ह्रस्वोपध) का ही सङ्कलन धातु पाठ (गूह स चरणे, १।८८०) में कर के उसी को दीघ का विधान किया है ऊहुषधायामा गोह (मृग ६।४।८६)।

५ पुषा राजानमा धृणिरय गूळह गुहा हितम्।

अविद्विष्यन्न बहिषम् १।२३।१४ ॥

६ गुहा हित, गुहा, गूळहम्पु। ५।१।१५, ३।३।६६ और १०।१४८।१२॥

७ अ पाळहाय, सहमानाय वेषसे। २।२१।२ ॥

८ अ पाळहमुष सहमानमामिर्गोभियध वषध वषलीनाम् ॥ ६।१८।१ ॥

९ ॥ पाळहाय, सहमानाय, वेषसे, तिग्मायुषाय भरता, शृणोतु न ॥ ७।

४६।१॥ १० द निरुक्तम् १३।६ गुहा गूहते।

११ आ गावो अग्नं नुत मद्रमकत्सीदतु गो ष्ठे, रण्यत्त्वस्मे। ३।२८।१ ॥

१२ द उणादि सूत्र २।५ (२।६८ गमेर्द्धे)।

१३ य कृतदिद्वि योय त्रि गोकाम गिरि पृथम्।

गोम्यो गातु निरेतवे ॥ ८।४५।३० ॥

१४ द निरुक्तम् २।५ 'गौर' इति (१) पृथिव्या नाम धेयम् (अ) यद् दूर गता भवति। (आ) यच्चास्था भूतानि गच्छति। (इ) \*गातेर्वाकारो नाम करण। (२) अयापि पशु-नामेह भवत्येतस्मादेव।

\* 'गाति' से दृग् ने 'गाह' गती (मा घा व १।६३१) की तथा स्कृन्द ने

४२ ग्या- $\sqrt{गम्}$  वि म<sup>१</sup> ऐ- ने 'ग्या' को  $\sqrt{गम्}$  के अपादान के रूप में प्रयुक्त कर के<sup>२</sup> इस व्युत्पत्ति का सङ्केत तो किया ही है, अपाग्न से इगनी अधिकरणता भी सूचित की है<sup>३</sup>। यास्क ने गो की एक व्याख्या यह भी की है कि 'पृथ्वी गो इस त्रिये कहलाती है कि प्राणी इस पर गमन करते हैं'<sup>४</sup>। यास्क की यह व्याख्या वि-अद द्वारा की प्रकृत निरुक्ति से मिलती-सी है।

४३ गुम्—गृम् वसिष्ठ मन्त्रा वरुणि<sup>५</sup> प्र माय काण्व<sup>६</sup> के 'घर अथ म ही' 'गुम धीर एह व वृषव वृषव प्रयोगो स सूचित होता है कि इस काल म म दाना गच्छ' ध्वनि धीर अथ की दृष्टि से परस्पर-सम्बद्ध माने जाते थे। कुसीदिन् काण्व के 'ग्राम (प वग-वतुषवान्) नाम के साथ  $\sqrt{ग्रम}$  (प-वग वतुषवान्) आख्यात के प्रयोग<sup>७</sup> से, धीर यदम-नाशन प्राजा-वत्य के ग्राहि (कण्ठ्य महाप्राण ऊष्म वाले) नाम के साथ बँस हो  $\sqrt{ग्रह}$  के आख्यात के प्रयोग<sup>८</sup> से सूचित होता है कि इन पदा की आधार भूत घातुओं में कुछ अयोग्य निरपेक्षता भी मानी जाती थी। यही म धीर 'हू' ध्वनियों में कोई विक्रम-अम हो सकता है पर दोनों ही वतनियों साथ साथ प्रचलित थीं। इन दोनों के पूर्वार्पण के बार में विचार यों है

गुम' (७।२१।२, ८।१०।३) की अपेक्षा गृह' का प्रयोग कहीं अधिक (११ बार) हुआ है।  $\sqrt{ग्रह}$  के आख्यात रूप  $\sqrt{ग्रम्}$  के आख्यात रूपों की तुलना में सात गुने ( $\sqrt{ग्रह}$  ५  $\sqrt{ग्रम्}$  ३५) हैं। इससे यह विदित होता है कि हू (कण्ठ्य महा प्राण ऊष्म) वाली वतनी अभी आरम्भिक स्थिति में थी और 'भू' (ओष्ठ्य

'गा स्तुती (३।२४) और 'ग गच्छे' (१।६३१) को माना है। यास्क ने घातु निर्देश सबत्र पाणिनीय सत्र के स्तिपा निर्देश से किया है। 'गाति' रूप गाढ गतौ का ही सम्भव है। स्कन्दोक्त घातुओं का निर्देश तो 'जिघात्ते' और गायते से किया होता। तुलना कर निरुक्त १।८ गायत्र गायते स्तुति-कर्मण। अतः स्कन्द की व्याख्या उचित नहीं है। निरुक्त के पाँच अध्याय गृष्ठ १८५।

१ आ जग्मथु पराकाद—विषय, गमय—मत्तयम् ॥ १० २२।६।

२ वस्तुतः कत और करण अधिकरण और अपादान कम और सम्प्रदान कारक परस्पर वि-सदृश नहीं हैं अपितु तनिक-से अष्टि भेद का प्रति प्रसव है। अतः हमारे विचार में मूलतः कारक तीन ही हैं कर्तृ अधिकरण और कम।

३ द निरुक्तम् २।५ और (१, आ) यच्चास्यो भूतानि गच्छन्ति।

४ द प्र ये शहादममदुस्त्वाया, (७।१८।२१), तथा यु भ्रियते यगसो गुमादा (२१।२)।

५ यद्वा समुदे अध्या-कृते गृहेष्ट आ यातमश्विना। ८।१०।१ ॥ और त्या वश्विना हुवे सु दससा गुमे कृता ॥

६ आ तू न इद्र सु पन्त, चित्र ग्राम स गुमाय। ८।८।११ ॥

७ ग्राहिजगह यदि वतदेनम। १०।१६१।१ ॥

महा प्राण घोष) वाली बतनी अधिक मात्रा में प्रचलित थी। प्राचिन भाषा में इसके तनिक से समानांतर उदाहरण 'क्षोभ—क्षोह' क्रोध—बोह आदि शब्द हैं। आज टंकसाली साहित्यिक भाषा में भले ही महा प्राण स्पष्ट का बोल बाला हो, पर जनता की भाषा में उसे कण्ठ में महा प्राण उष्म ने पूरी तरह पद च्युत कर दिया है। ऋग्वेद काल में अधिक उपलब्ध  $\sqrt{\text{अम}}$  पर वर्ती संहिताओं में धीरे धीरे  $\sqrt{\text{अह}}$  में बदल रही थी। माध्यमिक संहिता तब, लगता है यह स्थिति आ गई थी कि कुछ प्राचीन मात्रों में उपलब्ध  $\sqrt{\text{अम}}$  वाले पुराने प्रयोग इस संहिता में  $\sqrt{\text{अह}}$  वाले हो गये हैं<sup>१</sup>।

इस निष्कर्ष की पुष्टि में हम 'अम' और 'अह' शब्दों पर विचार करेंगे

१ अम ऋग्वेद में लगभग समानाधिक तीन निपात हैं जो परस्पर-सम्बद्ध प्रतीत होते हैं। प्रयोगों की मात्रा को देखते हुए उनके विकास का एक क्रम भी निर्धारित किया जा सकता है अम (१६४ बार) अम (१५४), अह (५१)। इनमें से किन्हीं दो का एक ही ऋषि के द्वारा प्रयोग भी (योग वक्ष्य अभिप्रेत नहीं है) कई बार किया गया है। इस का ज्योरा यह है

(क) अम और अम (१) कुत्स आङ्गिरस १।६।६, ११ (२) १०।२।६, ७, १०, (३) ११।६।१०, (४) विश्वामित्र गामिनि ३।६।२६, (५) ३।२।१०, ११, (६) वामदेव गौतम ४।१८।५, १०।११ (७) भरद्वाज बाहस्पत्य ६।१६।४, १८, (८) वसिष्ठ ८।४६।१५, १६ २६ ३१ ३३ (९) वसिष्ठ मैत्रावरुणि ६।७।१५, (१०) त्रित आप्त्य १०।१।६ ७, (११) सूर्या ८।५।१६ २७ ३३, (१२) प्रष्टा-दण्डा ११।१।६ ८

(ख) अम और अह (१) दीक्षितमस अश्विन्य १।१४।०।६ १०, (२) १५।१।२७, (३) गृत्तमद २।३।१।२, ४, ७, (४) वामदेव गौतम ४।२।२।६ ७ (५) गय आश्विन्य ५।६।५, (६) श्यावाश्व आश्विन्य ५।२।३, ६ (७) ५।४।४, ६, (८) वसिष्ठ मैत्रावरुणि ७।२।०।२-३, ५, (९) नाम्ना नेदिष्ठ मन्त्रव १०।६।१।६ २४।

(ग) अम और अह (१) गौतम राहूगण १।६।२।३ १५ (२) बक्षीवत् अम-तमस अश्विन्य ११।६।३, ८ ६ (३) देवा १०।५।१।२, ७।

निष्कर्ष (१) 'अम' ऋग्वेद काल का सर्वाधिक प्रचलित निपात है। (२) उनके दो अर्थ रूप भी चालू हो रहे थे (क) अम, (ख) अह। (३) 'अम' और 'अह' का साथ अधिक रहा प्रतीत होता है। (४) 'अम-अह' का साथ ऋग्वेद-काल में उससे कम रहा। (५) 'अम-अह' में कुछ भेद समझा जाने लगा लगता है, यही कारण है कि इनका पद्याय व रूप में प्रयोग केवल तीन ऋषियों ने किया है। इनमें से एक कक्षीवत् तो अम अम और 'अम-अह' का प्रयोग करने वाले दीक्षितमस क

१ द्र मन्त्रावली-संहिता ११।१।४ (सातवलेकर-स म मन्त्र सङ्ख्या २६)

अमो रसस्य यो रसस् त ते गृह्णाम्युत्तमम् ॥

—माध्यमिक संहिता ६।३ अमो रसस्य यो रसस् त ते गृह्णाम्युत्तमम् ॥



बाद की पीढ़ी के हैं। (६) वाम देव और वसिष्ठ प्राचीनतर 'घ' ध्वनि के इस विकास के दोनों चरणों के साक्षी प्रतीत होते हैं।

२ सघ ऋग्वेद संहिता में 'सघ' (स वग चतुष्वाङ्) नवासी बार और 'सह' (कण्ठ्य महा प्राणायामवाङ्) इक्कासी बार प्रयुक्त हुआ है। 'सघ' का समानांतर सघी शब्द भी (२।१३।२ के सहृद् स्वतन्त्र प्रयोग का छोड़ कर सबत्र  $\sqrt{\text{मध्व}} \text{ स निष्पन्न नाम पद के साथ पूर्व पद के रूप में ही) १८८ बार आया है। मत घ वारवाङ् प्रकृति के प्रयोग की सटट्या यद्यपि एक ही चीट है। एक ही कारवाङ् प्रकृति के प्रयोग की सटट्या केवल घस्वी रह जाती है। तथापि ऋग्वेद-संहिता में सघ के बारे में यह भी एक बात ध्यान देने की है कि 'सघ' का प्रयोग (१)  $\sqrt{\text{मध्व}}$  (२)  $\sqrt{\text{स्तु}}$  (३)  $\sqrt{\text{स्था}}$  से निष्पन्न (१) माद माद माघ (२) स्तुति, स्तुत्य, (३) स्थ नामा और एक घव नाम पद 'वीर' के साथ समास में पूर्व पद के रूप में ही हुआ है। स्वतन्त्र रूप से नहीं, अर्थात् सघ का स्वतन्त्र प्रयोग नहीं मिलता तथा प्रयोग क्षेत्र भी अत्यन्त सीमित है। जब कि 'सह' स्वतन्त्र (५६ बार) और पूर्व पद (२२ बार) — दोनों रूपों में — प्रयुक्त हुआ है। इसमें यह सूचित होता है कि 'सघ' कुछ पुराने चले आ रहे शब्दों में ही रह गया था। स्वतन्त्र रूप से इसका विकास 'सह' रूप में हो गया था जो स्वतन्त्र रूप से प्रयुक्त होने के साथ साथ नये शब्दों से बने समास के पूर्व पद के रूप में भी प्रयुक्त होने लगा था। ऋग्वेदोत्तर-कालीन वाङ्मय में 'सघ' का यह सीमित प्रयोग भी क्रमशः घटता गया है तथा 'सह' का प्रयोग बढ़ता गया है।$

निर्देश (१) 'सघ' ऋग्वेद संहिता से पूर्व स्वतन्त्र रूप में भले ही प्रयुक्त होता रहा हो, पर ऋग्वेद काल में इस का प्रयोग कुल जमा तीन धातुओं के सिफ शब्द नाम पद और एक घव नाम पद के साथ समास में पूर्व पद के रूप में ही प्राचीन काल के भवनेय के रूप में नैय रह गया था। (२) सह का प्रयोग ऋग्वेद काल में स्वतन्त्र और पूर्व पद के रूप में भी 'सघ' से कहीं अधिक होता था। ५६ बार स्वतन्त्र रूप में और २२ बार समास १५ शब्दों में समास के पूर्व-पद के रूप में। (३) मत घ स 'ह' का विकास ऋचाओं के उस काल से बहुत पहले ही हो चुका था यह प्रतीत होता है।

व्याङ्ग्य युग के भाषा विज्ञान में भी इस तथ्य की धपने दग में मली भीति स्पष्ट किा है। भास्क ने चन्कि ग्रन्थ (८.१.१५) की व्याख्या में 'प्र' की नग १

१ = १ गोपा २ छन्दस ३ जा ४ जानुप, ५ दानु, ६ दव ७ प्रमा, ८ मू ९ मून १० वस, ११ वन् १२ वसु १३ वाह १४ नेय्य, १५ सामन् । बार के साथ (१) 'सघ' और (२) 'सह' दोनों का समान मिलता है। (१) स्वयं परस्वरते सघ-वीर, वारा (१२६।७)। (२) घावा रवि सह वीर सुरास (३।४।४। १३)। घते रवि सह-वीर वचस्पवे (१०।६०।१२)।

२ २ निरवन् ३।१ नक्षि प्रमास (क ७।६।८) = न हि पहीनम् ।

( $< \sqrt{\text{ग्रह}}$ ) से की है। अर्थात् वे  $\sqrt{\text{ग्रम्}}$  को अपने समय में प्रचलित  $\sqrt{\text{ग्रह}}$  का प्राचीन रूप मानते हैं। वैदिक काल के 'ग्रम्' की व्युत्पत्ति उसी कास की  $\sqrt{\text{ग्रम्}}$  से की है। जब कि 'ग्रह' की व्युत्पत्ति  $\sqrt{\text{ग्रह}}$  से बताई है<sup>१</sup>। पाणिनीय तन्त्र में भी लौकिक ग्रह के 'हृ' के स्थान में प्राचीन भाषा (छन्दसु) में 'म्' का विधान<sup>२</sup> इसी निष्कर्ष का पोषक है।

४४ घन  $< \sqrt{\text{हन्}}$  कण्व धोर<sup>३</sup> और वसिष्ठ मैत्रा वरुणि ने<sup>४</sup> करण-विभक्त्यन्त 'घना' के साथ 'वि +  $\sqrt{\text{हन्}}$ ' के आख्यातो के प्रयोग से इस व्युत्पत्ति को सूचित किया है। अथवा भी यही व्युत्पत्ति दी गई है<sup>५</sup>। अ प्रति रथ ऐन्द्र के 'घना-घन'<sup>६</sup> को आचार्य ऋषभ ने एक-पद (अ समस्त) ही माना है<sup>७</sup>। वैयाकरण लोग भी हम  $\sqrt{\text{हन्}}$  से कत्रथ में निष्पन्न एक पद ही मानते हैं<sup>८</sup>। ऐसी स्थिति में शाकल्य का आग्रह कर्त्तव्य इस का अर्थ प्रति शय हन्<sup>९</sup> मानना है, तथा वैयाकरणों के मत में केवल 'हन्त'। यो, यह 'घन' के दो विभिन्नायक शब्दों का समास भी हो सकता है घनाना = हतव्याना मेघाना, घन = हस्ता = घन + घन = घना घन। अर्थात् पूर्व पद का 'घन' नाम में निष्पन्न है तथा 'मिष' का वाचक है और उत्तर-पद का 'घन' कत्रथक है एवं 'हत' अर्थ में 'इन्द्र' के लिये प्रयुक्त हुआ है। समस्त रूप में यह शब्द 'दस्यु हन्' और 'वृत्र-हन्' के सम कथ है। वि गृहीत रूप में इसकी तुलना मधु छन्दस वैश्वामित्र<sup>१०</sup> और तिरश्ची आङ्गिरस<sup>११</sup> के 'घनो वृत्राणाम्', विश्वामित्र भाषिण के 'घन वृत्राणां'<sup>१२</sup> भरद्वाज के 'घने वृत्राणाम्'<sup>१३</sup> और वाम देव

१ द्र निरुक्तम् १०।२३ गर्भो युमे । २ द्र वही ३।१९ गृहा कस्मात् ? गृह्णीतीति सताम् । ३ द्र काशिका ८।२।६५ हृ ग्रहोमश्च दसि हस्य ।

४ घनेव विष्णुर्वि जह्य राध्या । १।३६।१६ ॥

५ घनेव विष्णुर्विरितानि वि घनन् । ६।६७।१६ ॥ तुलना करें मोमस गीतम घनेव वसिष्ठघनयिह्य मित्रान् (१।६३।५) ।

६ घनेम हामि वृश्चिकम् (ऋग्वेदीय खिल तथा अथर्व स १०।४।६) ।

७ आशु शिशानो वृषभो न भीमो, घनाघन, सोमएश्चवलीनाम् । १०।१०३।१ ।

८ उहोति इसके पद-पाठ में अथ-ग्रहण नहीं किया है ।

९ द्र अष्टाध्यायी ६।१।१२ पर चातिक् हतेयत्वं च ।

१० 'दस्यु-हन्तम्', 'वृत्र हन्तम्' आदि शब्दों के उत्तर-पद 'हन्तम्' में तुलना करें। प्रकृत पद में अग्रास को, अथवा, निरर्थक मानना पड़ेगा। यास्क आदि आचार्य धातु के द्वित्व को सप्रयोजन और निष्प्रयोजन मानते हैं। धतिशयता रूप प्रयोजन के होन पर प्रयोजनभाव की कल्पना (घनाघन में निरर्थक द्वित्व मानना) असङ्गत है ।

११ अथ पीत्वा घत-क्रतो, घनो वृत्राणामभव । १।४।८ ॥

१२ त्व ह त्वद् वृषभ, वयलीना, घनो वृत्राणां तविषो बभूव । ८।६६।१८ ॥

१३ गता महामिन्द्र घन वृत्राणां जनयत् देवा । ३।४६।१ ॥

१४ प्रातर्दनि सत्र धोरस्त ध्वेष्टो घने वृत्राणां, सनधे जनानाम् । ६।२६।८ ॥

नीचम<sup>१</sup> के 'घन वस्तुम्भ' से की जा सकती है।

ऋग्वेद संहिता में 'घा' का प्रयोग बतु (मारने वाला दण्ड)<sup>२</sup>, करण (मारने का साधन धातुध, धर्मात् वय)<sup>३</sup> और भाव<sup>४</sup> अर्थात् म निष्पन्न गुरु के रूप में हो हुआ है। इस बात को देखते हुए घना घन' का अर्थ 'विनाशक धातुध (धर्मात् वय) ग नष्ट करने वाला' भी हो सकता है।

यान्त्रिक न इस का शब्द निश्चयन  $\sqrt{हन्}$  से बताया है<sup>५</sup>।

४२ घाति <  $\sqrt{घम}$  दघनमस घोचष्य ने पशुघा के साथ 'पात' का प्रयोग घाति का प्रयोग 'घाता' अर्थ वाला  $\sqrt{घम}$  से कर के<sup>६</sup> इस क्रम में निष्पन्नित के रूप में सूचित किया है। योगिक रूप में यह घन का पर्याय है। घन गुरु भस्मान् बाह्यरूप्य और वसिष्ठ मन्त्रावलि<sup>७</sup> के अनुसार घनतीय (साया जान वाला) होने से  $\sqrt{घद्}$  से व्युत्पन्न है। दीपतमस के अनुसार  $\sqrt{घद्}$  और  $\sqrt{घम}$  पर्याय हैं इसमें उनका 'घन (<  $\sqrt{घद्}$ ) और 'जघ' (<  $\sqrt{घम}$ ) का युगपदप्रयोग<sup>८</sup> प्रमाण है। व्याकरण भी यही व्युत्पत्ति मानते हैं<sup>९</sup>।

४६ घृत <  $\sqrt{घृ}$  वदिक कान् म घृत का प्रयोग घी' और 'जल' अर्थों में होता था। गुह्यमद के अनुसार यह  $\sqrt{घृ}$  का कारण होने में घृत है<sup>१०</sup>। कत वस्त्रामित्र ने इसी तरह के सन्दर्भ में इस के साथ 'इष्म' (प्र दीप्त करने वाला) विशेषण का प्रयोग किया है<sup>११</sup>। अथर्वसंहिता में 'घृत को समु-  $\sqrt{इघ}$  का कारण बताया गया है<sup>१२</sup>। इस से सिद्ध होता है कि घृत की प्रकृति  $\sqrt{घृ}$  प्र दीप्त (प्र ज्वलित) करना अर्थ में है तथा घी भाग को प्र ज्वलित करने के कारण ही 'घृत' कहलाता है। कपिल्लल कठसंहिता में (सम्भवत घोर के समय) 'घृड' ध्वनि करने के कारण अर्थात् गजानुकरण पर, 'घृत' नाम पड़ा है यह बताया गया है<sup>१३</sup>।

अथर्व संहिता में  $\sqrt{घृ}$  का 'प्रयोग नीचता तर करना, सरोवर, करना' अर्थ

१ क्षेत्रासा वदधुस्वरासां घन वस्तुम्भो घनि मृतिमुधम् ॥ ४।३८।१ ॥

२ इ १।४।८, ३।४।११ ८।१६।१८। ३ इ १।८।३ ३६।१६ ६३।५,

४।३८।१ ६।६।७।१६। ४ इ ६।२६।८।

५ इ निवक्तम् २।१ अथाप्यादि विषययो ज्योतिषयो विदुर्वाटिथ इति।

६ (अथर्व) अथर्व पर्वो यच्च घाति जघात ॥ १।१६२।१४ ॥

७ नितिक्रि यो वारणमनसति ॥ ६।४५ ॥

८ त घी घना भुवते शुचि न्नु मूरि बिदना समिदति सत् ॥ ७।४।२ ॥

९ घमि द्वि-जमा त्रि-मुक्तेन मृग्यते, स वत्सरे वावृषे जग्धमी पुन ॥ १।१४०।२ ॥

१० इ उणादि सूत्र ५६६ (४।१२६) जनि घतिभ्यामिण ॥

११ त्रिघम्यग्नि हविषा घृतेन प्रति क्षियत भुवनानि विदवा ॥ २।१०।४ ॥

१२ इप्तेनाग्न इच्छमानो घृतेन जुहोमि हव्य तरसे, जनाय ॥ ३।१८।३ ॥

१३ घृतेन त्वा मनुष्या समिधे ॥ अ स ७।८२।६ ॥

१४ स मृडकरोत् ॥ तद् घृतस्य घृतत्वम् ॥ ३।७।८ ॥

म भी हुआ है तथा इसके करण के रूप में 'घृत' के ही पर्याय 'घ्राज्य' का प्रयोग किया गया है<sup>१</sup> ।

'घृत' का मूलार्थ 'धी' ही प्रतीत होता है। पार्थिव पदार्थों के लिये जल का वही महत्त्व है, जो मनुष्य के जीवन में 'धी' का होता है। घृत मूलतः 'धी' का वाचक 'घृत' शब्द साक्षात्कारिक रूप में 'जल' के लिये प्रयुक्त होना लगा। 'जल' का प्राति स्विक् गुण या सिञ्चन है दीपन नहीं। परिणामतः √घृ 'सीचना' अर्थ में भी प्रचलित होने लग गई। अथर्व संहिता में उपलब्ध 'सिञ्चन' अर्थ स्त्री अर्थ विकास की एक बड़ी प्रतीत होती है।

यास्क ने जल' के पर्याय घृत' का 'सीचना' अर्थ वाली √घृ से निष्पन्न बताया है<sup>२</sup>। यास्क सम्भवतः जल वाचक 'घृत' को दीप्ति अर्थ से भी सम्बद्ध मानते हैं, यह उनके 'माध्यमिक अग्नि (बिजली) जल से प्रज्वलित होती है।' कथन<sup>३</sup> से विदित होता है।

√घृ के प्रयोग के इतिहास की दृष्टि से यास्क का यह कथन ध्यान देने योग्य है कि √घृ के आरम्भिक रूप प्राचीन काल में प्रयुक्त होते थे, लौकिक संस्कृत के काल में यह कुछेक प्राचीन नाम पदों में ही शेष रह गई है<sup>४</sup>।

वैयाकरण √घृ को 'सिञ्चन (सेचन, क्षरण) तथा 'दीप्ति अर्थों<sup>५</sup> में मानते हैं तथा 'घृत' की व्युत्पत्ति सेचन अर्थ वाली √घृ से ही मानते हैं<sup>६</sup>।

१ पुरो डाशावाभ्येनाभि घारिती। अ स १०।१।२५ ॥ अथर्व का यह अभि घारण याजिका में आ घारण' शब्द से कहा जाता है। जमिनीय-न्याय माला में 'सरस् घृतमा घार।' (घारा-बद्ध गिरता हुआ धी आ घार है।) कहा गया है। प्रवृत्त में 'धी से तर किय दो पुरो डाश।' अर्थ अभिप्रेत है।

२ द्र निरुक्तम् ७।२४ घृतमित्युक्तं नाम, जिघर्ते सिञ्चति कमण।

३ द्र वही ७।२३ यत्र वधूत (धनि) क्षरणमभि हन्ति यावदनुपातो भवति, मध्यम धर्मैव तावद्भवति—उदके धन शरीरोप गमन। इस सन्दर्भ की व्याख्या 'निरुक्त मीमांसा', पृष्ठ ३०६ तथा निरुक्त के पाँच अध्याय' में यथा स्थान देखिय।

४ द्र वही २।२ अवावि नगमेभ्यो (धातुभ्यो) भायिका (कृनो माध्य ते) —उष्णधु, घृतमिति।

५ द्र मायवीय धातु-वृत्ति १।६२० घ सेचने। ३।१४ घ क्षरण-दीप्त्यो।

६ ॥ महा माध्य ७।१।६५, वा ८, पृष्ठ ६० घरतिरस्मा अविनेषेणो पदिष्ट, स घृत घणा, घम इत्येव विषय। प्रदीप घृ धु सेचने' इति भौवादिक। उणादि-सूत्र ३३६ (३।८८) अञ्जि घ सिम्य क्त। इस सूत्र की व्याख्या में नाने द्र सरस्वती तथा वामु देव दीक्षित ने जोहोत्यादिक √घृ से घृत बताया है। माध्य विरोध से वैयाकरणों के लिये यह चिन्त्य है। माघव न (धातु-वृत्ति १।६२) भाष्यानुसारी व्युत्पत्ति दी है।

४७ चट्टि < √कृ वसिष्ठ मंत्रा-वदणि<sup>१</sup> घोर उशनम् काव्य<sup>२</sup> ने इन दोनों के युगपत् प्रयोग से इस व्युत्पत्ति को सूचित किया है। यही चक्रि 'वत्पन' है।

४८ घट्ट त्य < √कृ सोमरि काण्व न कम विभक्त्यन्त 'घट्ट त्य' क साथ करना प्रप चात्ती √कृ स निष्पन्न नाम-य<sup>३</sup> (कृष्वत्) का प्रयोग कर क इस व्युत्पत्ति को प्रकट किया है<sup>४</sup>।

४९ चित्त < √चित् वत परवामिन ने चित्त घोर √चित् के युग-पत् प्रयोग से इस व्युत्पत्ति को सूचित किया है<sup>५</sup>। यास्व ने इसे √चित् स बताया है<sup>६</sup>।

५० चित्र < √चित् भरद्वाज बाहस्पत्य<sup>७</sup> घोर वग प्रत्य<sup>८</sup> न √चित् के साथ चित्र' के प्रयोग से सूचित किया है कि चित्र वह है, जो ज्ञान कराता है।

चित्र < √चित् भरल वत हव्य ने इस का प्रयोग √चित् के साथ किया है<sup>९</sup>। √चित् घोर √चित् के ऐतिहासिक सम्बन्ध की खर्चा हम पीछे कर चुके हैं। अतः यह निश्चयन चित्र' के अर्थ की व्याख्या करता प्रतीत होता है।

नद्वत्<sup>१०</sup> घोर वयाकरण<sup>११</sup> सोम इसे √चित् स 'वायनीय अथ म मानत है।

५१ चेतस < √चित् √चित् घोर घानेय<sup>१२</sup> न √चित् स घोर वसिष्ठ मन्त्रा वदणि<sup>१३</sup> ने √चित् घोर √चित् दोनों से चेतस' की व्युत्पत्ति का सङ्केत किया है। परा-दार शाक्य<sup>१४</sup> घोर सुतम्भर घानेय<sup>१५</sup> ने क कारवान् नाम का प्रयोग क-कारवान् घातु के साथ और अत्रि भौम ने<sup>१६</sup> च-कारवान् नाम का प्रयोग च-कारवान् घातु क साथ कर के इन दोनों घातुओं के उस काल म हान वाले प्रयोग की ऐतिहासिक स्थिति को स्पष्ट किया है कि य दोनों घातु उस समय एक-दूसरे से अलग होन

१ चक्रियो मयो यत्करिष्यन् । ७।२०।१ ॥

२ इन्द्रो न मो महा कर्माणि चक्रि । १।८८।४ ॥

३ यस्माद्वेजत कृष्टयश्चकृ त्यानि कृष्वत् । ८।१०३।३ ॥

४ तयो वसो, चिक्वित्तानो अ चित्तान । ३।१८२ ॥

५ अ निरवत्तम् १।६ चित्त चतते ।

६ स चित्र चित्र चित्तमत्तमस्मे । ६।६।७ ॥

७ उग्र चित्र चेतित्त सूनत । ८।४६।२० ॥

८ तव श्रियो वप्यस्येव वि-द्युतश्चित्राश्चिकिन्न उधसां न केतव । १०।६१।५ ॥

९ अ निष्कृतम् ४।४ १२।६ १६ ।

१० अ उणादि सूत्र ६०३ (४)१६३) अमि चि मिदि अतिप्रम कप्र ।

११ ध्रुवोरत्रिश्चिचेतति नरा सु स्नेन चेतसा । ५।७३।६ ॥

१२ इमे दिवो अतिमिया पृथिव्याश्चिकित्वांसो अचेनस नयति । ७।६०।७ ॥

इमे मित्रो वदणो दू-लमासोचेतस चिन्वितर्यति दशे । ६ ॥

१३ न जामिनिवि चिकिते वयो नो, विदा देवेबु प्रमति चिकित्वात् । १।७१।८ ॥

१४ ऋत चिकित्व ऋतमिच्चिकिटि । ५।१२।२ ॥

१५ अ चेतसा चतयते अनु युनि । १।८६।४२ ॥

की प्रक्रिया मे काफी आगे बढ़ गई थी। व्याकरण मे चेतस की व्युत्पत्ति √चित् स मानी गई है<sup>१</sup>।

५२ जघन < √हन् पायु भरद्वाज ने<sup>२</sup> अश्वाजनी (चावुक) के प्रसङ्ग मे 'जघन' की 'व्युत्पत्ति' √हन् से कम मे सूचित की है। उन का आशय यह प्रतीत होता है कि बार-बार चावुक से ताडित अङ्ग जघन कहलाता है। सगता है कि पशु के अङ्ग से अवयव सस्थान की दृष्टि से समानता के कारण यह शब्द मनुष्य के अङ्ग विशेष मे भी रूढ़ हो गया<sup>३</sup>। यास्क ने बर्दिक व्युत्पत्ति की ही दुहराया है<sup>४</sup>। व्याकरण मे √हन् से ही अङ्ग विशेष अथ मे जघन की व्युत्पत्ति कर दी गई है<sup>५</sup>।

५३ √जन=जा। श्यावाश्व आग्नेय ने √जन् और उसके 'जा' रूप मे पारस्परिक सम्बन्ध को इन की युगपत् प्रयुक्ति से स्पष्ट किया है<sup>६</sup>। यह सम्बन्ध वसिष्ठ मैत्रा बरुणि<sup>७</sup> और नृ मेघ आङ्गिरस<sup>८</sup> ने भी उचित किया है। पाणिनि ने 'जा' को √जन् का आदेश बताया है<sup>९</sup>।

५४ जनिमन् < ज मन् परा शर शाब्द<sup>१</sup> के अनुसार 'ज-मन्' और 'जन' मे पारस्परिक सम्बन्ध है। जन शब्द √जन् से निष्पन्न है<sup>११</sup>। अतः 'ज-मन्' भी √जन् से (भाव मे) निष्पन्न है। ऋग्वेद संहिता मे इस की दो वतनियाँ मिलती हैं (क) ज-मन् (४० बार) (ख) जनिमन् (२० बार)। ज-मन् प्राचीनतर शब्द प्रतीत होता है। इसके सम कक्ष अथ शब्द हैं अजमन् अयन् अश्मन् चमन् (सु)-तमन् ममन् सधन् ह-मन्। इस मे स्वरभक्ति ('म' के दो व्यञ्जनो क मध्य मे हरेके से स्वरागम) से यह शब्द 'जनिमन्' रूप मे विकसित हो गया था। ऋग्वेद काल में ये दोनों वतनियाँ साथ साथ चल रही थी भरद्वाज वाङ्मन्य ने इस आशय की 'जनिमन्' के प्रयोग से बताया है<sup>१२</sup> तो वसिष्ठ मैत्रा बरुणि ने ज-मन् का प्रयोग करते हुए<sup>१३</sup>। आज यह शब्द बोल चाल की भाषा मे जनम्

१ द्र सिद्धान्त कीर्तुनी, उणादि सूत्र ६२८ (४।२२८) सव धातुभ्यो-  
स्तु। चेत। बाल मनो रमा धिती सञ्ज्ञान। अस्मादसुनि रूपम्।

२ आ जङ्घति सा देवा जघना उप जिघ्रन्ते। ६।७५।१५॥

३ निरुक्त २।२ म 'कन्' के और २।७ प पाद के निबन्धन से तुलना कर।

४ द्र निरुक्तम् ६।२० जघन जङ्घयते।

५ उणादि सूत्र ७।१० (५।३२) हते गरीरावयवे द्वे च।

६ गु जातासो जनुषा ॥५३७।५॥ ७ न जातो, न जनिष्यते। ॥३२।२३॥

८ वसुनि जाते जन्मान् अजसा प्रति माग न दीधिम ॥ ८।६६।३॥

९ द्र मष्टाध्यायी ७।३।७६ जा जनोर्जा।

१० आ श्रयानि यता चिकित्वाण्, आ मानुषस्य जनस्य ज म ॥१।७०।१॥

११ अनुत्बलण वयत जोगुवामपो, मनुभव, जनया बव्य जनम ॥१०।५३।६॥

१२ विश्वा वेद जनिमा जान वेदा। ६।१५।१३॥

१३ अग्निज मानि देव आ वि विद्वान्। ७।१०।२॥

और 'जलम्' रूप में प्रयुक्त होता है। अर्थात् पदे लिखे तबके के लोग भले ही तत्सम 'जन्म' बोलते हों, जन साधारण इसमें स्वर भक्ति धाज भी करते ही हैं। इसी प्रकार वैदिक काल में भी उस काल के तत्सम 'ज मन्' का तो प्रयोग होता ही था, तद्ध्रस्व रूप में यह स्वर भक्ति से जन साधारण में बोला जाता होगा तथा छन्द के कारण, या का य म कुछ भाष्य लाने के लिए, कवि लोगो ने इसे साहित्य में भी अपना लिया था<sup>१</sup>।

स्वर भक्ति की इस प्राकृत (जन साधारण की स्वामाधिक) प्रवृत्ति का अनुशासन बँधाकरण लोगो ने √जन् से इमन् प्रत्यय के विधान से किया है<sup>२</sup>।

५५ जरणा घोषा काशीवती ने अश्विनो की स्तुति में √स्तु के पर्याय √जर क साथ स्तुत्य के उपमान के रूप में 'जरणा का प्रयोग किया है<sup>३</sup>। सायण ने इसे जरा' (बुढ़ापा) के साक्षरिण अथ (ऐश्वर्य के कारण बड़े हुए) में लिया है<sup>४</sup>। अतः उनके मत में 'जरये' (त्रिया पद, और जरणा (नाम पद) में साम्य ही प्रतीत होता है, अथ साम्य नहीं। इस मत में प्रयुक्त 'कापया' (=कापा ण ए व) का अथ उहो ने स्तुति से किया है। वेङ्कट माधव ने 'जरणा की भी ण ए व में माना है। ऐसी स्थिति में यह 'कापया' का पर्याय (स्तुति अथ में) भी हो सकता है और तब 'जरये' तथा जरणा एव अर्थ भी सम्बद्ध हो सकते हैं। ऋग्वेद संहिता में जरणा का प्रयोग छह बार और हुआ है। घोषा के पिता कशीवद अथ तमस ऋणिज एव घोष तमस घोचप्य<sup>५</sup> ने इस का प्रयोग स्तुति अथ में किया है। वाम देव गीतम<sup>६</sup> वसिष्ठ मैत्रा-वर्णि<sup>७</sup> अभितपस सोय<sup>८</sup> और

१ ज-म का प्रयोग ११ बार हुआ है तो जनिम (संहिता में जनिमा) का प्रयोग १६ बार एवं 'ज-मानि' ३ बार प्रयुक्त हुआ है तो जनिमानि १० बार। ज-मन् (३ बार) की अपेक्षा जनिमन् (४ बार) अधिक पाया है।

२ इ उणादि सूत्र ५८८ (५११४८) जनि मृच्छ्यामिमनिन्।

३ प्रातजरये जरणेव कापया वस्तोवस्तोयजता गच्छषो गृहम्।

कस्य ध्वजा अवय कस्य वा नरा राज-पुत्रेव सवनाञ्च गच्छय ॥१०१४०॥३॥

४ ॥ ऋ भा युवां प्रात-काले जरये=स्तोतृमि तूयेये। तत्र दृष्टांत—जरणेव=यथा जरणे=ऐ-वर्णेण वृद्धो राजानो, कापया=प्रात ॥ बोधकस्य यदिनो वाणी कापा तथा स्तुयेते तद्वदित्यर्थ।

५ अथ प्र जते तरलिममत्तु, प्र रोच्यस्या उपसो न सूर।

इदुर्गमिराष्ट स्वेतु हव्य स्रुवेण सिञ्चेजरणमि घाम ॥ ११२११६ ॥

६ वि यवस्यान् प्रजतो वात चीदितो ह्यारो न वक्त्रा जरणा घना-कृत ॥१॥

१४१७ ॥

७ पुनर्वे चक्र पितरा युवाना सना यूयेव जरणा गवाना ॥ ४॥३१३ ॥

८ मज्झा सूरिम्य उप-म वरुण स्वा भुवो जरणामशनवन्त ॥ ७॥३०४ ॥

९ मा शुने मूम सुयस्य सट्णि मद्र जोवन्तो जरणामगोमहि ॥१०॥३०६॥

स्वयं घोषा काशीवती<sup>१</sup> ने इस का प्रयोग 'जरा' अर्थ में किया है। अतः प्रकृत<sup>२</sup> मात्र में 'जरणा' का अर्थ निश्चित कर पाना कठिन है। स्तुत्यक 'जरेये' के साथ क्रिय प्रयोग को देखते हुए तथा 'स्तुति' अर्थ में इस के दो प्रयोगों—एक तो स्वयं घोषा के पिता है, दूसरे घोषा के पितामह<sup>३</sup> तथा ऋग्वेद के बहुत समय ऋषि हैं उनके प्रयोगों—को देखते हुए इस का 'स्तुति' अर्थ मानने में कोई आपत्ति नजर नहीं आती। यो 'जरणा' अनेकायक है यह स्पष्ट है। अतः घोषा ने ही एक मात्र में एक अर्थ में तथा दूसरे मात्र में दूसरे अर्थ में प्रयोग कर दिया हो, तो भी कोई आपत्ति नहीं है।

५६ जरितृ < √ज (स्तुति) जरितृ शब्द √ज से कत्रय में निष्पन्न है यह प्रत्यक्ष है। परन्तु ऋग्वेद संहिता में यह घातु ( ) स्तुति, (२) वयो हानि (पुराना पड़ना) अर्थों में प्रयुक्त है। अतः यह किस अर्थ वाली √ज से निष्पन्न है, यह स्पष्ट करना आवश्यक है। मधुच्छन्दस वैश्वामित्र ने कम विभक्तयन्त देवता के प्रसङ्ग में √ज के साथ कर्ता के रूप में 'जरितृ' का तथा 'उक्थ' का उस के कारण के रूप में प्रयोग किया है<sup>४</sup>। इस से विदित होता है कि उन्होंने इसे 'स्तुति' अर्थ में ही प्रयुक्त किया है। अर्थात् 'जरितृ' शब्द को मधुच्छन्दस स्तोत्र का पर्याय मानते हैं। अत्रि भीम ने जरितृ के प्रयोग के अतिरिक्त 'स्तोत्र' गिद् (स्तुति वाली) तथा 'स्तुति' का प्रयोग कर के इस व्युत्पत्ति को स्पष्ट किया है<sup>५</sup>। बृहस्पति आङ्गिरस ने भी जरितृ की वाणिया का बड़ा। कह कर 'जरितृ' का स्तोत्र अर्थ स्पष्ट किया है<sup>६</sup>।

५७ जात वेदस यह शब्द 'जात+वेदस' का समास है यह प्रत्यक्ष स्पष्ट है। वेदस शब्द √विद् से है, यह तो यद्यपि स्पष्ट है तथापि √विद् का अर्थ क्या है? यह स्पष्ट नहीं है। √विद् अनेकायक है

१ युव विप्रस्य जरणामुपेयुव पुन क्लेरकृत युवद् वय । १०।३।८॥

२ अर्पति १०।४०।३ ।

३ दीघ तमस ऋषि उक्थ्य आङ्गिरस (ऋ ६।५० ५ के ऋषि) के पुत्र हैं। इन की माता का नाम ममता है। अतः य आचम्य भी कहलाते थे तथा मामतेय भी। इ. १।१५८।१, ४, ६। अङ्ग देश के राजा की रानी की उक्षिज नामक दासी से दीघ तमस न कशीवन् का उत्पन्न किया। इ. सायण ऋ. भा. १।११६।१ उगिक्तञ्जायामङ्ग राजस्य महिष्या दास्या दीघ-तमसोत्पत्ति कशीवा-वध नमस उक्षिजप्रसूत । बृहदेवता (३।१४२ ६) के अनुसार इन्होंने अपना परिचय दीघ तमस के पुत्र के रूप में दिया है

राजनाङ्गिरसोऽस्मीति कुमार प्रत्युवाच तम् ॥ ३।१४५ ॥

पुत्रोऽह दीघ तमस आचम्यस्य ऋवेन प । ३।१४६ ॥

४ वाय, उक्थेमिन्नरते त्वामञ्छा जरितार । १।२।२।

५ यत, गिरो जरितु ऋष्टति च विज्ञेयतमस्तो विश्व ऊतो। ५।४३।१०॥

६ स न पुनान आमर रथि स्तोत्रे सु वीयम् । जरितुवधया गिर ॥ ६।४०।५॥



(१)  $\sqrt{\text{जन्}} + \sqrt{\text{विद्}}$  (ज्ञान) भरद्वाज ब्राह्मण ने जात वेदस के वृत्त्व में 'ज्ञान' अथवा  $\sqrt{\text{विद्}}$  का प्रयोग कृत्वाच्य में  $\sqrt{\text{जन्}}$  से निष्पन्न 'जन्म' (जन्म के कर्मत्व में किया है कि जात वेदस अग्नि सब जन्मों अर्थात् जन्मवाना, को जानता है<sup>१</sup>। 'जात वेदस' की साक्षात् चर्चा न करते हुए भी बसिष्ठ या वसिष्ठ ने इसी आशय को दूसरे ढंग से कहा है<sup>२</sup>। पराशर गार्ग्य<sup>३</sup>, प्रजापति विश्वामित्र<sup>४</sup> और वत्स आग्नेय<sup>५</sup> ने तथा चातन<sup>६</sup> ने भी यही आशय कुछ अंतर साथ व्यक्त किया है।

(२)  $\sqrt{\text{जन्}} + \sqrt{\text{विद्}}$  (ज्ञान या ज्ञान) वि मद् ऐन्द्र ने 'अग्नि ने पैदा की ही सब का यो' का वेदन किया<sup>७</sup>।<sup>८</sup> में  $\sqrt{\text{विद्}}$  को 'ज्ञान' अथ में प्रयुक्त किया कि 'ज्ञान' अथ में, यह स्पष्ट नहीं है। सोमाहुति भागव ने इस मन्त्र के आशय को प्रकारांतर से अग्नि के प्रसङ्ग में यो' कहा है अग्नि सब वायुओं के चारों ओर प्रकाश हो गया, जिस नेमि प्रकार चक्के ने चारों ओर होती है<sup>९</sup>। यहाँ परि + 'भू' से उसी आशय का बलन किया गया है जिस के लिए वि मद् ने  $\sqrt{\text{विद्}}$  का प्रयोग किया है। अतः कदाचित् वि मद् की  $\sqrt{\text{विद्}}$  लाभायक भी हो सकती है।

(३)  $\sqrt{\text{जन्}} + \sqrt{\text{विद्}}$  (सत्ता)। विश्वामित्र गार्ग्य के हर जन्म (वाले) जात-वेदस नि हित (सत्तावान्) है।<sup>१०</sup> कथन से प्रतीत होता है कि वे अग्नि को अपने प्राणी में सत्तावान् होने से जात वेदस मानते हैं। अतः यहाँ  $\sqrt{\text{विद्}}$  सत्ता में अभिप्रेत प्रतीत होती है।

यास्क ने इसे 'जात +  $\sqrt{\text{विद्}}$ ' से  $\sqrt{\text{विद्}}$  के ज्ञान सत्ता, ज्ञान अर्थों में व्यापक किया है<sup>११</sup>। व्याकरण परम्परा में<sup>१२</sup> भी जात +  $\sqrt{\text{विद्}}$  से ही 'जात

१ अग्निर्होता, गृह पति, स राजा विद्वा वेद जनिमा जात वेद ।

देवामामुत मर्त्यानाम् ॥ १।१५।१३ ॥

२ अग्निजन्मानि देव आ वि विद्वान् ॥ ७।१०।२ ॥

३ आ ईश्यानि वतः विद्विष्वान् आ मानुषस्य जनस्य जन्म ॥ १।७।२ ॥

एता विद्विष्वो भूमा नि पाहि देवानां जन्म मर्त्याश्च विद्वान् ॥ ६ ॥

४ अग्निष्टा विद्वा भुवनानि वेद, महद्देवानामसुरस्यमेकम् ॥ ३।१५।१० ॥

५ यो विद्वांसि वि-व्यति भुवना स च व्यति ॥ १।१८।४ ॥

६ यत्रयामग्ने, जनिमानि वेदस गृहा सतामत्त्रिणां जात वेद । अ स १।८।४ ॥

७ अग्निर्जातो अथवशा विद्विष्वानि काश्या । १०।२१।५ ॥

८ परि विद्वानि काश्या नेमिचक्रमिवामवत् ॥ २।५।३ ॥

९ जन्मजन्मनि हिता ज्ञान-वेदा ॥ ३।१।२० २१ ॥

१० = निरुक्तम् ७।१६, (१, क) जातानि वेद । (ख) जातानि वन विदुः ।

२ क) जाते-जाते विद्यत इति वा । (क) जात वितो वा = जात धन । (१, ग) जात विद्यो वा = जात प्रज्ञान ।

११ इतिदान्त-नीमुदी, उणादि सूत्र ६६६ (४।२२६) गति-कारणोप

वेदस की 'व्युत्पत्ति' अभिप्रेत है। टीकाकारों में जाने दसरस्वती ने इस  $\sqrt{\text{विद}}$  के 'जान' और नाम दोनों अर्थ बताए हैं<sup>१</sup> तथा वामु देव दीक्षित ने ज्ञान ही<sup>२</sup>।

५ जामि <  $\sqrt{\text{ज}}$  जन प्रजापति वैश्वामित्र ने इन दोनों के युगपत् प्रयोग<sup>३</sup> से इस 'व्युत्पत्ति' का सिद्ध किया है। 'जामि' की व्याख्या के तीन विकल्पों में यास्क ने एक यह भी दिया है<sup>४</sup>।

५६ जार <  $\sqrt{\text{ज}}$  कृष्ण आङ्गिरस ने 'स्तोतृ' अर्थ वाले जरितृ के साथ 'जार' का प्रयोग<sup>५</sup> इन्द्र के विशेषण के रूप में कर के इन दोनों के व्युत्पत्ति-सम्बन्ध की प्रकट किया सगता है। यह  $\sqrt{\text{ज}}$  से निष्पन्न है यह जरणा' के समान ही स्पष्ट है, तथा उसी के समान इस की प्रकृति  $\sqrt{\text{ज}}$  का अर्थ भी स्पष्ट करना आवश्यक और अपेक्षित है।

(१) ज स्तुति' सायण ने इस मन्त्र के 'जार' की व्याख्या भूता को जीए करन वाला' की है<sup>६</sup>। यह उचित नहीं प्रतीत होता इन्द्र वर्ण के द्वारा भूता को जीवन देते हैं, या उन्हें जीए करते हैं यह सुधी जन स्वयं विचार करें। इन्द्र को मनुष्या के लिए सर्वानिर्णायी सुख दायक<sup>७</sup>, मनुष्यों के भोजन की व्यवस्था करने वाला<sup>८</sup> और मनुष्या के बाप के समान<sup>९</sup> बताया गया है। अतः जार' को 'जरा' अर्थात् 'जीए करना' अर्थ वाली  $\sqrt{\text{ज}}$  से मानना अस्मृत है। वास्तव में तो यह उसी  $\sqrt{\text{ज}}$  से निष्पन्न प्रतीत होता है, जिस से प्रकृत मन्त्र का जरितृ शब्द निष्पन्न है। अतः जार' शब्द  $\sqrt{\text{ज}}$  से निष्पन्न 'अक' के समान ही है, तथा 'स्तुत्य' = दत्तता अर्थ में है<sup>१०</sup>। इस अर्थ में  $\sqrt{\text{ज}}$  जरितृ न अतिरिक्त अचनानस आश्रय

पदयो पूष पद प्रकृति स्वरस्य च। अस्ति स्यात्। सुतपा। जात वेदा।

१ द्र वही तत्त्व बोधिनी गती करक बोध पदेऽसि स्यात्। तप सतापे। विद जाने (२।५८) विदस सामे (६।१४८)।

२ द्र वही ज्ञान मनो रमा ज्ञान शब्दे कम कारक उप पदे 'विद जाने' (२।५४) इत्यस्मादसि।

३ सना पुरालम्भ्येभ्योराभह वितुज नितुर्जामि तन् । ३।५।६॥

४ ॥ निरुक्तम् ३।६ जामिर (१) अयेऽस्या जनयन्ति। (२) जीमथपत्यम्।

(३) जमतेर्वा स्याद् गति कमलो, निगमन प्राया भवति। इस म दम की प्रामाणिकता और पाठ भेद के लिये निरुक्त के पाच अंशाय' पृष्ठ २१८ टि १२ देखिये। एक और ('अधिक') अर्थ के लिये वही ४।२० म 'जामि' पर व्याख्या देखिये।

५ दोहेन गामुप शिखा, सलाय प्र बोधम जरितर जारमि द्रम्। १०।४२।२॥

६ द्र ऋ मा जारम् = भूतानां जरयितारम्।

७ न त्वदयो मध्वन, अस्ति मंडिते द्र, ब्रवीमि ते वच ॥ १।८।१६॥

८ विदस स्वास सम्मृतमुलियाया, यत्सीमिद्रो भदषाद् भोजनाया ३।३०।१४॥

९ मां हवते पितर ॥ जतवोऽह दाधुये वि मजामि भोजनम् ॥ १०।४८।१॥

१० द्र पीछे पृष्ठ ३२ '१० अक' <  $\sqrt{\text{अक}}$ ।

के 'देव' (गुण) के विशेषण 'जाय' १ म और त्रित आत्य के 'धन्वर का जार अग्नि' २ वचन म प्रयुक्त हुई है। 'जाय' का अर्थ सायण ने भी 'शुण्य' किया है। धन्वर का जार का अर्थ सायण ने धन्वर को समाप्त करने वाला कहा है ३। यह व्याख्या ठीक है। या इस का अर्थ मधुच्छन्दस ने 'यज्ञ का देवता अग्नि' ४ वचन म कहा है अर्थात् 'जार' शब्द 'देव' का पर्याय है, यह कहना ठीक है, यह विद्वान्न विचार करें। हमारे विचार म जार शब्द 'देव' का पर्याय है।

यसिष्ठ मन्त्रा वरुण ने भी 'जार' का प्रयोग इसी अर्थ म किया है ५। सायण ने, किन्तु इस का अर्थ भी 'जर्जित' ही कहा है ६। पर (१) क्या जीरा करना ही शुक्रम करने वाला के लिए द्रविण धारण करना है? (२) अग्नि जीरा करने का नहीं है अपितु मृत्यु अभव के अनुसार हम जिसान को है ७। (३) अग्नी प्रसार म प्रारम्भ होने वाले एक मन्त्र में विश्वामित्र अग्नि ने ८, और दुष्ट एक गविष्टिर आग्नेयो ने ९ अग्नि की प्रस्थिता को ही प्रकट किया है। तब यही समाप्ति रूप अमल की चर्चा सरे सरे बर्णों की? (४) व रूप अष्टाष्ट ने भी अग्नि का जार = स्तुत्य' दत्ता अर्थ म ही प्रयुक्त किया है। इन अर्थ का जार है १०। इन्द्र जल को जीरा करने वाला नहीं, अपितु मधुच्छन्दस के अनुसार जल को जीरा करने ११

१ ता वाहवा सु चेतुना प्र यन्तमस्मा अचते ।

शेष हि जाय का विद्वामु आमु जोगुवे ॥ ५।६।१२ ॥

२ शुभिहित मिथमिव प्र योग प्रत्यमृत्विजमध्वरस्य जारम् ।

वाहृभ्यामग्निमामयोऽज्जनत, विष्णु होतार 'महादेव' त ॥ १०।७।५ ॥

३ इ ऋ भा धन्वरस्य जारम् = सयापयितारम् ।

४ अग्निमील पुरो हितम् अज्ञस्य देवम् अत्रिजज्ञ ।

होतार रत्न धातमम ॥ १।१।१ ॥

पूर्वोक्त (इ टि ८) १०।७।५ मन्त्र और इस मन्त्र म अग्नि के लिए ऋत्विज, होतृ शब्द समान हैं। मधुच्छन्दस के 'यज्ञस्य देवम्', के स्थान म त्रित न धन्वरस्य जारम् का प्रयोग किया है। यन और 'धन्वर' जिस प्रकार पर्याय है, वने हो दक और जार' भी समानार्थक से ही होने चाहिये।

५ अर्बोधि त्रार उपसामुप स्याद्, धोता, मद्र, कथितम, पावक ।

दधातु चेतुमुमस्य जतोर—हृष्या देवेभु, द्रविण सुकृत्सु ॥ ७।६।१ ॥

६ इ ऋ भा जार = सर्वेषां प्राणिनां जर्जिता ।

७ प्रयमग्निरुपत्यमृतादिव जमम देवी जीवातवे कृत । १०।१७।४ ॥

८ प्रत्यग्निरुपसद्रवेकिनानोर्बोधि विप्र, पदवी बबोनाम । ३।५।१ ॥

९ अर्बोधि हाता यज्ञयाप देवानुर्ध्वो अग्नि सु मया प्रातरस्यात् । ५।१।२॥

१० सद्मोवी विष्णुगतीरिवायन्तसनाज्जार धारित भूमिदाताम् । १०।

१।१।१० ॥ ११ जेव स्ववतीरप । १।१०।८ ॥

वाला तथा कुत्स घाङ्गिरस के अनुसार जल की सृष्टि करने वाला<sup>१</sup> है। सवत घाङ्गिरस के जारयमस<sup>२</sup> वी व्याख्या भी सायण ने 'यज्ञ को समाप्त करता हुआ' की है<sup>३</sup>। यह अर्थ भी समुचित नहीं प्रतीत होता। उप काल तो अग्नि के प्रदीप्त होने का समय है<sup>४</sup>, न विंयन की समाप्ति का। घाजीगर्ग 'गुन शेष न अग्नि को जरा से जगने वाला' कहा भी है<sup>५</sup>। यह 'जरा' पद स्तुति अर्थ में ही है<sup>६</sup>।

(२) √ज 'वयो-हानि' इस अर्थ वाली √ज श निष्पन्न 'जार का स्पष्ट प्रयोग प्रस्कण्व काण्व ने किया है<sup>७</sup>। अग्नि जल को जला डालता है, अतः वह उचित ही जल का 'जार' हानि करने वाला है। वेद भागवत में भी इसी तरह के अर्थ में सूय के लिए 'जार का प्रयोग किया है<sup>८</sup>। सूय अपनी रश्मियों के द्वारा भीम जल को जीरा करने से 'जार' है।

निरुक्त 'जार' शब्द का प्रयोग दो अर्थों में हुआ है (१) 'स्तुत्य' अर्थ से देवता अर्थ में इन्द्र, अग्नि के लिए। (२) 'जीरा करने वाला' अर्थ में अग्नि और सूय के लिए।

इन्द्र के लिए प्रयुक्त 'जार' के सही अर्थ को न जानने के कारण पौराणिकों ने इन्द्र को बिला वज्रह 'यमिचारी बना दिया। वस्तुतः वे लोग इस प्रसङ्ग में आदित्य और इन्द्र में अन्तर नहीं कर पाए।

इन दो आधारभूत अर्थों से चल कर 'जार' का प्रयोग दो दिशाओं में होने लगा तथा ये दोनों अर्थ भी एक दूसरे के निकट आते आते परस्पर में मिल गए। या या कह कि दूसरे अर्थ वाले 'जार' ने प्रथम 'जार' को लील किया।

जार=यमिचारी। ऋग्वेद संहिता में जार का प्रयोग सत्ताईस बार हुआ है सात बार अग्नि के लिए<sup>९</sup>, ग्यारह बार प्रेमी मनुष्य के लिए<sup>१०</sup>, तीन बार देवता अर्थ में<sup>११</sup>, दो बार सूय<sup>१२</sup> और पूषा<sup>१३</sup> के लिए, एक बार मित्र के

१ वज्रं हत्वा निरप ससज । १।१०३।२॥

२ आ याहि वरुण्या धिया महिष्ठो जारयमस सु-दानुभि ॥१०।१७।२॥

३ इन्द्र आ जारयमस =समापययज ।

४ उषो यदग्नि समिधे चकय, य मानुषायस्यमाला अजीग । १।११३।६॥

५ जरा घोष तद् विविडि विने विने यज्ञियाय । १।२७।१० ॥

६ इन्द्र निरुक्तम् १०।८ जरा स्तुतिजरास्ते स्तुति कमल । ता घोष । तथा बोधमितरिति वा ।

७ हविषा जारो अषा, पिपति यपुरिनरा । पिता कुत्स्य चयणि । १।४६।४॥

८ अस्तारा जारमुप तिष्मियाणा घोषा बिमति परमे व्योमन । १०।१२३।५॥

९ इन्द्र १।४६।४, ६६।४, ६६।१, ५, ७।६।१ १०।१ १०।३।३ ।

१० इन्द्र १।११७।१८, १३४।३ ७।७६।३ ६।३।५, ३८।४, ५६।३, ६६।२३, १०।११४, १०।११६, ३४।५ १६२।५ । ११ इन्द्र १०।७।५, ४२।२, ११।१।१० ।

१२ इन्द्र १।६२।११, १०।१०३।५, यहा वेन सूय ही है । १३ इन्द्र ६।५५।४ ६ ।

लिये<sup>१</sup> (अत आदित्य के लिए कुत्त पाँच बार) तथा एक बार<sup>२</sup> हम का अर्थ हमें स्पष्ट नहीं हो पाया है। यों भी यह प्रयोग आद्युदात्त है<sup>३</sup>, अत प्रकृत अन्तो दात्त 'जार' से भिन्न है।

'जार' का 'प्रेमी' अर्थ 'स्तुत्य' से विवक्षित हुआ है। ऋग्वेद संहिता के 'जार' के २६ प्रयोगों में से अधिकांश (१६)<sup>४</sup> में 'जार' शब्द 'प्रेमी' अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ जगता है। 'पार-दारिक' (अभि चारी पुरुष अर्थ में 'जार' का स्पष्ट प्रयोग कवय ऐलूप<sup>५</sup> और रक्षो हन् ब्राह्म<sup>६</sup> ने ही किया है। इन दोनों के प्रयोगों में जार के प्रति एक विरोध भावना भी दिखाई देती है, जब कि शेष में वह नहीं है। अत उपयुक्त उन्नीस प्रयोगों में 'जार' लौकिक के 'कात्त' अथवा 'प्रिय' के सम कक्ष प्रतीत होता है। ये दोनों शब्द पति के लिये भी प्रयुक्त होते हैं तथा 'पार' के लिये भी। फारसी का 'यार' भी ध्वनि और अर्थ दोनों दृष्टि से वैदिक 'जार' से पूर्णतः मिलता है तथा उसी के समान अर्थ-व्युत्पत्ति की प्रकट करत करत कर्मण्य पूज्यपेशया सङ्कुचित होकर प्रेमी (आत्मिक माशूक) अर्थ में प्रयुक्त हो गया है। यार में दोस्त (मित्र) का भाव भी सुरक्षित रहा है जब कि वैदिक में यह विरुद्ध लिङ्गी व्यक्तियों की मित्रता के प्रसङ्ग में ही अधिक आया है। वसिष्ठ मन्त्रा वरुणि का 'जहां से जार के समान आती हुई ह उया तू दिखाई देती है न कि जाती सी।' \* अर्थ 'मित्र' अर्थ में 'जार' के प्रयोग का उदाहरण है<sup>७</sup>।

६०. √जि—√गि भरद्वाज बाहस्पत्य ने √गि से निष्पन्न जिग्यषु<sup>८</sup> और 'जिग्ये' का प्रयोग √जि से निष्पन्न जयये के साथ किया है<sup>९</sup>। इस प्रयोग में निम्न दो बातें स्पष्ट हैं (१) √गि और √जि अर्थ तो परस्पर सम्बद्ध हैं ही, ध्वनि की दृष्टि से भी परस्पर सम्बद्ध हैं। (२) ये दोनों धातु परा के योग में

१ द्र १।१५।२। २ द्र १०।१०६।७।

३ ऋग्वेद संहिता में जार इस छोड़ कर सबत्र अतोदात्त है।

४ अर्थात् १।४६।४ ७।६।१, १०।७। ३।४।५, ४२।२ ११।१।१०, १६२।५ स इतर प्रयोगा म।

५ यदादीध्ये 'न उविषाण्येमि', परा यद्व्योऽय हीये सतिभ्य ।

'मुस्ताश्च अन्नो वाचमर्कतं, एमीदेया निष्कृत जारिणीव ॥ १०।३४।५॥

६ यस्त्वा भ्राता पतिमूत्वा जारो भूत्वा नि पठते ।

प्रजा यस्ते जिघांसति, तमितो नागपासति ॥ १०।१६२।५ ॥

७ तामोदहानि बहुलायासन् या प्राचीनमुदिता सूर्यस्य ।

यत परि जार हवा-चरत्पुणो, दहके, न पुनयतोव ॥ ७।७६।३ ॥

८ जार पर विनेपाय द्र 'निष्कृत के पाँच अध्याय', पृष्ठ ३७८ ३८०

९ उमा जिग्यषुर न परा जयेये न परा जिग्ये कतरश्चर्ननो । ६।६६। ॥

आत्मने पदी हैं अन्यथा परस्मै पदी<sup>१</sup>। पाणिनि ने इन दोनों तथ्यों का विधान किया है<sup>२</sup>।

६१ जुहुरे < √ हृ शृत्समद ने अग्नि के वयुन में √ हृ से निष्पन्न 'हवीषि' और 'समिद्धे' के साथ 'जुहुरे' का प्रयोग कर के<sup>३</sup> इस व्युत्पत्ति को सूचित किया है<sup>४</sup>। यहाँ चन्वय स 'ह' ध्वनि के सम्बन्ध का ज्ञान बहुत स्पष्ट है।

६२ ज्योतिष < √ छृत् हविर्धान आङ्गि ने 'ज्योति' और 'द्योतिनि' के युग पदप्रयोग<sup>५</sup> से ज्योतिष् का विकास √ छृत् स हुआ है, इस सूचित किया है। यहाँ आदिम तालव्य स्पर्श (ज्) दत्त ध्वनि (त्) से तालव्य अन्तस्थ के सानिध्य के कारण विकसित हुआ है, अत आदि व्यापत्ति स्पष्ट है। यास्क<sup>६</sup> और उणादि कार<sup>७</sup> ने भी यही व्युत्पत्ति दी है।

६३ तसुरि < √ त भरद्वाज बाहस्पत्य ने 'प्रतिरते' (देता है) क्रिया के साथ उस के कर्ता के रूप में 'तसुरि' (दाता) का प्रयोग कर के इन दोनों के सम्बन्ध को स्पष्ट किया है<sup>८</sup>।

६४ तमस < √ तम् भरद्वाज ने तमस का सम्बन्ध √ तम् (विस्तार से) सङ्केतित किया है<sup>९</sup>। यास्क ने भी यही निवचन दिया है<sup>१०</sup>। गौरिवीति शाक्य ने √ तम् से निष्पन्न तम्रा के साथ तमस् के प्रयोग से 'तमस < √ तम्' व्युत्पत्ति<sup>११</sup>।

१ तुलना करें युनयि स उत्तरावतमिद्रस् येन जयति, न परा जयते । अ स ४।२।५ ।

२ द्र अष्टाध्यायी ७।३।५७ सल्लिगेर्ल । १।३।१६ वि पराग्या जे ।

३ प्र त्वे हवीषि जुहुरे समिद्धे । १।६।३ ॥

४ √ हृत् स व्युत्पत्ति के लिये द्र निरुक्त के पाँच अध्याय, ४।१६ ।

५ सूर्ये ज्योतिरदपुर मास्यवतुन् परि द्योतिनि चरतो अ जला । १०।१२।७॥

यहाँ मास' शब्द चन्द्रमा के लिये तथा 'अवतु' अवधार के लिये प्रयुक्त हुआ है। द्र पीछे पृष्ठ २६ में 'अवतु'। यास्क ने 'चन्द्रमस की यास्या 'चन्द्र + मस कर के मस' की व्याख्या 'माता (बनाने वाला) की है। प्राचीन काल में चन्द्र की कलाभा की वृद्धि तथा क्षय के आधार पर ही काल गणना अधिक की जाती थी। अथर्व संहिता (१०।७।२) में यह आशय स्पष्ट वर्णित है

कस्मादङ्गाद् वि मिमीतेऽधि चन्द्रमा मद्र स्कन्धस्य मिमानो अङ्गम् ॥

६ ॥ निरुक्तम् २।१ अयाप्यावि व्यापत्तिभवति—ज्योतिषनो, विदुर, बाटय इति । \* 'आदि-व्यापत्ति' के पाठ-भेद के लिये द्र निरुक्त के पाँच अध्याय, पृष्ठ १६१, टि १ ।

७ द्र उणादि सूत्र २६७ (२।११०) छुतेरिसिन् आदेशच व ।

८ प्र सद्यो छु-अना तिरते तसुरि ॥ ६।६८ ७ ॥ आगे 'पपुरि देखें ।

९ स इत्तमोज्वयुन ततवत्सूर्येण वयुनवच्चकार । ६।२१।३ ॥

१० द्र निरुक्त २।१६ तमस्तनोते । ११ मिह प्र तम्रा अवपत्तमांति ॥ १०।७।५।

का सङ्केत किया जगता है। उणादि-कार ने 'तमस्' के स्वरात् रूप 'तमस' की व्युत्पत्ति  $\sqrt{तम्}$  से दी है<sup>१</sup>।

६५ तरणि, ६६ तरस ६७ तमन्  $\sqrt{त}$  कृत्स भाङ्गिरस<sup>२</sup> श्वावाश्च मात्रेय<sup>३</sup>, नामाक काण्व<sup>४</sup> ने तरणि 'तरसा, 'मु-तर्माणम्' का प्रयोग  $\sqrt{त}$  के साथ, या इस में निष्पन्न नाम तूष्' के साथ कर के इनकी व्युत्पत्ति को स्पष्ट किया है। यहाँ 'ऋ>अर'<sup>५</sup> विकार स्पष्ट है।

६८ तिमन्  $\sqrt{निज}$  वाम देव गौतम ने  $\sqrt{तिज}$  के यङ्लुगन्त रूप तेतिवते के साथ<sup>६</sup> भरद्वाज बाहस्पत्य ने<sup>७</sup>  $\sqrt{तिज}$  से व्युत्पन्न तजस' के साथ 'तिम्म' के प्रयोग से इन दोनों के सम्बन्ध को प्रकाशित किया है। यास्क<sup>८</sup> और उणादि-कार<sup>९</sup> ने भी यही व्युत्पत्ति दी है।

६९ तीण  $\sqrt{त}$  कृत्सु भागव ने  $\sqrt{त}$  से निष्पन्न 'अतारीत्' के माय (प्र)तीण का प्रयोग कर के इस व्युत्पत्ति को सूचित किया है<sup>१०</sup>। यहाँ 'ऋ>इर' विकार स्पष्ट है।

७० तुर ७१ तूति, ७२ तूय  $\sqrt{त}$  कृत्स भाङ्गिरस ने  $\sqrt{त}$  से निष्पन्न 'तरणि'<sup>११</sup> के साथ 'तुर' का<sup>१२</sup> तथा म मेघ भाङ्गिरस ने  $\sqrt{त}$  से ही निष्पन्न 'तूति', 'तुर' तूय और तरण्यत् का<sup>१३</sup> युगपत्प्रयोग कर के इनकी व्युत्पत्ति स्पष्ट की है।

१ इ उणादि-सूत्र ३६७ (३।१।७) अति अवि वमि तमि नमि रमि लमि ममि तपि पति पमि पणि महिभ्योऽसञ्च । 'अति अवि' म सचि ष्ये- योजनं चिह्न की मुद्रिका के लिय हमने किया है।

२ मामि परिउमा तनयस्य म-यना द्विभासा तूय तरणिबिभूयति। १।१।२।४।

३ इव सु मे मरुतो हयता वषो, यस्य तरेम तरसा गत हिमा । ५।५।४।१५॥

४ प्रयाति विष्वा दुरिता तरेम, मु-तर्माणमधि नाव वहेम ॥ ८।४।२।३ ॥

५ ऋ के घञ विकारों के लिय इ ६३ ततुरि तथा भाग ६६ तीण',

'७० तुर, ७१ तूति और ७२ तूय ।

६ द्रुत शिषात्-अवरसमनिर्द्वा तेतिवते तिम्मा कुजस धनीका । ४।२।३।७ ॥

७ निमेन मस्तेजसा स गिगाधि ॥ ६।१५।१६ ॥ ८ इ निदनाम् १०।६

निम्म तजततरसाह कमल । ६ इ उणादि-सूत्र १४३ मुजि वचि तिर्जा कृञ्च ।

१० विदध यत्पूष्य नष्टमुद् ईमृतामुभोरयत् । प्रमायुस्तारोदतीणम् ॥ ८।७।६।६ ॥

११ इ ६५ तरणि' । १२ तूय तरणिबिभूयति । १।१।२।४ ॥

१३ त्वमिन्द्र प्र-तूनिष्वमि विष्वा अमि सृष्य ।

घ गति-हा जनिता, वि-व-जूरसि, त्व सूर्य<sup>१४</sup> तदप्यन ॥ ८।१६।५ ॥

१४ 'त' 'न' 'म' 'य' म धाया है। यह मात्र माध्यन्तिन ३।१।६६, वाच्य ३।२।१।१ कोष्ठम १।३।११ २।६।८।७ जमिनीय १ ३।२।८ और धौनकीय अथवा महिना २०।१०।११ म नी धृन है सायण ने इस सम्बाधन माना है उक्त और मही पर न शिषा-त (तूय=जति=भारय) माना है। इमा-विचार म पट

इन शब्दों में 'ऋ' के तीन विकार हैं (१) उर (२) ऊर, (३) अर ।

७३ दधि < √धा वत्स प्रि भाल-दन न धारक' अर्थ वाले 'दधि' (हरि-वत्) की √धा से 'व्युत्पत्ति का सङ्केत किया है' । यह शब्द पूर्व-पद के रूप में 'दधि का', 'दधि कावन' 'दध्यञ्च्' म भी है । यास्क ने 'दधि का' के पूर्व पद 'दधि' की व्याख्या उसके लौकिक में प्रसिद्ध पर्याय 'दधत्' से की है<sup>२</sup> । गौतम ने भी यही 'व्युत्पत्ति बताई है<sup>३</sup> । कात्यायन ने 'दधि' की यही व्युत्पत्ति दी है, किन्तु इस लौकिक म ही प्रयुक्त बताया है<sup>४</sup> ।

७४ दूर < √दृ गग भारद्वाज ने 'दूर' के साथ 'दवीयस' के इकट्ठे प्रयोग से<sup>५</sup> इनकी प्रकृति के अर्थ गत और ध्वनि गत साम्य की ओर सङ्केत किया है । 'इम', 'इळ' और 'इयस' प्रत्यय धातु के साथ लगते हैं<sup>६</sup> । इस से सिद्ध होता है कि

द्वेषो युतो न दुरिता तुयाम् अर्थानाम ॥ (५।६।६), तुयाम् वस्यन्तनुमि ॥' (७।३।३), तुयाम् यत्त वा विनाम रातो ।' (६।४।३) मन्त्रों के 'तुय' मङ्ग का छन्दोजु रोधेन दीप्त किया हुआ रूप (सोट, मध्यम ए व' का) है ।

१ दधिर्घो धामि, स ते वयानि, यत्ता वसुनि विधत्ते तनू वा । १०।४६।१॥

२ द निरवन्तम् २।२७ तत्र दधि-का इत्येतद् (१) दधत्कामसीति वा । (२) दधत्क-वतीति वा । (३) दधदा-कारी भवतीति वा । इन निवचना की व्याख्या 'निरवन्त' के पाँच अध्याय', पृष्ठ २६३ ४ में देखिय ।

३ अयामम्बर मर्मायमा दधत् सोऽष्ट मासिकम् ।

यस्क-दत्त्यसङ्ग-मम्ये दधि-कास्तेन च्यते ॥ बृहद्देवता २।५६ ॥

४ द अष्टाध्यायी ३।२।१७१ पर वातिक भाषाया धाञ-कृ धृ गमि जमि नमिम्य (किञ्चि, लिट् च) ।

५ स कुबुमे, स दूरिद्रेण देवर्द्धाद्वीथो अथ सेध गन्तु ॥ ६।४७।२६ ॥

६ पाणिनि ने तृ (तृन्, तृष्) प्रत्यय वाले प्रातिपदिक से इन प्रत्ययों का विधान कर के फिर 'तृ' का लोप कर के ऐसे शब्दों की सिद्धि की है 'तुश्च वसि' (अष्टा ५।३।५६), 'तुरिष्टेभ्यस्सु' (६।४।१५४) । 'दवीयस' आदि शब्दों की प्रकृति के रूप में पाणिनि ने 'दूर' आदि ('तृ' से स्वरूप और अर्थ की दृष्टि से भिन्न प्रत्यय से निष्पन्न) शब्दों के र आदि अर्थ का लोप कर के 'दूर + ईयस > दूर + ईयस > दवी-यस्' व्याख्या की है 'स्थूल दूर युव ह्रस्व क्षिप्र सुद्राणा मणादि पर पूषत्य च गुण' (अष्टा ६।४।१५६) । किन्तु यह पाणिनीय तत्र की अपनी या तदिक व्यवस्था है । निम्न लिखित शब्दों की ऋषिभा के द्वारा बताई व्युत्पत्तियों से विदित होता है कि उन्हें ये प्रत्यय धातु से ही विहित अभिप्रेत हैं तथा इन का अर्थ 'तुलना' के अतिरिक्त कत कारक भी है १ ओजिष्ठ (६।१६।६, ८।६७।१०, ६।६६।१६ में √उज से) २ ओजीयस (६।६६।१७ √उज), ३ तपिष्ठ (६।५।४, √तप), ४ तवीयस् (६।१८।४, २०।३, ७।१००।३, १०।८३।३, √तु), ५ तव्यम (५।३३।१ ७।१००।३, √तु, प्रत्यय के ई का लोप द्रष्टव्य है), ६ दसिष्ठ (१।१८।२, १।१८।२,



यही धातु √दु अभिप्रेत है। यास्क ने 'दूर' को (१) √दु से या (२) दुर+अप्

√दस) ७ घनिष्ठ (१०।३३।१, √घन्), ८ घनिष्ठ (१०।१६।५ √घन्) ९ प्रेष्ठ (८।१०३।१०, √प्री\*, १० महिष्ठ (६।६८।२ ८।१।३ १ सह) ११ यजिष्ठ (२।६।६ ६।१५।३ √यज), १२ यजीयस (२।६।४ ६।११।१, १०।५३।१, ११०।३ √यज), १३ यमिष्ठ (६।६७।१, √यम्) १४ येष्ठ (५।७।४।८ √या) १५ वरी मन् (१।१५।६।२ √वृ), १६ वरीयस (६।७।५।१।८ √वृ) १७ वहिष्ठ (४।१४।४ ६।४०।३, √वह) १८ वाहिष्ठ (७।३७।१ √वाह) १९ वेपिष्ठ (६।११।३, √विष या √वेप) २० गविष्ठ (४।२०।१६, ८।६६।१४ √गव् < √शक), २१ शविष्ठ (६।१६।४ ६।८।२ ८।७०।२, √शु) २२ शोचिष्ठ (८।६०।६ √शुच्), २३ श्वेयस् (५।६०।४ √श्वि\*) २४ सवीमन् (६।७।१।२, १०।३६।१।२ ६।४।७ √सू), २५ सहिष्ठ (६।१८।४, √सह), २६ स्वभीयस (१०।११।१।५ √स्कम्भ) २७ हवीमन् (१।१३।१।६ √हृ)।

● मकानन् ने इन गणों को कमजोर √प्री √भी के धातुकारा न रूप 'प्रा' और 'भा' से निष्पन्न बताया है। इन्हें agent With this suffix attached to the root is formed the superlative with an adjectival sense a There are some irregularities in the formation of this superlative Thus the roots *pre* and *me* are treated as if they ended in *a* *pre* *the* 'dearest' *sreshtha* 'most glorious' (श्री वेदिक सामर, पृष्ठ ११७ अनुच्छेद १३३ तथा पृष्ठ ११८ पर पाठ टिप्पणी ४ भी देखें)। हमारे विचार में √प्री+इष्ठ > प्रे+इष्ठ > प्रविष्ठ > प्र+इष्ठ > प्रेष्ठ तथा √धि+ईयस > धयीयस > धईयस > धयस मानना उचित है। (१) आज के 'ए' का प्राचीन उच्चारण समुक्त 'अ' जमा था यह तथ्य सुविदिन है। अतः आज का 'प्रेष्ठ' बन्धु काल में प्रदष्ट जमा बना जाता था। इस बारे में मकानन् का निम्न बयान भी इसी दिशा में सङ्केत करता है। Roots in *a* combine that vowel with the initial *i* of the suffix to *e* which however is usually to be read as two syllables (पृष्ठ ११६)। (२) 'इह यन्त्रस्य गितो बलम्'। (अथर्व-सं ६।८६।१) में प्रयुक्त प्रेणी गण भी हमारे विचार में √प्री से निष्पन्न प्रविणी की इसी प्रकार की धातु से निष्पन्न (प्रविणी > प्रइणी > प्रेणी) सङ्ग है तथा यह त्रिधा का सम रूप है। (३) ऋग्वेद पहिला में इस विवक्षित अवस्था से पूर्व की अवस्था का एक उदाहरण है। प्रविषो (प्रविषु वप्सी, ए व)। यह उदाहरण ८।१६।३७ में ही पाया है। इसकी व्युत्पत्ति, परिणामन अथ भी विनष्ट है। वास्तव में इसमें अवग्रह नहीं किया है। इसका ध्यान यह है कि यह उदाहरण प्र+√या से निष्पन्न नहीं है जैसा कि निरुक्त ४।११ पर दुर्ग धीर स्वन् ने बताया है। स्वन् ने स्वकी एक व्यंग्या धीर दी है पर दुर्भाग्य से वही का पाठ बहुत अशुभ है अथवा प्रविषोरिति सु-वास्तवा तत्ते विनोदते। प्रविषोरित्यथ प्रविष्टम् वास्तवा

(+√द) से निष्पन्न बनाया है<sup>१</sup>। उणादि कार इसे दूर+√द से मानते है<sup>२</sup>।

७५ दस्म ७६ दस्म < √दस्-√दस् नोषस गौतम ने √दस् से निष्पन्न 'दसम' तथा √दस् के आख्यात 'दस्यति' का<sup>३</sup>, वक्षीवत् दस तमस ने 'दस' और 'दसना' के साथ 'दस्यु' का<sup>४</sup>, अगम्य भन्ना वरणि न 'दसिष्ठ' और 'दस्यु' का<sup>५</sup>, स्वावाश्वा आत्रेय ने 'दस' और √दस् से निष्पन्न 'दस्यन्ति' का<sup>६</sup>, तथा कृष्ण आङ्गिरस ने 'दस' के साथ 'दसस' का<sup>७</sup> प्रयोग किया है। इससे विदित होता है कि य लोग इन सा दों में व्युत्पत्ति की दृष्टि से साम्य मानते हैं, अर्थात् इन में उपलब्ध दा प्रवृत्तियाँ √दस् एवं √दस् परस्पर सम्बद्ध हैं। यो दस्म दस्यु और दस शब्द √दस् में तथा दसना दसम और दसिष्ठ √दस् से सम्बद्ध हैं यह निगम आख्यात है। भरेद्वाज बाहस्पत्य के<sup>८</sup> 'दस्यु जूत के स्थान में वक्षीवत् दस-तमस औशिज ने<sup>९</sup>

(पृष्ठ २३३)। ६ डा लक्ष्मणसरूप ने तारकित शब्दा के स्थान पर क्रमश 'नद्या' और 'प्रयिष्या' पाठ की सम्भावना प्रकट की है। इससे ज्ञात होता है कि सम्भवत एक द 'प्रयिष्यु' का √प्री से 'त प्रत्यय में निष्पन्न 'प्रयित्री' का समान धातुज पर्याय सम्भूत है। इस शब्द में 'य' का लोप नहीं हुआ है। (४) इस यणलोप की प्रवृत्ति के उदाहरण हैं तितउ (< तितनु), 'प्रउग (< प्र+युग)। इन शब्दों में और प्रकृत भय शब्दों में एक ही अंतर है कि इन में गुण संचि नहीं हुई है, जब कि प्रकृत 'प्रेष्ठ' आदि में संचि हो गई है।

१ द्र निरवन्तम् ३।१८ दूर कस्मात् ? (१) द्रुत मयति । (२) दुरय वा ।

२ द्र उणादि सूत्र १७७ (१।२०) दुरीणो लोपश्च ।

३ तदु प्र यक्ष तमसस्य कम दस्मस्य चाह तमसस्ति दस । १।६२।६ ॥

सनादेव तव रायो गमस्ती, न क्षीयते, लोप दस्यति दस्म ॥ १२ ॥

४ इय दुहना मनुष्याय दस्मा, अमि दस्यु बकुरेणा घमता । १।११७।२१ ॥

उद्ध्वनमरत दसनामिर, उद्रभ दस्मा धृपणा, शचोमि । १।१८।६ ॥

रय न दस्मा, करणा समिवय । अ वामत्र विधते दसना भुवत् ॥ १।१६।७ ॥

५ दस्मा दसिष्ठा, रम्या रयी समा । १।१८।१२ ॥ यहा 'रम्या' और 'रयोतमा'

जैसे सम्बद्ध हैं, वैसे ही 'दस' और 'दसिष्ठ' शब्द भी व्युत्पत्ति की दृष्टि से सम्बद्ध हैं, यह सूचित होता है। ६ न वो दस्मा, उप दस्यति धेनव । ५।५५।५ ॥

७ ता वलू, दस्मा मुह दससा धियाऽश्विना, श्रुष्टया गतम् । ८।८७।६ ॥

८ न बीळये नमते, न स्थिराय, न शयते दस्यु जूताय स्तवान् ।

अस्मा इन्द्रस्य गिरयश्चिहृष्या, गम्भीरे चिद् मयति गाधमस्मं ॥ ६।२४।८ ॥

९ स प्रापतो नहुषो बभु जूत, शयस्तरो नरा, यूत-श्वरा ।

वि सृष्ट रातिर्याति बळह सृत्वा, विदवातु पृत्सु सदमिच्छर ॥ १।१२२।१० ॥

आचार्य शाकल्य ने इस का पठ 'दम्भुजुत' किया है। दम्भु जूत व्याख्या श्री विश्व बभु ने सुमाई है। द्र वैदिक पदानुक्रम-कोष, १।३, पृष्ठ १५३३, टि, c । √दस् का प्रयोग सबत्र देवता के लिये होने के कारण सम्भवत √दस् ।

‘दसु जूत’ का प्रयोग किया है। हिरण्यस्तूप आङ्गिरस<sup>१</sup>, विश्वामित्र गाथिन<sup>२</sup> बभ्रु आनय<sup>३</sup> और तिरदची आङ्गिरस<sup>४</sup> के ‘दास पत्नी’ के प्रयोग के स्थान पर वाम देव गौतम ने ‘दसु पत्नी’<sup>५</sup> का प्रयोग किया है। इससे भी यही विदित होता है कि ‘दास’ और ‘दसु’ तथा ‘दसु’ शब्द व्युत्पत्ति की दृष्टि से परस्पर सम्बद्ध हैं।

✓दस का अर्थ भरद्वाज बाहस्पत्य ने अश्विना को ‘दस और ‘पुरु शाकु तम (अत्यधिक) सामर्थ्य वाले में धेष्ठ) कहा है<sup>६</sup>। कृष्ण ने इस के स्थान पर उहे ‘दस’ और ‘पुरु नस’<sup>७</sup> (बहुत दसस वाले) कहा है। इसमें विदित होता है कि ✓दस का अर्थ किसी न किसी प्रकार ✓शक के अर्थ के समान है। ✓गक के दो अर्थ हैं सामर्थ्य तथा देना। यहाँ कौन सा अर्थ अभिप्रेत है, इस पर चर्चा करने से पूर्व हम ‘दस’ के अर्थ पर तनिक विचार करते हैं। कण्व घोर<sup>८</sup>, अगस्त्य मैत्रा वरुण<sup>९</sup>, पुरु भीळह सो होत्र<sup>१०</sup> ने ‘दस’ का प्रयोग रक्षा के सन्दर्भ में किया है। रक्षा सामर्थ्यवान् ही कर सकता है, अतः ‘दस’ की प्रकृति का अर्थ ‘सामर्थ्य’ प्रतीत होता है। प्रकृत में ✓दस का अर्थ भी ‘सामर्थ्य’ मानना उचित है। अगस्त्य

और ✓दस का सम्बन्ध शाकल्य के समय तक अविदित हो गया था। परिणामतः उन्होंने इतने सीधे शब्द का भी इतना कल्पनापेसी पद पाठ किया है।

१ दास पत्नीरहि गोषा असिष्ठन् निषट्वा अपा पणिमेव गावः ॥ १३२११॥

२ इन्द्रानी, भवति पुरो दास पत्नीरधूनुतम् । साकयेकेन कमणा ॥ ३१२१६॥

३ अतश्चिदिन्द्रावममत्त देवा विश्वा अपो अजयद्दास पत्नी ॥ १०१५ ॥

४ स्व सि-पूरधुजस्तस्तमानान् स्वमपो अजयो दास पत्नी ॥ ८१६१८॥

‘दास पत्नी’ पर विशेषण द्व ‘निम्नत के पाच अध्याय’ पृष्ठ २२३ २२६।

५ प्रापूर्वो नमन्वो न सखा, प्ससा अविषद् युवतीश्च त ता ।

यवान्यर्था अपूणवृणाणां अघोगिद्र स्वर्गो दसु पत्नी ॥ ४११६७ ॥

इस का पद-पाठ भी शाकल्य ने दसुपत्नी किया है। शेष के लिए पृष्ठ

७३ टि ६ में ‘दसु जूत’ पर विवरण देखिए।

६ ता वरुन् दसा, पुरु गक-तमा, प्रत्ना नम्यसा वचसा वि धासे ।

या असते स्तुवते गम्भविष्ठाः अन्नवसुगृणते चित्र रातो ॥ ६१६२५ ॥

७ यय हि वा हवामहे वि-ययवो विप्रासो वाज सातये ।

ता वरुन्, दसा, पुरु दससा धियाऽश्विना अष्टया गतम् ॥ ८१८७६ ॥

८ आ तत्ते दस, मन्तुम, पूषन्वो वृणीमहे । १४२१५॥

९ युवां गौतम, पुरु-भीळहो, अत्रिदसा हवतेजसे हविष्मान् ॥ ११८३१५॥

१० को ॥ महश्चित्तयजसो अमीक उरुध्यत माध्वो दसा न उन्तो । ४१४३१४॥

विद्यली टिप्पणी में उद्धृत (११८३१५) मात्र में पुरु भीळह के नाम के साथ इस आशय की चर्चा की होने से विदित होता है कि ऋग्वेद का यह (४१४३) सूक्त प्रथम मण्डल के सूक्त से प्राचीन है। अतः अगस्त्य मैत्रा वरुण की अपेक्षा पुरु भीळह सो-होत्र प्राचीन हैं।

मैत्रा-वरुणि ने रसा के सदम में 'दमन्' का प्रयोग किया भी है<sup>१</sup> । अतः 'पुष्ट-दसस' का अर्थ हुआ बहुत क्रिया शक्ति वाले, बहुत कमठ । नोधस गौतम ने इन्द्र को इसी क्रिया-सामर्थ्य के कारण 'दस्म' कहा है तथा इस सामर्थ्य को 'कमन्' और 'दसम' दोनों शब्दों से व्यक्त किया है<sup>२</sup> । अतः अथ म मूदम अनन्तर<sup>३</sup> होते हुए भी 'कमन्' और 'दसस' पर्याय हैं<sup>४</sup> । 'दस' के इस अर्थ की पुष्टि अगस्त्य मैत्रा वरुणि के इस वे साथ √कृ के प्रयोग<sup>५</sup> से भी होती है । अतः √दस् का अर्थ 'कुछ करने में समर्थ होना' है तथा परिणामतः 'दस्म' एवं 'दस' का अर्थ 'कुछ करने की सामर्थ्य वाले' है । दसिष्ठ<sup>६</sup> का अर्थ अत्यधिक समय, अथवा 'कमठ' है । 'दसता, दसस' इस प्रकार की 'सामर्थ्य, अथवा 'सामर्थ्य साध्य कार्य' के वाचक हैं ।

दस्यु दास यही अर्थ मूलतः 'दस्यु' और 'दास' का भी रहा होगा । इन के लिए 'असुर' (गति गाली)<sup>७</sup> शब्द का प्रयोग भी इसी अर्थ का सूचक है । परन्तु 'असुर' के समान ही इन शब्दों में बुराई की भावना घर कर गई जब कि 'दस्म' और 'दस' दबता के लिए प्रयुक्त होने के कारण इस से मुक्त रहे । परिणाम यह हुआ कि इन से सम्बद्ध धातु भी अर्थ की दृष्टि से 'कुछ कर जाना = समर्थ होना = शत्रुओं को क्षीण करना' अर्थ में परिणत हो गई । जो लोग अभी सामर्थ्यवान् होने से 'दस्यु' कहलाते थे कालान्तर में उन का सम्बन्ध 'उपलब्ध के कम' रूप में ही √दस से रह गया, 'दस्म' दस में कर्तृत्व ही बना रहा ।

इस विवरण से विदित होता है कि √दस और √दस धातु एनाथक तथा परस्पर-सम्बद्ध हैं । हमारा तो यहाँ तक विचार है कि √दस (सानुस्वार) प्राचीन है तथा √दस (अनुस्वार रहित) उस से विकसित होन वाला रूप है (१) √दस (सानुस्वार) के लक्षण चार शब्दों<sup>८</sup> में केवल स्वरादि प्रत्ययों में ही होते हैं, जब कि √दस् (अनुस्वार रहित) स्वरादि ('अ, अस् < √गृ आन < √क्षानच्) प्रत्ययों के अन्तर्गत व्यञ्जनाणि (म, 'मस्, म्य', 'यु और र) प्रत्ययों से निष्पन्न पाँच<sup>९</sup>

१ तद् वो जामित्व मरुत, परे युगे पुष्क यद्वसममृतास धावत ।

अथा पिवा मनवे अष्टिमाक्या साक नरो दसनरा चिकित्रिरे ॥ १।१६६।१३॥

२ तदु प्र यक्ष तममस्य कम दस्मस्य आह-तममस्ति दस । १।१६२।१॥

३ कमन् मे 'क्रियमाणता' प्रमुख है 'दसस' में शक्ति मत्ता प्रमुख है । हर ऐरा गैरा कम 'दसस्' नहीं है, अपितु शक्ति की प्रचण्डता से युक्त कम ही 'दसस' है ।

४ द्र निषण्टु २।१।३, 'निरुक्त के पाँच अध्याय', पृष्ठ २७४ ।

५ किमत्र दसा कृण्वथ ? किमासाये ? अनो य कश्चिद् हविमहोयते ।

अति कमिष्ट, अुरत पणेरस्, ज्योतिर्विप्राय कृशुत वचस्पवे ॥ १।१८२।३॥

तुलना करें दस्मत्कृणोषध्वरम् । १।७४।४ ॥

६ ■ निरुक्त मीमासा, पृष्ठ ३६९ ७ ।

७ दसन (दसना भी) दसस, दसि, दमिष्ठ ।

८ दस्म, दस्मत्, दस्म्य, दस्यु दस ।

दास्य' म भी मिलता है। (२) √दग् (सातुस्वार) का कोई घास्या रूप नहीं मिलता, जबकि √दात् (निरातुस्वार) के चार रूप मिलते हैं। घा √दग् (सातुस्वार) का प्रयोग सीमा, शीण, हो रहा था, जब कि √दग् (निरातुस्वार) उभर रही थी।

दस्यु' घोर दास' के साथ √दात् (निरातुस्वार) का सम्बन्ध कुछ इतना सुबद्ध हो गया लगता है कि पर वही काल में यह √दात् (दास' म भिन्न) रूप में न केवल स्वतन्त्र धातु मान ली गई, अपितु ऋग्वेद-संहिता के उपर के ऋषि मुद्गल भाम्यश्व ने तो दास की व्युत्पत्ति, लगता है इसी √दात् से मानी है<sup>१</sup>। ऋग्वेद-संहिता के मण्डल विकास की दृष्टि से भी कुछ इसी तरह का तथ्य निश्चयना है। √दात् का घास्यात रूप में प्रयोग 'दाता' मय में दो बार मध्यम मण्डल में तथा 'दास्वत्' शब्द के कुल आठ प्रयोगों में स<sup>२</sup> प्रथम मण्डल में दो बार घोर दशम मण्डल में एक बार—प्रर्षात् ऋग्वेद-संहिता के कुल दस प्रयोगों में से इन प्रवर्चीन समझे जाने वाले मण्डलों में कुल तीन बार—प्रस्वण्व वाण्व<sup>३</sup>, पदन्त्येव दैवो-दासि<sup>४</sup> तथा तादय सु पण<sup>५</sup> ऋषिया के द्वारा किया गया है। 'हानि करना' मय में कुल आठ प्रयोगों में से गौतम राष्ट्रगण ने प्रथम<sup>६</sup> में भरद्वाज बाहस्पत्य ने षष्ठ<sup>७</sup> में घोर वसिष्ठ मन्वा-वर्णि ने सप्तम<sup>८</sup> मण्डलों में एक-एक बार किया है तो अकेले दशम में मिषण् आषवण<sup>९</sup>, मुद्गल भाम्यश्व<sup>१०</sup>, सु दास वैजवन<sup>११</sup> और

१ दस्यु, दस्यन्त दस्यति दस्यति ।

२ अ तथ च जिघांसतो वज्रमिद्रामि दासत ।

दासस्य वा मघवनायस्य वा सनुतयवया वधम् ॥ १०।१०२।३ ॥

३ अय प्लायोगिरति दासवमानासङ्गो अग्ने वज्रमि सहस्र । ८।१।३३ ॥

इन्द्राग्नी, युव सु न सहता दासयो रयिम् । ४०।१ ॥

४ द्र १।४८।१ १२७।१ २।४।३ ४।२।७, ५।६।२ ६।३३।१ ६८।५ १०।

१४।१२ । ५ सह वामेन न उयो, व्युच्छा दुहितदिव ।

सह घन्नेन घृहता वि नाधरि, राया देवि, दासवती ॥ १।४८।१॥

६ अग्नि होतार मये दास्वत् वसु सून सहस्रो जात वेदस । १।१२७।१॥

७ अयमस्मानु काथ्य ऋभुवज्यो दास्यते । १०।१४४।२॥

८ यो नो ग्नेऽमि-दासयति, दूरे पवीष्ट स । अस्माकमिद्वृधे भव ॥ १।७६।

११ ॥ ९ यो न सनुत्यो अमि दासवग्ने, यो अन्तरो मित्र महो, वनुष्यात् ।

तम जरेमिषु धमिस्तव स्वस्तपा तपिष्ठ तपसा तवस्वान् ॥ ६।५।४ ॥

१० इन्द्रा-सोमा दुष्टृते मा सु म मूद् यो न कदा धिदमि दासति द्रुहा ॥

७।१०४।७। ११ उपस्तिरस्तु सोऽस्माक यो अस्मां अमि दासति ॥ १०।६७।२३।

१२ अतथ च जिघांसतो वज्रमिद्रामि दासत । १०।१०२।३॥ द्र टि २।

१३ यो न इन्द्रामि दासति स-नामिद्, यश्च निष्टय ।

अय तस्य बल तिर ॥ १०।१३३।५॥

शास भारद्वाज<sup>१</sup> सब ने कुल मिला कर पाँच बार किया है ।

यास्क ने कमन्<sup>२</sup> के पर्याय 'दत्ति' की व्याख्या √दत् से<sup>३</sup> तथा 'दास' की व्याख्या √दत् से<sup>४</sup> की है । 'दत्त' का अर्थ उहो ने 'दत्तनीय' बताया है<sup>५</sup> । पाणिनीय धातु पाठ में √दत् दशन और दॅमना अर्थों में है<sup>६</sup> । उणादि-कार ने 'दत्त' और 'दत्त' को √दत्<sup>७</sup> (ज्ञानेद्र सरस्वती और वासुदेव दीक्षित के अनुसार 'उपक्षय' अर्थ वाली) से तथा दास को १ दत् (सानुस्वार) से<sup>८</sup> निष्पादित किया है ।

७७ दात्र < √दा 'दात्र' शब्द √दा से निष्पन्न है, यह स्वतः स्पष्ट है किन्तु √दा अनेकापक है, यह किस अर्थ वाली √दा से है, यह स्पष्ट करना महत्त्वपूर्ण है

लौकिक में दात्र 'दा' 'काटना' अर्थ वाली √दा से निष्पन्न माना जाता है यास्क ने काटने के औजार के रूप में एक 'दात्र' की चर्चा की है कि यह पूरव में 'लवन' अर्थ में प्रयुक्त √दा का उत्तर में प्रयुक्त होने वाला नाम पद है<sup>९</sup> । इस अर्थ में √दा से निष्पन्न 'दाति' का प्रयोग परा शर शाक्य<sup>१०</sup> और इय भानेय

१ ऋ रसो, वि मृधो जहि, वि वृत्रस्य हन्तु वज ।

वि मयुमिन्द्र, धृत्र हन्तु, अ मित्रस्यामि दासत ॥ १०।१५२।१ ॥

वि न इन्द्र मृधो जहि, नीक्षा यच्छ पृतयत ।

यो यस्मा अमि दासत्यपर गमया तम ॥ ४ ॥

२ द्र निरुक्तम् ४।२५ दत्तय कर्माणि—दत्तयत्येनानि ।

३ द्र वही २।१७ दासो दस्यते—उप दासत्यति कर्माणि ।

४ द्र वही ६।२६ । ५ द्र मा धातु-वृत्ति १०।१४१ दत्ति दशन दशनयो ।

६ उणादि सूत्र १४२ इवि मुधि इधि दत्ति श्या धू धूम्यो मक ।

७ द्र वही ६८८ (५।१०) दसेष्ट-उहो, न दास । √दत् से जाने द्र सरस्वती ने दत्तना, 'दत्तना' अर्थ वाली चीरादिक धातु मानी है । वासु देव दीक्षित ने 'दत्ति सेवने' बताई है, किन्तु यह अर्थ धातु पाठों में उपलब्ध नहीं है । गजानन बाल कृष्ण पत्सुले, 'ए कङ्काडैस् भाफ् सम्कृत धातु पाठज', पृष्ठ १६६ पर 'सेवने' अर्थ में उल्लिखित धातु ।

८ 'लवन' का अर्थ 'काटना' होता है । भाज में दोनों अर्थ विशेष अर्थ (फसल के सम्बन्ध) में 'लुनाई', 'लावनी', 'कटाई' आदि शब्दों में रूढ़ मिलते हैं । 'लावनी' के औजार को हरियाणा में 'दराँती' तथा लवड़ी, टहनी आदि काटने के औजार को 'दाँठ' एवं शाक भाजी काटने के साधन को 'दात' और 'दराँत' कहते हैं । अतः 'लवन' शब्द का अर्थ विस्पष्ट रूप से 'फसल की कटाई' है, या सामान्य 'काटना', यह स्पष्ट नहीं है ।

९ द्र निरुक्तम् २।२ अथापि प्रकृत्य एवैकेषु भाष्यते विकृत्य एकेषु ।

दातित्वनाथे प्राच्येषु दात्रमुदीच्येषु ।

१० पद्मात-जुतो बना ध्यस्याद्, अग्निह दाति रोमा वृषिष्ठा । १।६४।४ ॥

न किया है<sup>१</sup>। कुरुमुति काण्व ने 'दात्र' का प्रयोग भी काटने के करण के रूप में किया है<sup>२</sup>। दूसरी तरफ 'देना' अर्थ में भी 'दाति' का प्रयोग वाम देव गौतम<sup>३</sup>, प्रति भानु आत्रय<sup>४</sup> और भट्टाज बाहस्पत्य<sup>५</sup> ने किया है। लौकिक में सम्भवतः इसी कठिनाई के कारण 'काटने' से सम्बद्ध शब्द 'दात्र' तथा 'देने' से सम्बद्ध शब्द 'दत्त्र' ही प्रचलन में रह गया है<sup>६</sup>। वैदिक 'दात्र' शब्द 'काटने का करण' और 'देने का क्रम' दोनों अर्थों में प्रचलित था।

'दात्र' < दा + √(देना) भट्टाज बाहस्पत्य ने 'देना' अर्थ वाली √दा से कत्रय में निष्पन्न 'दामन्' नाम और कत्रयक 'दा' (मध्यम पुरुष, ए व) आख्यात के प्रतिरिक्त इसी अर्थ वाली √दास से निष्पन्न कत्रयक दाश्वस के साथ रेखणस के विनोपण के रूप में कर्माधिक 'दात्र' का प्रयोग इस व्युत्पत्ति को मन में रख कर ही किया है<sup>७</sup>। वाम देव गौतम ने √दा के (पाणिनि के अनुसार जोहोत्यादिक रूप के) साथ<sup>८</sup> तथा वसिष्ठ मैत्रा इरुणि ने दातृ के साथ<sup>९</sup> 'दात्र' का प्रयोग किया है। ये दोनों प्रयोग 'उपयुक्त व्युत्पत्ति उन्हें अभिप्रेत है', इस बात के सूचक हैं। अतः 'दात्र' शब्द देय = धन का वाचक है।

उत्तरादि कारियों (दायादो) में इस (धन) का विभाजन किया जाता है सम्भवतः इसी कारण रोप ने इसे अय-सण्डनायक √दा<sup>१०</sup> से निष्पन्न माना है<sup>११</sup>। वसिष्ठ ने अय सण्डनायक √दा से निष्पन्न दिति के साथ वाम' (वरणीय = धन) के दान की चर्चा 'दाति' का प्रयोग कर के की है<sup>१२</sup>। सम्भवतः यह प्रयोग

१ स हि दमा यच्चा क्षित दाता न दाया पयु । ५।७।७ ॥

२ तथेदिद्राह्मा गता हस्ते दात्र चना दद । ८।७८।१० ॥

३ दाति प्रियाणि विद् भव । ४।८।३ ॥

४ यतो भग सविता दाति वायम् । ५।४८।३ ॥

५ दात्री स्तुतो विदधे दाति वाजम् । ६।२४।२ ॥

६ काटना और शोधन अर्थों वाला धातुओं का पयु दास कर के पाणिनि ने √दा में त-कारादि अवयव बाण में होने पर √दा को दद् आगे किया है त्रिग न देना अर्थ वाली √दा में दत्त्र बनना<sup>१</sup> तथा 'दात्र' अर्थ वाली में दात्र । ८ आध्यायी १।१।२० दा या अय-दाय । ७।६।६ हो दद् यो ।

७ [॥ दामन् तत्रेवलो अ प्र मृयमृजिन्वने दात्र दातुरे दा ॥ ६।२०।७ ॥

८ उतो हि दां दात्रा सति पूर्वा, या वृक्षम्यस्त्रमस्त्रुनितोने ।

शेत्रातां ददपुदरातां धन ददपुम्यो धनि मृनिमुपय ॥ ६।३८।१ ॥

९ धनि भगो धनि दात्रस्य दाता नि मयवा मयवद्वय इदो ॥ ६।१७।४ ॥

१० द मयवीर यानु-मृनि ४।४० हो अय सण्डन ।

११ द मन् पात्रमय मयुन योर्वयम् ।

१२ त्वमये वीरयत्नो देवस्य सतिना अय ।

दिति वा नि वायम् ॥ ७।१३।१२ ॥







वधनायक 'सम् + √दा' से निष्पन्न 'सदान्' शब्द से स्पष्ट किया है<sup>१</sup>। प्रभू-वसु  
आङ्गिरस ने धन देने के प्रसङ्ग में इस की व्याख्या √दा (देना) से की है<sup>२</sup>। 'दात'  
'अय' में 'दामन्' का प्रयोग ऋग्वेद में कई बार हुआ है। भरद्वाज बाहस्पत्य का  
√दा (देना) से निष्पन्न 'दात्र' और √दाग (दना) के साथ 'सु-दामन्' (धन्य  
वानी) का प्रयोग इस की व्युत्पत्ति की भली-भाँति स्पष्ट करता है<sup>३</sup>।

८० √दिप्स < √दभ नीच नमस घोचय्य और वाम देव गीतम<sup>४</sup>, वूम  
गात्ममद<sup>५</sup>, और वसिष्ठ मंत्रा-वरुणि<sup>६</sup> ने √दभ और इस से इच्छाय में निष्पन्न  
√दिप्स का युगपत् प्रयोग कर के इन के सम्बन्ध की शीति किया है। पाणिनीय  
तन्त्र में वम व्युत्पत्ति में √दिप्स की बजाए √धिप्स (माध्यदिन<sup>७</sup> तथा मन्त्रायणी  
संहिताओं<sup>८</sup> में एक-एक बार ही प्रयुक्त) की निष्पत्ति होती है<sup>९</sup>।

८१ दीघ < √द्राघ सुमित्र वाध्यश्च न नीघ<sup>१०</sup> और 'द्राघमन्' के युगपत्  
प्रयोग से इस व्युत्पत्ति की सूचित किया है<sup>११</sup>। यास्क ने भी यही व्युत्पत्ति दी है<sup>१२</sup>।  
√द्राघ प्राचीन वातु है। ऋग्वेद में इस का प्रयोग १ दीघ, २ द्राघिष्ठ ३ द्राघीयम  
और ४ द्राघमन् शब्दों में ही अवशिष्ट मिलता है।

८२ दुघ < √दुह परस्मैपदवा दासि ने 'सबदुधा' और 'दोहते' के इच्छे  
प्रयोग से इस व्युत्पत्ति की सूचित किया है<sup>१३</sup>। यहाँ घ कारवान् और ह कारवान्  
प्रतियों में कोई सम्बन्ध है यह पान स्पष्ट है।

√दुघ (क वग चतुर्धान्त) प्राचीन प्रतीत होती है तथा √दुह (कण्ठ्य  
महा प्राण ऊष्म वाली) प्राचीन (१) √दुघ (कण्ठघात) का कोई आरम्भ रूप  
ऋग्वेद में नहीं है जब कि √दुह (ऊष्मान्त) के बहुत हैं। (२) 'दुघान' का<sup>१४</sup>

दानु पिच । पिचि सेचने, कमण्यण ।' (अप्ता ३।१।१) इत्यण । चतुर्ध कामाना  
आरम्भिता ।

१ यगाजिनो वाम सदानमवतो वा नीघण्या रवतुरस्य । १।१६२।८ ॥

२ स वा नमविद्रो, यो वसूना चिकेतदातु वामनो रयीणाम् । ५।३६।१ ॥

३ सु वामन् तद्रेणो अ प्र मृध्यमृजिश्चने दात्र दातुये दा ॥ ६।२०।७ ॥

४ दिप्सत इद्रिषवो नाह देभु ॥ १।१४७।३ ॥

५ त आदितास उरवो यमीरा अ रव्यामी दिप्सतो भूयसा । २।२७।३ ॥

६ इद्र दिप्सति दिप्सवोऽदाम्यम् । ७।१०३।२० ॥

७ इ १।१।८० धिप्सात् (त, म, काठ दिप्सात्) । विश्वबधु के कोप में  
धिप्सात् मा ननपथ (२।६।३।१०) में ही सूचित है वा म म नहीं।

८ इ ५।१५।१७ (२४८) ।

९ इ अष्टाध्यायी ७।४।५६ दम्न इच्च ।

१० वि प्रयता देव-जुष्ट तिरच्चा दोघ द्राघ्मा सुरभि भूत्वस्मे । १०।७०।४ ॥

११ इ निरुक्तम् २।१६ दोघ द्राघते ।

१२ सुम्य धेनु सबदुधा विन्वा वसूनि दोहते । १।१३।४ ॥

१३ इ १।१००।३, ३।३१।१०, १०।६७।६ ।

प्रयोग १, ३ और १० मण्डली म एवेक बार तथा 'दुहान' का प्रयोग २३, ६१० मण्डली में कुल मिला कर १३ बार हुआ है। इस से विदित होता है कि ऋग्वेद काल में ही घ कारवान् रूप घट रहा था, तथा उस का स्थान ह कारवान् रूप ले रहा था।

८३ दृढ < हह गोपूक्तिन् और अश्वसूक्तिन् काण्वायनों ने<sup>२</sup> तथा विश्व मनस वयस्य ने<sup>३</sup> √दृह (घ वमक) स वमथ में दृ<sup>४</sup> की व्युत्पत्ति का सङ्केत दिया है। इन के प्रयोग से बिदिन होता है कि ङ भ दस केवल ह कार के स्थान में नहीं है, अपि तु व्यञ्जना तर (त) के संयोग से हुआ है। अथवा ह कार के पश्चात् स्वर होने पर उस में कोई परिघटन नहीं हुआ है इहित। पाणिनि के अनुसार यह (√दृह से) कथ्य में 'क्त' से विलोपण के रूप में निष्पन्न हुआ है<sup>५</sup>।

८४ छु < √दिव वाम देव गौतम ने दिन वाचक 'सु' की व्युत्पत्ति 'वम कना' अथ वाली √दिव से सूचित की है<sup>६</sup>। यहाँ सम्प्रसारण का ज्ञान स्पष्ट है।

८५ द्वर ८६ द्वर ८७ द्वर < √ध ऋग्वेद संहिता में ये तीन शब्द 'दरवाजा' (शान्क अथ रोक्ने वाला) अथ में प्रयुक्त हुए हैं। 'द्वर' शब्द इन्हीं का परिवर्धित रूप प्रतीत होता है। इन की सर्वाधिक बार बताई व्युत्पत्ति √वृ (ढँकना) से है। स प्र आङ्गिरस<sup>७</sup> सदा पृण आग्नेय<sup>८</sup>, वसिष्ठ मैत्रा वसणि<sup>९</sup>, ब्रह्मा तिथि काण्व<sup>१०</sup> अमास्य आङ्गिरस और कश्यप मारीच<sup>११</sup> का इन शब्दों के साथ √वृ

१ द्र २।२।६ ३२।३, ३।१।१४, ५८।१, ६।२८।१ ७।४१।७, ४३।४, ८०।३, ८।१००।११ ६।४२।४ १०७।५, १०।६२।६, १४६।४।

२ इ त्रेण रोचना दिषो दृह्य, नि दृहितानि च । ८।१४।६ ॥

३ दृह्यद्विषद् दृह्य मघवन्, मघ तये । ८।२४।१० ॥

४ द्र अष्टा ७।२।२० दृढ स्मृत इत्यथो ।

५ वोषा वस्तर्धोविवासमनु छून् । ४।४।८ ॥

६ स हि द्वरो द्वरिषु वय ऊयनि च द्र बुध्नो मद वद्धो मनोविनि । १।५२।३॥

७ अथा वत अजिनीरुत् स्वर्गाद् वि दुरो मानुषोदेव आच । ५।४५।११ ॥

८ अयमु ते सरस्वति, वसिष्ठो द्वारावतस्य सु मगो ग्याच । ७।६५।६ ॥

९ उत नो दिव्या इय उत सि धु रहुविदा । अथ द्वारेव वयथ । ८।५।२१॥

सायण और विश्व ब धु के मत में यहाँ वयथ √वप से निष्पन्न है। परन्तु इन व्याख्या में दरवाजे के नीचे बरसते हो<sup>१</sup> अथ में कोई ओचित्य नहीं प्रतीत होता। अतः यह √वृ का लेट म द्वि व, का रूप हो सकता है। 'द्वार' भी द्वार का द्वितीया, नि व ही प्रतीत होता है। इस प्रकार का प्रयोग ऊपर टि ८ में उद्धृत ७।६५।६ में तथा १।६८।५ (पठ ८३ टि ५ में उद्धृत) और ६।१०।६ (वटी टि ७ में उद्धृत) में भी उक्त है। द्वि वचना त द्वार का अथ दरवाजे के पत्ते है।

१० वि नो शये दुरो वधि ॥ ६।४५।३ ६४।३ ॥

का प्रयोग इन लोगों के मत में इन शब्दों की उपयुक्त व्युत्पत्ति का सूचक है। यास्क ने 'द्वार' के तीन निवचन दिए हैं<sup>१</sup> (१)  $\sqrt{\text{जव}}$  ( $\sqrt{\text{जु}}$ ) से, (२)  $\sqrt{\text{द्रव}}$  ( $\sqrt{\text{द्रु}}$ ) से, (३)  $\sqrt{\text{वारि}}$  ( $< \sqrt{\text{व}}$ ) से<sup>२</sup>। तृतीय निवचन में  $\sqrt{\text{वृ}}$  से निष्पन्न 'वार्' के भादि में 'द्' जोड़ कर 'द्वार' अभिप्रेत है<sup>३</sup>। परन्तु काल में इन शब्दों की सिद्धि के लिए वैयकरणों में  $\sqrt{\text{द्रव}}$  की कल्पना कर ली गई थी<sup>४</sup>।

८७ द्वार्  $< \sqrt{\text{ऋ}}$  प्रस्वण्व् वाण्व<sup>५</sup>, परा शर आकृत्य<sup>६</sup> और अक्षित वास्यप<sup>७</sup> ने वि +  $\sqrt{\text{ऋ}}$  के साथ 'द्वार्' का प्रयोग किया है। इस से प्रतीत होता है कि इन लोगों को 'द्वार' शब्द  $\sqrt{\text{ऋ}}$  से अभिप्रेत है तथा  $\sqrt{\text{ऋ}}$  में 'व' का आगम होने से हो  $\sqrt{\text{व}}$  निष्पन्न है।<sup>८</sup>

८८ द्वीप  $< \text{द्वि} + \text{अप}$  अयस्य मंत्रा बहणि ने द्वीप<sup>९</sup> के साथ 'आप' के प्रयोग<sup>१०</sup> से यह सूचित किया है कि 'द्वीप' का उत्तर पद 'अप' है। पाणिनि ने भी 'द्वि + अप्'  $>$  'द्वीप' व्युत्पत्ति दी है<sup>११</sup>। यास्क ने सीधे 'द्वीप' की व्याख्या तो नहीं की है पर इससे मिलते जुलते 'अनूप' की व्याख्या उ होने 'अनु + आप्'  $>$  'अवाप'  $>$  'अनूप' बताई है<sup>१२</sup>। अतः 'द्वीप' की व्याख्या भी यदि वे करते, तो 'द्वि + अप्'  $>$  'द्वप'  $>$  'द्वीप' करते, यह कहा जा सकता है।

१ द्र निरुक्तम् ८।६ द्वारी (१) जवतेर्वा, (२) द्रवतेर्वा, (३) वारयतेर्वा।

२ 'द्वार' के दो उद्देश्य होते हैं (१) दीवार आदि अवरोध में से प्रवेश और निगम की सहूलियत, (२) निर्बाध प्रवेश और नियम में रुकावट। यास्क के प्रथम दो निवचन गति' अथ के कारण प्रथम उद्देश्य को दृष्टि में रख कर किये अथ निवचन हैं और तीसरा निवचन 'रोकना' अथ के कारण द्वितीय उद्देश्य को दृष्टि में रख कर किया गया शब्दार्थोपपन्न निवचन है।

३ द्र निरुक्तम् २।२ अथापि वर्णोप जन—आस्थद्व, द्वारी, भस्वेति।

४ द्र निरुक्त मीमांसा पृष्ठ २४७ टि १।

५ उपो, यद्यपि मानुना वि द्वारावृण्वो दिव । १।४८।१५ ॥

यहाँ 'ऋण्व' है या 'वृण्व', इस पर द्र 'निरुक्त मीमांसा', पृष्ठ २४७ २४८।

६ तमना यहती दुरो व्यण्वन्, नव त विश्वे स्वह नीके ॥ १।६६।१० ॥

७ अप द्वारा मतोना प्रत्या ऋण्वति कारव । ६।१०।६ ॥

८ इस विषय में विशेष के लिए द्र 'निरुक्त मीमांसा', पृष्ठ २४७ ८।

९ अग्निश्चिद्धि ह्मातसे शुशुक्वानापो न द्वीप दधति प्र यासि ॥ १।१६६।३ ॥

१० द्र अष्टाध्यायी ६।३।६७ द्व्यन्तरूपसर्गोभ्योऽप ईत्।

११ द्र निरुक्तम् २।२२ अनूपा—अनु-वपन्ति लोकात्स्वेन-स्वेन कमणा। प्रथमपोतरोऽनूप (१) एतस्मादेव—अनूप्यत उदकेन। (२) अपि वाऽन्याविति स्याद्, यथा प्रागिति। तस्यानूप इति स्याद्, यथा प्राचीनमिति। इन निवचनों की व्याख्या में डा सिद्धेश्वर वर्मा की ('दी एटिमोलॉजि आफ मास्क' पृष्ठ ५७ में) प्राप्ति की समीक्षा के लिए द्र 'निरुक्त के पाँच अध्याय', पृष्ठ २४१ २।

८६ पाय < √धा क्षयावात्वात्त्रय<sup>१</sup> धोर भरद्वाज बाह्वृत्त्य<sup>२</sup> के 'पाय' धोर √धा के इकट्ठे प्रयोग से विदित होता है कि व इस √धा (धारण) से कम अर्थ में निष्पन्न मानते हैं। उणादि कार ने भी यही व्युत्पत्ति दी है<sup>३</sup>। मास्क ने 'धान्य' की व्याख्या तो नहीं की है पर धा<sup>४</sup> धोर अर्थ दोनों दृष्टियों से इससे मिलते जुलते 'धाना' की यही व्युत्पत्ति दी है<sup>५</sup>। अतः वे पाय की भी यही व्युत्पत्ति कदा बिद् देत, यह अनुमान किया जा सकता है।

८७ ध्वात् < √ध्वस् वर्ण्य गत प्रभेदन ने √ध्वम के साथ कत्रय में कत्रयक 'ध्वान्त' का प्रयोग कर के इन दोनों के व्युत्पत्तिक सम्बन्ध का मङ्कित किया है<sup>६</sup>। यास्क ने भी गौरिवीति धाक्य के<sup>७</sup> ध्वान्त<sup>८</sup> की व्याख्या √ध्वस् से ही की है<sup>९</sup>। पाणिनि ने इसे निपातन मिट्ट बताया है<sup>१०</sup>। पतञ्जलि ने √ध्वन् त ध्वान्त की व्युत्पत्ति दी है<sup>११</sup>। गायद उह ध्वात्<sup>१२</sup> से अर्थ कार का सौय-सौय करता पक्ष ही अधिक प्रबल लगा हो अथवा ध्वान्त<sup>१३</sup> बहु का विषय तो कदा बिद् है, पर श्रोत्र का विषय तो नहीं है।

८८ नि धि < √धा वसिष्ठ मन्त्र-वरुणि<sup>१४</sup> धोर उल वातायन<sup>१५</sup> न 'निधि' के सत्तर पद धि की व्याख्या हि से की है। यह √धा के स्थान पर प्रयुक्त होने वाली एक प्रकृति है<sup>१६</sup>। अतः इस व्युत्पत्ति से दो बातें स्पष्ट हैं (१) धि = हि < √धा सम्बन्ध विदित है। (२) प्रत्यय कम अर्थ में है। यास्क ने नि धि का पर्याय 'नेव धि' दे कर<sup>१७</sup> कदा बिद् यही व्युत्पत्ति सूचित की है। सङ्ख्युक्त यामा

१ येन लोकाय जनयाम पाय बीज बहेधे च सितम् ।

अमम्य तद् धत्तन यद् व ईमहे राधो विश्वायु लो मयम् ॥ १।५।३।१३॥

२ विध्व ॥ देव प्रति वारमन्ने धत्ते पायम् पत्यते वसत्य ॥ ६।१।३।४ ॥

३ इ उणादि सूत्र ७२६ (१।४८) दधातेय नुट च ।

४ इ निरुक्तम् १।१२ धाना (१) आध्वे हिता मवति । (२) कले हिता मवतीति वा ।

५ ध्वात् तमोऽव दध्वते हत, इदो मङ्गा पुव हतावपत्यत ॥ १०।१।१।७॥

६ वय सु पर्या उष सेवुरिद्र प्रिय मेघा श्रययो नाथमाना ।

अव द्वा तमूण हि पूर्वा चतुर मुमुक्ष्यस्मा नषयेव ब्रह्मन् ॥ १०।७।३।११॥

७ इ निरुक्तम् ४।३ अपोण ह्या ध्वस्त ऽध्व ।

८ इ अण्गध्यायी ७।२।१८ सुञ्ज स्वा त ध्वात् तमन म्लिष्ट विरिष्य काण्ट व्रादानि मय मनत-तमस तक्त अविष्पष्ट स्वर धनायास भृशेषु ।

९ इ महा भाष्य ७।२।१८, वा ३ पृष्ठ ११८ ध्वान्त तमोऽमि धान इति वक्तव्यम् । ध्वनित तमसेत्यवायत्र ।

१० एय स्य यां पुव-मत्वेव सत्ये निर्विहितो, माध्वो रातो अस्मे । ७।६७।७॥

११ मदवो धात ते गृहे-मृतस्य निर्विहित । ततो नो वेहि जीवमे ॥ १०।१८६।३॥

१२ इ अण्गध्यायी ७।४।४२ दधानिहि । १३ ॥ निरुक्तम् २।४ ।

यन ने 'परि पि' की व्याख्या  $\sqrt{\text{घा}}$  से की है<sup>१</sup>।

६२ नि युत् < नि +  $\sqrt{\text{धु}}$  नि युत् वायु की घोटियों का नाम है<sup>२</sup>। वसिष्ठ मन्त्रावरुणि न इस शब्द का प्रयोग वायु के सम्बन्ध में व्युत्पत्ति प्रदर्शन पूर्वक किया है<sup>३</sup>। यह शब्द कम अर्थ में निष्पन्न है।

६३ नेमि <  $\sqrt{\text{नम्}}$ । वि रूप प्राङ्गिरस<sup>४</sup> और रेभ काश्यप<sup>५</sup> ने  $\sqrt{\text{नम्}}$  से 'नेमि' की व्युत्पत्ति का सूत्र दे दिया है। नेमि पहिए के धरे (Rings) का वाचक है। यह लुप्तता है, तो यान गति करता है। यह लुप्तता ही यहाँ  $\sqrt{\text{नम्}}$  (झुकना, नीचे की ओर होना) से कहा गया है। कार्यायन ने इसे लौकिक भाषा में ही प्रयुक्त बताया है, तथा इस की व्युत्पत्ति  $\sqrt{\text{नम्}}$  से ही दी है<sup>६</sup>। उणादि वार न इस की नयन शक्ति को दृष्टि में रख कर इसे  $\sqrt{\text{नी}}$  से व्युत्पन्न बताया है<sup>७</sup>।

६४ नी < नु नी शब्द नाव का वाचक है, आम तौर से यही विदित है। नाव अर्थ बाने नी की व्युत्पत्ति यास्क ने  $\sqrt{\text{नुद्}}$  से, या  $\sqrt{\text{नम्}}$  से बताया है<sup>८</sup>। वैयाकरण लोग इसे  $\sqrt{\text{नुद्}}$  से मानते हैं कि इस ढक्का जाता है<sup>९</sup>। वेद में नी वाणी अर्थ में भी आया है<sup>१०</sup>। अयाम्य प्राङ्गिरस ने इस की व्युत्पत्ति स्तुत्य-यक  $\sqrt{\text{नु}}$  से करण में सूचित की है कि इस से स्तुति की जाती है<sup>११</sup>। एतरेय ब्राह्मण में नीका के समान कठिनाइयों को पार करने का साधन होने के कारण 'नाक' को 'नी' बताया है<sup>१२</sup>।

६५ पत्ति <  $\sqrt{\text{पथ}}$  सोम पान के साथ<sup>१३</sup> किए जाने वाले मास्ते को

१ इम जीवेभ्य परि पि दृषामि । १०।१८।५॥

२ इन के स्वरूप के लिये द्र 'निरुक्त के पाँच अध्याय', पृष्ठ २५६।

३ नि युवाना नि युत् स्वाह शीरा इन्द्र वायु स रथ यानमर्वाक । ७। १।५॥

प्र यामिर्यासि वाङ्वासमच्छा नि युद्धिर्वायविष्टये<sup>१</sup> दुरोणे,

नि नी रयि सु भोजस युवस्व ॥ ७।६२।३ ॥

४ त नेमिमृमवो यथाऽऽनमस्व स-हृतिमि । नेदीयो यत्तमङ्गिर ॥ ८।७५।५॥

५ नेमि नमति अक्षता मेव विप्रा अग्नि स्वरा । ८।६७।१२॥

६ द्र अष्टा ३।२।१७१ वातिक भाषायां घाञ्कु सृ गमि जनि नमिभ्य<sup>२</sup>।

७ ॥ उणादि सूत्र ४८३ (४।४३) नियो मि । तत्त्व बोमिनी नयति

धक्रमिति नेमिचक्रावयव ।

८ द्र निरुक्तम् ५।२३ नी (१) प्र एतोत्तव्या भवति । (२) नमतेर्वा ।

९ द्र उणादि-सूत्र २२२ (२।६५) ग्ला नुदिभ्यां शी ।

१० द्र निघण्टु १।११।४५, तथा निरुक्त के पाँच अध्याय, पृष्ठ २४३।

११ सभी सखायो अस्वरवने कीलतम-यविमिद् नावा अरूपत ॥६।४५।५॥

१२ द्र ऐ वा १।३।२ 'सु तर्माणमधि नाव रुहेम।' (ऋ ८।४२।३) इति — यशो वे सु तर्मा नी, कृष्णाजिन घ सु-तर्मा नी, वाय्व सु-तर्मा नी ।

१३ इसे अनु ध्वय<sup>३</sup> कहा जाता था। द्र 'निरुक्त के पाँच अध्याय', पृष्ठ १५६।

पवाने के वाचक 'पक्ति' की 'युत्पत्ति वाम देव गौतम', गौरिवीति 'गवत्प'², भरद्वाज बाहस्पत्य³ और वसिष्ठ मैत्रा-वरुण⁴ ने ✓पच् स कम म दी है ।

६६ पति < ✓पा वाम-देव गौतम की 'पति' (स्वामी) नाम रक्षकता के कारण ✓पा स पठा है यह अभिप्रेत है⁵ । ऋग्वेद में ✓पत (पत्यते) ऐश्वर्य अर्थ में मु बहुत प्रयुक्त है । हमारा विचार है कि यह पति का नाम-धातु है । यास्क ने भी 'पति' की व्याख्या ✓पा स की है तथा ✓पा का अर्थ उहो ने ✓पात से स्पष्ट किया है⁶ । उणादि-कार ने भी पति को ✓पा से निष्पादित किया है⁷ ।

६७ पपुरि < ✓प प्रस्वप्न काण्व⁸ और कशीवत् दध-समस घोषिज⁹ ने ✓प से कथ्य में 'पपुरि' की व्युत्पत्ति का सङ्केत किया है । यहाँ ऋ' की 'उर' विकार स्पष्ट अभिप्रेत है । यास्क ने भी कशीवत् का अनु-वरण किया है¹⁰ ।

६८ पप्रि < ✓प । मय्य आङ्गिरस ने पूरण अर्थ वाली प✓ से 'पप्रि' की व्युत्पत्ति का सङ्केत किया है¹¹ । यहाँ पपुरि के समान ऋ < उर' विकार नहीं हुआ है । शिरिम्बिठि काण्व ने इस 'पार जाना अर्थ वाली प✓ स प्रेरणाय म निष्पन्न समझा समझा है¹² ।

६९ पप्रस इस तन् की कति पय व्युत्पत्तिर्वा अभिप्रेत प्रतीत होती है

१ य इ द्राय सुनवत्सोममघ पचा-पक्तीर उत मृगमाति घाना । ४।२४।७ ॥

२ आत्वामृजिद्वा सख्याम चक्रे पच-पक्तीर, अपिच सोममस्य ॥ ५।२६।११ ॥

३ स सोम आनिशततम सुतोऽमृद्यस्मि-पक्ति पच्यते, सति घाना । ६।२६।४ ॥

४ सुनोता सोम पान्ने सोममिद्राय वञ्चिणे । पचता पक्तीर । ७।३२।८ ॥

५ पातपत्तिम पावहसो नो, मित्रो मित्रियाहुत न उच्येत् ॥ ४।२५।५ ॥

६ ॥ निरुक्तम् १०।१४ क्षेत्रस्य पति = क्षेत्र क्षियते निवास कमल, तस्य पाता वा, पालयिता वा ।

७ उणादि सूत्र ४६७ (४।५७) पानेइति । उणादि-कार ने ✓पा स 'इति' कर तो दिया, पर यह ध्यान में नहीं रखा कि पाणिनि के 'इति च । (घट्टा १।१।२५) से प्राप्त घट सञ्ज्ञा तथा वङ्म्यो ध्रुक् । (घट्टा ७।१।२२) से प्राप्त प्रथमा द्वितीया के बहु वचन के सोप का क्या होगा ?

८ हविषा जारो अषां विपति पपुरिनरा । १।४६।४ ॥

९ उप सरन्ति सि पवा मयो भुव ईजान च मय्यमरण च ।

पृणन्त च पपुरि च भवत्यथो घतस्य धारा उप र्माति विश्वत ॥ १।२५।४ ॥

१० द्र निरुक्तम् ५।२४ विपति, पपुरिरिति (१) पृणाति निगमो वा, (२) प्रोणाति निगमो वा । वपरीत्यन तुलना व लिए आग ६८ पप्रि देति ॥

११ स हि पप्रि-पस ॥ आ य पृणाति दिवि सद्य बहिव । १।५२।३-४ ॥

१२ स न पप्रि पारयाति स्वस्ति नावा पुह हूत ।

इन्द्रा विवा इति द्विप ॥ ८।१६।११ ॥ आग '१८४ पार' भी देति ॥

(क) पयस् < √पी गीतम राहूगण<sup>१</sup>, दीघ-तमस औचध्य<sup>२</sup>, वाम देव गीतम<sup>३</sup>, वसिष्ठ मैत्रा वरुणि<sup>४</sup>, गय प्लात<sup>५</sup> ने 'पयस्' को √पी के वरण के रूप में प्रयुक्त किया है। इस से विदित होता है कि ये लोग इस √पी से करण में निष्पन्न मानते हैं। गृत्समद ने<sup>६</sup> इस के साथ कत्रयक 'पीयूष' का प्रयोग करते हुए √पी के कम के रूप में, तो असित वाश्यप ने<sup>७</sup> √पी के कर्ता के रूप में ही √पी के साथ 'पयस्' का प्रयोग करके 'पयस्' की व्युत्पत्ति √पी से कत्रय में अभीष्ट है, यह सूचित किया है। इस व्युत्पत्ति में पोषण में दूध की उप योगिता को दृष्टि में रखा गया प्रतीत होता है।

(ख) पयस् > √पा दीघ-तमस औचध्य ने √पा (पीना) के साथ उसके कम के रूप में भी √पयस् का प्रयोग किया है<sup>८</sup>। इस व्युत्पत्ति में सम्भवतः पयता के कारण √पा से 'पयस्' का नाम वरण अभिप्रेत है।

यास्क ने ये दोनों ही निश्चय दिये हैं<sup>९</sup>। बयाकरणी में (१) कुछ लोग इस की पेयता को ले कर √पा से पयस् मानते हैं<sup>१०</sup>, तो (२) कुछ लोग पोषकता के कारण √पी से पयस् मानते हैं<sup>११</sup>।

(ग) पयस् < √पिष् नोषस गीतम<sup>१२</sup>, विश्वामित्र गाधिन्<sup>१३</sup>, वसिष्ठ मैत्रा वरुणि<sup>१४</sup>, वरस मि भालदन<sup>१५</sup>, गय प्लात<sup>१६</sup>, वसु वण वासु क्र<sup>१७</sup> और

१ मरीमृतम्य पयसा पिधान । १।७।१३॥

२ सुषवाण घमममि वावज्ञाना मिमासि मायु पयते पयोमि ॥ १।१६।२८ ॥

३ कृष्णा सती दृशता घासिन्वा आपर्वेण पयसा वीषाय ॥ ४।३।६ ॥

४ या सुव्ययत सु दुषा सु धारा घनि स्वेन पयसा पीष्यान्ता । ७।३६।१॥

५ या मे धिय भरत इन्द्र देवा अदवात वरुण मित्र, पूषम् ।

तो पीपयत पयसेव येमुस् । १०।६४।२२ ॥

६ तदा हना अमवत्पिपुषी पयोऽंशो पीयूष प्रथम तदुषध्यम् ॥ २।१३।१॥

७ पयो यदस्य पीपयत् । ६।६।७॥ = वीत पात पय उज्जिवाया ॥ १।१३।४॥

८ द्र निश्कतम २।५ पय (१) पिबतर्वा, (२) प्यायतेर्वा ।

१० द्र माधवीय घातु वसि १।६०८ पय — पिबतेरीश्व<sup>१०</sup> इत्यमुनि ईका रातादेजे गुणायादेज्ञो । \* यह सूत्र सिद्धांत कौमुदी में नहीं है ।

११ द्र मिथ्यान्त-कौमुदी, उणादि-सूत्र ६२८ (४।२२८) सध घातुम्योऽमुत् । घेत । सर । पय । सद । 'पयस्' को नानेन्द्रसरस्वनी ने √पय गति से, या √पी पान से वासु-देव दीक्षित ने 'पीठ पाने' (मा घा च ४।३३) से बताया है ।

१२ भूमि पिबन्ति पयसा परि ज्यय । १।६४।५ ॥

पिबत्यपो भरत सु दानव पयो धृतवद् विज्येष्वा भुव । ६ ॥

१३ एना वय पयसा पिबमाना अनु योनि देव हृत चरन्ती । २।३३।४ ॥

१४ ता अमम्य पयसा पिबमाना । ७।५०।४ ॥

१५ वि यो मने धम्या स-यती मद साक वृषा पयसा विज्यह सिता । ६।६८।३॥



शम्बर काशीवत<sup>१८</sup> ने 'पयस' का प्रयोग  $\sqrt{\text{पि-व}}$  (पुष्टि) के बरतल<sup>१९</sup> और कम<sup>२०</sup> के रूप में उसके साथ कर के इन दोनों के व्युत्पत्तिक सम्बन्ध को सङ्केतित किया है।

१०० पवत < पवन् पुनवत्स नाथ न मरुतों ने पवतो को पव पव (टुकड़े टुकड़े) कर दिया<sup>२१</sup>। कथन में पवत  $\sqrt{\text{पवन्}}$  पवन् स मत्वर्थीय प्रत्यय से बना है, इस बात को सूचित किया है। यास्क<sup>२२</sup> और कात्यायन<sup>२३</sup> ने भी पवत को यही व्युत्पत्ति दी है। उणादि कार ने इसे वृद्धन्त सम्भक्त कर पूरणायक  $\sqrt{\text{पव}}$  से भत (भतच) प्रत्यय से निष्पादित किया है<sup>२४</sup>। इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'पवत' को भन्तोदात्त होना चाहिए<sup>२५</sup>। उणादि कार के इस नियम के असीन निष्पन्न जितने शब्द ऋग्वेद और दूसरी संहिताओं में हैं वे सब भन्तोदात्त हैं, किन्तु 'पवत' सवत्र आद्युदात्त है। यास्क और कात्यायन द्वारा दी गई व्युत्पत्तियों में स्वर ठीक है। भत उणादि कार की 'पवत <  $\sqrt{\text{पव}}$  व्युत्पत्ति चिरय है।

१०१ पाक् <  $\sqrt{\text{पक्}}$  दीप-तमस औचक्ष्य ने पाक' को  $\sqrt{\text{पक्}}$  के साथ प्रयुक्त कर के इन दोनों के व्युत्पत्ति-भत सम्बन्ध का सङ्केत किया है<sup>२६</sup>। यहाँ तालव्य और कण्ठ्य स्पर्शों का पारस्परिक सम्बन्ध सुविदित है। भग, भाग, याग आदि शब्द इसी प्रवृत्ति के उदाहरण हैं तथा सङ्कृत ध्वनि शास्त्र की दृष्टि से यज्ज' भी आज उत्तर भारत में 'यज्य' तथा गुजरात, महा राष्ट्र में 'यज' (कण्ठघबान्) बोला जाता है।

१०२ पायस <  $\sqrt{\text{पा}}$  'पायस' की प्रकृति  $\sqrt{\text{पा}}$  है यह प्रत्यय स्पष्ट है परन्तु  $\sqrt{\text{पा}}$  के कई अर्थ हैं। भत इस का अर्थ निवचन बहुत आवश्यक है। प्रजापति वैश्वामित्र ने माग वाचक 'पायस के साथ रक्षाधक 'गोपा और पाति' का प्रयोग कर के  $\sqrt{\text{पा}}$  का रक्षा अर्थ अभिप्रेत है, यह सूचित किया है<sup>२७</sup>। वृत्समद ने

१६ वेम्बो माता मधुमत्पिबते पय पीयूष औरदितिरद्रि बर्हा । १०।६३।३॥

१७ छावा-शुभिषी वदलाय स भते श्रुतवत्ययो मरिष्याय विन्वत ॥ १०।६४।८॥

१८ ता पयसा पिबमाना प्रजावतीरिन्द्र, गो-भटे रिरीहि ॥ १०।१६६।३॥

१९ १।६४।४ ३।३३।४, ७।५०।४, ९।६८।३ १०।१६६।३ ।

२० द्र १।६४।६ १०।६३।३ ६५।८ ।

२१ वि धुत्र पव शो ययुर्, वि पव-तां अ राजिन ।

अमाशा वृष्टिर्षोत्पम् । ८।७।२३ ॥

२२ द्र निरुक्तम् १।२० गिरि = पवत समुदगीर्णो भवति। पववा-पवत ।

२३ द्र अष्टाध्यायी ५।२।१२१ पर वातिव तप पव मरुद्गुपाय ।

२४ द्र उणादि-सूत्र ३६० (३।११०) मृ मृष्टि यजि-यवि-यवि अमि-तमि नाम ह्येव्योस्तच् । यवि अमि म यजस्यि योजक विह्व-शुविधाय तोड दी है।

२५ 'भतच' प्रत्यय चित् है तथा चित् प्रत्यय से बना भन्तोदात्त होता है। द्र अष्टाध्यायी ६।१।१६२ चित (भ त उदात्त) ।

२६ मु-श्रुता तन्धमितार शृज्-तुत मय श्रुत पाक पचन्तु ॥ १।१६२।१० ॥

२७ विष्णुगोपा परम पाति पाय प्रिया धामा यधुना दधान । ३।५५।१०॥

भी सम्भवतः इसी व्युत्पत्ति की दृष्टि में रख कर इस के साथ 'पायु' प्रयोग किया है।

यास्क ने 'अनरिक्ष' के पर्याय पायस को व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'पय' के समान बताया है। पय शब्द उनके अनुसार 'प या' (पाणिनीय तन्त्र पयिन् प्र ण व) स सम्बद्ध है तथा (१) √पत् से, या (२) √पद् से, यथवा (३) √पय से व्युत्पन्न है<sup>२</sup>। प्रथम दो धातु गत्ययक हैं<sup>३</sup>। तीसरी धातु इस नाम को देख कर कृतिपत् की गई लगनी है<sup>४</sup>। जल और अन्न ('पितु' से तुलना करें) के पर्याय के रूप में इस 'पान' अर्थ वाली √पा स बनाया है<sup>५</sup>। उणादि कार न भी इन दोनों अर्थों में √पा में ही व्युत्पत्ति बताई है<sup>६</sup>। अ विकरण (पाते) प्रयोग का देख कर ही सम्भवतः टीका कारा न √पा स रक्षायक धातु ली है<sup>७</sup>। परन्तु पेयता के आधार पर 'जल' का नाम-करण न कर के रक्षयता के आधार पर उस की व्युत्पत्ति बतलाना विचित्र है। उणादि कार कही बाडभर के रेगिस्तान के सत्ताय हुए ता नहीं थे।

१०३ पायु < √पा ऋग्वेद-संहिता में 'पायु' का प्रयोग नी बार रक्षायक √पा के करण क रूप में किया गया है। इस स विदित होना है कि १ कुरम आह्निरस<sup>८</sup>, २ परुच्छेप दवो दासि<sup>९</sup>, ३ दीध तमस औचध्य<sup>१०</sup>, ४ अगम्य मैत्रा वरुणि<sup>११</sup>, ५ गृत्समद<sup>१२</sup>, ६ उत्चवि आनेय<sup>१३</sup>, ७ भरद्वाज बाहस्पत्य<sup>१४</sup>, ८ वसिष्ठ मन्त्रा वरुणि<sup>१५</sup> और ९ भग प्रागाय<sup>१६</sup> ऋषि इसे रक्षायक √पा में करण में निष्पन्न समझत हैं। उणादि कार न यही व्युत्पत्ति दी है और √पा का अर्थ स्पष्ट रूप से नहीं बताया है<sup>१७</sup>।

१ पाथो न पायु जनसो उभे अनु ॥ २।२।४ ॥

२ इ निरुक्त्वा ६।७ पाय पया व्याख्यातम् ॥ २।२८ 'पयामञ्ज्वासि (ऋ ४।४०।४) = पया कुटिलानि। प या (१) पततेर्वा। (२) पथतेर्वा। (३) पयतेर्वा।

३ इ निष्पन्तु २।१४।११४ पतति। √पद् गति क निय तुलना करें निरुक्त्वा ५।१८ पदिग-तुभवति, यत्पद्यते। पाणिनीय तन्त्र में भी य दाना गत्ययन बताया है। इ माघवीय धातु वति १।८६० पत्य गती। ६।६१ पद्य गती।

४ पाणिनीय तन्त्र में यह गति अर्थ में है पयि-गती (मा घा व १०।४१)।

५ निरुक्त्वा ६।७ उदकमपि पाय उध्यते, पानात्। अन्नमपि पाय उध्यते, पानादेव।

६ इ उणादि सूत्र ६४३ (४।२०३) पातेरुदकेषु दच ६४४ अने च।

७ प्रकृत (६४३) सूत्र में पात 'पिद्यन् सूत्र स अनु-वत्त है। वहाँ पाने-द्र सरस्वती और वामुदेव दीक्षित दोनों ने पार रखी है। (२।४६) का ग्रहण किया है। अतः यहाँ भी, वही अर्थ अनुवत्त माना चाहिये।

८ = १।६५।६। ९ इ १।२३०।१०। १० इ १।१४३।८।

११ इ १।१८६।४। १२ इ २।२।४। १३ इ ५।७०।३।

१४ = ६।७१।३। १५ इ ७।३८।३। १६ इ ८।६०।८।

१७ इ उणादि सूत्र १ इ वा या जि मि स्वर्जि साधि

१०४ पार < √प गृत्समद<sup>१</sup> और वसिष्ठ मन्त्रा वक्ष्यि<sup>२</sup> ने 'पार' के साथ √पृ के प्रयोग से 'से' √पृ से निष्पन्न समझा लगता है। मग भारद्वाज ने 'पार' की प्रकृति पृ √का अर्थ 'पार करना' दिया है<sup>३</sup>। यास्क ने इस 'पर' नाम से स्वाध मे प्रत्यय से निष्पन्न समझा लगता है<sup>४</sup> कि परना किनारा जिस पहुँचना होता है 'पार' होता है तथा उरला किनारा 'अवार' कहलाता है।

१०५ पितृ > √पा मोघस गौतम ने √पा पीना' से 'पपिपत्स' के माप बम के रूप में 'पितृ' का प्रयोग किया है<sup>५</sup>। गृह्य यामायन ने इस के लिये 'मुन विशेषण' का प्रयोग किया है<sup>६</sup>। इस से प्रतीत होता है कि यह 'सोम' का नाम है। भिक्षु भ्राज्जिरस ने इसे 'मन' अर्थ में प्रयुक्त किया है<sup>७</sup>। इससे विदित होना है कि मूलतः इस का प्रवृत्ति निमित्त गुण 'पयता' या फिर यह 'भक्ष्यता' में सीमित हो गया। यास्क ने इसे अन्त<sup>८</sup> के पर्यायो में और देवता के रूप में स्तुत पार्थिव पदार्थों में<sup>९</sup> सङ्कलित किया है। उन्होंने इसके तीन निबचन किये हैं (१) √पा 'रक्षा' से (२) √पा 'पीना' से, (३) √प्ये 'पुष्टि' से<sup>१०</sup>। शाकटायन ने इस √पा से बताया<sup>११</sup>

√पा के एक तरफ भ्रादादिक √वा (२।४०) है तो दूसरी तरफ भोवा दिक √जि (१।५५४ ६२७)। अतः साहचर्य नियम के अनुसार इस से भोवादि<sup>१२</sup> और भ्रादादिक दोनों का ग्रहण हो सकता है। यही कारण प्रतीत होता है कि टीकाकारों ने दोनों का ही ग्रहण किया है। तत्त्व बाधिनी और बाल मनो रमा में पायु' का अर्थ 'गुद' बताया है तथा इसे 'पीना' अर्थ वाली √पा से निष्पन्न बताया है कि यह तेल भ्रादि पीने का साधन है। विवर्त्यनेन तलादिकमिति पायुगुद स्थानम् (तत्त्व बाधिनी)। इस रत्न अर्थ में रक्षायत् √पा से भी निष्पन्न माना गया है। पाति=रक्षति इति विवर्ते रन्कोऽपि (त बो)। तेल पीने को गुदा का प्रवृत्ति निमित्त वृत्तलाना कुछ विचित्र सा ही है। इस अर्थ में वास्तविक उत्पत्ति अवेद्य है।

१ पपि ए पारमहस स्वस्ति । २।३३।३।

२ प्र क्षाजे विनद्यो भाघमस्ति पार नो अस्थ विष्पितस्य पयम् ॥ ७।६०।७॥

३ भवा सु-पारो, अति पारयो न । ६।४७।७।

४ इ निरुत्तम २।२४ पार पर भवति । अवारमवरम ।

५ अस्पेदु मातु सवनेषु सद्यो मह पितु पपिवाञ्छावन्ना । १।६१।७॥

६ यहि पदो ये स्व ध्या सुतस्य भजत पित्वस्त इहागमिष्ठा । १०।१५।३॥

७ य भ्राध्राय, चक्षमानाय पित्वोऽनवात्स रकितायोव जम्बुये । १०।११।७।२॥

न स सखा यो न ददाति सख्यं सखा भुवे सचमानाय पित्व । ४॥

८ इ निष्पृ २।७।६।

९ इ निष्पृ ५।३।१६।

१० इ निरुत्तम ६।२४ पितुरित्यन नाम (१) पातेर्वा, (२) पितेर्वा,

(३) प्यायतर्वा ।

११ इ उणादि सूत्र ७० प विच्च ।

है, किन्तु इस का अर्थ नहीं बताया है। भट्टोजि दीक्षित ने इस का अर्थ 'पीना' बताया है<sup>१</sup>।

१०६ पुर < √प वसिष्ठ मंत्रा-वरुण ने 'पुर्' का प्रयोग पालनायक √प के साथ तथा इस के विशेषण के रूप में 'पृ' का प्रयोग कर के 'पुर्' की व्युत्पत्ति √प से सूचित की है कि यह (पुर्=किला) रखा करने से 'पुर' है<sup>२</sup>।

१०७ पृथिवी < √प्रथ गृत्समद<sup>३</sup>, इयावाश्च आत्रेय<sup>४</sup>, भरद्वाज बाहस्पत्य<sup>५</sup>, न मेघ तथा पुरु मेघ आङ्गिरसा<sup>६</sup> और नामा नेदिष्ठ मानव<sup>७</sup> ने धरती का 'पृथिवी' नाम फलने से पड़ा है, यह स्पष्ट किया है। एव याम रुद्र आत्रेय ने 'पृथिवी' के अर्थ की चर्चा की है<sup>८</sup>। गृत्समद ने धरती की इस विशेषता को 'भूमि' के प्रसङ्ग में भी बताया है<sup>९</sup>। इसी भाग्य को परा शर शानस्य ने 'क्षिति' की विशेषता के रूप में 'पृथ्वी' शब्द से<sup>१०</sup>, और अगस्त्य मंत्रा वरुण ने समानायक 'उर्वी' और पृथ्वी शब्दों से कहा है<sup>११</sup>। जिस प्रकार 'जन्मन्' शब्द 'इ' की स्वर भक्ति से जनिमन् के रूप में प्रयुक्त हुआ है वैसे ही 'पृथ्वी' शब्द भी 'इ' की स्वर भक्ति से 'पृथिवी' हो गया लगता है। इस निवचन में 'र > ऋ' (सम्प्रसारण) का ज्ञान भी स्पष्ट है<sup>१२</sup>। शाकटायन ने भी इसकी यही व्युत्पत्ति दी है<sup>१३</sup>। 'शब्दाण्य कोष के अनुसार पृथ्वी के दो विकार लोक में प्रचलित थे (१) पृथिवी, (२) पृथ्वी<sup>१४</sup>

१ द्र उणादि सूत्र ७० पर सिद्धान्त कौमुदी विवर्तते पितृवह्नी, विवा करे।

२ तां अहस पिपृहि पृष्टि मित्तव शत प्रमियविष्ठय ॥ ७।१६।१० ॥

३ स (इन्द्रो) धारयन् पृथिवीं प्रथयन् ॥ २।१५।२ ॥

४ प्रथिष्ट याम-पृथिवी विदेवाम् ॥ ५।५८।७।

५ उप तां स्कन्मयु स्कन्मनेनाप्रथत पृथिवीं मातर वि ॥ ६।७२।२ ॥

६ तत्पृथिवीमप्रथय ॥ ८।८६।५ ॥ ७ अथयन् पृथिवीं मातर वि ॥ १०।६२।१॥

८ दीर्घ, पुपु प्रथये सप्त पाषिवम् ॥ ५।८७।७ ॥

९ वि समना भूमिप्रथिष्ट ॥ २।११।७ ॥

१० पुष्टिन रथा, क्षितिं पृथ्वी ॥ १।६५।५ ॥

११ उर्वी पृथ्वी बहुले दूरे अते ॥ १।१८५।७ ॥

पृथ्वी पृथ्वी बहुला न उर्वी ॥ १।१८६।२ ॥

१२ द्र निरुक्तम् १।१३ प्रथनात्पृथिवीत्याहु ॥ १४ अथ वै दशनेन पृथु।

१३ द्र उणादि-सूत्र १४८ प्रथे विवन्, सम्प्रसारण च।

१४ द्र शब्दाण्य पृथ्वी पृथिवी पृथ्वी धरा, सव सहा, रसा।

बाल मनो रसा "पृथिवी, पृथिवी, पृथ्वी" इत्यमर<sup>१</sup>। परन्तु अमर-कोष में 'पृथिवी' (कण्ठ्य स्वर युक्त) शब्द ही नहीं है। अतः यह अर्थ चिन्त्य है। 'पृथिवी' वैदिक, लौकिक वाङ्मय में अनुपलब्ध है, बोल चाल में सम्भवतः प्रयुक्त रहा हो, तथा इसी कारण कोषों में इस वचनों का भी सङ्कलन कर लिया गया हो। बहुत से शिथिल लोग तब आज भी 'पृथिवी' का उच्चारण 'प्रथिवी' करते हैं।

अर्थात् इस शब्द में 'इ' की स्वर भक्ति के समान 'अ' की स्वर भक्ति भी प्रचलित थी। यह मतव्य उज्ज्वल दत्त को भी स्वीकार है<sup>१</sup>।

१०८ पृष्ठ < √ प्रथ गृत्तमद<sup>२</sup> और एव याम रुद्र आग्नेय<sup>३</sup> ने 'पृथु' की व्युत्पत्ति √ प्रथ से भाव में अभिप्रेत है इस बात का सङ्केत किया है। यास्क ने भी इसे √ प्रथ की सम्प्रसारण वाली प्रकृति से निष्पन्न बताया है तथा कहा है कि √ प्रथ (रेफवान्) की अपेक्षा √ पृथ (सम्प्रसारण वाला) रूप कम गम्भीर में उपलब्ध होता है<sup>४</sup>। उणादि वार भी इसे √ प्रथ से सम्प्रसारण होने पर निष्पन्न मानते हैं<sup>५</sup>।

१०९ पृष्ठ < √ प्रथ नो घस गीतम ने 'पृष्ठ' और 'प्रुपित' शब्द के युग पत्रप्रयोग<sup>६</sup> से इन की प्रकृति की समानता का संकेत कदाचित् किया है। यास्क इस √ पृथ से मानते हैं कि पीठ अङ्गो से छुई हुई होती है<sup>७</sup>। शाकटायन ने इस निपातन सिद्ध बताया है। टीकाभो म इसकी प्रकृति √ पृथ (सेवन) दी है<sup>८</sup>।

११० प्र तर < √ त इस गम्भीर में 'प्र' उपसर्ग प्रकृति है<sup>९</sup> तथा 'तर' अग प्रत्यय है<sup>१०</sup>। काम देव गीतम, एव कुल्मस बहिय क्षलूयि<sup>११</sup> ने और बंधु गोपायन न

१ 'पयिषी' की सिद्धि के लिये कुछ ध्याकरण उणादि सूत्र १४८ (द्र पृष्ठ ६१, टि १३ में उद्धृत) में पयिन् के स्थान पर 'पयन् पाठ मानते हैं। सिद्धांत कौमुदी पयि नयेके—पृथिवी। पृथिवी पृथिवी पृथ्वी इति शाब्बाण्य। 'पयिन्' के स्थान पर पयन् पाठ की सूचना सब से पहले सम्भवत उज्ज्वलदत्त ने दी है। द्र शाब्बाण्य द्रुम' में 'पयिषी' की व्युत्पत्ति।

२ स देवो वेवाप्रति वप्रये पृथु। २।२४।१॥

३ द्र पृष्ठ ६१, टि = म उद्धृत ५।८७।८।

४ द्र निरुक्तम २।२ तद् यत्र स्वरान्न तराऽतस्याऽतर्धात्तु भवति, तद् द्वि प्रकृतीनां स्थानमिति प्र दिगति। तत्र सिद्धावामन्य पद्यमानावामितरथापि विवाद विवेत्। तत्राप्येकेऽस्य निष्पत्तयो भवति। तद् यत्र तद् उत्तिर् पृथु, पृथु, पृथत कृणाद्यम् इति। इस प्रपट्ट की व्याख्या के लिय निरुक्त के पाँच अध्याय, पृष्ठ १६६ ७ तथा डा मधु-वर अनन्त मेहले की 'निरुक्त नोटस भाग १ पृष्ठ ३८, दलित।

५ उणादि सूत्र २८ प्रथि अदि अस्त्रां सम्प्रसारण, स लोपश्च।

६ अत्यो न पृष्ठ प्रवितस्य रोधते, दिवो न सानु स्तमय न विप्रदत् ॥ १।५८।२॥

७ द्र निरुक्तम ४।३ पृष्ठ स्पृगते स स्पृष्टमङ्ग।

८ उणादि सूत्र १६६ (२।१२) तिष पृष्ठ गृथ सूय प्राया। द्र तत्त्व बोधिनी तिज निगाने (१।६५१) पृथु सेवने (१।६६२) पु पुरोयोत्सर्गे (६। ११५) पु मिथल (२।२३), प्रुष्ट गतो (१।६३८)—एत यत्र प्रत्यया ता नि पात्य ते।

९ उपसर्ग की परिभाषा पर नई दृष्टि में विचार क नियम निरुक्त मोमामा, पृष्ठ १५० १६२।

१० द्र अष्टाध्यायी ५।१।५७ द्वि यजन विमर्गो न पते तरबीयमुनी।

११ प्रसायने प्र तर न धायु ॥ ५।१२।६, १०।२६।८ ॥

इस का<sup>१</sup> विग्रह प्र+√त से कर के इस प्रत्यय की व्युत्पत्ति का सङ्केत दिया है। डा सिद्धेश्वर वर्मा आदि आधुनिक भाषा चिन्तक प्रत्ययों को अव्युत्पन्न मानते हैं तथा उनकी व्युत्पत्ति की बात करना दोषावह समझते हैं<sup>२</sup>, पर वस्तुतः प्रत्यय भी कभी व्युत्पन्न प्रातिपदिक थे, पर कानातर मे समस्त होते-होते पूर्वाङ्ग के भागे विचुल गीए पड गये। वाम देव आदि ऋषि भाषा के विकास की इस स्थिति स परिचित हैं तथा यही कारण है कि उहान तर' की व्युत्पत्ति दी है<sup>३</sup>।

१११ प्रयस < प्र+√यस् मो घस गौतम न इस व्युत्पत्ति का सङ्केत किया है<sup>४</sup>। प्रय की दृष्टि स यह शब्द सम्भवतः 'हविष्' से मिलता है और प्रन' प्रय मे रुढ हो गया है।

११२ प्र हित < प्र+√हि यह शब्द 'प्र+हित का समास है यह तो प्रापातत स्पष्ट है, परन्तु हित' की व्युत्पत्ति क्या है, यह स्पष्ट नहीं है। यह √घा से निष्पन्न चित का हित' के रूप मे विकास भी हो सकता है<sup>५</sup>, तथा √गत्ययक् √हि<sup>६</sup> से निष्पन्न भी। न मेघ आङ्गिरस ने दूसरी व्युत्पत्ति दी है<sup>७</sup>।

११३ भक्त < √भज (प्राप्ति, सेवन) विश्वामित्र गायिन ने 'धायु' की √घा से और 'भक्न की √भज से 'सेवन प्रय में व्युत्पत्ति का सङ्केत किया है<sup>८</sup>। यहा प्रकृति के ज का विपरिणाम् न > क में हुमा है। ऋषि ने इस अन्तर को भली भाँति पकड लिया है। अतः यह शब्दार्थोभय निवचन है।

११४ भग < √भज (बाँटना) वसिष्ठ भ्राता वरुणि ने देव विशेष के गुणा मि घान 'भग' की व्युत्पत्ति 'बाँटना, देना' भय वाली √भज् से सूचित की है<sup>९</sup>। प्रति-क्षत्र और प्रति प्रभ आनेया ने इस प्रय को स्पष्ट करने के लिये √भज के साथ 'वि' का प्रयोग किया है<sup>१०</sup>। यास्क ने योनि वाचक भग की व्युत्पत्ति √भज<sup>११</sup> से

१ प्र तार्पायु प्र तर मधीम । १०।५६।१ ॥

२ द एटिमालाजीज ग्राफ यास्क पृष्ठ ६४।

३ इस विषय मे अधिन के लिये द 'निरुक्त मीमांसा' पृष्ठ ४२५।

४ अस्मा इव प्रय इव प्रयसि । १।६।१२ ॥

५ पाणिनि ने इस विकास की सूचना √घा को सीधे हि आदेश कर के दी है। ॥ घटाघ्यामी ७।४।४२ दधातेहि ।

६ द माधवीय धातु-वृत्ति ५।११ हि गनो, वृद्धो च । 'गति' से 'प्ररणा' अथ अभिप्रेत प्रतीत होता है। द निरुक्तम् ६।२२ ।

७ इत ऊती यो अ जरम्, ॥ हेतारम-प्र हितम् । ८।६६।७ ॥

८ यस्म धायुरदधा मर्त्याया मरुत बिद् भजते मेह्य स । ३।३०।७ ॥

९ भा प्रशिक्ष्य भयमानस्तुरङ्गिषद् राजा बिद् भग मक्षीत्याह ॥ ७।४१।२ ॥

१० भगो वि भक्ता गवताप्वसाऽऽगमत् । १।४६।६ ॥ तथा

देव यो अथ सवितारमेधे भग च ररन वि भजतमायो । ४६।१ ॥

११ द निरुक्तम् १।७ भगो भजते । द निरुक्तम् की अ प्रामाणिकता पर

दी है। यह  $\sqrt{\text{भज्}}$  'सेवन' अथ वाली है। पाणिनीय तन्त्र में 'भग' को  $\sqrt{\text{भज्}}$  स निष्पादित किया गया है, पर  $\sqrt{\text{भज}}$  का अर्थ स्पष्ट नहीं है<sup>१</sup>।

श्रुग्वेदीय निवचनाना मे धातु का अर्थ 'बाँटना' तथा प्रत्यय का अर्थ 'वृत्' स्पष्ट है। सम्भवतः वधाकरणो की ध्यास्या स्त्री योनि परव 'भग' की व्युत्पत्ति प्रस्तुत करती है। यास्क ने 'भग' के तीन निवचन किये हैं (१) 'भद्र' का पर्याय, अर्थात् 'श्रेष्ठ, शान्ति योग्य, सेवन करने योग्य वस्तु' 'भग' है<sup>२</sup>। इस अर्थ में यह 'सेवन' अथवा 'प्राप्ति' अर्थ वाली  $\sqrt{\text{भज्}}$  से है। (२) स्त्री-योनि 'भग' है<sup>३</sup>। यहाँ भी 'सेवन' अर्थ स्पष्ट है। (३) हिंसा इस अर्थ में यास्क ने व्युत्पत्ति दी तो नहीं है पर वह 'बाँटना' अर्थ वाली  $\sqrt{\text{भज्}}$  से निकाली जा सकती है<sup>४</sup>।

११५ भाग <  $\sqrt{\text{भज}}$  (बाँटना) कर्त्तृवत् दध-तमम श्रीगिज<sup>५</sup> विद्वामित्र गाथिन<sup>६</sup> श्रीर हविर्घान आङ्गि<sup>७</sup> ने हिंसा अर्थ वाले 'भाग' की व्युत्पत्ति वि +  $\sqrt{\text{भज्}}$  (बाँटना)<sup>८</sup> से की है। कर्त्तृवत् के पिता दीध-तमस् श्रीचध्य<sup>९</sup> ने सायण के अनुसार शेष अर्थ 'अथवा फल' अर्थ वाले 'भाग' के साथ भा +  $\sqrt{\text{भज्}}$  का प्रयोग 'समीप करना' अथवा 'स्थापित करना' अर्थ में किया है<sup>१०</sup>।

निवृत्त के पाँच अध्याय पृष्ठ १०१, देखें। ३।१६ स्त्री भगस्तथा स्य द भजते । ४।१० भद्र भगेन ध्यास्यात्—मजनीय भूतानाम्।

१ इ सिद्धांत कीमुदी, उत्तर कृत प्रकरण सूत्र-सङ्ख्या ३३०४, पृष्ठ ३०१ (मो व दास संस्करण) खनो घ ख (पृष्ठ ३।३।१२५) पिरररररररर 'अ-योऽप्ययम्।' इति ज्ञापनायम्। तेन भजेभय । इस पर बाल मनो रमा भज्यत इति कमलि घ ।

२ ॥ निवृत्तम् ४।१० ।

३ ॥ वही ३।१६ ।

४ ॥ निवृत्तम् ६।११ 'भद्रा भगस्य' (ऋ १०।१५।१) = भद्रा

भगस्य = भाग धेयस्य ।

५ यद्य भाग वि भजति भुम्भ चो, देवि, मयत्रा सु जाते । १।१२३।३ ॥

६ धातु वि भवता भाग विपलेष धाजम् ॥ ३।४६।४ ॥

७ रत्ना घ यद्रि भजति स्वधावो भाग नो भद्र वसुवत् धीतात् ॥ १०।११।५ ॥

८  $\sqrt{\text{भज}}$  मूलतः बाँटना अर्थ में रही प्रतीत होती है। सेवन अथवा पाना उस के बाद के अर्थ हैं। इन प्रयोगों के समय अकेली  $\sqrt{\text{भज}}$  स बाँटना अर्थ की प्रतीति दुरुह हो गई प्रतीति होती है। परिणामतः इसके साथ 'वि' का प्रयोग किया जाने लगा। पर वृत्त काल में तो पहले से प्रचलित 'भा' अर्थात् 'भा' के छोड़ कर अकेली  $\sqrt{\text{भज}}$  से बाँटना अर्थ की प्रतीति बंद ही हो गई है।

९ वेधा अजि-वर्त्तिप्रयस्य धायमृतस्य भागे यजमानमा भजत् ॥ १।१५।५ ॥

१० इ ऋ भा (१।१५।५) ऋतस्य = यतस्य भागे हुत गेय-होमे समज

पानमा भजत् = भजति, समीपयतीत्यर्थः । यद्वा ऋतस्य = यजतस्य भागे फले यज

मानमा भजत् = स्वाभिरत्वेन स्थापयति ।

११६ भानु < √भा प्रस्वप्न बाण्व<sup>१</sup>, वसिष्ठ मैत्रा-वरुणि<sup>२</sup>, त्रित आप्त्य<sup>३</sup> और वत्स प्रि भाल-दन<sup>४</sup> ने 'भानु' को √भा के वरण के रूप में प्रयुक्त किया है। मास्क ने भी इसे √भा की पर्याय √धञ्ज के करण के रूप में प्रयुक्त किया है<sup>५</sup>। टीका-कारों के अनुसार शाकटायन इसे √भा से वनय में मानते हैं<sup>६</sup>।

११७ भास < √भा वसिष्ठ मैत्रा-वरुणि<sup>७</sup> और त्रित आप्त्य<sup>८</sup> ने 'भास' का प्रयोग 'चमकना' अथवा 'भा' के वरण के रूप में 'भानु' के समान कर के इस व्युत्पत्ति का सङ्केत किया है। पाणिनि ने इसे √भास् स वनय में व्युत्पादित किया है<sup>९</sup>।

ऋग्वेद-संहिता में √भाम का प्रयोग उपलब्ध नहीं है। अथ संहिताओं में यह याजुष परम्परा में एक प्रयोग<sup>१०</sup> में 'भासत्' (< √भास √सत्) के रूप में एक ही बार उपलब्ध होती है। बाद के साहित्य में इस का प्रयोग ब्राह्मणों में तनिक अधिक हो गया है (१) 'भासत्'<sup>११</sup> और (२) 'भासक'<sup>१२</sup> वृत्त और मिलते हैं। उपनिषद् युग में तो इस के आख्यात रूप (पर कालीन उपनिषदों में) और कुछ और वृद्धत प्रयोग भी मिलते हैं। इस आधार पर यह निष्कर्ष निकालना असम्भव नहीं होगा (१) ऋग्वेद काल में √भा का ही प्रयोग होता था। (२) इस से निष्पन्न सङ्घात पद 'भास' ऋग्वेद काल में प्रयुक्त होता था। (३) याजुष काल में यह 'भास' नाम-पद √भास के रूप में व्यवहृत होना लगा तथा लिखित भाषा में इससे निष्पन्न एक कृद १ शब्द मिलता है। (४) ब्राह्मण युग में इस के कुछ और प्रयोग वृद्धत

१ उप, भा माहि भानुना चन्द्रेण दुहितृदिव । १।४८।६ ॥

२ अस्मे धेष्ठेभिर्मानुभिर्वि माह्युयो, वेवि प्र तिरत्ती न आयु । ७।७७।५ ॥

३ यो भानुभिर्वि मावा वि मात्यग्निर्वेवेमिश्न तावाऽजस्र । १०।६।२ ॥

४ सद्यो जज्ञानो वि हीमिदो अश्वद् आ रोदसो भानुना भात्यत्त ॥ १०।४५।४ ॥

५ इ निरुक्तम् १२।७ उपस पूर्व अर्धे रजसो भानुमञ्जते । (ऋ १। ६२।१) = समञ्जते भानुना ।

६ ॥ उणादि सूत्र ३।२ (३।३२) दा भाभ्या नु । सिद्धांत कौमुदी दानुर्वता । दानु' धूँक कत्रय में बताया है, अतः 'भानु' भी कत्रयक ही अभिप्रेत होना चाहिये ।

७ पुषा हरि शुचिरा भाति भासा । ७।१०।१ ॥

८ चिकिद् वि भाति भासा बृहता । १०।३।१ ॥

९ इ अष्टा ३।२।१७७ आज भास धुवि धुतोर्जि पृजु पावस्तुव विषप ।

१० इ माध्यदिन म १२।३२, बाण्व स १३।३।३, तत्तिरीय-स ४।२।३।१, मन्वायणी स २।७।१० काठक स १०।१० कपिष्ठल कठ-स २।११ बृहद्भिर्मानु मिर्मासत् (अग्नि) ।

११ इ स वा १।२।४।३ ऐ वा ४।१६, ताण्ड्य आ ४।६।१५ ६।६।८, १४।११।१२, १४, आप्येय आ १।४७० । १२ आप्येय आ १।४७० ।



रूप में ही होते रहे । (५) उपनिषदों की रचना के निचले काल स्तर पर इसके व्याख्यात रूप भी प्रयुक्त होने लगे । (६) वेदाङ्गों के समय इस का व्याख्यात के रूप में प्रयोग खुल कर होने लगा था ।

११८ मण्डूक < √मद् वसिष्ठ मन्त्र-वरणि ने √मद् (मानन्दित होना) के साथ कर्ता के रूप में 'मण्डूक' का प्रयोग कर के इस व्युत्पत्ति का सङ्केत किया है<sup>१</sup> । यास्क ने मण्डूक की पाँच व्युत्पत्तियाँ दी हैं इन में से एक यह भी है । उ होने वैयाकरणों के मत में इसे √मण्ड से 'युत्पन्न' बताया है<sup>२</sup> । शाकटायन ने यह 'युत्पत्ति' की है । टीकाभा में इस √मण्ड को भूषा अर्थ में माना है<sup>३</sup> ।

११९ मधु < √मद् दयावाञ्छा प्राप्तेय ने मधु की 'युत्पत्ति' का सङ्केत इस के साथ √मद् से निष्पन्न मंदिर विनोपण का प्रयोग कर के किया है<sup>४</sup> । यास्क ने भी इसे √मद् से ही निष्पन्न बताया है<sup>५</sup> । शाकटायन इसे √मद् से निष्पन्न मानत है<sup>६</sup> । यह 'युत्पत्ति' सम्भवतः मधु मन को अच्छा लगता है इसलिये दी है ।

१ अथ अयमनु गणस्येनोरवा प्र सत्तं यदमदिवाताम् ।

मण्डूको यदमि वृष्ट कनिष्कम् । ७।१०३।४ ॥

२ इ निष्पन्नम् ६।५ मण्डूका (१) मण्डूका मन्त्रनात् । (२) मन्त्रेर्वा भोवति-कमल । (३) मन्त्रेर्वा वृष्टि-कमल । (४) मण्डयतेरिति धातुकरण । (५) मण्ड एवाभौक इति वा ।

३ इ उणादि सूत्र ४८२ (४।४२) शलि मण्डिम्यामूकल । तत्त्व बोधिनी तथा बाल मनो रमा गल मती (मा या वृ १।८२८), मडि भूषायाँ, ह्ये व (मा या वृ १०।५०) । तत्त्व शोभिनी म चौरात्रिक को बत कर भी भोवान्ति (मा या वृ १।२६६ वृत्त अर्थ) में व्याख्या की है । मण्डिते सर्वा सवयमिति मण्डूको भेद । सिद्धांत कोमुनी म आत्मने पत्नी √मण्ड का अर्थ नहीं बताया है । सरस्वती जी ने 'वृत्त अर्थ' बता कर भूषा अर्थ में आग परस्म पत्नी को बताया है । मडि च । पृथक्पाठादय चेष्टने पीत्वाह । 'मडि भूषामाम्' (सिद्धांत-कोमुनी इत्यपे परस्म पदियु । मा उनकी यह (आत्मने पत्नी √मण्ड से व्याख्या) पूर्वापर विरोध के कारण बि-य है । मायग ने 'मण्डूक' की युत्पत्ति वेदनायक भोवान्ति आत्मने-पत्नी म ही दी है । मडि च (मा या वृ १।२६६) । मण्डूक शलि मण्डिम्यामूकल' (उणादि सूत्र ४८२) इ-मूकल । मडि भूषायाँ ह्ये व (१०।५३) । मण्डयति । मण्डत इति वेदन गवि ।

● मा या अ व चोमन्त्रा-मन्त्रण म गिरि' प्रक की अनुदि प्रतीत होनी है । गल अतः सवरण्य (१।४८६) पर टीक पाठ धृत है ।

४ य ई महत् अनुमि विबन्तो मंदिर मधु । अत्र धवाति दधिरे । १।६१।११ ॥

५ इ निष्पन्नम् ४।८ मधु लोमम् इयोपनिमम्, माद्यते । इदमपीतरम् मध्वनमादय ।

६ इ उणादि-सूत्र १८ कति-पाटि नमि पनि तनां गुह पटिना पत-व ।

‘मधु’ के दो अर्थ हैं (१) सहृद और (२) शराव । यास्क<sup>१</sup> और शाकटायन<sup>२</sup> दोनों ‘मास’ का  $\sqrt{\text{मन्}}$  से निष्पन्नित किया है कि इस में मन लगता है, यह मन को अच्छा लगता है<sup>३</sup> । शराव और मास का माय अधिक रचि कर होता है । अतः लगता है कि शाकटायन ने मधु  $< \sqrt{\text{मन्}}$  व्युत्पत्ति शराव अर्थ वाले ‘मधु’ की ही की है । यो मीठा होने के कारण ‘सहृद’ भी अच्छा लगता है, अतः ‘सहृद’ अर्थ वाला ‘मधु’ भी  $\sqrt{\text{मन्}}$  से अभिप्रेत हो सकता है । ऋग्वेद में ‘मधु’ ‘सोम’ के प्रसङ्ग में बहुधा आया है । सोम मादक होता है<sup>४</sup> । अतः ऋग्वेदीय ‘मधु’ शब्द ‘नशा’ अर्थ वाली  $\sqrt{\text{मद्}}$  से अभिप्रेत लगता है ।

१२० मधु दोष  $< \sqrt{\text{दुह्}}$  वसिष्ठ मैत्रा-वहणि ने ‘मधु-दोष’ के साथ  $\sqrt{\text{दुह्}}$  का प्रयोग कर के इस शब्द के उद्गार पद की व्युत्पत्ति बताई है<sup>५</sup> ।

१२१ मनीषिन्  $< \text{मनस}$  विश्व कमन् भौवन ने मनीषिन् के साथ ‘मनस’ के प्रयोग से इस के पूर्वांश की व्याख्या की है<sup>६</sup> । बँयाकरण भी इसी व्युत्पत्ति को मानते हैं<sup>७</sup> । यास्क ने इस शब्द की व्याख्या ‘मनस + ईषा’ से की है<sup>८</sup> । श्यावाश्व को ‘मनस  $> \text{मन्} > \text{मन्} + \text{ईषा}$  व्युत्पत्ति अभिप्रेत है, यह स्पष्ट है ।

१२२ मनुष्य  $< \sqrt{\text{मन्}}$  जुग घानाव ने मनुष्यों के कतत्त्व में  $\sqrt{\text{मन्}}$  के प्रयोग से इस व्युत्पत्ति का सङ्केत किया है<sup>९</sup> । यास्क ने ‘मनुष्य’ के चार निवचन दिये हैं<sup>१०</sup> । उनमें से प्रथम में इस शब्द के पूर्वांश ‘मन्’ की व्याख्या  $\sqrt{\text{मन्}}$  से और उत्तरार्ध ‘उष्य’ की व्याख्या  $\sqrt{\text{सीव}}$  से की है । पाणिनि ने इनमें से तीसरे निवचन को दिया है<sup>११</sup> । ‘मनु’ का  $\sqrt{\text{मन्}}$  से सम्बन्ध मनु ववस्वत<sup>१२</sup> ने  $\sqrt{\text{मन्}}$  से निष्पन्न

सिद्धान्त कीमुदी अथत इति मधु ।

१ इ निरुक्तम् ४।३ मांस = (१) मानन वा । (२) मानस वा । (३) मनोऽस्मिन्स्वीदतीति वा । २ इ उणादि सूत्र ३४४ (३।६४) मनेर्दोषश्च ।

३ इस पर विशेष के लिये इ निरुक्त के पाँच अध्याय पृष्ठ ४३५ ।

४ इ (महतो) मदे सोमस्य रष्यानि चकिरे ॥ १।८५।१० ॥

५ तिन्नो वाच प्रथव ऋषोतिरया, या एतद् दुह्ने मधु दोषमूष । ७।१०।११॥

६ मनीषिणी मनसा पृच्छतेतु तद् यदप्यतिष्ठद्भुवनानि धारयन् । १०।८१।४।

७ इ सिद्धान्त कीमुदी अथतः प्रकरण पृष्ठ ८२ एक ध्वादिपु पर ह्य वाच्यम् । मनीषा । तथा काशिका ६।१।६४ में वातिक ।

८ इ निरुक्तम् २।२५ मनीषया = मनस ईषया ।

९ पिपतुं मा तद् अतस्य प्र वाघन देवानां यमनुष्या अममहि । १०।३५।८।

१० इ निरुक्तम् ३।७ मनुष्या कस्मात् ? (१) भत्वा कर्मणि सीधति ।

(२) मनस्यमानेन सृष्टा । मनस्यति पुनमनस्वी भावे । (३) मनोरपत्यम् । (४) मनुषो वा । इस सन्दर्भ की व्याख्या के लिये इ निरुक्त के पाँच अध्याय, पृष्ठ ३०१ ।

११ इ अष्टाध्यायी ४।१।१६१ मनोर्जातावप्यती, पुंस्त्व ।

१२ देवास्तो हि ऋषा मनसे स मयव । ८।२७।१४ ॥



ख्यात के रूप में प्रयुक्त नहीं होती, वह तो 'राशि', 'रश्मि' और 'राना' शब्दों में ही सीमित है।

१२४ राष्ट्र < √राज वसिष्ठ मैत्रा वरुणि<sup>१</sup> ने √राज से निष्पन्न 'राजन्'<sup>२</sup> के साथ 'राष्ट्र' का उसके कम के रूप में प्रयोग करके इस व्युत्पत्ति को सूचित किया है। इस प्रयोग में तालव्य स्पर्श (ज) का मूषण्य ऊष्म (य) विपरिणाम स्पष्ट विदित है। इस ध्वनि विकार का एक अर्थ उदाहरण ऋजिष्वन् भारद्वाज ने 'यष्ट — याज' के रूप में दिया है<sup>३</sup>।

१२५ √वज < √जज्ञ प्र तदन दक्षो दासि ने इन दोनों प्रकृतियों के द्वन्द्व प्रयोग से इन के सम्बन्ध को स्पष्ट करने के अतिरिक्त सम्प्रसारण की प्रवृत्ति में अपना परिचय भी सूचित किया है<sup>४</sup>।

१२६ √वाजि < वाज मधु च्छदस् वैश्वामित्र ने 'वाजिन' नाम-पद और 'वाजयाम' आख्यात-पद की प्रकृति के रूप में 'वाजेपु' नाम पद का प्रयोग किया है<sup>५</sup>। अर्थात् 'वाज' नाम से निष्पन्न √वाजि नाम धातु का प्रयोग मधु च्छदस् ने किया है। उनके समय यह सु विदित था कि नाम पद भी धातु के रूप में प्रयुक्त होते हैं। कुत्तम आङ्गिरस<sup>६</sup> और विश्वामित्र गायिन<sup>७</sup> ने भी इस नाम धातु का प्रयोग 'वाज' से महत्व में निष्पन्न 'वाजिन्' के साथ किया है। इस प्रकार का एक अर्थ उदाहरण स वनन आङ्गिरस का 'मन्त्र' नाम के साथ 'मन्त्रये' नाम धातु का प्रयोग है। 'मन्त्र' स्वयं √मन् से 'युत्पन्न' के रूप में गत है, यह भी उन्होंने 'मन्त्र' और 'मनस' के युगपत् प्रयोग से सूचित किया है<sup>८</sup>। √मन् से मनस की व्युत्पत्ति में भरद्वाज बाहस्पत्य<sup>९</sup> और वसिष्ठ मैत्रा-वरुणि<sup>१०</sup> ऋषियों का इन दोनों का युगपत् प्रयोग

१ राजा राष्ट्रानाम् ॥ ७।३४।११ ॥ सातवलेकर सस्वरण में मूल में तो यह पाठ सही ही छपा है, पर मन्त्रा की वरुणानुक्रम सूची (पृष्ठ ६२६) में 'राष्ट्राणा' (नकार के स्थान में ख कार) गलती से छप गया लगता है।

२ भरद्वाज बाहस्पत्य ने 'राजन्' का अर्थ निवचन किया है ईक्षे हि वत्स समयस्य राजन् (६।१६।१०)। यहाँ 'राजन्' के कर्तृत्व में प्रयुक्त √ईक्ष शासनायक है तथा √राज की पर्याय है निषण्डु (२।२१।४) में √राज ऐश्वर्याय मे दी है।

३ न होयतामति-याजस्य यष्टा ॥ ६।१२।१॥

४ तदुशति विश्व इमे सखायस तदहं वरिम पवमान सोम ॥ ६।६६।४ ॥

५ त त्वा वाजेपु वाजिन वाजयाम गत क्रतो ॥ १।४।६ ॥

६ नरा शस वाजिन वाजयन्तिह ॥ १।१०६।४ ॥

७ इन्द्र ऋभुमिर्वाजिमिर्वाजयन्तिह स्तोम जरितुरुष याहि यन्तिपम् ॥ ३।६०।७॥

८ समानो मन्त्र समिति समानी, समान मन सह चित्तमथम्।

समान मन्त्रमभि मन्त्रये य समानेन वो ह्यिषा जोहवीमि ॥ १०।१६१।३॥

९ वि मे मनश्चरति दूर प्रापी किं सिद्धस्यामि ? ऋभु नू जनिष्ये ॥ ६।६।३॥

१० नहि प्रभायारण सु-शेवीऽयोदयो मनसा कन्तवा उ । ७

गान्त है ।

१२७ वाम < √ वन् भरद्वाज वाटस्पत्य ऋषि १ इय व्युत्पत्ति का सङ्केत प्रकृति (√ वन्) और श्रुति (वाम) व युगपत् प्रयोग न किया है<sup>१</sup> । यहाँ यह कम न निष्पादित अभिप्रेत है । वाम की व्याख्या यास्क ने मन्त्र<sup>२</sup> √ वन् म निष्पन्न वननीय से की है । गान्ताया ने इस √ वा से बनाया है<sup>३</sup> । बि तु स्वर की दृष्टि से वदिक (घनोन्नात्) वाम घान्तायन व्युत्पत्ति (घाद्युन्नात्) वाम' न भिन्न है । अथ की दृष्टि से लौकिक वाम का विकास या ह्रस्वात्मना है वाम=वननीय (सवननीय)=गुदर=नखरातू=टेढ़ा (गौरिक) । श्रुति का बाँरा इस दृष्टि से विपरीत प्रक्रिया की घटना पर वाम व मुख पुच्छ निकट है वक्=टेढ़ा > बाँरा=टेढ़ा=नखरातू=गुदर । या यह अथ बाँरा की प्रकृति 'वक्' म ही विवक्षित हा चुका था । गान्तायन ने सम्भवत लौकिक म वाम का 'विपरीत' कुटिल टढ़ा अथ देख कर इस गत्यधर √ वा से निष्पादित किया है । या, √ वन् का अथ सम्भजन भी 'गति' ही है । अत 'न् > घा' ध्वनि विकाश व भ्रष्ट से छुट्टी पाने की भी √ वा से 'वाम' की व्युत्पत्ति बताई हो सकती है । लौकिक म वाम के पर्याय 'वक्' की व्युत्पत्ति भी उहने √ वञ्च् ('गति' पञाबी √ वज) से दी है<sup>४</sup> ।

१२८ विषवा < √ विष काशीवती घोषा न पुस्तिक विषत् और स्त्री लिङ्ग विषवा का एक साथ प्रयोग कर के<sup>५</sup> कदाचित् इन की समान घातुजता का सङ्केत किया है । श्री विश्व बंधु ने 'विषत् का अथ (विषवा) परिणयन्त किया है<sup>६</sup> । सायण न विषत् का अथ 'परिचरत् तथा विषवा का अथ अन्तिका' किया है<sup>७</sup> । घाद्युनिव विद्वांन् इसे वियोगाधिक √ विष से निष्पन्न मानते हैं<sup>८</sup> । सायण की विषवा=अपतिका व्याख्या शाक्य के पद पाठ<sup>९</sup> पर आधारित प्रतीत

१ म वत् त इन्द्र, नू तमामिहती वसीमहि वाम धोमतेमि । ६।१६।१० ॥

२ द निवृत्तम् ४।२६, ६।२२, ३१, ११।४६ ।

३ द उणादि सूत्र १३७ अति स्तु सु हृ सु धृ क्षि सु मा या वा-वदि-यक्षि नीम्यो मन् । 'न्' अनुसंध का प्रयोजन इस से निष्पन्न शब्द का घाद्युदात्त बनाना है । द प्रष्टाध्यायी ६।१।१६७ जित्त्वादिनित्यम् ।

४ द वही १७० (२।१२) स्फायित्त्वि चत्वि नकि शुमिन्म्यो एक ।

५ मुख हृक्ष, युवमश्विना नयु, युव विषत् विषवापुरुष य १।०।४०।८॥

६ द वदिक पदानुक्रम कोप १।५, पठ २८६६, टि p ।

७ द ऋ भा १०।४०।८ युवां विषत्=परिचरत् अनुध, विषवां चापतिकां वधि मती योद्धीं स्त्रिय चोदध्यय (रक्षय) ।

८ द रोय और ग्रास्मान् के जमन संस्कृत शब्द कोप ।

९ द ४।१८।१२, १०।४०।८ विषवाम् । पूना से प्रवाणित ऋग्वेद-संहिता पद सूची की उत्तर-पद सूची से तथा विश्व बंधु के कोप के १।६ में दी उत्तर पद में इस शब्द का सङ्कलन नहीं है । क्या ये लोग 'व' को उत्तर पद नहीं मानते ?

होती है। यास्क ने इसे दो पदों के समास से निष्पन्न मान कर पूर्व-पद में 'वि' और उत्तर पद में (१) √धा, (२) √धु, (३) √धाव् स (चम शिरस के नाम में) निष्पन्न धव और (४) मनुष्य के पर्याय धव' में से अग्र-तम का विकल्प दिया है<sup>१</sup>।

ग्रीक आद्युदात्त 'विथम्रोस' (Vithros) सम्भवतः इस (वि धवा) व्युत्पत्ति पर ही आधारित है तथा इसी कारण इस धाव् म बहु-ग्रीहि का स्वर—'वि उणात्<sup>२</sup>—ग्रीक् म है। वैदिक विधवा' में बहु-ग्रीहि का स्वर नहीं है, यह एक ध्यान देने योग्य सत्य है।

'धव' का स्वतन्त्र रूप से प्रयोग ऋग्वेद में और यजुर्वेद की सम्पूची परम्परा में कतई नहीं हुआ है। दीर्घ-तमस ग्रीचप्य<sup>३</sup> और वि मद् ए द्र<sup>४</sup> द्वारा प्रयुक्त 'धा धव' में 'धव' सम्पन्नायव् √धु स निष्पन्न पद के रूप में यौगिक अथवा उत्तर पद के रूप में आया है। परन्तु यह भी विधवा म कल्पित 'धव' स भिन्न है 'विधवा' का 'धव' आद्युदात्त है और यह 'व' अतोदात्त माना जाता है<sup>५</sup>। इस अन्तोदात्त 'धव' का स्वतन्त्र रूप से प्रयोग एक वृक्ष विशेष के लिये आश्विन परम्परा में हुआ है<sup>६</sup>। श्री विश्व बन्धु के मत में<sup>७</sup> पति का पर्याय 'धव' (स्वर पात नहीं है) पण्पलाद-संहिता<sup>८</sup> में आया है।

इस विवरण से विदित होता है कि ऋग्वेद काल में तो 'धव' की पर्यायकता अभी प्रमाणापेक्षी है ही, पण्पलाद संहिता के एक स्थल को एकीय मत में छोड़ कर

पूना संस्करण में तो संहिता माग तथा पद सूची में इन में धव ग्रह मुद्रित भी है।

१ इ निरुक्तम् ३।१५ विधवा (१) वि धातृका भवति । (२) वि धवनाद् वा । (३) वि धावनाद्वाति चम शिरा । (४) अपि वा धव' इति मनुष्य नाम । तद्धि-योगाद् वि धवा । व्याख्याय 'निरुक्त' के पाँच अर्थों पर पृष्ठ ३६७ ३६८ में देखें।

२ इ अष्टाध्यायी ६।२।१ बहु-ग्रीहो प्रहृत्या पूर्व पठम् ।

३ यज्ञीमनु ॥ दिवो मध्य आ धवे गुहा सत मातरि इवा भयायति ॥१।१४।३॥

४ असीमहि वा वयमस्माक देव, पुण्य ।

मतीना च साधन, विप्राणा चाधवम् ॥ १०।२६४ ॥

५ इ विश्व बन्धु वैदिक पदानुक्रम कोष १।२, पृष्ठ ६२४, टि ३ कतरि अच प्रत्यय । अच प्रत्यय के चित होने से 'धव' अतोदात्त हो जाता है। इ अष्टा ६।१।१६६ चित ।

६ इ गौतम शास्त्रा ५।५।५, २०।१३।१४<sup>७</sup> । पण्पलाद शास्त्रा ६।४।४ ६।६।११ । वैदिक-पदानुक्रम कोष १।३, पृष्ठ १७०१, स्तम्भ २, में दूसरे मात्र की सङ्ख्या १७ दी है। यह असुख है तथा इस का उल्लेख शुद्धि पत्र में भी रह गया है। इन के द्वारा सम्पादित अथर्व संहिता में भी यह मात्र चोन्हा ही है ।

७ इ वैदिक पदानुक्रम कोष १।३, पृष्ठ १७०१, स्तम्भ २, टि १ ।

८ इ २०।६१।७ ।

गेय मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेद राशि में भी यह इस अर्थ में प्रयुक्त नहीं मिलता है। निघण्टु<sup>१</sup> में 'भनुष्य' के पर्यायो में धवा<sup>२</sup> का समाप्नान बहुत कर के (१) पप्प का-संहिता<sup>३</sup> के आधार पर, या (२) शाक्य के पठ पाठ के आधार पर ही हुआ लगता है। लौकिक प्रयोजनार्थ के द्वारा 'धव का पति' अर्थ में प्रयोग सब प्रथम शाक्य के उपपुत्र पद पाठ में ही विदित है। उस के पश्चात् यह निघण्टु<sup>३</sup> और निरुक्त<sup>४</sup> में यास्क के द्वारा एवं ऋग्वेद और लिखित के द्वारा अपने धर्म सूत्र<sup>५</sup> में ही किया मिलता है। पुराणों तथा पञ्च-तन्त्र आदि में इसका पर्याप्त प्रयोग हुआ है।

१२६ विप्र < √विप्र भरद्वाज बाहस्पत्य ने विप्र धीर 'वपिष्ठ' के युग पद प्रयोग से इस शब्द का सम्बन्ध √विप्र से चोतित किया है<sup>६</sup>। धाम-देव गीतम ने 'वेपम्' का<sup>७</sup> और भरद्वाज बाहस्पत्य ने ही 'वेपी' का<sup>८</sup> प्रयोग 'स्तुति' के सन्दर्भ में किया है। प्रकृत मन्त्र में भी यह 'स्तोत्र' के पर्याय 'रेम' के साथ आया है। अतः यह √विप्र 'स्तुति' अर्थ से सम्बद्ध है अतः ही यह अर्थ साक्षात्कार हो √विप्र = हिलाना = देवता की स्तुति से इवित करना = अनुकम्पित करना। 'विप्र' √विप्र + र से, 'वेपस्' √विप् + अस् से, 'वपिष्ठ' √विप् + इष्ठ से निष्पन्न हैं। क्या करण 'विप्र' को √वप् (बोना) से मानते हैं<sup>९</sup>।

१३० वीर्य < वि + √रह काशीवती घोषा ने इस कृदन्त शब्द की व्युत्पत्ति इस का विग्रह कर के बताई है<sup>१०</sup>। इन के बाबा दीप-तमस औचक्य ने इस शब्द के उत्तर पद 'रह' की व्युत्पत्ति √रह के प्रयोग से स्पष्ट की है<sup>११</sup>। यहाँ निम्न बातें स्पष्ट हैं (१) 'वि' को धीप हो गया है। (२) यह योग कथ्यक है। (३) 'ह' का विपरिणाम 'ध' में हो गया है। अतः ये दोनों ध्वनियाँ परस्पर सम्बद्ध हैं, यह इन लोगों को विदित है। निरुक्त<sup>१२</sup> और व्याकरण<sup>१३</sup> लोग भी यही व्युत्पत्ति

१ इ २।३।३।

२ इ २०।६।७।

३ इ २।३।३।

४ = ३।१५।

५ इ ११६।६३।

६ वेपिष्ठो मङ्गिरसा यद्विप्रो मधु ऋषी भनति रेम इष्टो ॥ ६।११।६॥

७ वि पाह्यन्ते गृणन्ते मनोषां ध्रुवेषां भुवि जातस्तवान् ॥ ४।११।२॥

८ पृच्छतो वयं हस्तं रथे-प्यामिदं वेपी यक्ष्वरी यस्य भुवी ॥ ६।२२।५॥

९ इ उणादि-सूत्र १८६(२।३६) ऋग्वेद-आश्रय-विप्र कुम्भ-पुत्र-सुर-

सुर मन्त्रो मेरु मेरु शुक्र शुक्ल गौर वरेरा माला । पानेन्द्र सरस्वती, वेमुद्वे दीक्षित ने इसे रुवप् बीज सन्ताने (सिद्धांत-कोमुदी, भा १००३) से निष्पादित बताया है।

१० अनिष्ट घोषा पतयत्कनीनको वि पाह्यो रथो दसना अनु १०।५०।६॥

११ प्र यत्पितु परमान्नीयते पर्याप्सु धो वो वधो दसु रोहति ॥ १।१४।४॥

१२ इ निरुक्तम् ६।३ धी रथ औषधयो भवति, वि रोहणात् ।

१३ इ काणिका ७।३।५३ (१) यप्रोषो (२) वो रुदित्यय (१) यक्पुत्रस्य रहे पचाद्यवि (२) वि पुत्रस्य विविपि यकारो वि धीयते । (१) यग रोहयतीति यप्रोष । (२) वि रोहयतीति वो रु ।

मानते हैं ।

धीरुष < √वि + √रुष परा शर धाकृत्य ने इस शब्द की व्युत्पत्ति √रुह के स्थान मे √रुष से मानी लगती है<sup>१</sup> । धब्द-कल्प-द्रुम कोष मे यह व्युत्पत्ति भी दी गई है<sup>२</sup> ।

१३१ वृक्ष < √वृश्च परुच्छेप दैवो दासि ने काटे जाने के कारण √वृश्च से 'वृक्ष' नाम की व्युत्पत्ति सूचित की है<sup>३</sup> । यास्क<sup>४</sup> और धाकटायन<sup>५</sup> ने भी यही व्युत्पत्ति दी है ।

१३२ वृत्र < √वृ वृत्समद<sup>६</sup>, वाम देव गीतम<sup>७</sup>, भरद्वाज बाहस्पत्य<sup>८</sup>, पवत काण्व<sup>९</sup>, अ महीयु घाङ्गिरस<sup>१०</sup> ने जल को घेरने के कारण कत्रथ मे √वृ से 'वृत्र' की व्युत्पत्ति सूचित की है । विश्वामित्र गायिन ने वृत्र' को इन्द्र-कृतृ क वरण' (रोकने) का कम बताया है<sup>११</sup> । तत्तिरीय संहिता मे वरण' के कम के रूप मे 'य लोक' बताया है<sup>१२</sup> । यह व्युत्पत्ति वृत्र के भौतिक आकार पर दानवी करण की बढती प्रवृत्ति का परिणाम है<sup>१३</sup> । तत्तिरीय संहिता मे वृत्र' की व्युत्पत्ति √वृत् से कत्रथ मे भी बताई है<sup>१४</sup> । यास्क ने कि ही ग्राहण-वाक्यो के प्रमाण पर इसे (१) √वृ से (२) √वत से अथवा (३) √वष से निष्पन्न बताया है<sup>१५</sup> । धाकटायन

१ वि यो धीरुस्तु रोषमहिर्वोत प्र जा, उत प्र सूचत । १।६७।६ ॥

२ वि नेपेण कण्डि वृक्षान-या । वि + √रुष + विषय । 'अपेयामपि' (मष्टा ६।३।१३७) इति दीध । अथवा वि रोहतीति बी वृत् ।

३ तण्डेव वृक्ष नि वृश्चसि, परश्चेव नि वृश्चसि ॥ १।१३०।४ ॥

४ द्र निरुक्तम् २।६ वृक्षो वृश्चनात् ।

५ द्र उणादि सूत्र ३४६ (३।६६) स्तु-अदिच कृत्यविष्णु कित् ।

६ अथ्वयधो, यो अथो वसिवास वृत्र जघामाशयेव वृक्षम् । २।१४।२ ॥

७ अथो वृत्र वसिवास पराऽहन् । ४।१६।७ ॥

८ अहि यद् वृत्रमथो वसिवास हन् । ६।२०।२ ॥

९ यदा वृत्र नवी वृत् शवसा वसिन् ववधी । ८।१२।२६ ॥

१० स पवस्व य आविष्य द्र वत्राय हतवे । वसिवास सहोरप ॥ ६।६१।२२ ॥

११ इन्द्रो वस्रमवणोच्छ्रय नीति । ३।३४।३ ॥

१२ द्र २।४।१२।२, ५।२।२ स इमाल्लोकानवणोत् । यदिमाल्लोकान् अवणोत् तद् वस्रस्य वस्रत्वम् ।

१३ विज्ञेयाय द्र निरुक्त भीमासा', पृष्ठ ३२७ ३५० ४ तथा निरुक्त के पाच अध्याय पृष्ठ ६३, २२१ २ ।

१४ द्र २।५।२।१ यदवतयत् तद् वृत्रस्य वस्रत्वम् ।

१५ द्र निरुक्तम् २।१७, 'निरुक्त के पांच अध्याय पृष्ठ २२२ धृत्रो (क) वणोतेर्वा (ख) वततेर्वा (ग) वधतेर्वा (क) 'यदवणोत्, तद् वृत्रस्य वृत्रत्वम् ।' इति विज्ञायते । (ख) 'यदवतत, तद् वृत्रस्य वृत्रत्वम् ।' इति विज्ञायते । (ग) 'यदव



न  $\sqrt{वह}$  से 'वत्र' की व्युत्पत्ति दी है<sup>१</sup> ।

१३१ षोळहु <  $\sqrt{वह}$  परचूदप देवो दासि ने 'षोळहु' (वहन) ने साथ  $\sqrt{वह}$  के प्रयोग से यह 'युत्पत्ति' सूचित की है<sup>२</sup> । इस 'युत्पत्ति' में (१)  $\sqrt{वह}$  के अ वा 'घो' के रूप में विपरिणाम (२) हूँ को 'ढ' विकार स्पष्ट है । पाणिनि ने भी इस की 'युत्पत्ति' इसी प्रकार दी है<sup>३</sup> ।

१३४ शूर <  $\sqrt{शु}$  भरद्वाज बाहस्पत्य ने  $\sqrt{मह}$  से 'मघ' की व्युत्पत्ति के साथ साथ  $\sqrt{शु}$  (तेजी से जाना) से 'शूर' (तेजी से भपटने वाला = वीर <  $\sqrt{वी}$ ) की व्युत्पत्ति का सहित किया है<sup>४</sup> । नौ घस गीतम<sup>५</sup> गुत्समद<sup>६</sup> और भरद्वाज बाहस्पत्य<sup>७</sup> ने इसी घातु से निष्पन्न 'शूर' (बलवान्) और शवस् (बल) के पारस्परिक सम्बन्ध को भली भाँति स्पष्ट किया है । यास्क ने बताया है कि 'शव' (अथवा 'गवस') और 'शूर' शब्द  $\sqrt{शु}$  से निष्पन्न हैं जो 'गति' अथवा काबुल में ही बोली जाती है<sup>८</sup> । शाकटायन ने भी 'शूर' की यही व्युत्पत्ति दी है । टीकाकारों ने  $\sqrt{शु}$  का अर्थ 'गति' बताया है<sup>९</sup> ।

घत, तद् वत्रस्य वृत्रस्यम् ।' इति विनायते । इन वाक्यों का स्थल अज्ञात है । तुलना के लिये तैत्तिरीय संहिता के निम्न स्थल द्रष्टव्य हैं । स इषु मात्रमिषु मात्र विष्वङ् इवघत । स इमाँलोकानवृणोत् । यदिमाँलोकानवृणोत् तद् वृत्रस्य वृत्रस्यम् (२।४।१२।२ ५।२।२) । तत्त्वष्टाऽऽहवनीयमुष प्रावतयत् स्वाहेन्द्र गन्धर्वस्य ।' (मैत्रायणी स २।४।३) इति । यद्वघतयत् तद् वृत्रस्य वृत्रस्यम् २।५।२।१) । यहाँ प्रत्यक्ष निवचन तो  $\sqrt{वृत्}$  से ही किया है ।  $\sqrt{वृष}$  की चर्चा होने से इस से भी सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है ।  $\sqrt{वृष}$  > वत्र निवचन का आधार सम्भवतः विश्वामित्र गायित्त का निम्न प्रयोग है । अथि वत्र वधमान विषाहम वादमिन्द्र तवसा जघय (३।३।०।८) ।

१ ■ उणादि सूत्र १७० (२।१३) स्फायि वति ... शुभिन्म्यो रक ।

२ वायुमुदक्ते रोहिता, वायुररुणा वायूरये अजिरा घुरि षोळह्वे, वहिष्ठा घुरि षोळह्वे । १।१३४।३ ॥

३ ■ अष्टाध्यायी ६।३।१६२ सहि वहीरोद-वणस्य । ८।२।३१ हो ढ ।

४ ■ निरुक्तम् १।७, 'निरुक्त के पाँच अध्याय' पृष्ठ १०२ धीरो (क) वीर मत्स्यमित्रान् (ल) येनेर्वा स्याद् गति-कमणो (ग) धीरपतेर्वा । निघण्टु २।१४।११८ ।

५ सा हि अष्टा देव-ताता तुजा शूराणा गविष्ठा ता हि मृतम् ।

मघोर्ना महिष्ठा तुवि-शुष्म ऋतेन वत्र-तुरा सव-सेना ॥ ६।६८।२ ॥

६ रोदसी प्रावदता गण धियो नृ-याच शूरा गवसाऽहि मयव । १।६४।६॥

७ धिप्वा गव शूर, येन वृत्रमवा भिनद् दानुमोणवामम् । २।११।१८ ॥

८ दाविष्ठ ■ घा मर शूर गत्र, अजिष्ठमोजो अमि मृत उपम् । ६।१६।६॥

९ द निरुक्तम् २।२ 'गतिगति-कर्मा कम्बोजेवैव भाष्यत । विकारम

स्यायेषु भाषन्ते 'गव' इति । ४।१३ शूर गवतेयति कर्मण ।

१० द उणादि सूत्र १८५ (२।२६) शु ति चि मोर्ना दीघ-च । सिद्धान्त

१३५ श्लोक < √श्रु श्यावाश्व आत्रेय ने √श्रु से 'श्लोक' की व्युत्पत्ति का सङ्केत किया है<sup>१</sup>। यास्क ने भी यही व्युत्पत्ति दी है<sup>२</sup>। पाणिनीय तत्र मे √श्लोक की कल्पना सम्भवतः इस 'युत्पत्ति' के परोक्ष हा जाने से की गई है<sup>३</sup>। पाणिनि ने 'श्लोक' का प्रयोग घातु के रूप में करने का विधान किया है<sup>४</sup>। 'श्लोक' की क्या 'युत्पत्ति' उन्हें अभीष्ट है, यह अविदित है।

१३६ सप्ति < सम् + √षा मेघातिथि और मेघ्यातिथि काण्व ने सम् + √षा के कम के रूप में 'सप्ति' का प्रयोग कर के इस शब्द का निवचन सूचित किया है<sup>५</sup>। व्याकरण ने भी यही 'युत्पत्ति' मानी जाती है।

१३७ सरण्यु < √स विश्वामित्र गायिन<sup>६</sup> और नाभानेदिष्ठ मानव<sup>७</sup> ने इस शब्द की व्युत्पत्ति का सङ्केत किया है। यास्क ने भी यही व्युत्पत्ति दी है<sup>८</sup>।

१३८ सहस्र < सहस मेघ्यातिथि काण्व ने 'बल' अर्थ वाले 'सहस' के साथ 'सहस्र' (बलवान् प्रचण्ड सङ्ख्या) का प्रयोग कर के इस व्युत्पत्ति को सूचित किया है<sup>९</sup>। ना धस् गीतम ने भी यह सम्बन्ध सूचित किया है<sup>१०</sup>। यास्क ने 'सहस्र' की यही व्युत्पत्ति दी है<sup>११</sup>, जिस डा सिद्धेश्वर वर्मा ने विलक्षण और पूरण भाषा-विज्ञान सम्मत युत्पत्ति बताया है<sup>१२</sup>।

१३९ सिधु < √स्यद् वाम देव गीतम ने √स्यद् से 'सिधु' का सम्बन्ध सङ्केतित किया है<sup>१३</sup>। कसीवत् दैप-नमस मोशिश<sup>१४</sup> ने इस का अर्थ निवचन

कौमुदी शु सौत्र । ज्ञानद्र सरस्वती शु यती । वासु देव दीप्ति शु गतावित्यस्य घातु पाठेदङ्मादाह शु सौत्र इति ।

१ य इमा विद्या जाता या आवयति इमोकेन ।

प्र च सुषाति सविता ॥ ५।८२।६ ॥

२ ॥ निवचनम् ६।६ श्लोक श्रुतोत् ।

३ द्र मायवीप घातु वति १।७७ श्लोक सङ्घाते । सङ्घातो अर्थ ।

४ द्र अष्टाध्यायी ३।१।२८ सत्याप पाश रूप वीणा-मूल श्लोक-सेना लोम-

त्वच इम वण चूण चुरादिभ्यो णिच ।

५ सभाता सप्ति मघवा पुरु वसुभिर्हृता वि हृत पुन ॥ ८।१।१२ ।

६ स आ ववृत्स्व ह्यश्व, यज्ञ सरण्युमिरयो अर्ण सिसवि ॥ ३।३२।५ ॥

७ अर्थ यद्राजाना नविष्टी सरत्सरण्यु कारवे जरण्यु ॥ १०।६।१२३ ॥

८ द्र निरुक्तम् १२।६ सरण्यु सरणात् । 'सरण्यु' शब्द 'सरण्यु' का स्त्री है ।

९ अर्थ सहस्रमृषिभि सहस्रकृत समुद्र इव पश्ये ॥ ८।३।४ ॥

१० यता रक्षन्ते अमृता सहोमि पुरु सहस्रा जनयो न पत्नी । १।६२।१०॥

११ द्र निरुक्तम् ३।१० सहस्र सहस्वत् ।

१२ ॥ 'दी एटिमॉलाजीज आफ यास्क', पृष्ठ ४ ।

१३ दीर्घामनु ॥ सिति स्य-दयध्य ॥ पिपीळे अशुमसो न सिधु ॥ ४।२२।७-८।

१४ उप शरति सिधवो मयो भुव ईजान च यदयमारु च वैवच ॥ १।१९५।४॥

✓स्य द् व पर्याय ✓सद् व प्रयोग से किया है। यादव<sup>१</sup> और शाकटायन<sup>२</sup> ने इस की व्युत्पत्ति ✓स्य द् स ही दी है।

१४० सु शीति < सु + ✓दी दायु बाहस्पत्य<sup>३</sup> और वसिष्ठ मन्त्रा वरणि<sup>४</sup> ने इसे दीपययव ✓दी<sup>५</sup> स मूर्धित किया है।

१४१ सु धित < ✓धा भरद्वाज बाहस्पत्य<sup>६</sup> और वसिष्ठ मन्त्रा वरणि<sup>७</sup> ने सु धित' के उत्तर पद 'धित की व्युत्पत्ति ✓धा स मूर्धित की है। पर वही बात म कुक्ष स्थितियों म धि' का विकास हि' व रूप म हो गया है<sup>८</sup>। वन्नि सु धित' की पाणिनि ने भी इस स्थिति का अवगाह बताया है<sup>९</sup>।

१४२ सूक्त < ✓वक् वक्श घोर<sup>१०</sup> सप्त पृष्ठा भार्गव<sup>११</sup> और वसिष्ठ मन्त्रा-वरणि<sup>१२</sup> ने वक् से व्युत्पन्न 'वक्श के गाथ सूक्त (<सु + उक्श)' का प्रयोग कर के (१) ✓वक् = ✓उक् के सम्बन्ध की अर्थात् सम्प्रसारण की, तथा (२) व् घोर 'व' के सम्बन्ध की प्रवृत्ति किया है।

१४३ सूची < ✓सीव शतमद न सीना अम वाली ✓सीव के साथ करण विभक्ति वाली सूची (सुई) की व्युत्पत्ति दी है<sup>१३</sup>। यादव ने<sup>१४</sup> भी यही व्युत्पत्ति दी है। शाकटायन ने इस के पुस्तिक 'गूव' (हि' सी सुधा, सूधा, सूजा) और 'सूची' की यही व्युत्पत्ति दी है<sup>१५</sup>।

१ द्र निरुक्तम् ६।२६ सि'पु स्प'वनात् । द्र निरुक्त भीमासा पृ ३२० ।

२ द्र उणादि सूत्र ११ स्य के सम्प्रसारण पश्य ।

३ म जल्लेखा गोविद्या गोपुवच्छुजे सु शीतिमि सु शीतिहि ॥ १४८।३॥

४ त्वमग्ने, सु हवो रण्व स दृक् सुशीतो सूनो सहसो दिवोहि । ७।१।२१ ॥

५ द्र निषण्डु १।१६।४ निरुक्त के पाँच अध्याय, पृष्ठ २७० ।

६ मित्र न ध सु धिन भृगवो वधू । ६।१५।२ ॥

अग्नि म योसि सु भित्तानि हि ह्यो नि त्वा दधीत रोवसी यजध्वे । १५ ॥

७ मन्त्रम खव सु धित सु-पेक्षस दधात यजियेष्वा । ७।३२।१३ ॥

८ द्र अष्टा ७।४।४२ दधातेहि ।

९ ■ अष्टा ७।४ । ४५ सु धित, वसु धित, नैमधित, धियोध च ।

१० अग्नि सूक्तेमिषचीमिरीमहे, य सोमिदानय ईळते ॥ १।३६।१ ॥

११ सूक्तेमिषो वचोमिर्देव-जुष्टेरि-द्रा, वन्वी, अयसे हवध्व । ५।४५।४ ॥

१२ इ-दी, सूक्ताय वचसे वयो धा । ६।६०।६ ॥

१३ सीव्यत्वष सूक्याऽच्छिद्यमानया, ददातु घोर गत दायमुष्यम् ॥ २।३२।४॥

१४ द्र निरुक्तम् ११।३१ सूची सीव्यते ।

१५ द्र उणादि सूत्र ५३३ (४।६३) सिधेष्टेक च । सिद्धांत कोमुदी सूचो = दर्माङ्कुर । तत्त्व बोधिनी विष्णु तत्त्व सन्ताने (मा धा वृ ४।२) । अस्माच्चट प्रत्यय स्याटटेकस्य च । टित्वा-टोप । 'सूची तु सीवन द्वयेऽप्यङ्गिकाभिनयातरे ।' इति मेदिनी ।

१४४ सेतु < √सि मत्स्य साम्प्रद ने 'सेतु' (पुल) की व्युत्पत्ति बघनायक  
√सि से दी है<sup>१</sup>। शाकटायन ने भी यही दी है<sup>२</sup>।

१४५ सोवश्य < स्वश्य गुण होय भारद्वाज ने 'स्वश्य' के तद्धितात्  
'सोवश्य' का प्रयोग 'स्वश्य' के साथ कर के इस व्युत्पत्ति को व्यक्त किया है।  
इस में 'स्वश्य' के 'व' से पूर्व 'भौ' का भागम स्पष्ट है<sup>३</sup>।

१४६ स्तोक < √श्चुत् 'बूढ़'<sup>४</sup> अथ वाले 'स्तोक' की व्युत्पत्ति गायिन्  
कौशिक ने 'टपकना' अथ वाली √श्चुत् से दी है<sup>५</sup>। यास्क ने इसे घाटन्त विषय  
से बता कर इसी व्युत्पत्ति को सूचित किया है<sup>६</sup>। ब्रयाकरण लोग इस √स्तुच से  
निधन्म मानते हैं<sup>७</sup>।

### निष्कर्ष

शब्द के निवचन अर्थात् व्युत्पत्ति के दो पक्ष होते हैं<sup>८</sup> (१) गुरु के अथ की  
व्याख्या के प्रतिरिक्त उसके भाषिक अर्थात् उच्चारित (ध्वनि) अथ की व्याख्या कर  
के उस के मूल को स्पष्ट करना। नैरुक्त परम्परा मे इन पक्ष को 'शब्द निवचन'

१ मा न सेतु तिषेद्य ग्रहे षण्णवतु नस्परि । ८।६७।८ ।

२ इ उणादि सूत्र ६९ सि-तनि गमि मति सव्यवि धात्र् कुणिम्यस्तुम् ।

३ सोवश्य यो वनवत्स्वयो वृत्रा समस्तु सासहृद मित्रान् ॥ ६।३३।१ ॥

४ तुलना करें अष्टा ७।३।३ न द्वाभ्या पवाताभ्या पूर्वो तु तशम्भामच् ।

५ एष गृहेक्षमि रतो विषया विविध सुख ।

तेवमागो न चातुपदाज्य स्तोकरिचानस ॥ श्रीमद्भागवत १।६।४८ ॥

मूलत 'स्तोक' का अर्थ 'बूढ़' है अथे चल कर यह 'घोडा' के लिये रुक हो  
गया है स्तोक ह्राप्ति न पश्यामि कल जीवित धारणे । महा भारत १।१।२१८ ॥

६ घृत-वन्त पावक, ते स्तोका इचोतति मेदस । ३।२१।२ ॥ तुम्य स्तोका  
घृत श्चुत । ३ ॥ तुम्य इचोत-त्पत्रि-गो, शचीव, स्तोकासी अग्ने भवसो घृतस्य । ४॥

७ इ निरुक्तम् २।१ अथाप्याघन्त विषययो भवति—स्तोका, रज्जू, सिक  
तास तन्विति ।

८ इ माघवीय धातु-वृ १।१७३ ध्रुच प्रसावे । स्तोक —घञ् । उद् दिव  
स्तोकम् = अल्पमुद द्विदित्यथ ।

९ इ निरुक्तम् ४।१ पर दुष-वृत्ति अत्रायस्याप्रतोयमानस्य पर्यायानिषा-  
नेन विमज्य प्रति पादन व्याख्या । शब्दस्यापि व्युत्पादन व्याख्या । एवमेते द्वे व्या  
ख्ये । तपोरथ परिजानमे कस्या कायम्, गुरु परि ज्ञानमेकस्या ।

भाषाय जयदित्य ने भी (काशिका ६।३।१०६ में) शब्द के निवचन में (१)  
ध्वनि और (२) अर्थान्ते की व्याख्या को ही भावश्यक माना है

(१) वर्णागमो, वर्ण विषययस्य इति चापरी यण् विकार भागो ।

(२) घातोस्तदर्थान्ति-गत्वेन योगस, तदुच्यते पञ्च विध निरुक्तम् ॥

बहा जाता है। (२) शब्द में स्वर-यग को स्पष्ट करने पर ध्यान न दे कर उग का मध्य मान स्पष्ट करना। यह वग 'अथ निवचन' कहलाता है।

अथर्ववेदीय ऋषिभाष्य में भाषा निवचन का व्युत्पत्ति-तत्त्व पर उपनयन सामर्थ्य का एक चौपाई से भी कम भाग का विवरण करने का बाद नरत परम्परा का यह वर्गोत्तरण हम समुचित प्रतीत होता है। इस निवचना से शब्द का ध्वनि-मग धोर धर्माण पर प्रकाश तो प्रायण पड़ा ही है। कुछ निवचना से उग का केवल धर्माण पर भी प्रकाश पड़ा है। विन्ध्यवास्य में ऋषिभाष्य का निवचन हम प्रथम सामर्थ्य निवचन को दो भागों में बाँटना उचित समझते हैं।

### (१, क) शब्द निवचन

शब्द धाम तोर पर (क) प्ररुति (ग) प्रत्यय के माग त बना होते हैं। ऋषिभाष्य में इन दोनों का निवचन किया है।

(क) प्ररुति का शब्द निवचन धरा ध्वनि धर्मा शब्द का निवचनों में इन शब्दों के प्ररुति का व्याख्या उग की निष्पत्ति पातु का आख्यात का प्रयोग कर के की है। इस श्रेणी के निवचना की माया पर्याप्त है।

(ग) प्रत्ययों का शब्द निवचन प्रतर की व्याख्या में तर १ त से निष्पत्ति है यह सूचित किया गया है। इस श्रेणी का और कोई उदाहरण ऊपर विवेचित शब्दों में नहीं है।

शब्द निवचनों का वर्गोत्तरण हम एक भय आधार पर भी करना चाहेंगे।

जैसा कि मु विदित है नैरुक्तों के अनुसार ब्याकरण न शब्दों के १ नाम, २ आख्यात, ३ उपसग और ४ निपात बग बनाए हैं<sup>१</sup>। ऋषिभाष्य में इन में से (१) सर्वाधिक निवचन नामों का किया है, (२) कुछ पातुभा का शब्द निवचन भी किया है, (३) एक उपसग का भी शब्द निवचन उपलब्ध होता है। तद् यथा—

(१) नाम पदों का शब्द निवचन √अव > अव आबत > अवत १ व ऊव, √कम्भ > कम्भन, कि + √हृ > कीकट द्वि + अव > द्वीप आदि निवचन इसी श्रेणी के उदाहरण हैं।

नाम पदों का शब्द निवचन नामों की बनावट के अनुसार नाम पदों के साथ—

१ घातु बतला कर—घातु का आख्यात रूप दे कर—होता है अवतु अति घया, म जुम, अति। इस श्रेणी के शब्द निवचनों की संख्या सर्वाधिक है।

१ वैयाकरणों ने 'तर' को प्रत्यय-बतलाया है। वैदिक काल में ही संभव है कि 'तम', 'तर' आदि स्वतन्त्र शब्द ही माने जाते रहे हों, तथा वस्तुतः यहाँ उस स्वतन्त्र शब्द का प्रकृति निवचन ही किया गया हो।

२ द्र निरुक्त १३।६ चत्वारि वाक्परि मित पदानि।' (ऋ १।१६।४५) चतुर्माणि चत्वारि पदानि ? ओङ्कारो, महा व्याहृतयश्चेत्याथम्। नामाख्याते घो पस्य निपाताश्चेति ध्याकरणम्। 'निरुक्त मीमांसा', पृष्ठ १०७ १०८ भी देखें।

२ उन का अविवक्षित, अर्थात् मूल, रूप द कर हाता है आ वत—अवत,  
स्वस्व>सीवस्व उदाहरण है।

३ तद्धित और समासा वा विग्रह कर के किया जाता है ऋत्विज कीमट,  
क्षत्रिय जात वेदस, नि युत, प्र तर, प्र हित, वी रघ सु दीति के निवचन द्रष्टव्य हैं।

‘सर्व नाम नामा का आंतरिक भेद है। एक सर्व नाम ‘इ’, ‘इम (=यह)  
का निवचन भी दो ऋषिया ने किया है नृ भेष आङ्गिरस ने प्रकृत्यश ‘इ’ की  
व्युत्पत्ति बताई है ता विश्व कर्मन भोवन न प्रत्ययाश ‘भ’ को स्पष्ट किया है।

सभी एकल नाम पदा की याख्या उनक आख्यात के द्वारा की गई है। इस  
से विनिता होता है कि ऋषि ‘नाम करण का आधार पदार्थ की कोई क्रिया होनी  
है।’ इस सिद्धांत को मानते हैं।

(२) आख्यातों का शब्द निवचन धातु तीन तरह की होती हैं (१)  
शुद्ध, (२) प्रत्यया त तथा (३) नाम धातु। इन से निष्पन्न आख्यातों के निवचन के  
उदाहरण ये हैं

१ शुद्ध धातु से निष्पन्न आख्यात का शब्द निवचन इयति > धरितृ कथन  
में गुणवान् ‘धरितृ’ रूप से उस से तनिद्व मित्र प्रकार के ‘इयति’ का स्वरूप यह  
स्पष्ट हुआ है कि यहाँ धातु √ऋ है। धेतु के निवचन के प्रसङ्ग में √चित् √कित्  
से विकसित है, यह भी प्रकाश पड़ा है। चित् < √कित् निवचन से भी इस विषय  
पर प्रकाश पड़ा है। इसी प्रकार √जि—मि √क्षुत् < ज्युत् √व < ऋ (वकार  
का भागम) √वश < उश आदि निवचन भी इसी श्रेणी के अंतर्गत हैं।

२ प्रत्ययात धातु का शब्द निवचन √दिप्स √दम् से इच्छाथ में निष्पन्न  
है। अतः ‘दिप्सतो देभु’ व द्वारा पालिनीय पद्धति में सप्रत्यया त √दिप्स की  
व्युत्पत्ति बताई गई है।

३ नाम धातु का शब्द निवचन वाज नाम पद के साथ √वाजि के प्रयोग  
से इस धातु की ‘वाज’ नाम में निष्पन्नता सूचित हुई है।

(३) उपसर्ग का शब्द निवचन अवि के साथ √धा से निष्पन्न आख्यात के  
प्रयोग से इस उपसर्ग की व्युत्पत्ति √धा से अभिप्रेत है, यह सङ्केत किया गया है<sup>१</sup>।

शब्द निवचन में अपनाये ध्वनि-सिद्धांत

शब्द निवचन में उन विभिन्न ध्वनि विकारों के अध्ययन का समावेश होता  
है, जिन से शब्द अपने अन्तिम रूप—प्रयोगावस्था—में आता है। आचार्य जयादित्य

१ अथर्व संहिता में भी √इ से ‘इम’ की व्युत्पत्ति का सङ्केत किया गया  
में सर्वे देवा हवमा यतु म इमम् (६।२।७)।

२ अथर्व-संहिता में वाङ्मयन ने ‘प्र+√धा>प्र धि’ तथा ‘उप+√धा  
>उप पि व साथ अधि के प्रयोग से अ+√धा>अधि व्युत्पत्ति का सङ्केत दिया  
जाता है यथा ॥ अथियोप धियया नम्य प्र धावधि। ६।७०।३ ॥

ने इन विकारों के चार भेद बताये हैं (१) वण का आगम (२) वणों की स्थान गत भदला बदली, (३) किसी वण के स्थान में कोई और वण आना, (४) वण का लोप<sup>१</sup> । हम भी उपलब्ध सामग्री का विश्लेषण इसी दृष्टि से करेंगे

(१) वर्णागम 'उचय उचय' में एक ही √वच् से दो शब्दों की व्याख्या की गई है । 'उचय' और 'उचय' में अंतर यह है कि प्रथम में घातु के अन्तिम व्यञ्जन के तत्काल बाद प्रथम का व्यञ्जन है, किन्तु दूसरे शब्द में इन दोनों के मध्य में एक स्वर का आगम हो गया है । तु ज मन्-जनिमन्<sup>२</sup> । इन दोनों शब्दों में द्वितीय शब्द में 'न' के बाद 'इ' का आगम हुआ है । आज-कल 'इ' के स्थान में 'अ' का (जनम) का उच्चारण लोग करते हैं । √वृ से द्वार द्वार, द्वार की निष्पत्ति में भी इ का आगम स्पष्ट है । यास्क ने द्वार को वणोपजन के उदाहरण के रूप में दिया है । द्वार पर चर्चित √हृ > व में घातु के आदि में 'व' का आगम हुआ है । पृथ्वी > पृथिवी स्वस्व > सौवर्ण्य भी इसी प्रवृत्ति के उदाहरण हैं ।

(२) वण विषय पशुत > स्ताक् में मध्य वर्ती 'व' और अन्त गत 'त' के स्थान की भदला बदली हो गई है<sup>३</sup> ।

(३) वण विकार यास्क ने वणों की मात्रा गत विकृति को तो विकार नाम दिया है तथा उच्चारण स्थान के भेद से हान वाली विकृति को 'व्यापत्ति' नाम दिया है<sup>४</sup> । हम इन दोनों प्रकार के विकारों को विकार ही कहेंगे<sup>५</sup> । इसके हम दो भेद करना चाहेंगे (क) परतत्र वण विकार, (ख) स्वतत्र वण विकार (ग) परतत्र विकार जो ध्वनि परिवर्तन समीप वर्ती किसी अन्य ध्वनि

१ वर्णागमो वण विषयइव द्वौ चापरी वण विकार मानौ ।

धातोस्तदर्थतिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्च विध निरुक्तम् ॥

भाषाय यास्क ने इन्हें क्रमशः (१) वणोपजन, (२) विषय (३) व्यापत्ति (स्वरो के मात्रिक विकार, को 'विकार') तथा (४) लोप कहा है । इ निरुक्त २।१ ।

२ यास्क ने इसे 'आद्यत विषय' (आदिम और अन्तिम वण की आपस में भदला-बदली) नाम दिया है । पर यह उचित नहीं प्रतीत होता । यही आदिम ऊष्म ध्वनि तो अपने स्थान पर मौजूद है । हाँ निकट-वर्ती ध्वनि के परिवर्तन से—'व' (तालव्य) के स्थान में त' (दाल्य) के आ जाने से—इस का उच्चारण-स्थान बदल गया है यह ध्वनि भी दन्त्य हो गई है । अ > स' ध्वनि विकार के अन्तर्गत तो होगा, पर इसे विषय नहीं कहा जा सकता ।

३ इ निरुक्तम् २।१ अथाप्युपधा विकारो भवति राजा, दण्डीति । अ आप्यादि<sup>६</sup> व्यापत्तिर्भवति—अ्योतिर् धनो, बिन्दुर, बाट्य इति । \* मुद्रित प्रयोगों में विषयों<sup>७</sup> पाठ है । व्यापत्ति पाठ पर निरुक्त के पाँच अध्याय, पृष्ठ १६१ देखें ।

४ पतञ्जलि आदि पर-आसीन भाषाचार्यों ने भी इन दोनों प्रकार के विकारों के लिये पृथक्-पृथक् 'विकार' शब्दों का ही प्रयोग किया है । ये पृथक्-पृथक् विकार ध्रुवते, न चोच्यते (महा भाष्य ६।३।१०६, पृष्ठ ६१२) ।

के प्रभाव के कारण होता है उसे हमने 'परतत्र विकार' कहा है। स्वर और व्यञ्जन के विकृत होने के कारण इसके दो भेद हैं

(अ) स्वरों का परतत्र विकार यह निम्न दिशाओं मे उपलब्ध होता है

(१) अ > आ ध्वस > ध्वात। (२) 'इ' के विकार की निम्न प्रवृत्तियाँ हैं (i) इ > ई द्वि + अप > द्विप > द्वीप, (ii) इ > ए √पी > पयस, (iii) इ > य √दिव > दिउ > द्यु। (३) 'उ' के विकार की दो प्रवृत्तियाँ मिलती हैं (i) उ > ऊ √गृह > गूलह, (ii) उ > ओ √उच > ओक √शु > शवस। (४) 'ऋ' के विकास की ये दिशाएँ हैं (i) ऋ > अ आ वत > अवत, (ii) ऋ > अर √ऋ > अरितृ, अर्णि, √कृ > ककृत्य √ज > जरणा, जरितृ √त > तरणि, तरस तमन्, (iii) ऋ > आर √ज > जार, प > पार, (iv) ऋ < इर √त > तीरा, (v) ऋ > उर् √ज > अजुय, √त > ततुरि, तुर, √प > पपुरि, (vi) ऋ > ऊर् √त > तूर्ति तूय, (vii) ऋ < एर् √ह > अर्द्रि √कृ > चक्रि, √प > पप्रि

इस विवरण से विदित होता है कि स्वरों मे परिवर्तन सर्वाधिक विधाओं में 'ऋ' का ही होता है।

(आ) व्यञ्जनों का परतत्र विकार यह निम्न दिशाओं मे उपलब्ध है

(१) अवग > कवग (i) च > क (सु) √वच + त + > सूक्त √पच + ति > पक्ति, √वच + थ > उचय, √वच + थ्य > उक्थ्य, √ऋच + थ > ऋक्व ऋच + वन् > ऋक्वन् √अश्च + म > वृश्म। (ii) च > ग ऋच + मिय > ऋग्मिय। (iii) ज > व √भज + त > भक्त अञ्ज + तु > अस्तु। (iv) ज > ग √अञ्ज + नि > अग्नि, √तिज + म > तिग्म उज + र > उग्र।

(२) अवग > ऊवग ज > प √राज + न > गपृ।

(३) तव ग > च वग √द्युत > ज्यातिप।

(४) घोष का अ घोषी करण √ढभ + स > √दिप्स\*।

१ 'ऋ' के ह्रस्व और दीघ भेद हमे बहुत अभिप्रेत नहीं है। अत उदाहरण मिले-जुले दिय हैं।

२ 'च + थ' के मध्य स्वर भक्ति (द्र ऊपर १ वर्णगण) होने पर यह विकार नहीं होता √वच + थ > उच् + थ + थ > उचय।

३ संहिताओं की लिखित और मुद्रित वतनी के अनुसार यहाँ घोष महा प्राण स्पश (म) अघोष अल्प प्राण स्पश (प) म बदल गया है। हमारे विचार मे 'म' के बाद अ घोष महा प्राण (स) होने से 'म्' घोष स अ घोष हो गया है, तथा महा प्राणता ज्यों की त्या बर-करार रही है। अर्थात् लिखित वतनी मे चाहे यह 'दिप्स' हो क्यों न हो परन्तु उच्चारण में यह 'दिप्स' ही है। शिक्षाओं के अनुसार भी ऐसी स्थिति म महा प्राणना रहती है। ब्याकरण मे पौष्कर-सादि आचार्य ने भी इस स्थिति में यही व्यवस्था दी है चयो द्वितोया गरि पौष्कर सादेरिति याच्यम्। द सिद्धान्त कीमुदो, हल्सि च प्रवरणम्।



(५) कण्ठघोष महा प्राण (ह) ध्वनि का मूढ-घो करण १ गुह (+त)  
>गूळह √दह (+त) >दळ, √मह (+तु) >बोळहु ।

इस विवरण से यह स्पष्ट होता है कि 'यञ्जनो' मे च वर्गीय ध्वनि ही सब से अधिक बदलती है । च वर्गीय ध्वनि के स्थान मे भी क-वर्गीय ध्वनि ही सर्वाधिक आयी है ।

(ख) स्वतन्त्र विकार जो ध्वनि विकार किसी अक्षर ध्वनि के प्रभाव (संयोग आदि) से न हो कर स्वतः होता है, उसे इस श्रेणी के अंतर्गत रखा गया है । इस के भी पूर्ववत् स्वर 'यञ्जन' भेद से दो भेद हैं

(अ) स्वरों का स्वतन्त्र परिवर्तन (१) 'अ' ध्वनि के निम्न ध्वनि विकार उपलब्ध होते हैं (i) अ > आ √अम् > वाम (ii) अ > इ √दम् > दिप्त, (iii) अ > ए √मम् > नेमि, (iv) अ > ओ १ वह > बोळहु । (२) आ > इ √मा > ममिता √पा > पितु, √घा > सुघित । (३) 'इ' के दो विकार मिलते हैं (i) इ > ई वि + र्ह > वीर्य (ii) इ > ए १ सि > सेतु । (४) उ > ओ १ दुह > दोष, १ झु > इतोक, √इनु > स्तोक ।

(आ) व्यञ्जनों का स्वतन्त्र परिवर्तन (१) क > च √कृ > चक्रि, चकृत्य, √कित् > चित् √कित् > चित्र, १ कित् > चेतस । (२) च वर्गीय > कवर्गीय (i) च > क √अच > अक √पच > पाक √उच > ओकस, √चित् केतु √इनुत् > स्तुत् > स्तोक । (ii) ज > ग १ 'भज' > भग, भाम जि > गि । (३) चवर्गीय > ऊम् छ > श √उछ > उपस । (४) दव्य > मूषय (i) त् > ट किम् + √कृ (+त) > कौकट, (ii) द > ड √मद् > मण्डूक । (५) अल्प प्राण > महा प्राण द > ध् √मद् > मधु √स्पन्द > सिधु । (६) अघ > अह, सघ > सह मे उच्चारण-स्थान के साथ करण का स्पष्ट होने की वजाय सम्मथ होने से घ > ह हो गया है । (७) प्रथम शब्द में घोषता के स्थान मे घोषता भी हो गई है अघ > अघ । तुलना करें सघ > साघ (हिंदी) । (८) र > ल √यु > 'लोक' । (९) ग् > स √इपुत् > स्तुत् > स्तोक । (१०) निम्न स्थान मे 'ह' का स्थान कण्ठ्य तालव्य और दन्त्य ध्वनियों ने ले लिया है (i) ह > घ (अन +) √हन् > अघा √हन् > घन √हन् > जघन, √दुह > दुषा, दोष । (ii) ह > ऋ > ज √हन् > जघन । (iii) ह > ध् वि + र्ह + > वीर्य ।

इस विवरण से यह स्पष्ट होता है कि कण्ठ्य और तालव्य ध्वनियों मे विकार की मात्रा ही सर्वाधिक है ।

सम्प्रसारण अन्त-स्थ ध्वनियों वाले अक्षर (Syllable) के स्थान में बहुत सी बार स्वर का प्रयोग भी होता है । इस प्रवृत्ति की व्याकरणों ने 'सम्प्रसारण'

१ यहाँ पहले 'हृ' को 'म्' और दूसरे 'हृ' को 'घ' हुआ । फिर दो महा प्राण ध्वनियों का एक के बाद एक उच्चारण बहिन होने से पहली महा प्राण ध्वनि 'म्' के स्थान में अल्प प्राण 'ज्' हो गई है ।

नाम दिया है<sup>१</sup> । ऊपर चर्चित १४६ शब्दों मे से २१ शब्दों मे सम्प्रसारण की निम्न प्रवृत्तियाँ उपलब्ध होती हैं

१ य>इ ऋतु+√यज>ऋत्विज √स्य द>सिधु ।

२ रेफ वान् अक्षर के सम्प्रसारण की निम्न दिशाएँ हैं १ अर>ऋ √ अच>ऋच ऋचवन् ऋचमिष । २ र>ऋ √प्रथ>पृथिवी पृथु पृथ्वी √ प्रश्च>वृक्ष । ३ रा>ईर √द्राघ>रीष । ४ रु>ऋ √प्रुव>पृष्ठ ।

३ व वाले अक्षर की निम्न परिणतियाँ उपलब्ध हुई हैं १ अव>ऊ √अव>ऊति । २ व्>उ दिव>दिव>द्यु । ३ व>उ √वच्>उदय उवध्य उवय (मु) √वच>(मु)उचन √वस>उस √वग>उग । ४ वृ>उर √वृ>उर । ५ वृ>ऊर √वृ>ऊव । ६ ईव>ऊ √सीव>सूची ।

इस विवरण मे जात होता है कि मात्रा की दृष्टि से सर्वाधिक प्रकार का सम्प्रसारण ज य विकार व ध्वनि वाले अक्षरों का उपलब्ध होता है । रेफवान् अक्षरों की सम्प्रसारण का स्थान इस दृष्टि से दूसरा है ।

(४) वण लोप शब्द की निष्पत्ति मे मूल शब्द की किसी किसी ध्वनि का लोप हो जाता है । यास्क ने इस प्रवृत्ति का वर्गीकरण दो आधारों पर किया है (क) शब्द मे लुप्यमान ध्वनि के स्थान के आधार पर १ आदि लोप २ अन्त लोप और ३ उपधा लोप । (ख) लुप्यमान वणों की सङ्ख्या के आधार पर १ वण लोप (एक वण का लोप) और २ द्विवण-लोप (दो वणों का लोप)<sup>२</sup> ।

अथ वण लोप का विभाजन १ आदि लोप २ मध्य लोप ३ अन्त लोप के रूप मे किया गया है<sup>३</sup> । हम इन दोनों को मिला कर प्रथम आधार पर

१ द्र अष्टाश्यायी १।१।४५ इत्यणु सम्प्रसारणम् । पाणिनि ने अपने तन्त्र की मुख्या के लिये अतस्य (अथ मात्रिक) ध्वनि की मात्रिक स्वर (इक्) का विधान कर के फिर अथ नियम से उसके पर वर्ती स्वर (अच्) को पूर्व रूप (सम्प्रसारण जय स्वर से) एकादेश का विधान किया है सम्प्रसारणाच्च (अष्टा ६।१। १०८) । अत समूची प्रक्रिया की दृष्टि में रखते हुए सम्प्रसारण सञ्ज्ञा अथ मात्रिक ध्वनि का एक मात्रिक ध्वनि के रूप मे फैलाव होने के कारण नहीं पड़ी है अपितु एक से अधिक मात्रा वाले अक्षर के स्थान मे एक मात्रा वाला अक्षर देने के कारण—सङ्कोच के कारण—पड़ी है । अर्थात् 'सम्प्रसारण मे सम् शब्द प्रसारण' के अनुकूल न हो कर उस मे विपरीतता—सङ्कोच—का अभिधायक है । सहार उप सहार, स-स्या शब्दों मे सम् इसी प्रकार के अर्थ में प्रतीत होता है ।

२ द्र निरुक्तम् २।१ अथाप्यस्तेनैवति स्थानेष्वदि लोपो भवति इति सन्तीति । अथाप्यन्त लोपो भवति गत्वा गतमिति । अथाप्युपधा लोपो भवति जग्मतुर् जग्मुर् इति । अथापि वण लोपो भवति तस्वा यामीति । अथापि द्विवण लोपस्तृच इति ।

३ आदि मध्यात सुप्तानि प्रच्छन्नापि हितानि च ।

अहण परिगुप्यर्थ वेदे व्यवहितानि च ॥ (मूल अनात)

बण-लोप की इस प्रवृत्ति के पाच भेद करना उचित समझते हैं १ आदि-लोप, २ मध्य लोप, ३ उपधा-लोप, ४ टि लोप और ५ अन्त लोप

१ आदि लोप √स्कम्भ् > कम्भन म आदिम 'स्' लुप्त है ।

२ मध्य लोप अवञ्च् > अनुच प्रत्यञ्च् > प्रतीच तथा द्वि + षप् > द्वीप मे समस्त शब्द के मध्यवर्ती अ का लोप हुआ है और इस के प्रति प्रसव के रूप मे पूव पदों—अनु प्रति- और द्वि ' के अन्तिम स्वर को दीघ हो गया है । √हन् > जडघन > जघन मे भी मध्य पद नासिक्य का लोप हो गया है । किंतु यहां पूव वर्ती स्वर को दीघ नहीं हुआ है ।

३ उपधा लोप अवञ्च् > अनुच प्रत्यञ्च् > प्रतीच, √मज्ज् > माज्य, √उत् > उत्स √स्वप्न > स्वप्नीयस् √गम् > ग्मा √दस् > दस्म दस् √दृह् > दृह्म उपधा (अन्तिम बण से पूव वर्ती बण) ध्वनि का लोप हुआ है ।

यहाँ निम्न बातें ध्यान देने योग्य हैं १ लुप्त होने वाली ध्वनियों में नासिक्य (अ न् म् तथा अनु स्वार) ध्वनियों की संख्या अधिक है । २ अनु-नासिक्य ध्वनियों के लोप के प्रति प्रसव के रूप मे पूव वर्ती स्वर को दीघ नहीं हुआ है । ३ '√गम् > ग्मा' में उपधा-लोप होने पर 'ग म' को पुन सन्धि ('ड म') नहीं हुई है ।

१ 'अवञ्च् > अनुच आदि मे पूव पद के अन्त्य स्वर को दीघ नासिक्य ध्वनि के लोप के प्रति प्रसव के रूप मे नहीं हुआ है अपितु √अञ्च् के स्वर ('अ') के लोप के फल-स्वरूप उसकी क्षति पूर्ति के निमित्त, ही हुआ है ।

√मज्ज् > माज्य' मे आन्तिम अ को दीघ भी नासिक्य के लोप के कारण है या यह प्रत्यय की ही कोई विशेषता है यह स्पष्ट नहीं है । कात्यायन ने इस 'मा + √मज्ज् + क्यप् से बनाया है आठ पूर्वादञ्जे सञ्ज्ञाप्रामुप सञ्ज्ञयानम् (प्रत्या ३।१।१०६ पर वार्तिक) । इस का अभिप्राय यह है कि ये इस के आदिम स्वर को ह्रस्व ही मानते हैं । 'मा' सन्धि अ है अनु नासिक्य-लोप के प्रति प्रसव के रूप में नहीं । प्रत्यय के कारण दीघता अपेक्षित भवना अभिप्रेत होने पर प्रत्यय का स्वरूप 'क्यप्' हुआ होता ।

भाषाय ग्राहक्य इसे स्वतन्त्र भा-कारादि (दीर्घाणि) ही मानत हैं उन्होंने यही भव ग्रह नहीं दिया है । इस प्रकार की स्थिति में भव ग्रह के लिये माज्य (१०।१५।६) माज्जनेन (१८।७), माज्य (२।३८।१०), माज्यन (१०।२४।६ १४२।८), माज्ज (१।११२।६, ८।७०।८) ग्राह्य का पद पाठ द्रष्टव्य है । इन में भव ग्रह दिया गया है ।

अन्त कात्यायन की व्युत्पत्ति का आधार स्पष्ट नहीं है ।

यदि अनु-नासिक्य लोप के कारण ही यहाँ दीघ हुआ होता, तो 'मज्यते, मज्यमान' आदि में भी दीघ हुआ होता । अतः यहाँ दीघ प्रत्यय की उपस्थिति से हुआ है अनु-नासिक्य-लोप की क्षति पूर्ति के लिये नहीं ।

४ टि लोप भनस+ईपिन् > मनीपिन् ।

५ अत लोप √हन् > अघा, किम्+वृ > कीवट, √जन् > जात वेदस, √तन् > तमस, √वन् > वाम में अन्तिम नासिक्य ध्वनि का लोप हुआ है तथा 'ध्वस > ध्वान्' में अन्त्य 'स्' ध्वनि का लोप हुआ है<sup>१</sup> ।

इस प्रवृत्ति में भी नासिक्य ध्वनि के लोप की मात्रा ही अधिक है । इन शब्दों में एक 'तमस' को छोड़ कर लोप सब में ध्वनि लोप के प्रति प्रसव के रूप में पूर्व वर्ती ध्वनि को दीघ हो गया है<sup>२</sup> ।

कई शब्द इस प्रकार के भी उपलब्ध होते हैं जिन के निवचन के बारे में ऋषियों में मत भेद हैं । एक ऋषि ने एक निवचन किया है, तो दूसरे ने दूसरा । अग्नि, अग्नि केतु गो, चित्त, तमस पयस शब्द द्रष्टव्य हैं ।

### (१, ज) शब्दाथ निवचन

स्पष्ट किया जाने वाला अथ शब्द के किस भाग से सम्बद्ध है इस आधार पर अथ निवचन के भी मूलतः दो भेद हैं (१) प्रकृत्यथ निवचन और (२) प्रत्ययथ निवचन

(१) प्रकृत्यथ निवचन प्रकृत अध्ययन में लिये गए अधिकांश शब्द धातु ज हैं अतः प्रकृत्यथ निवचन का आशय यह है कि प्रमुख शब्दों में उन शब्दों के प्रचलित होने का आधार जो क्रिया है उस का अभिधान करने वाले धातु का अथ स्पष्ट करने की दृष्टि से प्रमुख शब्दों का निवचन किया गया है । अतः यह निवचन शब्द के ध्वन्यर्थ की धारणा न होने के कारण शब्द निवचन नहीं है, तथा उस के अर्थों की धारणा होने के कारण अथ निवचन है । उदाहरण—√इप् > इप्, √उच् > ओक्, √घस् > घासि, √ज > जरित्, जात+√विद् > जात वेदस, √ज > जार, √हु >

।

।

१ पाणिनीय तन्त्र में 'ध्वान्' शब्द √ध्वन् (धन्) से व्युत्पन्न माना जाता है द्र अष्टा ७।२।१८ पर महा भाष्य ध्वान्त तमोऽभिधान इति वक्तव्यम् । ध्वनित तमसेत्येवायम् ।

२ अकार का श्रोत्रे द्वय से सम्बन्ध पतञ्जलि जैसे बड़े आचार्य के प्रमाण पर 'सप्त वचन महा राज' की परम्परा को ग्रहण बनाते हुए ही माना जा सकता है ।

२ पाणिनीय तन्त्र में इस तरह के स्थलों में प्रायेण दीघ का विधान न कर के दीघवान् रूप को पूर्व-वर्ती दीघ रहित रूप का आदेश बताया जाता है । तुलना करें इव किमोरीशको (अष्टा ६।३।६०), ज्ञा जनोर्जा (अष्टा ७।३।७६) । 'वाम' को उणादि वार √वा से मानते हैं । अतः उन के मत में तो इस शब्द में दीघ विधान का भ्रम ही नहीं है । देवराज यज्वन् ने इसे √वन् से बाहुवचन से निष्पादित कर व 'न्' को 'आ' आदेश किया है वन, यण सम्भक्तो (म्वा ४५६ ४६०) । इषु युधो (उणादि सूत्र १४२) इति बाहुलका मक प्रत्ययो, नकारस्या कारश्च (निघण्टु टीका ३।८।६) ।

जुहुरे, √दत्—√दत्त, √दा>दानु, √दा>दामन्, √नु>नी, √पा>पति, √प>पति, पयस्, √पा>पायस्, √पा>पितु, √भज>भक्त, भग, भाग, √यम्>रश्मि, √वन्>वाम, √विप्>विप्र ।

(२) प्रत्ययाय निवचन धर्म्याय म प्रवृत्त्यय तो भाषार भूत है ही पर उम की विभिन्न छायाभा का निमाण करने मे प्रमुक्त दायित्व प्रत्ययाय का ही होता है । अतः जहाँ प्रवृत्त्यय प्रायेण क्रिया रूप ही होता है, प्रत्ययाय के कई भेद होते हैं

(क) कारकाय प्रत्ययाय के इस भेद का ऋषियो ने विभिन्न कारक विभक्तियों के प्रयोग से सूचित किया है

(i) कर्तृ धक्नु, धग्नि, धद्भि, धर्तृ मा न्दिर उग्र धाजिष्ठ धाजीयम उपस ऋक्व ऋक्वन् ऋत्विज, केतु<sup>१</sup>, क्षत्रिय<sup>२</sup>, ना, चक्रि, चित्र जरितृ, जात वेदस ततुरि तमस<sup>३</sup>, तरणि, तमन्, -तुर दत्त, दानु, दामन्, दद, दार ध्वात पति, पपुरि प्र हेतृ भग मणूक मधु, मनुष्य विप्र, वीर्य, वृत्र धूर सिधु सतु स्तोत्र—कुल ४४ धा कर्तृ मे व्युत्पादित हैं ।

(ii) कर्म धक्, उक्थ उक्थ, ऊव, ऋग्मिय, गूळह पाति, चक्रत्य जघन, जार, तमस<sup>३</sup>, तिग्म तीर्ण दात्र<sup>३</sup>, दानु, दद दार धाय नि पि नि युत नेमि पक्वि, पयस<sup>३</sup> पायस पितु, पृथिवी, प्र-यस भक्न भागी<sup>३</sup>, रश्मि, वाम, विधवा वृक्ष सु धित, सूक्त—कर्म अय मे कुल ३५ धा व्युत्पादित हैं ।

(iii) करण धक्, धाज्य उदन् कम्भन, धन धून चेतस, जरणा, दात्र<sup>३</sup>, नी पयस<sup>३</sup> पायु भान, मूची—करण अय मे कुल १५ शब्द व्युत्पादित हैं ।

(iv) अग्नि करण गुहा, ग्मा ।

(v) कर्म कर्तृ केतु<sup>३</sup> ।

(ख) भाव धक्, भोजस ऊति, तप्त भागी, वोळहु, सु दीति ।

(ग) अर्हार्थीय उक्थ, शुह ।

## (२) अय निवचन

क्षत्रिय, नि पि और रश्मि की व्याख्या इन के ध्वयस की व्युत्पत्ति न बता कर केवल इन का अय स्पष्ट कर के ही की गई है । अतः ये अय निवचन मात्र हैं ।

अय मात्र निवचन की अपेक्षा धर्म्याय निवचन की इतनी प्रचुरता इस तथ्य की पोषक है कि वदिक ऋषियो ने अपने भाषा चिन्तन को उस स्तर तक पहुँचा

१ तारकाङ्कित ५ शब्द एकाधिक कारका मे व्युत्पादित हैं (१) कर्तृ—कर्म कर्तृ केतु । (२) कर्तृ—कर्म तमस । (३) कर्म—करण धक्, दात्र पयस ।

२ वस्तुतः इस शब्द मे तद्धित प्रत्यय है । यह तद्धित कर्तृ निष्पाद्य 'अशन' क्रिया को प्रवृत्त करता है । अतः इसे यही प्रदर्शित कर दिया है ।

३ इस चिह्न वाले दो शब्द भाव तथा कारक अर्थों के अभिधायन प्रत्यय से निष्पन्न हैं (क) कर्म—करण—भाव धक्, (ख) कर्म—भाव भाग ।

दिया था, जहाँ कि प्रत्येक शब्द की व्युत्पत्ति विदित होती है। इस से यह विदित होता है कि ऋग्वेदीय ऋषि नामों को अधिकांश म व्युत्पन्न मानते थे तथा उनकी भाषा भाषिक चिन्तन की महारथ्यों और बाराकिया की तह तक पहुँच कर व्युत्पादित हो चुकी थी।

इस विवेचन से निम्न लिखित तथ्य विदित होते हैं

(१) प्रायेण सभी निवचनो में नाम पदों की व्युत्पत्ति धातु से दी गई है। अतः इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि ऋषि लोग नाम वरण का आधार पदाय की किसी क्रिया को मानते थे।

(२) व्युत्पाद्य अथ और व्युत्पादक धातु के अथ में सामञ्जस्य उह इष्ट था। यही कारण है कि आदित्य के लिये प्रसिद्ध 'पपुरि' का निवचन 'भरना' (जल की वर्षा में सहायक होने से) अथ वाली 'पिपति' स और आपत्ति स पार लगाने वाले इन्द्र के नाम 'पप्रि' का निवचन 'पार करना' अथ वाली 'पारयति' से किया गया है। इस से सिद्ध होता है कि वे निवचन में अथ को समुचित प्रधानता प्रदान करते थे।

(३) भाषा में ध्वनि परिवर्तनों की स्थिति और उनके वैज्ञानिक आधार से भी ऋषि लोग मली भाँति परिचित थे।

(४) समास तथा तद्धित शब्दों का निवचन भी उन्होंने किया है। इस में विग्रह प्रदर्शन, प्रकृति विकृति सम्बन्ध का प्रदर्शन प्रमुख रूप से किया गया है।

---

१ इस विषय में विशेष के लिये 'निवक्त मीमांसा' में 'वैदिक साहित्य में निवचन' अध्याय तथा विशेष कर पृष्ठ २०७-२०८ देखें।

## आग्वेदेतर वैदिक वाङ्मय में व्युत्पत्ति चिन्तन

भाष्यदिन सहिता मे श्रुतासि पिता

यजुर्वेद की माध्यमि संहिता में १३५ छान्दों के निबन्धन मिल गये हैं। इन में ५२ छान्दों के निबन्धन ज्ञानेश्वर और धर्मपत्र में भी मिलते हैं। २७ छान्दों के निबन्धन वेदव्यास में हैं। १ छान्दों के निबन्धन चण्डी धर्मपत्र-संहिता में और १६ छान्दों के निबन्धन इन दोनों संहिताओं—मा गं और य स—में मिलते हैं। धर्मपत्र में २३ छान्दों के निबन्धन हैं जो माध्यमि संहिता में माने निबन्धन हैं।

पारवे-महिता तथा माय्या-महिता दोनों में विभेद बाप २३ शब्दों के निरूपण में से बाईस शब्दों के निरूपण द्वारा महिनापों में गमाया ही है। पाँच शब्दों के निरूपण में कुछ धार है जिसका व्योरा यों है

१. अमृतं शब्दे ॥ कुतश्चाप्तिरतः ॥ और गौतम राट्टगण<sup>३</sup> ने 'अमृत' को 'मन' के विसोम के रूप ॥ प्रयुक्त किया है। अर्थात् वे लोग इस 'मरना' प्रसवाती ✓मृते निष्पन्न मानते हैं। यजुर्वे<sup>४</sup> में इसे 'श्रुत' से सम्बन्ध के रूप में प्रयुक्त किया गया है<sup>५</sup>।

२. पुनः श्रुत्वा वेदं मया ह शम् 'दीपनं धीरं' 'तिष्ठन् धम्यवासी' ✓ पुनः से निष्पन्न है तथा 'पुनः' का पर्याय 'माध्य' 'त' 'लेपनं' तथा 'दीपनं धम्यवासी' ✓ अङ्गु स अभिप्रेत है, यह हम पीछे" यह चुन है। माध्यन्तिन संहिता म 'पुनः' को ✓ अङ्गु के कारण के रूप में दे कर उपयुक्त धम्य को स्पष्ट किया है। मत यह 'पुनः' का धम्य निवचन है जो श्रुत्वा वेदानुबन्ध है।

३ धाय श्रुत्रैः सहिता म दयावादेव धानय<sup>१</sup> धीर भरद्वाज बाहिरपरय<sup>२</sup>  
को यह शय<sup>३</sup> धारणायव ✓ धा से कम अथ म श्रुत्यन्त धमिप्रेत लगता है किंतु  
-माध्यदिन-सहिता म यह प्रीणन अथ वाली ✓ धि से धमिप्रेत है<sup>४</sup> । शृणु यजुर्वेद<sup>५</sup>

- १ मर्तासि सन्तो अमृतत्वमानशु । १।११०।४ ॥  
 २ यो (अग्नि) मर्येण्वधृत श्रुतावा । १।७७।१ ॥  
 ३ श्रुत च मेऽमृत च मे । १।८।३ ॥ ४ द्र पृष्ठ ३६ ।  
 ५ अदवो धृतेन शमया समवत । २।१।१० ॥  
 ६ येन तोऽश्व सनयाय धाय बीज बहुध्वे अक्षितम् ।  
 अरुमन्यतद्धतन, यद्ध ईमहे राघो विश्वायु सोमनम् ॥ ५।५३।१३ ॥  
 ७ विश्व स देव प्रति वारमने, धत्त धाय, पत्यते धसम् ॥ ९।१३।४ ॥  
 ८ धायमसि, धिनुहि देवान् । १।२० ॥ ९ द्र कपिष्ठल वठ सहिता १।६ ।

में भी यही ध्युत्पत्ति अभिप्रेत है। परवर्ती आचार्यों ने ऋग्वेदीय ध्युत्पत्ति को ही माना है<sup>१</sup>।

४ भार दीर्घ-तमस औचप्य तथा वसिष्ठ मैत्रा वरुणि ने √भृ (घोष्ठ-यादि धातु) से इस शब्द की व्युत्पत्ति का सूत्र दे दिया है<sup>२</sup>, जब कि माध्यन्दिन संहिता में √हृ के साथ इस के प्रयोग<sup>३</sup> से सूचित होता है कि ऋग्वेदीय √भृ का स्थान उस काल में √हृ से चुकी थी तथा प्राचीन शब्दों में विद्यमान √भृ की व्याख्या प्राचीन √हृ से की जाने लगी थी।

५ शमी ऋग्वेद में अग्नि शमी<sup>४</sup> तथा भारद्वाज ब्राह्मण<sup>५</sup> ने इस की व्युत्पत्ति स्तुत्यधक √शम् से की है परन्तु माध्यन्दिन संहिता में यह यज्ञिय कम-काण्ड के अनुकूल अर्धव्युत्पत्ति के साथी 'अभितृ' नामक ऋग्वेद के बलि-पशु की घोर फाड़ से सम्बद्ध संस्कार की वाचक √शम् से व्युत्पादित के रूप में अभिप्रेत है<sup>६</sup>।

माध्यन्दिन संहिता के अपने निबचनों को प्रमुख रूप से निम्न चार वर्गों में बाँटा जा सकता है (१) वृद्धत ३१ शब्द, (२) समास २८ शब्द, (३) तद्धित १८ शब्द तथा (४) प्रकीर्ण ५। प्रत्येक वर्ग का व्योरा यो है

(१) वृद्धन्त वृद्धन्त शब्दों के निबचन में प्रवृत्ति घोर प्रत्यय की व्याख्या अभिप्रेत होती है

(क) प्रवृत्ति की व्याख्या तो एक ही प्रवृत्ति से निष्पन्न दो शब्दों के परस्पर-सम्बद्ध युगपत् प्रयोग से की जाती है। जैसे—√हृ से निष्पन्न 'एम' (लक्ष्य<sup>७</sup>)

१ तुलना करें निरुक्तम् ५।१२ यामा ध्राष्ट्रे हिता भवन्ति। कले हिता भवतीति वा। उणादि सूत्र ७२६ (५।४८) दधातेय-नुट् च।

२ गर्भो भार भरत्या चिदस्य। १।११२।३॥

विभति भार पृथिवी न सूम् ॥ ७।३४।७॥

३ ऋग्वेदिनामुच्छ्रापय गिरी भार हरति नव। २३।२६॥

४ यो न शमी शशमानस्य निदातुच्छयाकामा हरते सिद्धिदान। ५।४२।१०॥

५ ईजे यज्ञेभि, शशमे शमीभिश्च चक्षुरायामये ददाश। ६।३।२॥

६ स इव देवेभ्यो हवि शमीष्व, सु शमि शमीष्व। १।१५॥ महीधर ने यहाँ √शम् का अर्थ 'मल्ल विरोधि-पुष्पाप नयनेन शांत कुव'। से स्पष्ट किया है। परन्तु निम्न मन्त्रों में √शम् ऊपर बताये हिंसन अर्थ में ही प्रयुक्त है, अतः यहाँ भी यही अर्थ उचित है कस्त्वाऽऽच्छयति? कस्त्वा वि शास्ति? कस्ते पात्राणि गम्यति? क उ ते शमिता कवि? (२३।३६)। ऋतवस्त ऋतुषा पव शमितारो वि शास्तु। स वरुणस्य तेजसा शमीभिः शम्यतु त्वा॥ ४०॥ महीधर ने भी यहाँ यही अर्थ दिया है वि शास्ति=अश्वोदर पाटयति (३६)। शम्यतु=पव वि शासनेन हवि कुवन्तु (४०)।

७ द्र महीधर 'एम'—ईयत इत्येभ, एतेय प्रत्यय, प्राप्तयोऽय। तुलना करें अग्नेजी एम् (aim)।



शब्द के साथ उसी सन्निध्यन्त 'इत्या' के प्रयोग—'एमश्च म इत्या च मे ।' (भा स १८।१५)—से इन दोनों, विशेष कर के 'एम्', का प्रकृति स्पष्ट की गई है । इसी प्रकार  $\sqrt{\text{दा}}$  से निष्पन्न 'दत्त' <sup>१</sup>,  $\sqrt{\text{रम्}}$  से निष्पन्न 'रति' , तथा 'रति' <sup>२</sup>,  $\sqrt{\text{गम्}}$  से निष्पन्न 'गमितृ' <sup>३</sup>,  $\sqrt{\text{स्त}}$  से निष्पन्न 'स्तीर्ण' <sup>४</sup> और  $\sqrt{\text{स्वद्}}$  से व्युत्पन्न स्वात् <sup>५</sup> के निबन्धन इस विषय में द्रष्टव्य हैं ।

(ख) प्रत्यय की व्याख्या समानाधिक्रम्य प्रत्यय के प्रयोग में की जाती है अग्निरिड ईडित । (भा स २।३) में ईडित {कम् में 'त' प्रत्यय} के साथ 'इड' के प्रयोग से 'इड' भी कम् कृदन्त है यह सूचित किया है ।

(ग) एक ही धातु से निष्पन्न दा का युगपत् प्रयोग कर के उन दोनों के सम्बन्ध का विभक्ति के द्वारा समिधान कर के भी प्रत्यय का अर्थ स्पष्ट कर दिया जाता है 'इडाग्निरिड ईडित (भा स २१।१४) । यहाँ 'ईड' के करण के रूप में 'इडा' के प्रयोग से 'इडा' की करण व्युत्पाद्यता का सङ्केत समझा जा सकता है ।

भाषा-चिन्तन की दृष्टि से निम्न व्युत्पत्तियाँ ध्यान देने योग्य हैं

१ ध्रुव <  $\sqrt{\text{ध्रुव्}}$  शकट (छकटे) की 'ध्रु' की 'युत्पत्ति' हिंसायक  $\sqrt{\text{ध्रुव}}$  (प्रयोग में  $\sqrt{\text{ध्रुव्}}$ ) से बताई है<sup>१</sup> क्योंकि यह वहन करने वाले की कृष्ट देती है । पास्क और व्याकरणों ने भी यही 'युत्पत्ति' की है<sup>२</sup> । यहाँ उ की सान्निधि से व का जोष<sup>३</sup> स्पष्ट अभिप्रेत है ।

२ ध्रुव  $\sqrt{\text{ध्रुव्}}$  जिस प्रकार ध्रुव और यमन के युगपत्प्रयोग में इन दोनों शब्दों की एक धातु जना स्पष्ट होती है, वैसे ही 'ध्रुव' और 'धरणा' के इकट्ठे प्रयोग से भी इन दोनों की समान धातु बताता तथा ध्रुव  $\sqrt{\text{ध्रुव्}}$  > ध्रु व्युत्पत्ति का सङ्केत होता है<sup>४</sup> । व्याकरण निकाय में यह  $\sqrt{\text{ध्रु}}$  से बताया जाता है<sup>५</sup> ।  $\sqrt{\text{ध्रु}}$  के आ

१ यद्वत्, यत्परा वानम् (१८।६४) । २ इह रतिरिह रमन्वम् (८।५१) ।

३ इह रतिरिह रमताम् (२१।१६) ।

४ द्र पष्ठ ११६, टि ६ में उद्धृत २३।३६ ४० ।

५ स्तीर्ण बहि सुन्दरीम् (२६।४) ।

६ भाषो देवी स्वदन्तु स्वात्त चित् (६।१०) ।

७ घूरति, ध्रुव ध्रुवतम् ध्रुव त योऽस्माध्रुवति, त ध्रुव, य धय धूर्वम् (१।८) ॥ उन्वट ध्रुवण निम्न निमित्त हि ते नाम ।

८ द निश्चनम् ३।६ ध्रुवक्षतेष्वध्वनम् । इयमपोतरा धूरेतस्मादेव—  
त्रि हति वटम् । अष्टा ३।२।१७७ ध्रात्र मास ध्रुवि घूर्णोक्ति पत्रु प्रावस्तुव विदम् ।

९ द्र अष्टाध्यायी ६।४।२१ शस्त्रोप ।

१० यत्ताडति धमनी, ध्रुवोऽपि धरण (६।२२) ।

११ द्र उणादि-सूत्र २।६(२।६२)'ध्रुव क ।' परउन्वत्त दत्त बाहुलकाद्  
'ध्रु' स्वर्गे प्रतीति क । या या व १।६२५ 'ध्रुव' इति बाहुलकात् ।

रूपात् रूप वदिक वाङ्मय मे उपलब्ध नहीं हैं। तीन कृत रूप 'ध्रुति'<sup>१</sup>, 'ध्रुवस'<sup>२</sup> तथा ध्रुवि,<sup>३</sup> अवश्य मिलते हैं, जो  $\sqrt{\text{ध्रु}}$  की प्राचीनतर काल मे सत्ता के सूचक हैं। अतः शब्दार्थोभय साम्य के कारण  $\sqrt{\text{ध्रु}} > \text{ध्रुव}$  व्युत्पत्ति अधिक उचित प्रतीत होती है।  $\sqrt{\text{ध्रु}}$  स्वयं  $\sqrt{\text{धृ}}$  से विकसित हो, यह सम्भव है।

३ मृद—मृदो 'मिट्टी' का वाचक मृद' शब्द नरम होने के कारण पड़ा है<sup>४</sup>। 'मृदु' शब्द 'पृथु' के समान है तथा  $\sqrt{\text{अद्}}$  से सम्प्रसारण हो कर निष्पन्न है<sup>५</sup>।

४ रति, ५ रति य दोना शब्द  $\sqrt{\text{रम्}}$  से निष्पादित है<sup>६</sup> तथा एक में 'म्' का लोप नहीं हुआ है, दूसरे में हो गया है। पर वर्तमान काल में 'म्' का लोप अनिवार्य हो गया है<sup>७</sup>।

५ विष्णु <  $\sqrt{\text{विष}}$  कुछ लोग 'जिष्णु' आदि शब्दों की सज पर वि+स्नु=विष्णु व्युत्पत्ति मानते हैं। पर माध्यम-सहिता में व्याख्यान  $\sqrt{\text{विष}}$  से कत्रय में विष्णु अभिप्रेत है<sup>८</sup>। यास्क ने इस की तीन व्युत्पत्ति दी हैं<sup>९</sup>, जिन में न यह प्रथम है। तृतीय व्युत्पत्ति इसी का अर्थ निवचन भी हो सकती है। व्याकरण लाग इसी व्युत्पत्ति को मानते हैं<sup>१०</sup>।

६ शल्य <  $\sqrt{\text{ग}}$  तीसरी नोक वाले 'शल्य' नामक एक अस्त्र के साथ मास में हिसाब  $\sqrt{\text{श}}$  का प्रयोग किया गया है शल्यो की (तीसरी) नोकों को भोषरा कर के<sup>११</sup> इससे प्रतीत होता है कि 'शल्य' अपनी हिसकता के कारण,

१ न स लोको नो वदण, ध्रुति सा। श्रु ७।८६।६॥ यद्वा यह 'स्थिर नियति' अर्थ में आया लगता है कई बार मनुष्य स्वेच्छा (दक्ष) में नहीं अपितु नियति से पाप (अनन) में प्रवृत्त हो जाना है। विश्वव ध्रु ने 'द्रोह' अर्थ बताया है। द्र वैदिक पदानुक्रम काप।

२ मा विश्व वाराऽश्विना, अत न प्र तत्स्थानमवाचि वां पृथिव्याम्।

अन्वो न वाजी शुन-मृच्छो अस्यावा यस्तेवधुर्ध्रुवसे न योनिम्॥ श्रु ७।७०।१॥

विश्वव-ध्रु ने इसे  $\sqrt{\text{ध्रु}}$  से कत्रय में कसुध से तथा रोयू और बालदे न सुमयक (पाणिनीय, तत्र असे) से निष्पन्न बताया है।

३ गान पर्यन्ताध्रुवयो भवतु। श्रु ७।३५।८॥ यह मात्र आयवण परम्परा (शौनक शाखा १६।१०।८ पप्पलाद शाखा १३।८।८) में भी घृत है।

४ मृद हस्ताग्रा मृदो कृत्वा (११।५५)। ५ निरुक्तम् २।२।

६ द्र पृष्ठ १२० टि २-३ म उदत मा स ८।५१, २२।१६।

७ द्र अष्टा ६।४।३७। ८ विष्णोर्वैष्णोऽसि। १।३०।

९ निरुक्तम् १।२।८ (१) अर्थ यद् विषितो भवति, तद् विष्णुभवति।

(२) विगतेर्वा। (३) व्यश्नोतेर्वा।

० उणादि सूत्र ३१६ (३।३६) विदे किञ्च।

११ अन्व-तत्त्व धनुष्टय सहस्राक्ष गतेषु वे।

निगीय शल्यानां मुखा गिबो न सुमना मय॥ या ७ १६।१३॥

शील करने के कारण, 'शस्य' कहलाता है, अतः यह  $\sqrt{\text{श}}$  से 'युत्पत्ति' है एवं यहाँ धातु के 'श्र' को 'श्रर' विकार होने पर रेफ को लकार भी हो गया है। ऋग्वेद संहिता में इस का प्राचीन रूप 'शय कतिपय बार प्रयुक्त हुआ है। वहाँ यह केके जाने वाले आयुध के रूप में आया है'। व्याकरणों ने सम्भवतः केकेना रूप गति के कारण इस की 'युत्पत्ति' गत्ययक  $\sqrt{\text{शल}}$  से बताई है<sup>२</sup>।

(२) समास माध्यदिन संहिता में उपलब्ध निवचन वाले समासों के उत्तर पद कृदन्त हैं। इन का निवचन (ब) विग्रह प्रयोग कर के<sup>३</sup>, (ख) केवल उत्तर पद की व्युत्पत्ति प्रदर्शित कर के<sup>४</sup> तथा (ग) उसी उत्तर पद वाले श्रय पद का उस के साथ प्रयोग कर के<sup>५</sup> किया गया है। प्रथम प्रकार के निवचनों की संख्या श्रय प्रकार के निवचनों से वही अधिक है।

(३) तद्धित तद्धतों के निवचन का संस्कृत प्रकृति और विकृति के युगपत् प्रयोग से किया गया है। प्रत्यय का निर्धारण प्रकरण से किया जा सकता है। ये तद्धित निम्न श्रयों में प्रयुक्त हुए प्रनीत होते हैं 'का'<sup>६</sup>, का अपत्य<sup>७</sup>, की देव

१ पुष पेदव पुष धारमश्विता, स्तृषां श्वेत तद्यतार बुवस्यय ।

गर्गैरमि धु पृतनासु दुष्टर चट्त्पनिर्गमिव चयली सत्तम ॥ १।११६।१०॥

पुष्टिणि दस्मो नि रिणानि जम्भराशोचते वन आ वि भावा ।

आवस्य वातो भनु वाति गोचिरस्तुन गर्गमसमासनु धून् ॥ १४८।४ ॥

२ इ तिष्ठान्त कीमुदी, उणा सूत्र ५४७ (४।१०७) सानति वलति-वलति-तण्डुलाङ्गु श चपातेस्त्वल-मस्त्वल धिष्ण्य-गत्या । गतेय = गत्ययम् । तत्त्व बोधिनी

बाले '—शान गतो (१।८२७) । बाल मनो रमा गत्यमित्यग्राह—'गले' इति । शान गतावित्यस्मावित्ये ।

३ इ आपुष्पा आपुर्मे पाहि (२।१।१) । उद्ग्रामेलोवपमीत् (१७।६१) । उव प्रया उव प्रयस्य (१।२२, तुतना करें २०।३६ उव प्रया प्रपमानम्) । काम काम पुमे पुस्य (१।१७२) । गातु विहो गातु विरवा (८।२१) । वृत वृत पावान विवत, वता वता पावान विवत (६।१६) । परि वीरसि, परि रवा वीवीविशी व्यमत्ताम् (३।६) । स्विष्ट कृषस्विष्ट-कृत्स्विष्टमद्य करोतु म (२८।२२) ।

४ ■ तास्तव छाद मुन्नादितान् (१।१७८) । सु मृत विमृत (८।२६) ।

५ इ स सूर्येण दिद्युतदुदधिर्निधि (३८।२२) ।

६ इ अय पुरो भुवस्, तस्य प्राणो भोवायन (१३।५४) । अय दक्षिणा विद्व कर्मा, तस्य मनो वैद्व-कर्मणम् (५५) । अय पदधाद्विद्व यथास, तस्य धनुर्वेद-व्यधसम् (५६) । इदमुत्तरास्त्वस् तस्य धीत्र सीवम् (५७) । इयमुपरि मतिता, तस्य धार माता (५८) । टीना वारा न इनके तद्धिताय की व्याख्या कहाँ पा ('तस्यदम्') से, तो वही 'का अपत्य' (तस्यापत्यम्) से की है ।

७ इ आ-यतये स्वा परि-यतये गृह्णामि तन्न नप्त्रे गावत्राय गावदन घोत्रि ष्ठाप (५।५) । उष्वट 'गावत्राय'—'गवनुवन्त्यावागे मुनानि स्वातुम्' इति गावत्र

ता<sup>१</sup>, के लिये<sup>२</sup>, वाला<sup>३</sup>, मे प्रसिद्ध<sup>४</sup> ।

(४) प्रकीर्ण इस वग के अन्तगत तीन प्रकार के पाँच शब्द हैं

(क) एक प्रयोग मे √जि (जीतना) के साथ उसवे ध्यत रूप √जापि (जिताना) का प्रयोग किया है<sup>५</sup> तथा दूसरे प्रयोग मे √श्रु (सुनना) के साथ √श्रु श्रूप (सुनना चाहना) का प्रयोग किया है<sup>६</sup> । इन से सूचित होता है कि घातु के शुद्ध तथा प्रक्रिया के रूपा का पारस्परिक सम्बन्ध इन निवचनों से स्पष्ट किया गया है ।

(ख) एक प्रयोग<sup>७</sup> मे √श्रु के साथ उस से निष्पन्न इलोक<sup>८</sup> नाम का प्रयोग आख्यात के रूप मे किया गया है ।

(ग) एक प्रयोग मे दो घातुमा के पारस्परिक सम्बन्ध को स्पष्ट किया गया है 'सूक्त वाक' पद 'सूक्त + √वच् से निष्पन्न है । इस की व्याख्या सूक्त + √वृ से की गई है<sup>९</sup> । इस से यह सूचित होता है कि √वच् का उस विशेष लकार मे प्रयोग नहीं होता था, तथा उस के स्थान पर √वृ का प्रयोग किया जाता था । पाणिनीय तन्त्र मे √वच् के प्रयोग के इस वैशिष्ट्य को देख कर ही √वच् को

आकाश । तस्यापत्यं शावधरो=वायुस्, तस्म ।

१ इ प्रविश्यां दुग्धं मेघजमिन्नाय इ सरस्वत्या (१६।१५) । महीधर ऐन्द्रम्=इन्द्र देवत्वम् ।

२ इ अतिथेरातिथ्यमसि (५।१) । महीधर ने सम्भवतः श्रुति मे पठी को देख कर ही इस की व्याख्या 'का' भय में की है अतिथेरिवम्=आतिथ्यम्, 'अति थेय्य' (मृष्टा ५।४।२६) इति क्य प्रत्यय, पर यह सूत्र 'देवताऽतात्तादर्थ्ये यत्' (२४) के 'तादर्थ्ये' के अधिकार मे है 'तादर्थ्य इत्येव (काशिका ५।४।२६) ।

३ ॥ जवो यस्ते वाजिन्, निहितो गुहा तेन नो वाजिन्, धलवाचलेन (६।६) । धवस्वती, प्रथस्वती प्रथस्व, पृथिष्यसि (१३।१७) । अग्निर्ज्योतिषा ज्योति षमान्, स्वमो वचसा वचस्वान् (४०) । तृतीया का प्रयोग कर के मत्वय की व्याख्या करने की यह प्राचीन पद्धति प्रनीत होती है । इ 'निश्चित के पाँच अध्याय, पृष्ठ ४२३, टि ३ । त स ३।२।३।१६ मे बहु-व्रीहि का अर्थ भी तृतीया से ही किया है ।

४ इ आह्वणमथ विदेय पितृमत, पतृमत्यम् ऋषिम आर्षेयम् ॥ घातु-क्षिप्तम् (७।४६) । महीधर 'आर्षेयम्'—ऋषिषु विख्यात आर्षेयत, तम् । जात्या, प्रवरर, ज्ञानेन सु ज्ञातम् इत्यय ।

५ बृहस्पते, वाज जप, बृहस्पतये वाच चवत, बृहस्पति वाज जापयत ।

इन्द्र, वाज जयेन्द्राय वाच यदतेन्द्र वाज जापयत ॥ ६।१॥

उग्वट ने √जापि को √जप या √जि से बताया है, महीधर ने √जि स ।

६ शुभ्रूपमाणाय स्वाहा, शृण्वते स्वाहा । २।२।८॥

७ ओत्र मे इलोकम् । १।४।८ ॥

८ यह 'व्युत्पत्ति ऋग्वेद के अतिरिक्त या स मे भी मिलती है इलोकश्च मे, अवश्व मे, श्रुतिश्च मे । १।८।१ ॥ ९ सूक्त आकाय सूक्ता ब्रूहि । २।१।६१॥

✓यू वा घादेव बताया गया है<sup>१</sup>।  
 ✓दुष् घोर ✓दुह परस्पर सम्बन्ध है, यह हम पीछे<sup>२</sup> बह चुके हैं। मा न  
 म इन वा युगपरप्रयोग<sup>३</sup> इस वचन का पोषण है। ✓दुष् वा प्रयोग ऋग्वेद घोर  
 घषवन्वेद म भी मिलता है। दोनों का प्रयोग मा स न बताया मैत्रायणी-संहिता<sup>४</sup>  
 में ही मिलता है।

निष्कष माध्यन्दिन संहिता के निरुक्त व्युत्पत्ति की सही पकड़ की दृष्टि से  
 मध्यम श्रेणी के हैं, ऋग्वेद-संहिता के निवचनो से तनिव हीन कोटि के हैं। अमृत,  
 घाय घोर घृष के निवचन उदाहरण हैं। परवर्ती भाषा विदों ने ऋग्वेद घोर माध्य  
 इन संहिताओं—दोनों—म भि नतया मिलने वाले निवचनों म ऋग्वेदीय निवचनों  
 की ही अपनाया है। इति विज्ञा की दृष्टि से इन निवचन म भी यही प्रवृत्ति पा  
 वाम कर रही है, जिन्हें हम ऋग्वेदीय निवचन की व्याख्या के प्रसङ्ग म देग चुके  
 हैं। ऋग्वेदीय निवचन की अपेक्षा माध्यन्दिन निवचनो म हम कोई विकास दृष्टि  
 गोचर नहीं हुआ। अतस्तथा कुछ ह्रास ही दिखना देता है। ऋग्वेदीय निवचनों जसी  
 बहुलता तथा साजगी माध्यन्दिन निवचनो में नहीं प्रतीत होती।

अथय वेद संहिता में व्युत्पत्ति चिन्तन

आपवण शीनकीय संहिता म कोई ३५० प्रयोगो में २३३ घ ने के निवचनों  
 का सङ्केत मिलता है। इनमें स ८१ निवचन पीछे चर्चित संहिताओं म भी मिलते  
 हैं (क) ५६ ऋग्वेद-संहिता में (ख) ६ माध्यन्दिन यजुर्वेद म घोर (ग) १६ तीन  
 संहिताओं में। इस संहिता के अपने निवचन १५२ शब्दों के हैं।

(क) ऋग्वेद और आपव वेद संहिताओं में मिलने वाले निवचन इन संहि  
 ताओं में मिलने वाले निवचन प्रायण नो समान हैं, परन्तु निम्न शब्दों के निवचनो  
 में कुछ अन्तर है

१ आज्य < ✓अञ्ज ऋग्वेद-संहिता में इस शब्द की व्युत्पत्ति प्रकृति  
 और विकृति के युगपद प्रयोगों से 'सूचित' होती है<sup>५</sup>, जब कि आपव संहिता<sup>६</sup> में  
 प्रकृति (क्रिया) की विकृति (नाम) के हतु के रूप म स्पष्ट रूप में कहा गया है कि  
 अञ्जन के कारण आज्य है। यहाँ ✓अञ्ज अञ्जना=लीपना (अभि धारण<sup>७</sup>)

१ इ अष्टा २।४।५३ भुवी वचि ।

२ इ पृष्ठ ८१ । ३ इन्द्रो न रोदसी चुषे, दुहे धेनु (२।१।३४) ॥

४ ३।१।१२ मे यही प्रप तनिक से अन्तर से घृत है ।

५ इ पीछे पृष्ठ ३५ पर '१४ आज्य < ✓अञ्ज ।

६ अदाञ्जनाभ्यञ्जनमाहर त्याग्यमेव तत् ॥ ६।६।११॥

इस प्रकार से अथ निर्देश रहित सदाभ आपव-संहिता (शीनकीय) से समझें ।

७ कोटो से स्तां पुरो आगावाज्येनाभि धारितो । १०।६।२५ ॥

तु अन्वो धृतेन त्वाया समस्त उप देवां अतुज पाप एतु । मा स २६।१०॥

अथ मे अभिप्रेत है ।

२ आप < √ आप् ऋग्वेद मे नोषस गीतम्<sup>१</sup>, दीघ तमस् औच्य<sup>२</sup>, प्राजा पत्य स-वरण<sup>३</sup> और वसिष्ठ मंत्रा वरुणि<sup>४</sup> ने आप की व्युत्पत्ति पुष्टयथक √पी से सूचित की है । नोषस गीतम्<sup>५</sup> तथा त्रसदस्यु पौष्ट-कुत्स्य<sup>६</sup> ने कदा चिन् √पिव न भी आप की व्युत्पत्ति सूचित की है । इस के विपरीत अथव-वेद म भृगु ने स्पष्ट रूप से √आप से आप का निवचन करते हुए बताया है कि वरुण के द्वारा प्रेरित तुम लोग तेजी से जा रही थी कि इन्द्र ने तुम्हें पालिया, इस लिए तुम आप हो<sup>७</sup> । अथव वेदीय निवचन बेहतर है तथा नरुवन्<sup>८</sup> एव वया वरुणा<sup>९</sup> ने इसे ही स्वीकृत किया है । डा सिद्धेश्वर वर्मा न इस व्युत्पत्ति को नि जीव बताया है तथा भारोपीय जल, नदी अथ वाले ap से उत्पादित किया है<sup>१०</sup> । पर यह व्युत्पत्ति नयन है, कि इतिहास-कथन ? जल फलता है (आप्नोति), अत आप है । वर्मा जी ने यास्क के कथन का अनुवाद भी गलत किया है आप आपन का कर्ता है यम नहीं<sup>११</sup> ।

३ घृत ऋग्वेद मे यह शब्द दीपन अथ वाली √घृ से अभिप्रेत है<sup>१२</sup> । अथव वद म यह लीपना, सीचना तर करना अथ वाली √घृ से अभिप्रेत<sup>१३</sup> प्रतीत

१ एव श्यो न इन्द्र, देय चित्रामिवभापो न पीपय परि उमन् । १।६३।८ ॥

२ उत वा विक्षु मद्यास्व घो गाव आपश्च पीपयन्त देवो । १।१५।३४ ॥

३ तस्मा आप स यत पीपयन्त, तस्मिन् शत्रवमवस्वेषमस्तु ॥ ५।३४।६ ॥

४ आपश्चिचिप्यु स्तयो न गावो नस्तनत जरितारस्त इन्द्र । ७।२३।४ ॥

५ विवन्त्यपो भरत सु दानव, पयो घृतवद्विदयेत्वाभुव । १।६४।६ ॥

६ ग्रहमपो अपि वमुनामाणा, धारय दिव सदन अतस्त्य । ४।४२।४ ॥

७ यः प्रेषिता वरुणेनाग्नीम समवस्यत ।

तदाप्नोतिद्वो वो यतीस् तस्मादापो अनु प्ठन ॥ ३।१३।२ ॥

८ न निरुवन् ६।२६ आप आप्नोते ।

९ उणादि सूत्र २।६ (२।५६) आप्नोतेह स्वश्च ।

१० द्र दी एटिमोलाजीन् आप् यास्क, पृष्ठ २२ तथा ८५ ।

११ द्र वही पृष्ठ २२ आप Lit that which is obtained' । वर्मा जी का यह अर्थ राजवाडे पर आधारित है पानी को अप् कहने का कारण (यह है कि) पानी लोगों को मिनना है (द्र निरुवताच्च आपान्तर, पृष्ठ ६६४) । पर यह अर्थ परम्परा विरुद्ध है सेव सबमाप्नोद् यदि क्रिञ्च यदाप्नोतस्मादाप (घृतपय आ ६।१।१.६) । तद्यदवशीदामिर्वा ग्रहमिद सयमाप्सयामि यदि किं चेति, तस्मादा पोऽमयन् (गोपय आ १।२) आप ता पुनरेता आप्नोते —सबमामिराप्तमिति (दुग् ६।२६) । आप वस्मात् ? आप्नोते —कृत्स्न तामिर्वाप्त्यु (वही स्कन्द)

१२ द्र पृष्ठ ५८ ६ ।

१३ घृतेन पात्रमभि धारयतत् । १।२।३।७३ ॥ तु १०।६।२५ ॥

होता है। सम्भवतः इस व्युत्पत्ति पर नम काण्ड हावी हो गया है। माध्यन्तिन संहिता में इस आशय के लिये 'धृत (वरण)' के नाय सम्प्र-सञ्ज का प्रयोग किया गया है<sup>१</sup>।

४ दामन् यह शब्द वचनायक  $\sqrt{म}$  से निष्पन्न है<sup>२</sup>। अथर्व-वेद में इस सम्बन्ध की स्पष्टतर कर के कहा गया है<sup>३</sup>।

५ राजन् यह शब्द ऋग्वेद में 'गासन (ऐश्वर्य)' अथवा 'राज' से अभिप्रेत है<sup>४</sup>। अथर्व वेद में इसी आशय की तनिक भिन्न प्रचार से स्पष्ट किया गया है। राजाभा पर शासन करने वाला अथि राज<sup>५</sup>। सायण ने सम्भवतः घातु पाठ के अथ कथन<sup>६</sup> से प्रभावित हो कर यहाँ  $\sqrt{राज्य}$  का अर्थ प्रकाशित करना दिया है<sup>७</sup>। पर 'राजसु' की सप्तमी ऐश्वर्य अथ म है न कि 'मध्य (मे) अथ मे'। इस से अगले मात्र के 'तू (इद्र) इन देवता प्रजापति का शासन कर।'<sup>८</sup> कथन में  $\sqrt{राज}$  का 'शासन' अर्थ ही सङ्गत होता है, 'दीप्ति' अर्थ नहीं। सायण भी इस से सहमत हैं<sup>९</sup>।

(ख) माध्यन्तिन तथा आयवर्ण संहिताओं में मिलने वाले निवचन इन दोनों संहिताओं में मिलने वाले छह पदों के निवचन समान ही हैं। एक शब्द 'यव' का निवचन देखने योग्य है। मा स<sup>१</sup> में 'यव' शब्द कम-काण्ड की परम्परा के अनुसार 'जी' का वाचक है तथा शत्रु अथवा दुर्भाग्य आदि की अपनी पवित्रता के कारण ऋत्विज अथवा यजमान से पृथक् करने के कारण पापक अथवा  $\sqrt{यु}$

१ अथर्वो घतेन त्मया समवत उप देवाँ ऋतुं पाय एतु। २१।१० ॥

२ इ पृष्ठ ८०-१। ३ इ ६।१०१।१ ३ स दामन्, दाम्ना स घा।

४ इ पृष्ठ ६६, टि २।

५ इन्द्रो जयति, न परा जयाता अथि राजो राजसु राजयात। ६।६८।१ ॥

६ इ माधवीय घातु-वृत्ति १।८०७ राज दीप्ती।

७ इ सायण भाष्य अथिको राजा = अथि राज, सर्वेया राजा अथि पति

रिद्र। राजसु = अथेषु सू पालेषु, राजयात = अस्मान् राजयतु = प्रकाशयतु

यौयवत्तया प्रस्थापयतु।

८ त्वमिन्द्राथि राज, अथवत्पुस, त्व सूरभि भूतिजनानाम्।

त्व ववीविश इमा थि राजायुष्मत्सत्रमजर से अस्तु ॥ ६।६८।२ ॥

९ इ अथन भाष्य ववीर = देव सम्बन्धिनीर् इमा विना = प्रजास्त्व वि

राज = ईनिध्व। राजतिरश्वय कर्मा।

१० यवोऽति यवयास्वद् देवो यवयारातो। मा स ५।२६ ॥ इ महीधर यवोऽतीत्यप्सु यवानोप्य' (वात्स्यायन श्रौत सूत्रम् ६।२।१५) इति यव वक्ष्यम्। हे पाप विनेष, त्व यवोऽति। योति = पृथक्करोतीति यव। अस्मद् देवो = द्रष्टव्यं गन्तुं देवो = दीर्घाय वा अस्मद् = अस्मत्तो यवय = पृथक्कुरु। तयारातो = अश्वानि च = पृथक्कुरु।

के प्यत रूप से निष्पन्न है। यह निवचन स्पष्ट ही धार्मिक विश्वास पर आधारित है। अथर्व-संहिता में 'यव' अग्नि, इन्द्र और सोम देवताओं के विशेषण के रूप में 'यु' को भगाने के कारण पायकयायव' √यु के प्यत रूप से ही व्युत्पादित है<sup>१</sup>। व्याकरण भी इसे √यु से मानते हैं कि इस में पानी मिलाया जाता है<sup>२</sup>।

(ग) तीनों संहिताओं में मिलने वाले निवचन य निवचन यत्र तत्र मामूली से अन्तर को छोड़ कर समान हैं प्रकृति सबत्र एक ही बताई है, वारक प्रादि का कही-कही मामूली अन्तर हो सकता है। १६ निवचना में स निम्न एक निवचन में प्रकृति के ऊह का अन्तर है

समिध् ऋग्वेद में भरद्वाज बाहस्पत्य ने इस सम्+√इध से निष्पन्न तथा अग्नि के विशेषण 'समिध' (प्रदीप्त) के कारण के रूप में प्रयुक्त 'समिध' के प्रयोग से 'समिध < सम्+√इध' व्युत्पत्ति को सूचित किया है<sup>३</sup>। अथर्व-वेद में तीन स्थान पर<sup>४</sup> तथा यजुर्वेद में एक स्थान में<sup>५</sup> यही व्युत्पत्ति दी है। पर अथर्व-वेद में एक स्थान में<sup>६</sup> इसे सम्+√एध से व्युत्पन्न के रूप में सूचित किया गया है। यजुर्वेद संहिता में इसी से मिलते जुलते मन्त्र में 'समिध्' की व्युत्पत्ति का सूचक यह अक्ष छोड़ दिया गया है<sup>७</sup>।

निष्पन्न व्याकरण की दृष्टि से यद्यपि इन संहिताओं में निवचनों में कोई विशेष अन्तर नजर नहीं आता है, तथापि शैली की दृष्टि से निवचन की तकनीक में एक बड़ा स्पष्ट अन्तर दिखाई दिया है पिछली दो संहिताओं में प्रकृति और विकृति के युगपद् प्रयोग से ही दोनों का सम्बन्ध सूचित होता है अनुमान किया

१ अग्नियव इन्द्रो यव, सोमो यव । यव यावानो देवा यावयत्येनम् ॥ ६। २।१३ ॥ इस स अगने मन्त्र में द्वेध्य (प्र ए व) की चर्चा है असव वीरश्चरति प्रणुतो द्वेध्यो मिथ्याणाम् परि वष्य स्वानाम् (१४)। अत्र यहाँ 'एनम्' से 'द्वेध्य' ही लिया जाना चाहिये।

२ द्र काशिका ३।३।५७ 'श्रुवोरप।' उवर्णातेम्य —यव स्तव, तव, यव । श्रुत्वरूपदुम कोप घृषते अश्मसा इति । यु मिथ्ये + अय ।

३ समिधमग्नि समिधा गिरा गृणे । ६।१५।७ ॥ यहाँ 'समिधा' पद 'समिध' तथा 'गिरा' दोनों से सम्बद्ध प्रतीत होता है इ धन से प्रदीप्त अग्नि की प्रशंसा में दीप्त करने वाली स्तुति से करता है।

४ समिद्धो अग्ने, समिधा समिध्यस्व । ११।१।४ ॥ ब्रह्म चार्थेति समिधा समिध । ५।६ ॥ एतास्ते अग्ने, समिधस, त्वमिध समिद्ध भव । १६।६।४ ॥

५ समिद्धो अग्नि समिधा सु समिद्धो वरेष्य । २१।१२ ॥

६ एषोऽस्येधिषीय, समिदसि, समेधिषीय । तेजोऽसि, तेजो मयि धेहि ॥ ७। ८६।४ ॥ सायण ने 'एधिषीय' की दो व्युत्पत्तियाँ दी हैं सम्+√इध से 'यत्यय' से अथवा सम्+√एध से।

७ एषोऽस्येधिषीमहि, समिदसि, तेजोऽसि, तेजो मयि धेहि । २०।२३ ॥



जाता है, पर ध्वन्य गतिता में इस सम्बन्ध को देखना बर स्पष्ट रूप से पता की व्युत्पत्ति हो जाने लगी है—'घाञ्ज घोर घाप के निवचन इस सीली विभाग के उदाहरण हैं।

अथ येद के ध्वने निवचन न १५१ घञ्ज का व्योरा या हे (१) वृद्धत ९७ (२) ममात् ५५, (३) तद्धित १५ (४) प्रवीण १५ (५) घातुमा में सम्बन्ध की सूचना ८ (१) नाम घातु निवचन २ (२) प्रत्ययात् घातु निवचन १, (३) घात्वच निवचन १ (४) नामाच निवचन १ (५) स्त्री प्रत्ययात् निवचन १ (६) उपसग-योग में प भेद १

निवचन नीची ३ व्याकरण दृष्टि से इस गहिता के निवचनों में पिछनी सहितार्थों के निवचना से कोई विशेष अंतर नहीं है। हाँ निवचन की तकनीक की दृष्टि से जिस विभाग की चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं वह इस निवचना में भी बहुत स्पष्ट दिखलाई देता है। निम्न निवचन व्याकरण तथा तकनीकी विभाग की दृष्टि से महत्वपूर्ण है

१ अघि + √इ = अघि + √वा मृग्यङ्गिण् न अघि + √इ से निरन 'अघीति' के साथ अघि + < वा के प्रयोग में यह सूचित किया है कि उम काल में 'अघि' के साथ √इ और √वा समानांतर तो मानी हो जाती थी। यत्कि कुछ रूपों में √इ की ओर √वा का प्रयोग अघि होता था। पाणिनि ने भी इस स्थिति का उल्लेख किया है ३।

२ अघा माग < अघ + √मृज अघा माग 'अंघा नामक एक छोटे से पीछे का नाम है। इस का उपयोग दस के समान कुछ धार्मिक क्रियाओं में कृत्वा के प्रयोग से उत्पन्न अतिष्ठो के निवारण के निमित्त किया जाता था। इस विशेषता को दृष्टि में रख कर इस की व्युत्पत्ति 'अघ + √मृज से दी है'। यहाँ उपसग के अत्य स्वर की दीप घातु में उपसग वृद्धि तथा अतिष्ठ 'अ' का 'घ' में विपरिणाम, ये सब वही प्रवृत्तियाँ विदित हैं जो ऋग्वेदीय क्रियाओं की विदित थी। यहाँ तो व्युत्पत्ति इस की धार्मिक वृद्ध भूमि के आधार पर की गई है, यही द्रष्टव्य है।

३ √अम—√भू ये दोनों घातु समानाधिक तो हैं ही बाद में चल कर कुछ प्रयोगों में √अम का प्रचलन बढ़ हो गया था, तथा उस के स्थान में √भू का प्रयोग किया जाने लगा था। पाणिनि ने अतिष्ठ अवस्था का निरूपण किया

१ अघीतीरध्यागादयमघि जीव पुरा अगन् १।१६।३ ॥

२ इ अघ्या २।४।४५ इलो वा रुडि ४।६५१ राड् लिटि, विभाषा सुड् सङो, लो च सञिङो ।

३ सुधा मार वृष्णा मानमघीतामनपत्यताम ।

अघा माग स्वया यय सर्वं तदप मृज्महे ॥ ४।१७।६ ।

इ ७८ १८। ७८, ७।६५।२ ३ भी ।

४ इ अघ्यायायी २।४।५२ अस्तेभू (घाप घातुके) ।

है। अथव वेद मे प्रथम स्थिति नी है अभि + √भू के साथ इसी अथ मे अभि + √अस का प्रयोग किया गया है<sup>१</sup>

४ इद्र जाल यह शब्द आज 'जादू' आदि भाषा के लिये प्रयुक्त होता है। मृगु आङ्गिरस से इस की व्युत्पत्ति यो दी है कि यह सारा जगत् महान् इद्र का महान् जाल था, उस ने इसका द्वारा बाँध कर शत्रुआ की सेना को काट डाला था, मैं उसी इद्र जाल रूप अथ वार से अपने सभी शत्रुओं को बाँधता हूँ<sup>२</sup>।

५ उदक < उद् + √अन् भगु ने यह व्युत्पत्ति हेतु कथन पूर्वक स्पष्टत हो है<sup>३</sup>। ऋग्वेदीय ऋषि तथा परवर्ती परम्परा इसे √उद् से मानत हैं, यह हम पीछे<sup>४</sup> कह आए हैं। अ स का निबचन तबनीकी विकास को प्रकट करता है।

६ ख 'इन्द्रिय' के पर्याय 'ख' की व्युत्पत्ति यास्क ने √खन् से दी है<sup>५</sup>। इन से पूर्व यह व्युत्पत्ति कठोरनिपद् में √खन् के स्थान मे इसी अथ मे √वृद् के प्रयोग से सूचन की गई है<sup>६</sup>। इस से पूर्व अथव संहिता मे भी 'ख' का यह निबचन √वृद् के प्रयोग से ही दिया है<sup>७</sup>। ऋग्वेद संहिता मे छिद्र' अथ मे 'ख' का सङ्केत कदाचिद् गातु भात्रेय ने दिया है<sup>८</sup>। 'यो', 'ख' का 'इन्द्रिय' अथ 'छिद्र' अथ स विक सित हुआ है।

७ त्स > √दा वरिष्ठ ने 'दिना' अथ वाली √दा से निष्पन्न दो प्रत्य मात् घातुमा √दित्स और √दापि का प्रयोग युग्मत्व किया है<sup>९</sup>। इन मे √दापि में तो √दा स्पष्टन दिखाई देती है पर √दित्स का √दा से सम्बन्ध जानना तनिक कठिन है। पर इस प्रयोग से √दित्स की √दा से नि प नता का ज्ञान वसिष्ठ को

१ अभि भूयज्ञो, अभि भूरभिरभि भू सोमो अभि सुरिन्द्र ।

अथह विद्वा धृतेना यथाऽस्ता येना पिधेमाग्नि होत्रा इव हवि ॥६॥६७॥१॥

अग्ने, सहस्वानभि भूरभोदसि, नीचो युक्ते द्विषत स-परत्नान् ॥ ११॥११६॥

२ अतरिक्ष जालमासीज, जाल इष्टा दिशो मही ।

तेनाभि घाय दत्तूना गक्र सेनामवावपत् ॥ ८॥५॥५॥

अथ लोको जालमासीच्छकस्य महतो महान् ।

तेनाहमिन्द्र जालेनामस्तमसाऽग्नि-दयामि सर्धान् ॥ ८॥

३ ऐको यो देवोऽप्यतिष्ठत्स्य दमाता यथा वक्षमः ।

उदानिपुमहोरिति सस्मादुत्कमुच्यते ॥ ३॥१३॥४॥

४ इद्र पृष्ठ ३६ '२१ उरस < उदन् < √उद्' ।

५ इद्र निरुक्तम् ३॥१३ ख पुन खनते । निरुक्त के पाँच अध्याय पृ ५५ ।

६ पराञ्चि खानि व्यतृणस्वयम्भूस्तस्मात्पराङ् पश्यति ना तरातम् ॥२॥१॥१॥

७ क सप्त खानि वि सतद नीपणि—कर्णाविमो, नासिक,

चक्षणी, मुखम् । १०॥२॥६॥

८ अददस्समसृजो वि खानि, त्वमखर्षा यदपानां अरम्णा । ऋ ५॥३३॥१॥

९ उतावित्सत्त दापयतु प्रजानन् रयि च न सव-वीर नि यच्छ ॥ ३॥२०॥८॥

है यह स्पष्ट सूचित होता है। पाणिनि ने  $\sqrt{\text{दान}} \text{ सन्} \sqrt{\text{दिस्}} + \text{स} \sqrt{\text{दित्स}}$   
व्युत्पत्ति दी है<sup>१</sup>।

घन-पाल अङ्गिरस ने घन +  $\sqrt{\text{पाल}}$  से निष्पन्न इस शब्द की व्युत्पत्ति

घन +  $\sqrt{\text{रक्ष}}$  के प्रयोग से स्पष्ट की है<sup>२</sup>, अर्थात् यह अर्थ निवचन है।

६ नक्षत्र  $\sqrt{\text{क्ष}} + \text{क्षत्र}$  नारायण ने 'सत्सत्र' के साथ 'नक्षत्र' के प्रयोग से  
इस व्युत्पत्ति को सूचित किया है<sup>३</sup>। तृतीय ब्राह्मण में प्रसङ्गात्तर में प्रयुक्त  
'नक्षत्र' की इस व्युत्पत्ति की यह व्याख्या की गई है कि प्राचीन काल में क्षत्रिय  
लोग (क्षत्र) बहुत तप करते थे। तपस्या में लगे हुए उन के बल (क्षत्र) को इंद्र  
ने ले लिया। बल रहिन होने के कारण वे 'नक्षत्र' कहलाये<sup>४</sup>। यास्क ने सारक  
भाषी 'नक्षत्र' की 'पुरगति' गति' अर्थ वाली  $\sqrt{\text{नक्ष}} + \text{क्ष}$  से बताई है तथा उपर्युक्त  
पुरगति को ब्राह्मण के प्रमाण से दिया है<sup>५</sup>। पाणिनि ने 'नक्षत्र' ही बताया है।  
टीकाकारों के अनुसार यह (१) न +  $\sqrt{\text{क्षद्}}$  से, या (२)  $\sqrt{\text{क्षि}}$  से निष्पन्न है<sup>६</sup>। शाक  
टायन के अनुसार क्षत्र <  $\sqrt{\text{क्षद्}} + \text{त्र}$  है<sup>७</sup>। अतएव मे 'क्षत्र' <  $\sqrt{\text{क्षद्}}$  व्युत्पत्ति दी

१ इ अष्टा ७।४।५४ सनि मी मा धु रन सप्त नक्ष पत पदावच इत ।

२ स मो रक्षतु जङ्गिडो घन पालो घनेव । १६।३५।२ ॥

३ केन देवां अनु क्षियति ? केन ब्रह्म जमीविन ?  
केनेदमयनक्षत्र ? केन सत्सत्रमुच्यते ? १०।२।२२ ॥

४ इ २।७।१८।३ अनाहुवा अये क्षत्राण्यातेषु । तेषामिन्द्र क्षत्राणावत्  
— न वा इमानि क्षत्राण्यभूजन्ति । तानक्षत्राणि नक्षत्रत्वम् । सायण भाष्य देखें ।  
५ इ निरुक्तम् ३।२० 'श्रुता, स्तुमिर' (निघण्टु ३।२०।६-१०) इति  
नक्षत्राणाम् । नक्षत्राणि नक्षते गति कमण । नेमानि क्षत्राणि इति च ब्राह्मणम् ।  
'निरुक्त' के पाँच अध्याय पृष्ठ ४११ देखें ।

६ इ अष्टा ६।३।७५ नक्षत्राण्यनयान् नवेदानासत्त्वा नमुचि नकुल नक्ष नपुं  
सक नक्षत्र-नक्ष-नावेय प्रकृष्या । काशिका नक्षत्र—न क्षीयत इति वा । ... क्षिय,  
क्षरतेषां क्षत्रमिति निपात्यते ।

७ इ उणादि सूत्र ६०६ (४।१६६) शु छ-भी-यधि वधि-यमि सधि-क्षि-यिन्सु  
त्र ।  $\sqrt{\text{क्षद्}}$  घातु पाठा तथा निघण्टु में अनुपलब्ध है । ऋग्वेद (१।२५।१७, ११६  
१६, ११७।१८, १०।७६।७) तथा अथर्व वेद (गीनकीय १०।६।४, ऐतरेय १६।४२।  
५) में यह देना' अर्थ में निश्चित रूप से प्रयुक्त हुई है 'क्षीयत्' ऐतरेय में 'नक्ष  
मेपावक्ये क्षत्रदानमृच्छा'य त पिता'य चकार ।' (श्रु १।१६।१६) में प्रयुक्त  
 $\sqrt{\text{क्षद्}}$  से निष्पन्न 'क्षत्रान' वा प्राणय 'नक्ष मेपावक्ये मामहानम्' (११७।१७)  
में  $\sqrt{\text{मह}}$  म निष्पन्न 'मामहान' के प्रयोग से दिया है। अत्र क्षीयत् के मत में  
 $\sqrt{\text{क्षद्}}$  तथा  $\sqrt{\text{मह}}$  समानाधिकार है।  $\sqrt{\text{मह}}$  वा अर्थ देना' है यह हम पीछे (पृष्ठ  
२५ पर) कहेंगे। 'तस्मै नृन सुतां सख्यनमन क्षदानम्' (म स १०।६।  
५) में भी यह अभी अर्थ में है। तुलना करें 'तुन गेप धाजीगति' 'छ शु बोधावहे

है<sup>१</sup> । कालिदास ने भी यही व्युत्पत्ति दी है<sup>२</sup> ।

१० नदी < √ नद् भगु ने बताया है कि बहते समय शोर करने के कारण नदिया 'नदी' कहलाती हैं<sup>३</sup> । ऋग्वेद में 'नदी' की व्युत्पत्ति तो नहीं दी है, पर 'नदी' के पुल्लिङ्ग 'नद' के साथ 'नाद' के प्रयोग से यह व्युत्पत्ति सूचित अवश्य की है<sup>४</sup> । यास्क ने 'नदी' की यही व्युत्पत्ति दी है<sup>५</sup> । अथर्व संहिता में 'नदी' की व्युत्पत्ति निवचन के ढंग से विवक्षित पद्धति से की गई है, ऋग्वेद में 'नद' की व्युत्पत्ति जब कि 'यज्जना' का विषय है ।

११ बलीयस् < √ बल पीछे हम देख चुके हैं कि ऋग्वेदीय ऋषियों को 'इष्ट तथा 'ईयस्' प्रत्यय घातु स ही बिहित अभिप्रेत हैं तथा 'वृ' कारक तथा 'तुलना' अर्थ इन्हीं का अर्थ है । पाणिनि ने कत्रयक 'तृ' प्रत्यय से निष्पन्न शब्दों से 'इष्ट तथा 'ईयस्' का विधान कर के 'तृ' के लोप का विधान किया है<sup>६</sup> । उद्दालक ने 'अ-बल' के साथ 'बलीयस्' (बलवत्तर) के प्रयोग<sup>७</sup> से यह सूचित किया है कि इस काल तक 'ईयस्' प्रत्यय का प्रयोग उस पद्धति से होने लगा था, जिस का विधान पाणिनि ने किया है । अर्थात् उन्होंने (१) 'बलवत्' के अर्थ में विद्यमान 'बल' शब्द से

पुनयतो मे मध्वामृतम् । हातेव क्षवसे प्रियम् ॥ (ऋ १।२५।१७) । भरद्वाज बाह्व-  
स्पत्ये किं अग्ने मित्रो न वृहत ऋतस्यासि क्षता वामस्य देव, मूरे ॥' (६।१३।२)  
अर्थन कः क्षता भी इसी अर्थ का प्रयोग है । तुलना करें इन्हीं के 'वाममध्य सवितर्  
वाममु' की दिवे दिवे वाममस्मभ्य सावी' (६।७।१६) तथा अग्नि पावक के 'राति  
वामस्य' । लघत्' में √ क्षद् का अर्थ 'देना' > फेंकना > मारना' प्रतीत होता है—  
पश्येद्ये दैवी-वासि ने हम के साथ 'तीखा' (तिग्म) तथा फटना (असनाय, तुलना  
अस्त्र) का और भूताक्ष वाद्यय न 'मरायु' के प्रयोग से इस अर्थ को पुष्ट किया है  
बाह्वहणो वज्रमिन्द्रो गमस्तयो क्षयैव तिग्ममसनाय ॥ इयद्, अहि हस्त्याय स इयत्  
(ऋ १।१३।०।४) तथा पश्येद्ये वचर, जार मरायु क्षयैवायेंतु ततरीय उपरा (ऋ  
१।०।१०।७) । अतः √ क्षद् का अर्थ 'देना' तथा मारना (हिंसा) प्रतीत होता  
है । भूत लिङ्ग, रोष तथा छिंटनी ने इसका अर्थ 'बाँटना' (divide) बताया है ।

१३ १४।८।१४।४ प्राणो व क्षत्रम् । प्राणो हि वे क्षत्रम्—प्रायते हैन  
प्राण क्षणितो ।

२ क्षतास्त्रिंश प्रायत इत्युदय क्षत्रस्य नाम्ने भुवनेषु रुह । रघु व २।५३॥

३ यदद सम्प्रयतीरहाव नदता हते ।

तस्मादा नद्यो नाम स्य, ता यो नामानि सिचय ॥ ३।१३।१ ॥

४ रपद् गन्धर्वोरप्या व योयसा नदस्य नादे परि पातु मे मन ॥ १०।११।२॥

५ द निरुक्तम् २।२४ नद्य कस्मात् ? नदना अत्रन्ति=शम्भ्यत्य ।

'निरुक्त' के पाँच अध्याय, पृष्ठ २४६ ५० ।

६ द पृष्ठ ७१, टि ६ ।

७ स नाक्षमभ्या रोहति, अत्र शुल्की न क्रियते अत्रतेन बलीयसे ॥ ३।२६।३॥

'ईयस्' का विधान किया है, (२) 'ईयस्' का अर्थ 'तुलना मात्र रह गया है।  
१० रदास <  $\sqrt{\text{रक्ष}}$  वदिव भाषा में 'रदास्' का दो है (१) घाघ्र

दास तथा (२) मध्योक्त। अर्थ दोनों का समान ही है। अथर्व महिना में मध्यो  
दान 'रदास' की व्युत्पत्ति इस से रदा की जाती है, अतः यह रदा है यह दो गई  
है। शतपथ में इस की व्युत्पत्ति  $\sqrt{\text{रक्ष}}$  में ही बताई है पर उस का अर्थ 'रोना'  
दिया है। याज्ञ ने इस की इस के साथ और कई व्युत्पत्तियाँ दी हैं, पर वे सब  
वैज्ञानिक नहीं हैं अतः विवादी मन की उपज हैं। धातवण व्युत्पत्ति उचित है।

१३ सिन्धु <  $\sqrt{\text{स्यध्}}$  ऋग्वेद में याम न्य गोनम ने 'सिन्धु' की उपपुन  
व्युत्पत्ति सूचित की है यह हम पीछे कह चुके हैं। अथर्व-महिना में भृगु ने यह  
व्युत्पत्ति एक बार सिन्धु के साथ  $\sqrt{\text{स्यध्}}$  के प्रयोग से सूचित की है।

हय में (नदी के साथ  $\sqrt{\text{स्यध्}}$  के प्रयोग से) सूचित की है।  
(४)  $\sqrt{\text{स्फभ}}$  —  $\sqrt{\text{स्फभ}}$  ये दोनों पातु पर्याय हैं तथा महितामा में  
सु प्रयुक्त हैं। अथर्व ने 'स्फभ' (ब्रह्म) की महिमा बताते हुए उसके अर्थ की

व्याख्या  $\sqrt{\text{स्तम्भ}}$  के प्रयोग से की है। इस से  $\sqrt{\text{स्फभ}}$  का अर्थ निवर्धन तो  
होता ही है, वदा चिन्  $\sqrt{\text{स्तम्भ}}$  की लोक प्रियता पर भी प्रकाश पड़ता है।  
१५ स्मर <  $\sqrt{\text{स्मृ}}$  यों तो यह गण प्रत्यय-वृत्ति है पर अथर्व-महिना में  
ही गई इसकी व्युत्पत्ति का महत्त्व दो दृष्टियों से है (१) यह बाद पुराणों में काम  
देव के प्रसिद्ध नाम 'स्मर' से अभिन है (२) इस का निवर्धन हेतु-अर्थ-पूर्वक—

१ या ओषधयो, या नद्यो, या निज्जालि या वना।  
तास्व वधु, प्रजावती पत्ये रक्षतु रक्षत ॥ १४।२।७ ॥

भाष्यस्तम्भ-मन्त्र-पाठ (१।७।६) में बोधा पाठ 'प्रत्ये मुञ्चत्वहस ॥' है।  
२ द्र १।१।१।१६ देवाह वै यजेन यजमानास्तानमुर रक्षतामि ररक्षुर,

'न यक्षयध्व' इति। तद् यद्वरक्षत, तस्माद्वरक्षति।  
३ द्र निरक्षतम् ४।१८ रक्षो (१) रक्षितव्यमस्मात्, (२) रहसि क्षणोतीति

वा, (३) रक्षो नक्षत इति वा। 'निरक्षत' के पाँच अर्थात् पृष्ठ ४८१, ४८४।  
४ द्र पृष्ठ १०५। ५ भृगु ने जल के कुछ पर्यायों की व्युत्पत्ति बताते

हुए जल के लिये सामान्य सञ्ज्ञा 'सिन्धव', का तथा दो बार 'स्यन्दमाना' का  
प्रयोग किया है ता वो नामानि सिन्धव (३।१३।१) ॥ अथ काम स्यन्दमाना  
अवोवरत वो हि कम। इन्द्रो व नक्तिमिर्वेवोत तस्माद्वागमि वो हितम् (३) ॥

एको हि वो वेवोऽप्यतिष्ठत्स्यन्दमाना यथा वशम्।  
उदानिपुमहीरिति, तस्मादुदकमुज्यते ॥ ४ ॥

६ उत्तिष्ठता, प्र तरता सखावोऽग्रवती नद्ये स्यन्दत इयम् ॥ १२।२।२७ ॥  
७ यस्मिन्स्तम्भ्या प्रजा पतितोऽकान्तसर्वा अघारयत्।

स्फभ त ब्रूहि कतम स्विदेव स ॥ १०।७।७ ॥  
स्फभनेने वि-वृत्तिने घोष भूमिवच तिष्ठत ॥ ८।२ ॥

निवचन करने की मनसा से ही—किया गया है<sup>१</sup> ।

निष्पत्ति जिस कि हम पीछे कह चुके हैं ऋक् तथा शुक्ल यजु संहिताओं के निवचना से अथर्व-वेदीय निवचनों में 'याकरण की दृष्टि से भले ही कोई विकास न हो—इन संहिताओं में व्युत्पत्ति का व्याकरण पक्ष पहले ही पूरात विकसित हो चुका था, तकनीक की दृष्टि से ये निवचन एक निश्चित विकास की स्थिति में हैं। डा सिद्धेश्वर वर्मा के अनुसार ये वैदिक निवचन सही मायनों में निवचन नहीं हैं केवल निवचन की तरफ रुझान को सूचित करने वाले सम्बद्ध शब्दों के प्रयोग हैं<sup>२</sup> । पर डा वर्मा, हमारा विश्वास है, उपर्युक्त अथर्व-वेदीय निवचना को निवचन की दृष्टि से सूचित करने वाले प्रयोग मात्र नहीं कह सकेंगे ।

अथर्व वेद के निवचनों में छन्द के प्रयोग क्षेत्र को—प्रकरण को—पूरी तरह ध्यान में रखा गया है। अथा भाग, इन्द्र-जाल, रक्षस के निवचन इस प्रवृत्ति के उदाहरण हैं। 'याकरण की दृष्टि में विकास का उदाहरण 'बलीपस' का निवचन कहा जा सकता है पिछली संहिताओं में ईपस' कृत्प्रत्यय के रूप में ही आया लगता है, पर यही यह तद्धित है। बाण में यह तद्धित ही माना जाने लगा है ।

### कृष्ण-यजुर्वेद<sup>३</sup> में निवचन

पीछे के पृष्ठों में चर्चि व्युत्पत्ति चिन्तन के आधार पर हम वैदिक वाङ्मय में उपलब्ध निवचनों को दो भागों में बाँट सकते हैं

१ रथ जिता राय जितेयीनामधरसामय स्मर । ६।१३०।१ ॥

असौ मे स्मरतादिति प्रियो मे स्मरतादिति ।

देवा ग्रहिणुत स्मरम्, असौ मामनु गोबतु ॥ २ ॥

२ डा विन्वद्वरानन्द इण्डोनाजिकल् जनल्, Vol VIII (१९७०), Literary Reviews, में हमारी निरुक्त सीमासा<sup>४</sup> की समीक्षा, पृष्ठ १२ From page 4 ff<sup>५</sup> the author takes up a magnificent description of etymologies attempted in the whole field of Vedic literature, These may not be called etymologies proper, but setting up of associated words together indicate a notable etymological trend even among the earliest vedic poets • प्रतीत होता है कि डा वर्मा ने मध्यमे में हमारे भाग्य से पाठक को परिचित कराने की 'पृष्ठ ४' का सन्दर्भ दिया है, वस्तुतः हमने इस विषय का निरूपण १७ वें अध्याय में 'वैदिक साहित्य में निवचन' शीर्षक से २०२ से २२० पृष्ठ तक किया है ।

३ विविध प्रकार की व्युत्पत्तियाँ तथा कुछ अग्रहिणीय विवचनाओं के कारण से हम कृष्ण यजुर्वेद की उपलब्ध सब संहिताओं का आलोचन नहीं कर सके हैं । प्रकृत अध्ययन में कृष्ण यजुर्वेद के प्रतिनिधि के रूप में तैत्तिरीय संहिता तथा अपिष्ठल-वृद्ध-संहिता के निवचनों का ही विवरण दिया जा रहा है । 'वैदिक वाङ्मय'

(१) परोक्ष निबन्धन इस वग के अंतर्गत वे निबन्धन आते हैं, जिनमें शब्द की प्रकृति और विभक्ति के मुख्य विद्यमान सम्बन्ध इन दोनों के युग्मत्व प्रयोग से अनुमत होता है, इस सम्बन्ध का साक्षात् ब्यपन नहीं किया जाता है। ऋग्वेद संहिता तथा माध्यमिन् संहिता के सब निबन्धन इसी वग का प्रतिनिधित्व करते हैं। अथर्व संहिता के भी अधिकांश निबन्धन इसी वग में आने योग्य हैं।

(२) प्रत्यक्ष निबन्धन शब्द की प्रकृति और विभक्ति में सम्बन्ध का प्रतिपादन हेतु पूर्वक जहाँ किया गया है वे निबन्धन इस वग में आते हैं। अथर्व संहिता में उपनिषद् कुक्षी निबन्धन इस वग का प्रतिनिधित्व करते हैं।

तैत्तिरीय संहिता में निबन्धन इस संहिता में भी ये दोनों ही प्रकार के निबन्धन मिलते हैं। इस में कुल मिला कर १२७ शब्दों के निबन्धन १३५ प्रयोगों के माध्यम से किये गये हैं। इन में (१) परोक्ष निबन्धन ५४ शब्दों के, (२) प्रत्यक्ष निबन्धन ६६ शब्दों के, (३) परोक्ष प्रत्यक्षोन्मेष निबन्धन ३ शब्दों के तथा (४) अथर्व निबन्धन ४ शब्दों के हैं।

इस संहिता में उपनिषद् निबन्धनों के बारे में एक यह तथ्य भी ध्यान रखने योग्य है कि विष्णवी संहिताएँ मात्र रूप में हैं, उन में शब्दों की व्युत्पत्ति आदि अतलानता न प्रकृत या, और न उचित ही। तब से ब्राह्मण भी सम्मिलित है तथा इसमें मन्त्र और कम काण्ड की व्याख्या अभिप्रेत होने से मात्र गत बहुत्व-पूण शब्दों की तथा कम शब्दों में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या करना प्रकृत तथा उचित था। इस संहिता में मिलने वाले निबन्धन प्रायेण ब्राह्मण भाग में ही उपलब्ध हुए हैं, मन्त्रों में मिलने वाले निबन्धन इन गिने हैं तथा सभी परोक्ष निबन्धन हैं। ब्राह्मण-भाग में मिलने वाले निबन्धनों में प्रत्यक्ष निबन्धन की संख्या अधिक है।

मम में भाषा चिन्तन की प्रतिष्ठा कर के भी समूचे संहिता साहित्य का अध्ययन न कर पाने पर हमें यह है, तथा अपने कृपासु पाठकों से हम क्षमा की प्रायना करते हैं।

प्रकृत अध्ययन में सातवत्सर जी व वि ता २०१३ (१९५७ ई) में प्रकाशित द्वितीय संस्करण का उपयोग किया गया है। इस के सन्दर्भ सङ्केत का स्वीकार्यो है प्रथम सङ्ख्या काण्ड की द्वितीय सङ्ख्या प्रपाठक की तृतीय सङ्ख्या कण्डिका की तथा अंतिम सङ्ख्या इस संस्करण में कण्डिका गत वाक्यों पर छोटे (सुनीरिपर) टाइप में दी सङ्ख्या की सूचक है। प्रथम नाम रहित सन्दर्भाङ्क इसी संहिता के अभिप्रेत हैं।

१ द्र अथर्व स ३।१३ में उपनिषद् भाष्य, उन्क नगी, वान के तथा अथर्व उपनिषद् भाष्य और स्मर के निबन्धन।

२ बह्व्य=वेद तस्य व्याख्यान=ब्राह्मणम्। द्र अष्टाध्यायी ४।३।६६ तस्य व्याख्यान इति व्याख्यातव्यं नाम्नः। सायण(तैत्तिरीय-ब्राह्मण भाष्य १।३।१०।३, पृष्ठ १७५) 'एतद् ब्राह्मणम्'—'सोमाय पितृपोताय इति मन्त्रस्य व्याख्यान रूपमेतद् ब्राह्मणम्'।

## (१) परोक्ष निर्वचन

१ अक्ष < √अञ्ज भाषा शास्त्रियों में इस शब्द की व्युत्पत्ति पर मत-भेद है। यास्क ने<sup>१</sup> बाहन के घूर के वाचक 'अक्ष' की व्युत्पत्ति √अञ्ज स (सम्भवतः तेल आदि चिकनाई से) लिपा होने के कारण बताई है। जुआ खेलने के साधन 'अक्ष' को उन्हा ने यान के 'अक्ष' के घूमने की क्रिया से समानता के कारण<sup>२</sup> अर्थात्तर में प्रयुक्त माना है। शाकटायन ने जुआ खेलने के साधन 'अक्ष' को √अञ्ज (टोकाया के अनुसार व्याख्ययक) से बताया है<sup>३</sup>। तै स म यान साधन 'अक्ष' को √अञ्ज से व्युत्पन्न सूचित किया गया है<sup>४</sup>।

२ √अरातीय 'बाहु के पर्याय 'अराति' के प्रयोग के साथ इस के नाम घातुज नाम 'अरातीयत्' का तथा 'सेना' के वाचक 'पृतना' के साथ उस के नाम घातुज नाम 'पृतन्यत्' का युगपत् प्रयोग कर के इन के व्युत्पत्तिक सम्बन्ध का ज्ञान सूचित किया गया है<sup>५</sup>। इस स्थल मे छह बार √सह् के प्रयोग के बाद उपयुक्त सभी छह सहन क्रियाओं के समुच्चित पराक्रम को 'सहस्र-वीर्य' शब्द के प्रयोग से सूचित किया है। यहा 'सहस्र' सङ्ख्या वाचक ही नहीं है अपितु 'सहन समय' अर्थ मे योगिक प्रतीत होता है। इस से 'सहस्र < √सह्' व्युत्पत्ति सूचित की है<sup>६</sup>।

३ अति < √अट् √अट्छ 'अति' धातु 'दुःख पीडा, दुःख' का वाचक है। इस संहिता में इस का प्रयोग कभी √अट् के साथ तो कभी √अट्छ के साथ किया गया है<sup>७</sup>। पाणिनीय तत्र म ये दोनों धातु परस्पर सम्बद्ध मानी

१ द्र निघण्टु १३।१२ अक्षो यानस्याञ्जनात् । सः प्रकृतीतरद्, यतन सामान्यात् ।

२ यान के पहिये के घूमने की विशेषता बहुधा वर्णित है वि वसंते अहनी अक्रियेव (ऋ १।१८।१)। काल-क्रमेण जगत् परि वतमाना अकार पङ्क्तिरिव गच्छति भाग्य पङ्क्ति (स्वप्न-वासवदत्ताम् १।४)। नीचगच्छत्युपरि च वशा अक्र-नेमि-क्रमेण । कवय ऐलूय ने भी पाँतों के परिवर्तन का वर्णन किया है

नीचा वतत, उपरि स्फुरत्यहस्तासो हस्तवत सहन्ते ।

विष्या अङ्गारा इरिणे युप्ता शोता सन्तो हृदय निवहन्ति ॥ अट् १०।३४।६॥

३ द्र उणादि सूत्र ३४५ (३।६५) अनेर्वेवने । सत्त्व बोधिनी अशू व्याप्ती (मा घा वृ ५।१८) अस्माद् देवने वाच्ये स स्यात् ।

४ ॥ २।६।३।५ ययाऽसोऽनुपाक्तोऽवाच्यति ।

५ सहोऽसि, सहमानमसि, सहस्वाराती, सहस्वारातीयत, सहस्र पृतना सहस्र पृतनत । सहस्र वीर्यमसि । १।६।१।२ । ६ पठ्य १०५ भी देखें ।

७ अतिमाऽरिष्यति (२।६।६।१, ८।११, ६।२।८।६) । अतिमापयति (३।२।४।१३) । अतिमाच्छेद्यु (३।१।३।५) । अतिमाच्यति (३।२।४।१३) । अति-माच्यति (३।१।३।५) ।



जाती हैं। यहाँ भी यही अभिप्रेत प्रतीत होता है।

४ उदक < √उद् 'जल' का पर्याय उदन् तथा उस का परि वर्धित रूप 'उदक' शब्द √उद् से व्युत्पन्न है इस की चर्चा हम पीछे कर चुके हैं। त स में जीवन के लिये जल उदन् करे।<sup>१३</sup> कथन में आप' के साथ √उन् के प्रयोग से जल की इस विशेषता की उभारने के साथ आप' पद का अर्थ निवचन किया गया है।

५ पङ्क्ति < पञ्चम पञ्चन्' शब्द 'पाँच' का वाचक है तथा 'पङ्क्ति' शब्द पाँच के समूह का वाचक है और व्युत्पत्ति की दृष्टि से पञ्चन् का समान धर्मा है एवं 'विशति' पष्टि, 'सप्तति' आदि की ओंसी का शब्द है। पाश्चात्य विद्वानों ने पञ्चन् के चकार के स्थान में ककार (तालव्य) की मौलिकता की (penque की) कल्पना की है।

६ पेह < √पा मंत्र में प्रयुक्त 'पेह' की व्याख्या √पा (पीना) से निष्पन्न पातृ से की गई है। गाकटायन ने इस √पी (पीना) से बताया है। भट्टोजि-दीक्षित ने √पा (पीना) से बाहुलक से बताया है। 'पेह' शब्द 'एह' प्रत्यय से निष्पन्न है। इस प्रत्यय वाले शब्द कम ही हैं। तु सदेह, सनेह।

७ रज्जु < √सृज 'रज्जु की व्युत्पत्ति पर सन्निक विचार हम पीछे कर चुके हैं कि दीप्त-तमस औषध्य की यह कदाचिद् √रश से अभिप्रेत है। इस संहिता में यह √सृज (बनाना > बटना) से व्युत्पन्न अभिप्रेत है। पर वर्ती भाषा-शास्त्रियों ने त स की व्युत्पत्ति ही मानी है।

८ √लभ—लम्भ् √रम् धातु दो रूपों √रभ और √रम्भ में उप

१ द्र अष्टा ७।३।७८ पात्रा . प्रति —सर्वा विव जिप्र —श्चक्षु—  
सीवा । धातु-पाठ १।६।८ ऋ गति प्रापलपो । ६।१६ ऋक्ष गतीन्द्रिय प्रलय  
मूर्ति भाषेयु । २ पृष्ठ ३६ । ३ आप उदन्तु जीवते (१।२।१।१) ।

४ पङ्क्ति प्रायसी य यत्तः पङ्क्त्युदयन । पञ्च प्रयाजा इत्यन्ते—चत्वार  
वत्नी-समाजा , समिष्ट-यजु पञ्चमम् । पङ्क्तिमेवानु प्र-याति , पङ्क्तिमनुर्धति (२।  
६।१०।७) ।

५ 'मर्वा पेहरति इत्याहंय ह्यर्वा पाता यो मेधायारम्यते (६।३।६।१४) ।

यहाँ 'पेह' = 'मर' है। ऋषि म भी इस (मतोदात्त) पेह का यही अर्थ है।

६ द्र उणादि सूत्र ५४१ (५।१०१) मि-मीष्मा य । सिद्धात-कोमुनी  
पेह मूप । बाहुलकात्पिबतेरपि । वागुपेव दीक्षित के अर्थ में सूत्र मि विष्मा य ।  
सगता है उन्होंने 'पी' के स्थान में "टि, पि गनी, मा घा व (६।१२० १) इत्यत्र  
पठित पि पातुगाश्चक ।' कहा है। जानेन्द्र मरस्वती न " पीठ पाने' (मा घा  
व ४।३३) । पीपते रसानिति पेह ।" व्याख्या की है।

७ द्र पृष्ठ १८, टि ५ । ८ या रज्जु मृजति, तस्या उज्ज्वक । २।५।१।७ ।

८ द्र निरुक्तम् २।१, उणादि-सूत्र १५ मृजेरमुम य ।

लब्ध होती है। उसी प्रकार  $\sqrt{रम्}$  से विकसित<sup>१</sup>  $\sqrt{लम्}$  भी दो रूपों में मिलती है। दूसरा रूप  $\sqrt{लम्}$  है। आ' उपसर्ग के साथ यह पशु मेघ के प्रसङ्ग में आती है। त ॥ में इस के दोनो रूपों का प्रयोग<sup>२</sup> इस के इस सम्बन्ध का सूचक है। पाणिनि ने  $\sqrt{लम्}$  को प्रकृति मान कर उस में नासिक्य ध्वनि के आगम से  $\sqrt{लम्}$  की निष्पत्ति बताई है<sup>३</sup>।

## (२) प्रत्यक्ष निर्वचन

तै स में इस श्रेणी के निर्वचनों की संख्या ही सर्वाधिक (६६/४५) है।

१ प्रति-ग्राह्या यह कम-काण्ड का एक पारिभाषिक शब्द है। तै स में इस की व्याख्या यों की गई है देवताओं ने इन्द्र के पराक्रम का विभाजन किया। जो बच रहा, वह प्रति ग्राह्या ही भइ। वह प्रति ग्राह्याओं वा प्रति ग्राह्यापन है। जो प्रति ग्राह्याये ग्रहण की जाती हैं, तब यजमान इन्द्र के ही पराक्रम को अपने में धारण करता है<sup>४</sup>। यहाँ 'प्रति ग्राह्या' नाम पढ़ने के दो कारण (क) प्रति-शेषण तथा (२) ग्रहण न केवल हेतु कथन पूर्व व बताए गये हैं, बल्कि इस व्युत्पत्ति कथन के बाद वह प्रति ग्राह्याओं का प्रतिग्राह्यापन है।<sup>५</sup> कह कर निर्वचन को पुष्ट भी किया गया है।

२ भश्व  $\sqrt{दिक्}$  'घोड़े' के वाचक 'भश्व' की व्युत्पत्ति यों बताई है प्रजापति की (बाइ) झील फूल गई, वह गिर पड़ी, वह भश्व हो गई। जो फूना, वह भश्व का भश्व पना है। उसे देवताओं ने भश्व मेघ के द्वारा ही वापिस

१ पशु मेघ के प्रकरण में दोनों का प्रयोग उपलब्ध होता है मेघायामन्त (६।३।५।१), मेघायारम्भते (६।१४)।

२ सेऽग्निमेवाग्नये मेघायामन्त। न ह्ययवालम्भमविद्वत्। — पशुमात्म्य (६।३।५।१२)।

३ इन्द्र अष्टा ७।१।६४ लभेद्व। ६५ आग्नेयि। तथा ६६ ६६।

४ इन्द्र ६।६।८।१ देवा वा इन्द्रियवीर्य व्यसन्नः। ततो यदत्यशिव्यत, तदति ग्राह्या भसन्। तदतिग्राह्याणामति ग्राह्यत्वम्\*। यदति-ग्राह्या गृह्यन्त, इन्द्रियमेव तद्वीर्य यजमान आत्मयन्त। \* भीमे स्त्री लिङ्ग का प्रयोग किया गया है यन्ति ग्राह्याश्चक्रे (३) यहाँ तद्धित 'त्व' से पूर्व 'ग्राह्या' के 'भा' को ह्रस्व कर दिया गया है। तुलना के लिये देखें अमावास्यात्वम् (२।५।३।१३), पृथिवित्वम् (७।१।५।१) वसतो वरित्वम् (६।४।२।१), वेदित्वम् (६।२।४।६ आग उदत) तथा सयानित्वम् (५।३।१०।४)। यह व्याकरण लक्षणोपपन्न है। इन्द्र अष्टा ६।३।६४ त्वे च। काशिका सञ्ज्ञायामसम्भवाच्चदस्येवोदाहरणानि भवति। इन प्रयोगों से विदित होता है कि उस काल में स्त्री लिङ्ग तथा उस के वाचक प्रत्ययाश को शब्द में भाग्यन्तुक माना जाता था। मैं स तथा काठक परम्परा में यह विशेषता उपलब्ध नहीं है वहाँ दीर्घ ही मिलता है।

स्थापित किया<sup>१</sup>।

३ धा पूष < धा- + √पू यह भी कम काण्ड के प्रयुक्त किसी पदार्थ की गुणाभिधान सञ्ज्ञा है। इस के बारे में कहा गया है 'तुम धा पूष हा, मुझे सन्तान और धन से भली भाँति पूछ करो'। यहाँ व्युत्पत्ति तो साफ साफ दी पर पिछले निबन्धों वाला 'यौरा' नहीं दिया गया है।

४ क्रोश यह भी पारिभाषिक शब्द है। इस की व्याख्या में कहा गया है 'अन होते हुए देवताओं का इन्द्र-सम्बन्धी पराक्रम निवृत्त गया। उस कोण के द्वारा रोका। वह क्रोश की क्रोशता है'। यहाँ 'कोश' की कम-काण्ड गत महत्ता तो बताई है पर इस की व्युत्पत्ति स्पष्ट नहीं की है।

५ नव नीत < √नव + √इ ६ सविध < √सृष यज्ञ में प्रयुक्त 'धी' के इन पर्यायों की व्याख्या रिप्प लिखित प्रकार से की गई है जो मया (साजा) धाया, वह नव नीत हो गया। जो वह चला, वह सविध हो गया<sup>४</sup>। जो धारण किया (लीपा) गया वह घृत हो गया<sup>५</sup>। यहाँ हेतु कथन के साथ नाम की प्रवृत्ति तो बताई है, पर फिर त्व का प्रयोग करते हुए उस पुष्ट नहीं किया गया है।

७ वेदी < √विद् (ज्ञान) 'वेदी' शब्द भी पारिभाषिक शब्द है। यद्यपि वेद से इस की दो व्याख्याएँ एक ही धातु से की गई हैं (१) सात पहाड़ों के पार बराह के द्वारा घृत असुरों के धन (वित्त) को इन्द्र ने उन पहाड़ों को तोड़ कर तथा बराह को मार कर प्राप्त किया। वेदी के वेदी पने का एक कारण यह है। (२) पृथ्वी पर असुरों का प्रभुत्व था। देवताओं का प्राप्ति-वस्तु तो केवल उतने पर था जितना कि बैठे को दिखाई देता है। देवताओं ने असुरों से हिंसा मँगी तो 'गर्त' लगी कि समावकी तीन बार जितनी धरती की परिक्रमा करे, उतना देवताओं का। इन्द्र ने

१ इ ५।१।१२।१ प्रजा पतेऽक्षयश्चतुः। तत्पराऽपतत्। तदश्वोऽभवत्। यदश्वयत् तदश्वत्पादवत्तम। तद्देवा अश्व-मेधेनैव प्रत्यदयुः।

२ इ ३।२।५।१४ धा-पूर्वा स्थाऽऽमा पूरयत् प्रजया च घनेन च।

३ इ ७।५।८।१ देवानो वा अन्तं जामुणामिन्द्रिय धीयमपाक्रामत्। तत् क्रोशेनाव दपत। तत् क्रोशस्य क्रोशत्वम्।

४ इ २।३।१०।१ घनत्वम स नव नीतमभवत्। यदसत्तत्स विरधवत्।

५ तै स (२।३।१०।१) में धारणायक तवग चतुर्थादि √धृ का प्रयोग किया गया है यदघ्नियत्, तद् घृतमभवत्। मैत्रायणी (२।३।४।१३, ५।२०) तथा काठक (१।१।७।१३) संहिताओं में कवग चतुर्थादि √घृ का ही प्रयोग किया गया है यदघ्नियत्, तद् घृतमभवत् (म म), यदघ्नियमात्, तद् घृतमभवत् (का स)। अतः त स का पाठ या तो भ्रष्ट प्रतीत होता है या √धृ (कवगवान्) का यद्यपि निवचन √घ (तवगवान्) से किया गया है। नवर्गादि के साथ 'घृत' के पिछली संहिताओं में भी स्थापित सम्बन्ध को देखने हुए हम प्रथम विकल्प पुष्ट लगता है। इत्थं वेति महेश्वर।

सलावृकी बन कर सारी धरती की परिक्रमा तीन बार कर के इसे पा लिया । यही कारण है कि यह पृथ्वी वेदी कहलाती है<sup>१</sup> ।

### (३) परोक्ष प्रत्यक्षोभय विध निवचन

१ अमा वास्या < अमा + √ वस इस शब्द का निवचन दो प्रकार से किया मिलता है (क) हम देवताओं का घन आज साथ वसता है ।—वह अमा वास्या का अमा वास्यापन है<sup>२</sup> । (ख) 'इकट्ठे रहने देवताओं ने हे अमा वास्या, तुम्हारी महिमा से हिंस को स्थापित किया' ।<sup>३</sup> अथन म अमा वास्या के साथ 'स + √ वस' के प्रयोग से परोक्ष रूप से इस का अर्थ स्पष्ट किया लगता है ।

हमारे विचार मे इस शब्द का भूल रूप 'अमा' या तथा 'वस्या' या 'वास्या' अथ इस म बाद म जुड़ा है । 'अमा' शब्द 'अ + मास' स विकसित अभिप्रेत है, 'साथ' ('सच्चा, तु 'सचिव, 'अमास्थ') के पर्याय 'अमा' से नहीं । मास यही 'चन्द्र' अर्थ म है । इस अर्थ मे 'मास' का प्रयोग वैदिक वाङ्मय मे संहिताओं मे कई बार हुआ है । 'सूर्य और चन्द्र' अर्थ मे जहाँ 'सूर्या चन्द्रमस' योग का प्रयोग ऋग्वेद मे कुल तीन बार हुआ है, वही 'सूर्या मास' का प्रयोग पाँच बार

१ द्र ६।२।४।५-६ स (विष्णु) अन्नवीत् —— वराहोज्य वामनोय सप्तानी गिरीणां परस्ताद्विन्न वेद्यममुराणां विमति । त जहि । स अभपुञ्जील मुद्वृष्ट सप्त गिरीणां गत्वा तमहन् । सोऽन्नवीत् — एतन्नाहरेति । तमेभ्यो यन्न एव पशनाहरेत् । यत्तद्विन्न वेद्यममुराणामविदत्, तदेक वेद्य वेदित्वम् ॥ असुराणां वा इयमय वासीत् । यावदासीन परा पश्यति, तावद्देवानाम् । ते देवा अन्नवन्— अन्त्वेव नोऽप्यामपीति । किमद्री वास्याम् ? इति, यावदिय सलावृकी अि परि ज्ञामति, तावन्तो दत्तेति । स इन्द्र सलावृकी\* रूप कृत्वेमां अि सप्त पयक्रामत् । तदिमामविदत् । यदिमामविदत् तद् वेद्य वेदित्वम् । \* यहाँ प्रप्रेक्षित तो समाप्त है, पर मुद्रित संहिता में दोनो पृथक पद हैं दोनो उदात्तवान् (अनोनात्) हैं ।

२ द्र २।५।३।१२ १३ इन्द्रो वुत्र हत्वा परी परावतमगच्छद् 'अपाराधम्' इति मयमान । त देवता प्रियमव्यन् । सोऽन्नवीत्—अमा पतिय प्रयनोऽनु चि इति तस्य प्रयस भाग धेममिति । सोऽमा वास्या प्रत्यागच्छत् । त देवा अभिसमग चक्षत—अमा व नोऽय वसु वसतीति । इन्द्रो हि देवानां वसु । तदमावास्याया अमा वास्यात्वम् ।

३ यत्ते देवा अदधुर्गमि जेयममा वास्ये स वसतो महित्वा । ३।५।१२ ॥ यह मात्र अथव संहिता (७।७।११) में कुछ पाठ भेद के साथ आया है । मानव श्रौत सूत्र (६।२।३) ॥ 'स-वस त' के रयान म 'स वि-त' पाठ है । पिछली टिप्पणी मे उद्धृत हैं स नी कथा के कुछ और सूत्र अथव स के उपयुक्त सूक्त मे हैं । वहाँ भी अमा वास्या की यही व्युत्पत्ति अथ प्रत्यक्ष रूप से दी गई है

अहमेवास्म्यमावास्या—माऽमा वसति सु कृतो मयोमे ।

संहिताओं में इस का निवचन धार्मिक परिप्रेक्ष्य में ही हुआ है (क) अच्छे काम करने वाले तथा देवता इस में बसते हैं। (ख) बसु इस में बसता है। आश्विन संहिता में तो 'अमा वास्या' का धार्मिक महत्त्व इतना बढ़ा कि उस की स्तुति एक सम्पूर्ण सूक्त में तो की ही गई, ऋग्वेद के प्रसिद्ध दाशनिक् परम तत्त्व हिरण्य गभ प्रजापति का स्थान भी उसे दे दिया गया है<sup>१</sup>। अतः 'अमा वास्या' का वैदिक निवचन कम काण्ड के प्रभाव के कारण यदि इस के मौलिक स्वरूप की प्रकाशित नहीं कर पाता है तो कोई आश्चर्य नहीं है।

वास्व ने अमा की व्याख्या अ+√मा (मापना) से की है<sup>२</sup>। पाणिनीय तन्त्र में अमा अय्युपन प्रातिपदिक माना जाता है तथा अमा+√वस से अमा वस्या और अमा वास्या शब्द 'युत्पादित' किये गये हैं<sup>३</sup>।

२ पृथिवी < √प्रथ इस शब्द की 'युत्पत्ति' भी दो प्रकार से दी गई है (क) धरती छोटी थी। देवों ने भेड़ की बलि आदित्यों के लिये दी। धरती विस्तृत हो गई। (ख) सृष्टि से पूर्व जल ही जल था। प्रजापति वायु बन कर जल में घुस गया। उस ने वही धरती को देखा उसे बराह बन कर से छाया। वह फली। वह पृथिवी हो गई। यह पृथिवी का पृथिवीपना है<sup>४</sup>। प्रथम बचन में यह ध्युत्पत्ति अनुमेय है, द्वितीय में स्पष्ट प्रतिपादित है, यह स्पष्ट है।

३ गर < √ग इस का निवचन भी दो प्रकार से मिलता है (क) दम शरमय होता है। इस तोड़ता है। (ख) इन्द्र ने वज्र को बज मारा। वह तीन चीजें बन गया यन् में प्रयुक्त हस्ताकार चम्मच जैसा एक पात्र रथ और शूष। जो बीच में टुकड़े टूट कर गिर, वे गर हो गये। वह गरो का शरपना है<sup>५</sup>।

#### (४) अथ निवचन

१ आप—उदक उदक शब्द गीता बरने के कारण √उ द से निष्पन्न

१ तु ऋ १०।१२१।१० तथा अ स ७।८।४।४।

२ इ निरक्तम् ५।१ अमत्रम्=वात्रम्। अमा अस्मिन्मदति। अमा पुनरनिमित्तमवति। ६।२३ अमत्रोऽमात्रो महाभवति।

३ इ अष्टा ३।१।१२२ अमा-वस्यदयतरस्याम्। वागिका सह वसतोऽस्मिन्नाले सूर्या चन्द्रमस्तामिति अमा वस्या, अमा वास्या।

४ इ २।१।२।४ अथ व तद्वा स्या पृथिव्यासीत्। तामपि अनामा रिदेभ्य नामायाऽस्मत्तः। ततो वा अग्रवत् पृथिवी। ७।१।१५।१ आपो वा इव मघ सतिसमासीत्। तस्मिन्प्रजापतिर्वायुभूत्याऽचरत्। स इमामपमत्। तौ बराहो भूत्याऽचरत्। तौ विन्व-कर्मा भूत्या व्यपाट। ताऽग्रवत्। ता पृथिव्यमथत्। तत् पृथिव्यं पृथिवित्वम्।

५ इ १।१।१५।१५ गरमय बहि, गणात्येवमम्। ६।१।३।११ इन्द्रो वृत्राय वयं प्राहरत्। स त्र-या स्वमवत्—स्वयन्तृतीयम्, स्वयन्तृतीयम्। सप्ततृतीयम्। येन गरा अनीमत् से शरा अमत्रम्। तच्छराणां गरत्वम्।

है, यह पीछे बताया जा चुका है<sup>१</sup>। तब स में एक मात्र में इस विशेषता के साथ 'आप' का प्रयोग कथन में किया है<sup>२</sup>। अर्थात् यहाँ 'उदव' की आधारभूत क्रिया का प्रयोग उसके पर्याय 'आप' के लिये कर के इस का अर्थ स्पष्ट किया गया है।

२ ओजस्विन् इन्द्र को 'ओजस्विन्' नाम से सम्बोधित कर के कहा गया है कि तुम ओज पाये हुए हो<sup>३</sup>। इस कथन में 'ओजस्विन्' के प्रत्ययान्त 'विन्' की व्याख्या √विद् (ज्ञान) से निष्पन्न 'विद्' उत्तरपद से की गई है। अतः यह 'विद्' के अर्थ को स्पष्ट करने वाला प्रयोग होने से अर्थ निवचन है।

३ तेजस्विन् इस शब्द की व्याख्या भी इस से पूर्व या ही की गई है<sup>४</sup>।

४ यज्ञ < कृष्णाजिन यास्क ने यज्ञ की पाँच व्युत्पत्तियाँ दी हैं। उन में से औपमन्व्य के नाम से एक व्युत्पत्ति दी है कि यज्ञ में कांस्य मृग के चर्म का बहुत उपयोग होता है, अतः अजिनवान् होने से 'अजिन' > यज्ञ है<sup>५</sup>। औपमन्व्य ने यह निवचन सम्भवतः तब स के कथन से लिया है कि यज्ञ निश्चय ही कृष्ण मृग चर्म होता है<sup>६</sup>। इस प्रकार यहाँ कृष्णाजिन और यज्ञ में सम्बन्ध बताया गया है, जो परवर्ती काल में एक आचार्य को निवचन की प्रेरणा देने वाला सिद्ध हुआ।

निष्कर्ष तैत्तिरीय संहिता के निवचनों में ये प्रवृत्तियाँ दिखलाई देती हैं

(क) इन में शब्द के भाषिक स्वरूप को स्पष्ट करने की तरफ स्पष्ट रूप से ध्यान दिया गया है।

(ख) कम काण्ड की रहस्यमय वस्तुन शैली सबत्र प्रभावशील है। अर्थात् शब्द के कम काण्ड से सम्बद्ध महत्त्व को निवचन के द्वारा बतलाने पर विशेष ध्यान दिया गया है।

(ग) निवचन की तकनीक विद्युत् संहिताओं के निवचनों की तकनीक से पर्याप्त विकसित है। १ निवचन को शब्द का भाषिक स्वरूप स्पष्ट करने की दृष्टि से अपनाया गया है। २ यह कार्य शब्द और उसके अर्थ के मध्य विद्यमान सम्बन्ध का हेतु पूर्वक बतला कर किया गया है। ३ बहुधा निवचन बतला कर अमुक

१ मृष्ट ३६। २ द्र १।३।१।१ आप उदवतु जीवसे।-का-स २।१।

३ द्र ३।३।१।३ ४ इन्द्रो जस्विन् ओजस्वी त्वम वेवेपु भूया। कृष्णाजिनः सत्रस्य ओजसे जुहोमि—ओजोविदसि।

५ द्र ३।३।१।१-२ अग्ने, तेजस्विन्, तेजो विदसि।

६ द्र ऋक् ३।१६ यज्ञ कस्मात्? प्रख्यात यज्ञतिकर्मेति महत्ता। याजो भवतीति वा। यजुर्नो भवतीति वा। बहुकृष्णाजिन इत्योपमन्व्य। यजुं ध्येन मयतीति वा। औपमन्व्य के निवचन पर दुर्ग का कथन है यदु-मन्व्य इत्यने प्रतिविशिष्ट साधन किञ्चित् सत्तत्कृष्णाजिनमिति यज्ञ—सोमे लायदजिन-द्वयम्, यजमानेऽप्यजिन इयम्, अय-ह-यमानेषु हि हविष्वजिनम्। घम पात्रेऽप्यजिनम् एव बहु कृष्णाजिनम्।

६ यज्ञो य कृष्णाजिनम्। यज्ञेन यज्ञ स सृजति (१।१।६।६)।

नाम पडने का यही कारण है', इस प्रकार कहा गया है। ४ निवचन भाषा चिन्तन की चेतना से युक्त है।

(घ) भाषा चि तन ऋग्वेदीय चिन्तन ॥ उस दृष्टि से विवक्षित है कि ऋग्वेद में भाषा चि तन का उह प्रयोगों को देख कर किया जाता है, यहाँ यह स्पष्ट रूप से किया गया है। यों, सद्धातिक—ध्वनि विज्ञान तथा व्युत्पत्ति विज्ञान की—दृष्टि से कोई विकास हुआ हो ऐसा नहीं प्रतीत होता।

'व्युत्पत्ति चि तन की दृष्टि से तो यह सहिता मरी पूरी है ही, भाषा दान की दृष्टि से भी कुछ बातें इस में अच्छी कही गई हैं

(१) वाच अक्षर के रूप में है इस में कहा गया है कि अग्नि ने एक अक्षर से वाक् को जीत लिया। उस के बाद अथ देवताओं ने अधिक अक्षरों से अथ पदार्थों को जीता'। इस का आशय यह है कि वाक् की सूक्ष्मतम इकाई अक्षर है।

(२) वाच और मन का सम्बन्ध मनुष्य के मन के तीन काय हैं चेतना, अग्नि गमन अर्थात् वाहना तथा ध्यान। चेतना और ध्यान इन दोनों का सीधा सम्बन्ध वाक् से है मनुष्य जो कुछ चेतता तथा ध्याता है, उसे वाक् से प्रकट करता है। इच्छा का सम्बन्ध वाक् और क्रिया से है मनुष्य जो कुछ चाहता है उसे वह या तो वाक् से प्रकट करता है या क्रिया रूप में लाता है<sup>१</sup>।

(३) वाक् का व्याकरण वाक् इन्द्र (आत्मा) और वायु (प्राण) की सभी रचना है। इन्द्र ने देवा की प्रायना पर वाक् का व्याकरण उसे मध्य में सब क्रमण कर किया तथा मनुष्य व्याकृत वाली बोलते हैं<sup>२</sup>।

### कपिष्ठल-कठ सहिता में व्युत्पत्ति चिन्तन

उपलब्ध कपिष्ठल-कठ-सहिता में १५६ प्रयोगों के द्वारा १२५ शब्दों के निवचन किये मिलते हैं। इन में से ८० शब्द वे हैं, जिन के निवचन पिछली किसी एक या एकाधिक सहिताओं में आ चुके हैं। ४६ शब्दों के निवचन इस सहिता में अपने हैं। उदाहरणार्थ कुछ मिल जुले शब्दों के निवचन प्रस्तुत हैं

१ इ १।७।११।१ अग्निरेवाक्षरेण वाचमुदजयत् । अग्निनी इषसरेण प्राणापानावुदजयताम । विष्णुस्त्यक्षरेण श्री-लोकानुदजयत् ।

२ ॥ ५।१।३।५ मनुष्यो मनसा मि गच्छति, तद्वाचा वदति । ६।१।७।६ यदि मनसा जवते, तद्वाचा वदति ।...मनसा हि वाग्धता । ६ यदि मनसा चेतयते, तद्वाचा वदति ।...यदि मनसाऽग्निगच्छति तत्करोति ।...यदि मनसा ध्यायति, तद्वाचा वदति । ६।४।३।७ 'अथ इष्य होतर', इत्याह । इषित हि कम, क्रियते ।

३ इ ६।४।७।१ वाक्वा एवायवद् वायव । यद्वा-वायवाया गृह्यते वाचमेवानु प्रयति । ५ वाग्वे पराज्यव्याहृताऽभवत् । ते देवा इन्द्रमनुवन्ति नो वाचं व्याकुरिति । तानिन्द्रो मध्यतोऽव-वम्य व्याकरोत् । तस्मादिय व्याहृता वागुचते ।

१ अदिति < अ + √ दा 'आदान क्रिया के कारण धरती का नाम 'अदिति' पड़ा है', यह स्पष्ट निवचन एक स्थल में किया गया है<sup>१</sup>। मरुत लोग दायनिक तत्त्व विशेष परक 'अदिति' को क्षयायक √ दी से 'अधीण' अर्थ में<sup>२</sup>, बँयाकरण लोग अश्व-खण्डनायक √ दा से 'अ खण्डता' अर्थ में<sup>३</sup>, भवदानल 'अ-बद्धता, स्व-तन्त्रता' अर्थ में मानते हैं<sup>४</sup>। ऋग्वेद में वसिष्ठ मंत्रा वरुण के हम ने जो अथ राध किया हो, उस अथमन्, अदिति (तथा अग्नि, मित्र वरुण और इन्द्र) शिथिल करें। अर्थात् अथ-राध के प्रायश्चित्त के रूप में वरुण जो अपने पाश से अथ राधी को बाँधा करते हैं उस से हम ये देवता मुक्ति दिलायें<sup>५</sup>। 'अथम' में 'अदिति' के साथ √ अथ का प्रयोग 'मुक्ति के सद्म में हुआ है तथा यह कदा चिद् मँवडा नल के आशय का पोषक है।

२ अध्वर < अ + √ ध्वर् इस शब्द का निवचन तैं स में भी किया गया है देवता यग में जो किया करते थे वही असुर भी किया करते थे। देवों ने महा यज्ञ को देखा। उन के इस यग को असुरों ने हथियाया चाहा पर हथिया नहीं पाये। वे बोले, 'ये देवता तो निश्चय ही काबू में नहीं आने वाले हो गए हैं—अ ध्वरणीय हैं।' वह अध्वर का अध्वर-पना है<sup>६</sup>। कपिष्ठल कठ संहिता में इस व्युत्पत्ति को स्पष्टतर रूप से—निषेध को असमस्त रूप में कहते हुए—दिया है<sup>७</sup>।

३ अमा वास्या < अमा + वसु इस शब्द का निवचन 'अमा वास्या' के रूप में अथर्व और तत्तिरीय संहितामा में भी किया गया है। वहाँ यह 'अमा + √ वस' (साथ रहने) से बताया है<sup>८</sup>। प्रकृत संहिता में यह तनिक भिन्न रूप में 'अमा + वसु' से बताया है देवा ने<sup>९</sup> कहा कि हमारा घन (वसु) इकट्ठा (अमा) हो गया,

१ इ कपिष्ठल कठ संहिता ६।७ अतदावत्त तददिति ।

आगे इस प्रकरण में अ व-नाम रहित सद्म इस अर्थ के होंगे ।

२ इ निरुक्तम् ४।२२ अदितिरदीना । निरुक्त के पाँच अध्याय,  
पृष्ठ ५०५७ ।

३ इ अष्टा ७।४।४० अति-व्यति मा स्यात् इत् ति किति । अति' में विकरण हो अश्व खण्डने (दिवादि ४२) के ग्रहण के लिए दिया है ।

४ इ डा सुप कान्त, वैदिक देव शास्त्र, पृष्ठ ३२० ।

५ सो अग्न, एना नमसा समिद्धोऽज्ज्ञा मित्र वरुणमिन्द्र बोधे ।

यत्सीमागन्तुकृमा तत्सु पृष्ठ, तदथमाऽदिति शिष्ययु ॥ ऋ ७।६३।७॥

६ इ तैं स ३।२।२।१४ देवा ये यद् यज्ञेऽबुधत तदसुरा अकुवत । ते देवा एन महा-यज्ञमवश्यन् । तमतवत । तमेवामसुरा यज्ञमववाजिगांसन् । त नाववायन् । तेऽबुधन्—अ ध्वतव्या वा इमे देवा अमूर्वानिति । तदध्वरस्याध्वरत्वम् ।

७ इ २६।४ तेऽसुरा अथ-कामन्तो अबुधन् वा इमे ध्वतवा अमूर्वानिति । तदध्वरस्याध्वरत्वम् । इ इ पृष्ठ १३६ ।

८ इ ५।६ ते देवा अबुधन्मा ये नो वस्यमुदिति । साऽमावस्या ।



इस लिये यह लिये समा-वस्था है। अर्थात् इस महिला के अनुसार इस शब्द का उत्तर पद (वस्था) श्रुत नहीं है, अपितु तदिन ३।

४ अहन् < √ हन् 'अहन्' वे० म प्राण १। 'नि रात्र-व्यापी समय अथ म प्राया है, तथा 'नि मात्र अथ म भी प्राया है'। इस महिला म 'दिन' अथ मे इस की व्युत्पत्ति का मद्देत बना। च० १ हन् त ही किया है कि अहन् से रात्रता की मार अग्राया<sup>३</sup>। महिला म इस के लिये निर + √ हन् का प्रयोग किया गया है। यही सम्भवत निद् इस गठन का अ की व्याख्या के लिये मा के स्थान म दिया गया है। अ + √ हन् का प्रयोग इच्छा करना सोचना आदि कई अर्थों मे होना है। अत यही यह 'समस्तान् = पूरणया अथ म है इस बात के लिये 'निद्' का प्रयोग किया गया है।

५ आग्य < अज इस गठन का निवचन 'अग्ने' और अथर्व-वे० संहिताओं मे √ अज्ज म किया गया है<sup>४</sup>। प्रकृत संहिता म 'म का निवचन कम काण्ड गत परि वेश विनेय म अज न इस पाया इस लिये आग्य कहलाया' कह कर दिया है<sup>५</sup>।

६ अत < अट 'आग्य के ही पर्याय धृत् का निवचन ऋ, अ मा और त संहिताओं म √ धृ से कही परीण रूप म तो वही प्रत्यय रूप स किया गया है<sup>६</sup>। यही इस का निवचन धृ करने से धृन कहलाया कह कर किया गया है<sup>७</sup>। धृ ॥ यही धीवते समय होने वाला गन् अमिप्रेत है या और कृत्, यह स्पष्ट नहीं है। यह निवचन काठन संहिता मे भी है। यही बतलाया है कि अज ने धृ (ध्वनि) की। इस लिये यह धृत है। इसी लिये अज धृड धृड करता हुआ चरता (जाता, या बिचरता) है<sup>८</sup>।

७ जिह्वा < √ ह्वे इस गठन के बारे मे मा म तथा प्रकृत संहिता मे कहा गया है कि 'तु जिह्वा है देवताओं के लिये अच्छा बुलाने वाली (मुहू) है'<sup>९</sup>। यही मुहू शब्द 'मु + √ ह्वे' से करण मे निष्पन्न है। कारक भेद से इस योग से निष्पन्न इसरा शब्द है 'मु-हवा'। इस व्युत्पत्ति का प्रवृत्ति निमित्त यह है कि जिह्वा नाम बुलाने का करण होने से पडा है।

८ जुहू यज्ञ मे प्रयुक्त एक पात्र का नावक यह शब्द ऋग्वे० में धृत्समद

१ इ 'निरुक्त के पाँच अध्याय, पृष्ठ २३३ ४।

२ इ ५।६ देवा वा अहो रसासि निरध्वन्।

३ ॥ पृष्ठ ३५, १२४। ४ इ ३।८ यदजोविदत तदाज्यस्याज्यत्वम्। काठन-स २४।७।१७। ५ इ पृष्ठ ५८, ११८ १२५, १३८ टि ५।

६ ॥ ३।८ स धृडकरोत्। तद् धृतस्य धृतत्वम्।

७ ॥ २४।७।१७ स (अज) धृडकरोत्। तद् धृतस्य धृतत्वम्। तस्मा रजो घट् करिष्वचरति।

८ इ मा स १।३० क क स १।१० अग्नेजिह्वासि, मुहूवेभ्य।

तथा उनके पुत्र ब्रूम के द्वारा 'होम' अथ वाली √हु से करण मे व्युत्पादित है<sup>१</sup> । मैत्रायणी संहिता मे इस का प्रत्यक्ष निवचन √ह्वे से करण मे तथा परोक्ष निवचन √हु से करण मे दिया है । प्रकृत संहिता म दोनो ही √ह्वे से हैं । काठक में प्रत्यक्ष निवचन √ह्वे से ही दिया है<sup>२</sup> । वात्स्यायन ने इस √हु से ही बताया है<sup>३</sup> । इस के अथ (यज्ञ पात्र विशेष) को दृष्टि में रखते हुए यही निवचन उचित है ।

६ जू < √जव् इस शब्द का निवचन परोक्ष रूप से काठक परम्परा में √जव् (गति) से किया मिलता है तथा मैत्रायणी संहिता मे इस का प्रत्यक्ष निवचन √जव से दिया है<sup>४</sup> । व्याकरण परम्परा मे भी यही व्युत्पत्ति मानी गई है<sup>५</sup> ।

१० पशु < √पश्य प्रकृत संहिता म 'देखना' अथ वाली √पश्य (पाणिनीय तन्त्र मे √हृष के आदेश) से कम म पशु की व्युत्पत्ति दी गई है । यही व्युत्पत्ति शतपथ ब्राह्मण मे भी दी गई है । यास्क ने भी कारक न बतलाते हुए √पश्य से ही 'पशु' बताया है । शाकटायन ने इसे कत्रयक् प्रत्ययो के प्रकरण म √हृष से उसे √पश आदेश करते हुए दिया है<sup>६</sup> ।

११ भूमि इस संहिता मे इस शब्द के दो निवचन मिलते हैं एक मे इस का सम्बन्ध 'भूमन्' से स्पष्ट किया है, तथा दूसरी जगह √भू से हेतु पूर्वक बताया है<sup>७</sup> । 'भूमन्' का प्रयोग ब्रह्मिक वाङ्मय मे दो अर्थों मे मिलता है (१) बहुतायत, अधिकता, विस्तार, व्येष्टता, तथा (२) भूमि । प्रथम अर्थ मे इस का प्रयोग

१ अन्नमग्नि जुह्वा ववस्या मधु जुह्वन् स जोहवीमि ॥ ऋ २।१०।६ ॥

इमा गिर आदित्येभ्यो धत स्तू सनादाजभ्यो जुह्वा जुहोमि । २७।१॥

२ इ म स ३।१।१ काठक म १८।१२, कपिष्ठल कठ संहिता २६।७ जुह्वा वै देवा वि राजमह्यं त । सञ्जुह्वा जुह्वस्व । तै स म 'ह्व' से पूर्व दीर्घ को ह्रस्व हो जाता है । पर यहाँ नहीं हुआ है, यह बात ध्यान देने योग्य है । मै स ३।१।१ यञ्जुह्वा जुहोति । क व स १।१२ जुह्वेहि अग्निस्त्वा ह्वयतु ।

३ इ अष्टा ३।२।१७८ पर वातिक जुहोतेर्दीर्घश्च ।

४ इ काठक स २४।३, ३७।४ 'जूरसीति—वाग्यं सोम क्रयणी । जवते हि वाचा । मै स ३।७।५ 'जूरसीति—यद्वाव जवत इत्यमसादित्यमसादिति जूत्वम् ।

५ इ अष्टा ३।२।१७७ आज मास पुर्वि द्युतीर्जि प जु प्रावस्तुव विषय ।

६ इ ५।६ ते रात्र्यां भूतायां पशुनापश्यन् । सावेन वै पश्य तोति । पा आ ६।२।१।२ स (अग्नि-कुमार) एतापञ्च पशुनपश्यत्—पुरुषम् अश्व, गाम्, अविम्, अजम् । यवपश्यत्तस्मादेते पशव । ४ यदपश्यत्तस्मादेते पशव । तेष्वे तमपश्यत् । तस्माद्वेवते पशव । निरुक्तम् ३।१६ पशु पश्यते । उणादि सूत्र २७ अग्निं हृषि कर्म अग्नि-वशि-वायाम् ऋजि-वशि-नुग धुग् दीर्घ हकाराश्च । सिद्धांत कोमुदी , सर्वानविशेषेण पश्यतीति पशु ।

७ इ ६।४ क्षीमह्वाति । भूमिभूम्या । ७ यदमवत्, तद् भूमि ।

ऋग्वेद में कवय ऐतूप के द्वारा किया गया है<sup>१</sup> । अन्य प्रसङ्गों में कृत्य धातुरस की ऋभुमो की इग प्राथना में किया 'भूमना' का प्रयोग किया जा सकता है हे भू धवन् के पुत्रो, अपने चरितो की महिमा में सोमामि पव करने वाले यजमान के घर में धामा<sup>२</sup> । द्वितीय अर्थ में इस का प्रयोग ऋग्वेद में मोनम राहूगण<sup>३</sup> और कवय ऐतूप के द्वारा किया गया है<sup>४</sup> । कवय ऐतूप के भाग्य को तनिक में अन्तर के साथ तथा ऋग्वेदीय भूमन् के स्थान में 'भूमि' का प्रयोग करते हुए अथर्व-स में भी व्यक्त किया गया है<sup>५</sup> । इसी प्रकार ऋग्वेदीय वसिष्ठ मन्त्र-वर्णिका के भाग्य को म ॥ में तनिक में अन्तर के साथ भूमि का प्रयोग करते हुए व्यक्त किया है<sup>६</sup> ।

इस विवरण में स्पष्ट होता है कि 'भूमन् और भूमि' की प्रवृत्ति और व्युत्पत्ति का निमित्त एक ही है । प्रकृत संहिता के अनुसार 'भूमि' ण्ठ सत्तायक √भू से निष्पन्न है, यह सभी पीछे कहा जा चुका है । पाणिनि ने बहुत के बाधक 'बहु' के स्थान में कुछ परिवर्तनियों में 'भू' का आदेश बनलाया है<sup>७</sup> । यहाँ इस 'भू' का व्युत्पत्ति निमित्त क्या है ? यह स्पष्ट नहीं किया गया है । यह बहु > बहु > भू भी अपेक्षित हो सकता है तथा √भू भी । शाकटायन ने 'भूमि' की व्युत्पत्ति √भू से दी है<sup>८</sup> । अतः वह भूमन् भी √भू से ही निष्पन्न अभिप्रेत हो सकता है । विद्व-वपु जी ने यही व्युत्पत्ति मानी है<sup>९</sup> । हमारा इस पर यह विचार है कि बहुत अर्थ वाला बहु √भू का कृत द्वित्व रूप—भूम > बभू > बहु—है तथा भू साधारण । √'भू' से सत्ता = महत्त्व पूरणसत्ता = बाहुल्य = अधिकता अर्थ तो एक तरफ विकसित हुआ, तथा सत्ता एव 'बाहुल्य' अर्थ से ही पृथ्वी अर्थ विकसित हो गया है । इस निष्कर्ष के प्रमाण के रूप में कवय का यह कथन ध्यान देने योग्य है कि इस (देव गण) की ही यह सु मति महिमा से प्रथित होती हुई तथा मति शील हो गई<sup>१०</sup> ।

१२ ख तै स में इस शब्द का प्रत्यक्ष निवचन √रुद् से कवय में बताया है<sup>११</sup> । काठक परम्परा में इसे √रुज् से कवय में प्रत्यक्ष निवचन से ही

१ अथर्ववेदा सु मति पप्रयानाऽमवत्पूर्या भूमना गो । ऋ १०।३।१६॥

२ श्री धन्वनासश्चरितस्य भूमनाऽगच्छत सवितुर्वाशुवो गृहम् ॥ १।११।१०।२॥

३ उत्तरायस्य वि व्यन्ति धाराश्चर्मवोदमिभ्यु दति भूम ॥ ऋ १।८५।५॥

४ स्तेगो न क्षामत्येपि पृथ्वी, मिह न वातो वि ह वाति भूम । १०।३।१६॥

५ स्तेगो न क्षामत्येपि पृथिवी, मही चो वाता इह वातु भूमौ । १०।३।३६॥

६ उदस्य शुष्माद् आनुर्नाति विमर्ति मार पृथिवी न भूम ॥ ऋ ७।३४।७॥

तु उदस्य मानोर्नाष्या भूमौ । मै स ४।६।१४॥

७ द अष्टा ६।४।१५८ बहुलोपे, भू च बहु ।

८ द उणादि सूत्र ४८५ (४।४५) भुव कित् ।

९ द वदिक पदानुक्रम-जीव, १।४, पृष्ठ २३६५ टि ० ।

१० अथर्ववेदा सु मति पप्रयानाऽमवत्पूर्या भूमना गो ॥ १०।३।१६॥

११ द १।५।१।१ सोऽरोवोत् । अररोदीत् तद्वदस्य रुदत्वम् ।

निष्पादित किया है<sup>१</sup>। वृहदारण्यक उपनिषद् में 'रुलाने वाता' अथ में 'रुद्र' शब्द  $\sqrt{\text{रोदि}} (< \sqrt{\text{रुद}} + \text{इ} < \text{णिच्})$  से प्राणा के लिये प्रयुक्त बताया है<sup>२</sup>। यास्क ने इस की तीन व्युत्पत्तियाँ दी हैं (क)  $\sqrt{\text{रु}}$  से, (ख)  $\sqrt{\text{रु}} + \sqrt{\text{द्रु}}$  से कि यह ख्रुव शब्द करता हुआ दोहता है, (ग)  $\sqrt{\text{रोदि}}$  से<sup>३</sup>।

१३ (सु) शमी 'शमी' शब्द के ऋग्वेद संहिता और माध्यदिन संहिता में अभिप्रेत निवचन की चर्चा हम पीछे कर चुके हैं<sup>४</sup>। मंत्रायणी स म यह 'ठण्डा करना' अथ वाली  $\sqrt{\text{शम्}}$  से उष्णता के विपरीत अथ में  $\sqrt{\text{शम्}}$  के वरण के रूप में बताया है<sup>५</sup>। काठक-सं में यह उसी धातु से 'शान्त करना' के वरण के रूप में व्युत्पादित है<sup>६</sup>। कपिष्ठल वठ संहिता में उस के अलावा यह हिंसायक  $\sqrt{\text{शम्}}$  से भी व्युत्पादित है। मा स के निवचन की अपेक्षा अधिक व्याकरण लक्षणोपपन्न विकरण से युक्त क्रिया रूप का प्रयोग यहाँ किया गया है<sup>७</sup>।

निष्कष तकनीक की दृष्टि से इस संहिता के निवचना में तै स के निवचनों की तकनीक से कोई विकास हुआ नहीं प्रतीत होता। भाषा शास्त्र की दृष्टि से इस संहिता के निवचन कुछ कमजोर पड़ते हैं। अदिति, भाज्य, घृत, जुहू रुद्र। कुछ निवचन अच्छे हैं अघ्यर, जिह्वा, पू पशु, भूमि, शमी।

कृष्ण-यजुर्वेदीय परम्परा के सभी निवचनों के बारे में एक बात सामान्य रूप से कही जा सकती है कि इन के पीछे कम काण्ड के महत्त्व से सम्बद्ध प्राचीन अनुश्रुतियों अथ दानों कुछ रहस्यमय मान्यताओं का कुछ ऐसा आवरण-सा रहता है कि उस का भेदन न हो पान के कारण आज के चिन्तक की ये बहुत विचित्र, कहीं कहीं तो वे तुके से प्रतीत होते हैं। तथापि तकनीकी विकास की दृष्टि से निवचन शास्त्र के इतिहास में इनका अविस्मरणीय महत्त्व है। जहाँ अस्पष्टता है, वह अपन भ्रमज्ञान के कारण है—हम जब उस वाक्य को पूरी तरह समझ ही नहीं पाते हैं

१ का स २५।१ क क स ३८।४ रुद्र ताम् (इषु) व्यसृजत्। तया पुरस्तमवजत्। परस्तमवजत् तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्। यास्क ने काठक के नाम से  $\sqrt{\text{रुद्र}}$  वाला पाठ उद्धृत किया गया है जो वसुमान संहिताओं में नहीं मिलता। दर्श तया रुद्र ने इस प्रसङ्ग में जो कहा बताई है वह वा स में प्रथत है।

२ द ३।६।४ दग्नेम पुरुषे प्राणा, आत्मका दश। ते यदाऽस्माच्छरीराव् भर्त्यादित्कामन्त्यय रोदयन्ति। तद् यद्रोदयन्ति, तस्माद्रद्रा।

३ द निरुक्तम् १०।५ रुद्रो (१) रीतीति सत। (२) रोह्यमाणो द्रवतीति वा। (३) रोदयतेर्वा। ४ द पृष्ठ ११६।

५ द ४।१।१ यनस्पतीया उग्रो देव उदीयत्। त गम्या अघ्यशमयत तच्छम्या शमीत्वम्। १।६।५ भी द।

६ ॥ ३०।१० प्रजापति पशुनसृजत। तानय देवोऽभ्यमयत। त शम्याऽभ्यमयत्। तच्छम्या शमीत्वम्। क क स ४५।८।

७ द १।५ सु गमि, शमोष्व। मा स म शमीत्य है।

तो वाङ्मय को दोष कस दें ?

## ब्राह्मणों में व्युत्पत्ति-चिन्तन

ब्राह्मण वाङ्मय में निवचन की वे सब विधाएँ तो मिलती ही हैं जिन का विकास हम अब तक देख चुके हैं उन में प्रतिष्ठित तकनीक में विकास के दो चरण और दिखलाई देते हैं ।

(१) निवचनीय गन्ध को ऐसा क्या कहा जाता है ? इस प्रकार पहले प्रश्न कर के फिर उस का निवचन कहि वहीं किया मिलता है । तदुपमा— किस तिल्य उसे 'होता' कहते हैं ? जो कि वह यथोचित रूप में देवों को भक्षु को बुला भक्षु को बुला, इस प्रकार बुलाता है वही होतृ का हातृ पना है ।<sup>१</sup> इस शब्द का परल वन यास्क्रीय निरुक्त में मिलता है वहाँ बहुत सी बार निघण्टु कस ? , वाक कस ? , नदियों कैसे ? , कम कस ?<sup>२</sup> इत्यादि प्रश्न कर के प्रश्न के उत्तर के रूप में निवचन किया गया है ।

(२) नरक्त परम्परा के जानकार जानते हैं कि टीका कारा में निवचनीय शब्दों के तीन भेद किये हैं (क) प्रत्यक्ष-वृत्ति अथवा प्रत्यक्ष क्रिया (ख) परोक्ष वृत्ति, अथवा परोक्ष क्रिया (ग) अति परोक्ष वृत्ति, अथवा अति परोक्ष क्रिया<sup>३</sup> । ब्राह्मणों में अतिम दो श्रेणियों में आने योग्य शब्दों के परोक्ष-वचन की चर्चा मिलती है । अर्थात् गन्ध पहले किसी ऐसे रूप में रहता है जिसे सब समझते हैं फिर धीरे धीरे उस गन्ध में कुछ ऐसे विकार आ जाते हैं कि नव विकसित रूप में उस का पुराना रूप भोक्तृ—परोक्ष—हो जाता है । उसे—

१ मा दुप > मानुप जो यह कहा कि प्रजापति का वीर्य दूषित न हो (मा दुपद्), वह मानुप हो गया । वह मादुप का मादुप पना, है । मादुप ही यह है, जो मानुप है । (मादुप) होते हुए को ही परोक्ष रूप से मानुप कहते हैं<sup>४</sup> ।

२ अग्नि-स्तोम > अग्नि प्लोम यह अग्नि ही है, जो अग्नि प्लोम है, उस का जो स्तुति की, इस कारण (वह) अग्निस्तोम (है) । 'अग्निस्तोम' होते हुए उसे

१ ॥ ऐतरेय ब्राह्मण १।२ कस्मात्त होतेत्यावक्षत इति । यद्वाच ॥ तत्र यथा नाजिन देवता अमुमा वहामुमा बहेत्या वाहयति तदेव होतुर्होतृवम् ।

२ ॥ निरुक्तम् १।१ निघण्टुवा कस्मात् ? २।२३ वाक कस्मात् ? २४ मघ कस्मात् ? ३।१ कम कस्मात् ?

३ ॥ दुप टीका १।१ त्रि विधा हि गन्ध व्यवस्था—प्रत्यक्ष-वृत्तय, परोक्ष वृत्तयोऽति परोक्ष-वृत्तयश्च । तत्रोत्कट क्रिया प्रत्यक्ष वृत्तय । अतर्लान क्रिया परोक्ष-वृत्तय ।

४ ॥ ऐतरेय ब्रा १।३३ यद्वद्वन् मेव प्रजापते रेतो दुपद् इति, तन्मा दुप भवन् । तन्मादुपय मादुपयवम् । मादुप ह वा नामतद् यन्मानुप सन्मानुपमि त्याचयते परोक्षेण ।

परोक्ष रूप से 'अग्नि प्योम' कहते हैं<sup>१</sup> ।

३ 'यग्रोह' > 'यग्रोघ' व (यन पात्र) जो नीचे की ओर उगे, इस लिये 'यग्रोह' नीचे की ओर उगता है । 'यग्राह' नामक है वह । 'यग्रोह' होते हुए को परोक्ष रूप से 'यग्रोघ' कहते हैं<sup>२</sup> ।

४ 'इघ' > 'इद्र' वह बोला, 'इघ' नामक ही यह है, जा यह दाहिनी आध में पुरुष है । उसे 'इघ' (इस रूप में, होते हुए को परोक्ष रूप से 'इद्र' इस रूप में कहते हैं<sup>३</sup> ।

५ 'मखवत्' > 'मघवत्' वही मख (है), वह विरगु (है) इस लिये 'इद्र' मखवान् (मख वाला) हो गया । 'मखवान्' को ही परोक्ष रूप से 'मघवान्' इस रूप में कहते हैं<sup>४</sup> ।

ब्राह्मणों के निवचनों में सहिताग्रा के निवचनों से एक अन्तर और दिखाई देता है सहिताग्रा में केवल प्रसक्त शब्द की ही व्याख्या निवचन के द्वारा की जाती है, ब्राह्मणों में जब कि प्रसक्तानु प्रसक्त पद की व्याख्या भी की मिलती है । जैसे महा-नाम्नी' कुछ ऋचाग्रा का<sup>५</sup> पारिभाषिक सज्जा है । 'सिमा' उन का ही नामान्तर है । ऐतरेय ब्राह्मण में महा नाम्नी' शब्द का निवचन लिया, ता उसके बाद 'सिमा' का भी निवचन दिया है<sup>६</sup> । इस प्रवृत्ति का उप बृहण्य मास्कीय निरुक्त में बहुत मिलता है ।

ब्राह्मण ग्रन्थों के तीन विधय हैं (क) अग्नि भूत (ख) अध्यात्म तथा (ग) अग्नि देव । कई शब्दों के निवचन इन तीन दृष्टियों से किये गये हैं । जैसे—शतपथ ब्राह्मण में 'यजु' शब्द की व्याख्या 'वायु', 'आकाश', 'प्राण' और 'अन' अर्थों में √इ + √जन् यत् + जु तथा √जन् + √जु स की है<sup>७</sup> ।

१ इ ऐ वा १।४३ स वा एघोऽग्निरेव यदग्निप्योम । त यदस्तुवस तस्मादग्निस्तोम । तमग्निस्तोम स तमग्निप्योम इत्याचक्षते परोक्षेण ।

२ इ ऐ वा ७।३० ते यमग्रोहोऽरोहस, तस्मान्यग्रो रोहति यग्रोह । यग्रोहो व नाम तत । यग्रोह सत यग्रोघ इत्याचक्षते परोक्षेण ।

३ इ शतपथ वा १४।६।११।१ स होवाच—इघो व नामक, योऽयम् बलिरोक्षन्पुरुष । स वा एतमिघ सतमिद्र इत्याचक्षते परोक्षेण ।

४ इ श वा १४।१।१।१३ स उ एव मख, स विष्णु । तत इद्रो मखवानमवत् । मखवान् व स मघवानिस्त्याचक्षते परोक्षम् ।

५ ये ऋचामे ६ हैं तथा ऐतरेयारण्यक (४।१) में विदा मघवन् से नून त मद्रया' तक दी है ।

६ इ ऐ वा ५।७ (२२।२) इद्रो वा एतामिमहानात्मान निरमिमीत । तस्मानमहानाम्य । ता ऊर्ध्वा सीम्नोऽभ्यसृजत । यदूर्ध्वा सीम्नोऽभ्यसृजत तस्मिन्नाममवन् । तस्मिन्नां सिमात्वम् ।

७ इ ग वा १०।३।५।१ २, ४ ६ अथ वाय यजुयोऽय पवते । एक हि

निष्पन्न ब्राह्मणों में उपलब्ध निवचनों के आधार पर निम्न सिद्धान्त निवसते हैं

(१) प्रकृति के साथ ही विवृति (नाम) का प्रयोग कर के उन दोनों के सम्बन्ध को सूचित किया जाता है<sup>१</sup> ।

(२) नाम पढ़ने के कारण को भली भाँती बसा रखने आदि की अपेक्षा होने पर उस के साथ, स्पष्ट कर के हेतु वाचक शब्द का प्रयोग करते हुए निवचन के साथ निवचनीय पद दिया जाता है<sup>२</sup> ।

(३) पूर्वोक्त प्रकार से 'तद्' का निवचन कर के अन्त में निवचनीय पद को पठनीय के रूप में प्रत्यय के साथ भी दिया जाता है<sup>३</sup> ।

(४) निवचन हेतु-वचन पूरक दे कर लोग बाग ऐसा कहते हैं' इस रूप में लोक मत बता दिया जाता है<sup>४</sup> ।

(५) प्रसक्तानुप्रसक्त शब्दों का निवचन भी कर दिया जाता है 'सिमा' ।

(६) इस वाङ्मय में शब्द के मूल अर्थ की बिना न कर के अपने प्रति-पाद्य के अनुकूल अर्थ में निवचन कर दिये जाते हैं 'मयवान्, 'यजु' ।

यनेवेद सव जनपति । एत यतमिदमनु प्रजायते । तस्माद् वापुरेव यजु (१) । अयमेवाकाशो जू । यदिदमन्तरिक्षम् । एत ह्याकाशमनु जयते । तदेतद्यजुर्वायुश्चात-  
रिक्षञ्च यच्च जूश्च, तस्माद् यजु (२) । अयाध्यात्मम्—प्राण एव यजु । प्राणो हि य नेवेद जनपति । प्राण यतमिदमनु जयते । तदेतद् यजु (४) । अयमेवाकाशो जू । यो यमन्तरात्मन्नाकाशः । प्राणश्चाकाशश्च, यच्च जूश्च, तस्माद् यजु प्राण एव, यत्प्राणो ह्यसि (५) । अनेमेव यजु । अनेन हि जायते, अन्नेन जयते । तदेतद् यजु (६) ।

१ द्र तैत्तिरीय ब्रा १।१।६।३ यदाज्यमुच्छिष्यते, तेन समिधोऽज्यम्याव चाति । यहाँ 'आज्य' और 'अज्य' के युगपद प्रयोग से 'आज्य < √अञ्ज' व्युत्पत्ति को सूचित किया है ।

२ द्र श ब्रा १।१।३।४ वृत्रो ह वा इव सर्वं वृत्वा शिश्ये यदिवमन्त रेण धावा-वृषिवी । त यदिद सव वृत्वा शिश्ये तस्माद् वृत्रो नाम ।

३ द्र तै ब्रा १।१।५।४ सोऽश्न पूष वाङ् भूत्वा प्राञ्च पूषमुदवहत । तत्पूष-वाह पूष वाटस्वम् ।

४ ॥ अभिष्टोम, इन्द्र यशोध, मानुष के निवचन ।

# निघण्टु और उसका भाषा-चिन्तन में योग-दान

ऋग्वेद में निवचन ऋषियों के अभिव्यक्ति-कीर्तन के अङ्ग के रूप में उपलब्ध होता है, तो मा स में वह शब्दों की व्याख्या प्रस्तुत करने की विधा के रूप में प्रपनाया गया मिलता है<sup>१</sup>। अथर्वसंहिता में तो शब्दों की व्युत्पत्ति बताने की विधा के रूप में यह और भी स्पष्ट रूप से प्रपनाया गया है। अन्ततः कृष्ण यजुर्वेद संहिताऽतगत ब्राह्मणों में उस का विकास पारिभाषिक शब्दावली की व्याख्या करने वाले एक समय साधन के रूप में मिलता है। इस पद्धति का और भी विकास ब्राह्मण वाङ्मय में मिलता है। इस प्रकार वैदिक वाङ्मय में भाषा चिन्तन की यह धारा आचार्यों के भगीरथ प्रयासों से भव्य विस्तार वाली निवचन भागीरथी के रूप में परिणत हो गई है। अभिव्यक्ति नीति के रूप में स्वीकृत हुई यह विधा कालांतर में चल कर एक आवश्यकता बन गई। वैदिक भाषा के शब्द कुछ दुरूह प्रतीत होने लगे, तथा उन की व्याख्या के लिए निवचन विधा का प्राथम्य उपादेय प्रतीत होने लगा।

इसी काल में भाषा के अध्ययन में एक नई विधा ने जन्म लिया वैदिक ब्राह्मण से शब्दों को चुन-चुन कर सङ्कलित किया जाने लगा तथा उनकी व्याख्या की जाने लगी। प्रारम्भ में लगता है कि पर्याय शब्दों का सङ्कलन ही किया गया था ऐसा करने से भी भाषा के बहुत-से शब्दों का अर्थ सहज ही मालूम हो जाता है। माध्यमिक तथा तृतीय संहिताओं में और कुछ श्रौत-सूत्रों में उपलब्ध 'मन्त्रा' के दस नामों का सङ्कलन सम्भवतः इस दिशा के प्रयास का ही प्राचीनतम अवशेष है<sup>२</sup>। इसी प्रकार कृष्ण-यजु परा में सङ्कलित जल के कुछ पर्याय भी इसी दिशा में सङ्कलित करते हैं<sup>३</sup>।

१ 'पापमसि, विनुहि वेवान् ।' (१।२०) आदि इसी प्रवृत्ति के सूचक हैं।

२ इडे, रन्ते, हव्ये, काम्ये चन्द्रे, ज्योतिर्दिते, सरस्वति महि, वि-भुति ।

एता ते अग्नये, मामानि । मा स ८।४३ ॥

तै स ७।१।६।१८ इडे, रन्तेर्दिते, सरस्वति, प्रिये प्रेयसि महि, वि-भुतेत्येतानि ते अग्नये, मामानि । लाट्यायन श्रौत-सूत्र ३।६।३ हव्ये, काम्ये, चन्द्रे, ज्योति, इडे, रन्ते, जुष्टे सूनरि । पञ्चविंश ब्रा २०।१५।१५ तथा मानव श्रौत-सूत्र ६।४।१ भी देखें।

३ मादा, वाशा, शुष्पूरजिरा । ज्योतिष्मतीस्तमस्वरीरुदतो ॥ केना । तै स २।४।७।११ ॥ 'मादा, वाशा' इति स योति । नाम धेयरेवंना अच्युति । अथो यथा दूपादसवेहीति, एवमेना नाम धेयराज्यावयति (६।१०) । का स ११।६



यदि नामों के सङ्कलन की इस परम्परा का विशिष्ट रूप हम उपयुक्त ग्रन्थों से पर्याप्त रूप से 'निघण्टु' ग्रन्थों की परम्परा के रूप में उपलब्ध होता है जिन में बहुत बाद का 'निघण्टु' यह ग्रन्थ है जिस की व्याख्या आचार्य शास्त्र ने अपने निरुक्त के रूप में की है।

निघण्टुओं के सङ्कलन का विस्तृत व्योरा आज हम कुछ भी विनित नहीं है। ही जتنا अवश्य कहा जाता है कि यास्कीय निघण्टु से पूर्व कई निघण्टु तिम जा चुके थे तथा उनमें शाकपूणि का निघण्टु बहुत सुघट तथा प्रसिद्ध था। उस निघण्टु का कुछ परिचय यह है

दुर्ग स्वद स्वामी, आत्मानन्द के ग्रन्थों से विनित होता है कि—

(१) शाकपूणि ने एक निघण्टु का प्रणयन कर के उस पर आध्य भी लिखा था। यह भाष्य निरुक्त के नाम से परिचित था<sup>१</sup>।

(२) उनके निघण्टु में यास्कीय निघण्टु के समान अन्वय तथा द्रव्य दोनों प्रकार के गण मङ्कलित थे<sup>२</sup>।

(३) उनके निघण्टु में कुछ ऐसे गण भी थे जो यास्कीय निघण्टु में नहीं हैं<sup>३</sup>। यास्कीय निघण्टु में सङ्कलित सब शब्द उस में थे कि नहीं इस पर कुछ नहीं कहा जा सकता।

(४) उसमें कई यदि गणों के अर्थ उपलब्ध यास्कीय निघण्टु में दिए ग्रन्थों से भी न भी बताय गये थे<sup>४</sup>।

(५) उनके निघण्टु में शब्दों का क्रम किसी सिद्धान्त पर आधारित था। सम्भवतः उस सिद्धान्त के आधार पर अपने सङ्कलित शब्दों के क्रम की व्यवस्था की

मा दा, वशाद्गुधुवोऽजिरा, उदतोस्तु केना ज्योतिष्मतीस्तमस्वती । १० 'मा'दा वशा इत्येतानि वा अर्षा नाम धेयानि । मै स २।४।७ मा दा वना ज्योतिष्म-तीरमस्वती गुधो अज्या उन्ती सु केना । ८ मा'दा, वना ज्योतिष्मतीर अमस्वतीर इत्येतानि वा अर्षा नाम धेयानि ।

१ द्र ऋ १।१६।१४ पर आत्मानन्द अक्षर=जगच्चक्रम् । अमतीति वा चरतीति वा चक्रमिति शाकपूणि । ४० उदकमिति सुखनामेति शाकपूणि । ५२ शाकपूणि-यास्क्यादि निरुक्तेष्वपि व्याख्या भेद एव ।

२ ॥ स्वद महेश्वर टीका निरुक्तम् १।४, भाग १, पृष्ठ ४६ दाश्वानिति यजमान नाम शाकपूणिना पठितम् । ऋ मा ६।६२।२ तथा च शाकपूणिना नद्यमि धाविन सरस्वती गच्छत्य परि भणने ।

३ ॥ निरुक्तम् ३।१० (निघण्टु २।१८) पर स्वद स्वामी शाकपूणोरिति रिक्ता एते—विद्याक, विद्याच उर व्यवा, विष्णे ।

४ द्र आत्मानन्द, ऋ मा १।१६।४० उदकम् इति सुख नामेति शाकपूणि । यास्कीय निघण्टु तथा निरुक्त में 'उदक जल वाचक ही है ।

५ द्र दुर्ग-टीका ८।५ में उदक वार्तिक कार

व्याख्या उन्होंने अपने निरुक्त में की होगी ।

(६) दन्त काण्ड के भाष्य में उन्होंने छोटे मोटे शब्दों के मात्रों की सङ्ख्या बताने का प्रयास भी किया लगता है<sup>१</sup> ।

(७) उनके निघण्टु का प्रारम्भ भी 'पृथिवी आदि शब्दों से ही होता था<sup>२</sup> । शायद उनके निघण्टु में भी निघण्टुक आदि तीन काण्ड थे । निघण्टुक और दन्त काण्ड तो अवश्य रहें होंगे—सम्भवतः निघण्टुक पहले और दन्त काण्ड अन्त में ।

इस समूचे निघण्टु साहित्य के अवशेष के रूप में आज दो ही ग्रंथ बचे हैं (१) आचार्य यास्क के द्वारा व्याख्यात निघण्टु तथा (२) कौत्स<sup>३</sup> आचार्य के द्वारा प्रणीत अथर्व वेदीय निघण्टु । यास्क 'यारयात निघण्टु' का विवरण तथा भाषा चिन्तन को उसके योगदान का मूल्याङ्कन प्रकृत स्थल में प्रस्तुत है

१ नाम विश्व में उपलब्ध बाहुमय में प्राचीनतम कोष होने का गौरव आज जिस ग्रंथ को प्राप्त है उस का प्रसिद्ध नाम 'निघण्टु' है । 'यास्क ने इस का नाम 'सामान्याय' दिया है<sup>४</sup> । प्राचीन लोग इस प्रकार के 'सामान्याय' को 'निघण्टवः' कहा करते थे<sup>५</sup> । निघण्टु शब्द का प्रयोग वास्तव में तो इन कोषों में सङ्कलित पदों के लिये हुआ करता था । वेदों से कठिन शब्दों को उन पर कुछ प्रकाश डालने के लिये अलग कर लिया जाता था । अतः 'निगमन' के कारण इन्हें 'निघण्टु' कहा जाता था<sup>६</sup> ।

इस से विदित होता है कि 'सामान्याय' तथा 'निघण्टु' किसी खास ग्रंथ के नाम ही नहीं हैं, अपितु 'शब्द कोष' अर्थ में ही इन का प्रयोग हुआ करता था । 'सामान्याय' नाम इस प्रकार के ग्रंथों के सङ्कलनात्मक स्वरूप को स्पष्ट करता है ।

क्रम प्रयोजन नाम्ना शाकपूष्पिस्तुपलक्षितम् ।

प्रकल्पवेदवदधि, न प्रज्ञामवसाधयेत् ॥

१ ■ स्कन्द, ऋ भा ६।६।१२ तथा च शाकपूष्पिस्तुपलक्षितमिति सरस्वती-गङ्गाद्वय परिगणने 'अथवा नदी । चत्वार एव तस्या निगदा भवन्ति— ह्यद्वयत्वात्' (ऋ ३।२३।४) 'चित्र इन्द्राजा' (मा२।१।२८), सरस्वती सरण्यु (१०।६।४।६), इमं मे मङ्गे (७।५।५) । पञ्चममप्युदाहरति— अस्मिन्तमे... (२।४।१।६) । अत्राय न वृष्ट परि गणित इति ।

२ द्र दुर्ग टीका मा५ शाकपूष्पिस्तु पृथिवी नामस्य एषोपक्रम्य स्वयमेव सद्यत्र क्रम प्रयोजनमाह ।

३ द्र निरुक्तम् १।१ सामान्याय सामान्यात् । स व्याख्यातव्यः ।

४ द्र वही समीप सामान्याय निघण्टव इत्याचक्षत ।

५ द्र वही निघण्टव कस्मात् ? निगमा इमे भवन्ति—छन्दस्य समाहृत्य समाहृत्य सामान्यातास्ते निगता एव सन्तो निगमनां निघण्टव उच्यन्ते इत्योपमन्वयः ।

इस प्रकार के अधिवृत्ति नामों को 'निगम' तथा इन के प्रकरण को 'निगम काण्ड' कहना भी इस ध्युत्पत्ति को पुष्ट करता है ।

अर्थात् यह एक तरह का 'घाट कोप' का पर्याय है। निघण्टु नाम इस 'सामान्य' अथवा 'कोप' में सङ्कलित पदों के स्वरूप पर प्रकाश डालता है। आज की भाषाशास्त्रज्ञ इस का पर्याय क्या होगा, यह हम कह नहीं सकते।

निघण्टु नाम के विषय में निम्न बातें और ज्ञातव्य हैं

(१) यास्व से पूर्व यह घाट बहु-वचन में (क) इस प्रकार के अर्थ और (ख) इस में सङ्कलित पदों के लिये प्रयुक्त होता था।

(२) (क) प्रारम्भ में यह घाट पदों के लिये ही प्रचलित था, किन्तु (ख) बाद में इन पदों वाले कोप के लिये भी चल पड़ा।

(३) यास्व के बाद यह घाट अर्थ के लिये एक वचन में ही रुक ही गया। इस अर्थ के हस्त-लेखों की पुष्पिकाओं में तथा अन्य ग्रंथों में इस का उद्धरणों में एक वचनान्त ही प्रयुक्त मिलता है।

(४) काना तर में यह नाम 'घाट कोप' का सामान्य पर्याय बन जाने के कारण अर्थ विषय के 'घाट कोपों' के लिये भी काम में आने लगा। ऐसी स्थिति में यह जिस विषय के 'घाटों' का, या जिस अर्थ के 'घाटों' का, कोप है, वह विषय, या अर्थ इस के पूर्व पद के रूप में प्रयुक्त होने लगा। प्रकृत अर्थ को यदि निघण्टु कहा गया है<sup>२</sup>।

२ विषय विवेचन यह अर्थ (१) निघण्टुक, (२) नगम अथवा एक पदिक, (३) देवत नाम वाले तीन काण्डों में विभक्त है। (१) निघण्टुक काण्ड सब का बड़ा है (क) इस में तीन अध्याय हैं (ग) प्रत्येक अध्याय में एक अर्थ के वाचक पदों (पर्यायों) वाले कई-कई सङ्घ हैं, (ग) इस में सर्वाधिक पद (१३४१) सङ्कलित हैं। (२) नगम काण्ड में तीन सङ्घों वाले एक ही अध्याय में अनेकाधिक अथवा अज्ञात-पुत्पत्ति वाले २७६ पद सङ्कलित हैं। (३) देवत काण्ड में भी छह सङ्घों वाले एक अध्याय में १५१ देवता नाम सङ्कलित हैं। तीन काण्डों में कुल मिला कर १७७१<sup>३</sup> पद हैं। इन में से १४१६ नाम, ३१३ आख्यात, ३६ निपात और ३ उपसर्ग हैं<sup>४</sup>।

१ द्र 'भाषुर्वेद निघण्टु', नाम निघण्टु अथवा 'नाम लिङ्गानुशासन', अथवा 'अमर कोप', भाव प्रकाश-निघण्टु, अर्थात् भावमिश्र के 'भाव प्रकाश' नामक भाषुर्वेद अर्थ में सङ्कलित श्लोकादिनामों का कोप।

२ द्र तत्त्व बोधिनी, उणादि सूत्र ४८ यदि निघण्टी 'श्लोक पात्र' (निघण्टु २।६।१-२) इत्यादियुक्त नामसु तद्विधौ (निघण्टु २।६।१०) शब्दस्य पाठान्नेह मूलमिति बोध्यम्।

३ वस्तुतः यह सङ्ख्या १७७० ही उचित प्रतीत होती है नू च (४।१।३१) तथा द्रुत (४।२।३) नहीं होने चाहिये और १३।२६ में एक शब्द इच्छा अधिक होना चाहिये। द्र पृष्ठ १५७, टि २३, पृ १५८ लि १ तथा निरुक्त के पाँच अध्याय, पृष्ठ ४२५, टि १० एवं निरुक्त-मीमांसा, पृष्ठ १६।

४ विस्ताराथ 'निरुक्त मीमांसा', पृष्ठ १८ २०, देखें।

३ पद सङ्कलन में बरता सिद्धान्त आज अनुपलब्ध 'निरुक्त वार्तिक' के अनुसार थास्क से प्राचीन आचार्य शाकपूणि ने अपने निघण्टु में शब्दों के सङ्कलन के साथ साथ उस का प्रयोजन भी बताया था<sup>१</sup>। प्रकृत निघण्टु में इस तरफ न जाने क्यों ध्यान नहीं दिया गया है। दुग ने इस कमी को पूरा करने का प्रयत्न अवश्य किया है। इस निघण्टु में पदों का सङ्कलन किन सिद्धांतों पर किया गया है इस विषय में दुग के उपर्युक्त प्रयास से भागे विचार अभी नहीं हो पाया है। अतः विश्वस्त तथा पर्याप्त विश्लेषण एक स्वतंत्र ग्रंथ का विषय है। तथापि विद्वानों के विचार के लिये हम निम्न सामग्री प्रस्तुत कर रहे हैं।

(१) प्रथम अध्याय में पृथ्वी से आरम्भ कर के अन्तरिक्ष दिशा मेघ, रश्मि जल नदी आदि भौतिक वस्तु तथा उन से सम्बद्ध क्रियाएँ—इन के वाचक ४१५ पद दिए गए हैं।

(२) द्वितीय अध्याय में 'मनुष्य' से आरम्भ कर के उस के अङ्गों उस के उपयोग की वस्तुधा, कम और विविध क्रियाया से सम्बद्ध कुल ५१६ पद हैं।

(३) तृतीय अध्याय में 'बहुत से आरम्भ कर के छोटा, 'बड़ा' आदि विशेषण 'सुख' आदि भाव 'प्रज्ञा', उस से सम्बद्ध विविध क्रियाओं के वाचक कुल ४१० पद हैं।

(४) चतुर्थ अध्याय में (क) व्युत्पत्ति की दृष्टि से कठिन और (ख) घनका यक २७६ पद तीन खण्डों में (क्रमशः ६२<sup>२</sup>, ८४<sup>३</sup>, १३३) दिए गए हैं। इन में से प्रत्येक का अध्ययन तो अभी नहीं हो पाया है, पर प्रथम खण्ड के ६२ पदों में से कुछ (२१) के अध्ययन से हम निम्न निष्कर्ष पर पहुँचे हैं— (क) बारह पद तो ऋग्वेद-संहिता में उन रूपों के अधिक प्रयोग के कारण लिये गये हैं। (ख) तीन पद इन रूपों में ही अर्थ की विशिष्टता के कारण (ग) दो पद घनवगम के कारण लिये हैं। (घ) दो पद दो रूपों के ऋग्वेद-संहिता में समान सङ्ख्या में प्रयुक्त होने से भौतार्थिक विभक्ति और वचन (प्रथमा, ए व) में बदल कर सङ्कलित किये गये हैं। (ङ) एक पद विभक्ति वचन में सन्देह के कारण, और (च) एक उस पद<sup>४</sup>

१। इ. दुग टीका ८।४ (मान-दाधम-स पृष्ठ ७४०) शाकपूणिस्तु पृथिवी नामान्य एवोप क्रम्य स्वयमेव सवन्न क्रम प्रयोजन माह। तदुक्त वार्तिक कारणे

क्रम प्रयोजन नाम्ना शक्यपुष्पुपसक्षितम्।

प्रकल्पयेदयदपि न प्रज्ञामव सादयेत् ॥

२ वस्तुतः इस खण्ड में एक शब्द (नृ ४।१।३१) यहाँ निरुक्त से प्रक्षिप्त<sup>५</sup> हो गया लगता है। अतः वास्तविक सङ्ख्या ६१ कदाचित् रही हो। ■ निरुक्त के पाँच अध्याय, पृष्ठ ४२५ टि १०।

३ इस खण्ड में भी एक शब्द (इत ४।२।३) यहाँ वस्तुतः नहीं है, गलती से सम्भल लिया गया है। अतः इस खण्ड की सङ्ख्या वस्तुतः ८३ प्रतीत होती है। ■ भागे सातवें प्रकरण में 'इत' पर टि।

४ इ. इस विषय में विस्ताराय भागे निघण्टु ४।१ में कुछ पदों



इस विवरण के आधार पर साधारणतया यह कहा जा सकता है कि निघण्टु में पदों का सङ्कलन एक व्यवस्थित और ब्रह्मानिक आधार पर किया गया है। विशेष रूप से इस पर कुछ तभी कहा जा सकेगा, जब अकेले इस विषय पर ही कोई विद्वान् अपना श्रम अर्पित करेगा।

४ पद सङ्कलन की श्रुतियाँ इस व्यवस्था के बावजूद निघण्टु में कुछ श्रुतियाँ भी आपात प्रतीत होती हैं (१) कुछ खण्ड (जैसे १।१६, २।६, २।१८ १६, ३।११ १४, २१) में आपात्यातों में ही नाम पद भी सङ्कलित हैं। (२) एक खण्ड (३।२६) में नामों में आपात्यात पद दिये गये हैं। (३) एक ही घातु के एक ही लकार और पुरुष के विविध रूप भी कुछ खण्डों (२। ८ और १८) में पथक पथक पदों के रूप में सङ्कलित हैं। (४) एक ही घातु के अलग अलग लकारों के (२।१८) तथा विकरणों के (१।१६) रूप भी पथक पथक पदों के रूप में सङ्कलित हैं। (५) एक खण्ड (३।११) में तो एक आपात्यात पद को निरूपसग (चष्टे) और सोपसग (वि चष्टे) रूप में अलग अलग दिया गया है।

५ निघण्टु के रचयिता निघण्टु के प्रणेता बौन हैं इस बारे में प्राचीन काल से दो मत चल आ रहे हैं

(१) निघण्टु कई लोगों की रचना है (घ), प्राचाय दुग का मत है कि निघण्टु की श्रुतियाँ न सङ्कलित किया है। उन के निष्कर्ष का आधार (१) यास्क का यह कहना है कि मन्त्रों को मौखिक रूप से पठान में आलस करते हुए भवरो (भगलो पीड़ी के लोगो) ने स्पष्ट रूप से समझने के लिये इस ग्रन्थ का सङ्कलन किया, और वेद का तथा ब्राह्मणों का सङ्कलन किया<sup>१</sup>। दुग ने इस प्रथम से 'निघण्टु' को लिया है<sup>२</sup>। (२) 'दावने अकूपारस्य<sup>३</sup> की याज्ञिक मन्त्र' में इन शब्दों का उलट गया है। यदि 'निघण्टु' के रचयिता भी यास्क ही होते तो एक ही शक्ति मूल तथा व्याख्या में अकारण यन् विषय नहीं होना चाहिए। अतः निघण्टु और निरुक्त भिन्न भिन्न व्यक्तियों की कृति हैं<sup>४</sup>।

ऋग्वेद संहिता में दावने ३० बार और अकूपारस्य पद १ बार आया है।

१ द्र निरुक्तम् १।२० साक्षात्कृत धर्माणि श्रूयमी बभूवुः । तद्वरेभ्योऽसा साकृत धमभ्य उप देवेन मन्त्रात्सम्प्राप्तुः । उपदेशाय भ्यायन्तोऽवरे बिस्म प्रहृणायेम प्रथम समाम्नसिपुर्वेदं च ज्ञेदाङ्गानि च ।

२ द्र दुग टीका १।२० इस ग्रन्थ—गवादि देवपत्यत समाम्नातवत ।

३ ॥ निघण्टु ४।१।३२ ३३ ।

४ विद्याम तस्य ते वयमकूपारस्य दावने । ५।३६।२॥

५ द्र दुग-टीका ४।१८ एतस्मिन्मन्त्रे अकूपारस्य दावने इत्ययमनयो पदयोरनुक्रम, समाम्नाये पुनर 'दावने, अकूपारस्य' इति मन्त्र पाठ-व्यतिकरेणानुक्रम । तेन नायतेऽप्यरेवायमृषिभिः समाम्नाय समाम्नातोऽय एव चाय भाष्य काट इति, एको हि समाम्नात भाष्य च कुयन् प्रयोजनाभावादेक मन्त्र-गतयो पाठानुक्रम नामदृश्यत ।

इस रूप के प्रतिरिक्त यह अक्षुपार के रूप में भी श्रु १०१०६।१ में ही एक बार आया है। ऐसी स्थिति में यदि इन दोनों पंक्तियों को साथ साथ लिया जाना है, तो श्रु ५।३६।२ से ही लिया जा सकता है। निघण्टु में इन पंक्तियों का सङ्कलन करने वाले भाषाज्ञ ने इन्हें साथ-साथ ही रखा है, परन्तु उन की दृष्टि में यह मात्र नहीं हो, ऐसा नहीं कह सकते। तब यास्क स भिन्न व्यक्ति इस मात्र का दृष्टि में रस कर भी यदि कम तोड़ सकते हैं, तो यास्क ने ही कम तोड़ दिया, तब क्या अंतर था गया? यह भी हो सकता है कि निघण्टु में प्रथम मात्र के अनुसूत ही रहा हो पर दुर्गाचार्य तब आते आते लेखकों के प्रमाण में बल गया हो।

(आ) श्री धातु की कम्बल का कथन है कि

(१) निघण्टुक काण्ड के रचयिता से नवम काण्ड के द्वितीय खण्ड का रचयिता भिन्न है। इस में १ अथ (४।२।६), २ पराह (२१) ३ स्वसराणि (२२) ४ गाय (२३), ५ सिन्धु (२८), ६ धपुनम (४८) पद क्रमा २।७।१, १।१०।१३, १।६।५ २।५।५, २।७।८, ३।६।१० में आ चुके हैं। यदि रचयिता एक ही होता तो वह पीछे दिये जा चुके पदों को पुनः क्यों देता?

इस पौनरुच्य को भाषाज्ञ दुर्गा ने उचित माना है। निघण्टुक काण्ड में पर्याय के रूप में होने मात्र से शब्द को मङ्कलित करने का प्रयोजन नहीं सिद्ध हो जाता। अनेकायक अवयव अनवगत-संस्कार होने से भी ऐक्य पदिक काण्ड में वही गण पुनः दिया जा सकता है। निघण्टुक के ही नहीं, ईदव काण्ड के भी कई शब्द इन दो हेतुओं में से अधिकतर के कारण इस काण्ड में समाज्जात हैं। परन्तु काण्डों की प्रकृति में भेद होने से भिन्न कारणों से एक ही गण भिन्न भिन्न काण्डों में लिया गया है।

(२) प्रथम खण्ड में १ विप्रवे, ३ पदे (१८ १९) २ वाचने अक्षुपारस्य (३२ ३३)—ये दो जोड़े ऐक्य मात्र में ही आये हैं तथा निघण्टु में यथा-श्रुत विभक्ति वचनान्त ही समाज्जात हैं। द्वितीय खण्ड में १ आहिष्ठ ब्रूत (२३), २ कुटरस्य अथ (७० ७१) जोड़ों में से पहले की मात्र गत संधि तोड़ कर उसे विसर्गान्त बना दिया है<sup>१</sup>, जब कि दूसरा जोड़ा यथा-श्रुत विभक्त्यन्त है। तीसरे खण्ड के १ अनेवाय, किमीदिने (४३ ४४) और २ चन, पचता (६४ ६५) युगल तो यथा-श्रुत हैं, पर ३ अष्टो पुराणि (५० ५१) और ४ सदावे गिरिम्बिष्ठ (१२०-१२१) की मात्र-गत (कमेणु) द्वितीया ए व, और पष्ठी, ए व, विभक्तियों को प्रथमा में बदल दिया गया है। यदि प्रथम खण्ड के युगलों को यथा-श्रुत विभक्ति में रखा जा सकता है तो शेष दो खण्डों के युगलों को भी यथा-श्रुत विभक्ति में क्यों नहीं रखा जा सकता? इस से सिद्ध होता है कि इस काण्ड के प्रथम और तृतीय खण्ड एक ही व्यक्ति की कृति नहीं है।

१ इ श्री विष्णुपद भट्टाचार्य, यास्क ज निरुक्त पृष्ठ २७ २६ में उद्धृत।

२ वस्तुतः सङ्घ्यमान ही उचित है। इ आगे पृष्ठ १६६ पर टि २।

इस पर हमारा यह प्रश्न है कि तीसरे खण्ड का सङ्कलयिता ही यदि दो युगलो को यथा-श्रुत विभक्ति में देता है, तो उस ने शेष दो म ही विभक्ति क्यों बदली? अतः जसे तीसरे खण्ड में यथा-श्रुत विभक्ति में समाम्नात में अपवाद के होते हुए भी वह खण्ड एक ही व्यक्ति की कृति है, वैसे ही गेय खण्ड म भी मामूली बदलाव के होने या न होने से उन का सङ्कलयिता भिन्न नहीं हो जाता।

(इ) डा लक्ष्मणसूत्र ने<sup>१</sup> निघण्टु को 'एक पूरी पीढ़ी या सम्भवतः अनेक पीढ़ियों के समुक्त परिणामों का प्रयाग' माना है। उन्होंने इसके लिये कोई युक्ति देने का कष्ट नहीं किया है।

(ई) श्री वैजनाथ काशिनाथ राजवाड़े ने भी श्री कमकर जी की तरह की ही युक्तियों के बल पर इस के भिन्न भिन्न भागों को भिन्न भिन्न लोगों का हस्त कौशल माना है<sup>२</sup>।

(ख) निघण्टु यास्क कृत है (ग्र) आचार्य मधु सूदन सरस्वती ने 'प्रस्थान भेद' में इसे यास्क कृत बताया है<sup>३</sup>।

(भा) बेङ्कट माधव ने भी इसे यास्क पठित बतलाया है<sup>४</sup>।

(इ) आधुनिकों म प सीताराम शास्त्री ने (हिंदी निरुक्त<sup>५</sup>, भूमिका में) इसे यास्क कृत ही सिद्ध किया है। उन की युक्तियों का सार यह है

(१) जिस प्रकार 'क्त्वा' प्रत्ययात् पद का और उस के साथ प्रयुक्त भ-य किसी क्रिया-पद का कर्ता एक ही होता है, वैसे ही समाम्नात समाम्नात। स व्याख्यातव्य (निरुक्त १।१)। वाक्य के 'क्त्' प्रत्ययात् 'समाम्नात' और 'तव्य-प्रत्ययान्त व्याख्यातव्य' का कर्ता अभिन्न ही होना चाहिये। स्वोपज्ञ व्याख्यान की महत्ता को बतलाने के लिये तो पहले निघण्टु का सङ्कलन हो गया है। अब उसकी व्याख्या करनी चाहिये। यह कहना बनता है, पर 'और लोग निघण्टु का सङ्कलन कर चुके हैं। अब उस की व्याख्या करनी चाहिये।' यह कहना बड़ा घट पटा लगता है। आज तक तो संहृत के विशाल वाङ्मय में तथा भ-य भाषाओं के हमारे ज्ञान की परिधि में आये वाङ्मय म इस प्रकार व्याख्या का आरम्भ किसी ने नहीं किया है। अतः यहां पूर्व वाक्य 'समाम्नात समाम्नात।' यास्क द्वारा निघण्टु की समाप्ति को और भगना वाक्य 'स व्याख्यातव्य।' उस के भाष्य के आरम्भ को सूचित करता है।

१ द्र अनुवाद, पृष्ठ १४। २ द्र यास्क ज् निरुक्त, पृष्ठ २१५।

३ तत्रापि निघण्टु सञ्ज्ञक पञ्चाव्यात्मको ग्रंथो भगवता यास्केन कृत।

४ द्र ऋग्वेद भाष्य ७।८७।४ तत्रक विशति नामानि काचिद् गोविमतोति पृथिवोमाह। तस्या हि यास्क पठितान्येव विशतिर्नामानि।

सामण ने इस उक्ति को 'अपर आह—' कह कर सङ्क्षेप से दिया है।

५ श्री हरियाणा खेखावादी ब्रह्मचार्याश्रम, भिवानी, जि हिसार, से १९१६ ई में प्रकाशित।



(२) पीछे उद्धृत निरुक्त के ए० अनु०<sup>१</sup> में माग्य ने पाँच भाषाओं के सम्मानन में दोष गिनाते हुए अपने सम्मानन का सिद्धांत बनाया है। इस में सिद्ध होता है कि भाषा य निषण्डु व सङ्कलनित यास्त ही हैं।

इस युक्ति के बारे में कुछ और चर्चा करना आवश्यक है।

(i) डा सध्मणसरूपन सम्मवन निषण्डु की यास्वरचितता व अपने पूर्वाग्रह के कारण निरुक्त के माग्य भाष्य के अपने सस्वरण<sup>२</sup> में मूल व उपयुक्त स्यन म तत्समामने के स्थान में न केवल 'समामनेत्' पाठ ही सुभाषा है, अपितु भाष्य घृत इस वाक्य में 'तत्समामनेत् = पठदित्यय'।<sup>३</sup> का परिवर्तन भी कर दिया है। यह पाठ स्कन्द के इस से पूर्व के 'अथोत = उत गम्भश्चापे'। अनन्तर च परेषामति प्रसङ्गमात्मनश्च ध्युदास द्वापितुमिदमुच्यते। वाक्य के मात्मनश्च ध्युदास में स्पष्टतः विरुद्ध है 'मात्मन' कहना तभी साधक हो सकता है जब के उत्तम पुरुष की 'समामने' क्रिया की व्याख्या कर रहे हों।

यहाँ समामने ही है यह दुग की 'वारया से भी सूचित होता है'।

निरुक्त और दुग टीका के सभी कोषों में, स्कन्द भाष्य घृत निरुक्त के कोषों में भी, सबत्र 'समामने ही है। इन डा सध्मणसरूपन अपने पूर्वाग्रह के कारण बिना किसी युक्ति के ही पाठ में उपयुक्त छे' छाड की समती है।

(ii) डा मधुकर अनन्त मद्दले व मन में उस वचन से इतना ही सिद्ध होना है कि 'दवन-वाण' मात्र यास्कीय है पूरा निरुक्त नहीं। वे दुग को प्रमाण मान कर निरुक्त १।१ और १।२० के 'तमिम' से यास्क द्वारा व्याख्यात निषण्डु को लेते हैं तथा दुग के समान इस निषण्डु को यास्केतर सागा की वृत्ति मानते हैं<sup>४</sup>।

पर यह कथन ठीक नहीं है निषण्डु के लिये सम्मानन साग्येके समा मन्ति समामने के रूप के सम + आ + √स्ना के विविध प्रकार के प्रयोगों से सूचित होता है कि यह योग उन के पूर्व काल से ही इस प्रकार के पद-सङ्कलन के लिये रचा था। सम्मानाय<sup>५</sup> = दक्षिणी खास प्रय के लिये नहीं, अपितु 'सङ्कलन' अर्थ में भी प्रचलित था<sup>६</sup>। अतः निरुक्त (१।१ २०) में तमिम विशेषण से निषण्डु सामान्य अभिप्रेत है निषण्डु विशेष नहीं। केवल पार्श्व के अध्याय की यास्कीय मानना हम तो अथ जरतीय (भाषा नीतर भाषा बटेर) 'याय ही लगता है। जिस

१ पृष्ठ १५८, टि ३। २ डा स्कन्द महेश्वर-टीका, भाग ३, पृष्ठ ७१ टि १५।

३ = दुग टीका अहं तु न समामने। तथा च तेषां गार्हपत्येऽपरि समाप्ति। तममापि भा भूद, इत्यतो यत्तु सविज्ञान भूत स्यात् प्राधाय स्तुति तत्समामने। इति। तस्मान्नतायह समामने।

४ = इडियन् लिडिग्विट्स वा ३१ अङ्क १-२ जनवरी जून, १९७० पृष्ठ ५८ ५९ में हमारी निरुक्त भीमासा की उनके द्वारा की गई समीक्षा।

५ डा वाज सनेयि प्रातिग्राह्य ८।१ तथा तत्तरीय प्रातिग्राह्य १।१ यत्तु सम्मानाय। अनुवाकानुक्रमणी १।६ पदाक्षर सम्मानाय' शब्द।<sup>७</sup>

प्रकार द्रव्य काण्ड के सङ्कलन में यास्क के समय तब प्राचीन आचार्यों के सङ्कलन सिद्धांत में विकास हो गया था, क्या वैसे ही निरुक्त के शेष भाग के सङ्कलन के सिद्धान्तों में विकास नहीं हुआ होगा कि यास्क ने सिद्धांत विकास के कारण द्रव्य काण्ड का तो नया सिरे से सङ्कलन किया, पर शेष दो काण्डों को ज्या का त्याग स्वीकार कर लिया? इस के अतिरिक्त निघण्टु ४।१ के पदो एवम् उन पर उद्धृत मन्त्रों के सङ्कलन में एक अद्भुत सामञ्जस्य है अधिकांश शब्दों के वे ही रूप सङ्कलित किये गये हैं, जो षाडमय में सर्वाधिक उपयुक्त थे<sup>१</sup>। इसी प्रकार उन रूपों पर मन्त्र भी वही उद्धृत किये गये हैं, जिनमें व सप्त रूप सर्वाधिक उपयुक्त रूप में आये हैं, अर्थात् जो मन्त्र सर्वाधिक उपयुक्त हैं<sup>२</sup>, वे ही इन पदा पर लिये गये हैं। ये दोनों बातें परस्पर सम्बद्ध हैं, तथा सब तक सम्भव नहीं हैं, जब तक दोनों काय एक ही व्यक्ति के न हों<sup>३</sup>।

निष्कर्ष यास्क के साक्षात् कथन की तथा विपक्ष की युक्तियों की दुर्बलता को ध्यान में रखते हुए हम निघण्टु यास्क की वृत्ति ही प्रतीत होता है।

१ निघण्टु के दो पाठ कोषों के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर विदित हुआ है कि उपलब्ध निघण्टु के दो पाठ हैं। डा लम्पससहस्र ने इन्हें 'शाटर रिसेंसन्' और 'साङ्गर रिसेंसन्' नाम दिया है<sup>४</sup>। इन दोनों पाठों में अन्तर निम्न लिखित प्रकार से है।

(१) गणों की दृष्टि से अन्तर (क) बृहत्पाठ (साङ्गर रिसेंसन्) में उपलब्ध १६ पद सप्त पाठ (शाटर रिसेंसन्) में नहीं हैं। (ख) सप्त पाठ में उपलब्ध १५ शब्द बृहत् पाठ में नहीं हैं<sup>५</sup>। (ग) २।१४ के दोनों पाठों में पद सट्टया तो समान ही है, पर (घ) ३४ गन्ध सप्त पाठ में है बृहत्पाठ में नहीं, (ङ) २५ पद बृहत्पाठ में है सप्तपाठ में नहीं है<sup>६</sup>। एव पद सप्त पाठ में सोपसग और निहपसग रूप में

१ इस विषय में चर्चा हम पीछे पृष्ठ १५७ पर कर चुके हैं।

२ डा 'निरुक्त के पाँच अध्याय, चतुर्थ अध्याय तथा पृष्ठ १५७, टि ४ में उल्लिखित अध्याय। इस बारे में चर्चा हम आगे 'निरुक्त' पर विचार करते समय भी करेंगे।

३ इस विषय में हमारे 'निरुक्त भीमासा' (पृष्ठ २३-२०) तथा 'निरुक्त के पाँच अध्याय' (पृष्ठ ८ १४ तथा सातवें अध्याय का चौदहवाँ खण्ड) भी देखें।

४ डा दी निघण्टु ऐण्ड दी निरुक्त, भूमिका, पृष्ठ ६ दो मैयूस्क्रिप्ट्स फाल्स इन्टु द डिस्टिक्ट ग्रुप्स M 2, M 3 W 1, W 2, W 3, and ग फाम वन् फमिली ग्रुप, ऐण्ड M 1, M 4 C 1, C 2, C 3, C 4, S, W 4, A, B E, व ख, ग, घ, ङ ऐण्ड च दी ग्रन्ड। दी फॉर्म में वी बाल्ड दी गॉटर रिसेंसन् दी सटर् दी साङ्गर।

५ इन दोनों प्रकार के पदों की सूची 'निरुक्त-भीमासा', पृष्ठ ११, में देखें।

६ इन की सूची भी यद्यपि 'निरुक्त भीमासा', पृष्ठ १२, में दी हुई है तथापि

दो बार आया है<sup>१०</sup> । (६) ३।१४ के सप्तु पाठ में बृहत्पाठ की आगा दम दाम कम है । अर्थात् उस में निष्पत्त प्रोक्त साम्या की आगा ही दम दाम कम है । (६) जितने हैं उनमें भी आठ पद बृहत्पाठ में नहीं हैं ।

(२) शस्त्री की दृष्टि से अन्तर (क) बृहत्पाठ में चौथे अध्याय में तीन खण्ड हैं, जब कि सप्तु पाठ में चार । सप्तु पाठ में तीसरे खण्ड का अन्तिम पद आगा दाम (७०) है तथा बृहत्पाठ में उस के बाद के ६३ पदों का सप्तु पाठ में एक अलग चौथा खण्ड बना दिया गया है । (ग) पाँचवें अध्याय के बृहत्पाठ में छह खण्ड हैं, सप्तु पाठ में बृहत्पाठ के पहले और दूसरे खण्ड को मिला कर एक कर दिया गया है । अतः उस में पाँच ही खण्ड हैं । (ग) अध्यायात्मक खण्डों में उन का विवरण बृहत्पाठ की तुलना में सङ्क्षिप्त है । जस—१।१ का पाठ सप्तु पाठ में गौ । आ ।

निरुक्त के पाँच अध्याय पर काम करते समय उस में कुछ परिवर्तन करना पड़ा है, अतः हम कई सूचियों नीचे प्रकाश दे रहे हैं

- (अ) १ अचति १४ । १० जगति ८३ । १६ भ्रुवति ८६ । २८ वरुण्यति ६० ।  
 २ अघयति ६१ । ११ अगति ८१ । २० नरुणति ५८ । २६ अजति ११५ ।  
 ३ अघुषु १२२ । १२ जगति ८२ । २१ नेदति ५७ । ३० य कति ६६ ।  
 ४ अरयति ६३ । १३ जायति १०५ । २२ वतयति १०६ । ३१ सखति ७० ।  
 ५ अलपति ६४ । १४ वप्नोति ६० । २३ मिमति ८५ । ३२ तिष्ठति ७१ ।  
 ६ ईहते ६२ । १५ वप्यति ५६ । २४ मियक्षति ३२ । ३३ हम्मति ७५ ।  
 ७ अणति ५४ । १६ हम्मति ११८ । २५ रानि ६५ । ३४ हयति ७५ ।  
 ८ कणति ६६ । १७ घयति ७२ । २६ रुद्धति ६६ ।  
 ९ क्षिणोति ४८ । १८ घायति ७३ । २७ वदति ४ ।

- (आ) १ अनति १०७ । १० जमति १०४ । १६ झूळति १०२ । २८ घतते ४४ ।  
 २ अघुषु १२२ । ११ जङ्गति ८५ । २० वमति ५० । २६ रमयति ६३ ।  
 ३ अघयति ६५ । १२ अवति १०५ । २१ मक्षति ३१ । ३० रेञ्जति ६० ।  
 ४ अवति ७३ । १३ जसति ८७ । २२ मयते २६ । ३१ वहते ६२ ।  
 ५ आयति ६६ । १४ मिन्वति ८६ । २३ नसते ७६ । ३२ समृति ७५ ।  
 ६ इपति १०० । १५ वप्यति ६१ । २४ कणति ७१ । ३३ स्वरति ५४ ।  
 ७ ईहते ८० । १६ वप्नोति ६२ । २५ मवति ७५ । ३४ हनति ७२ ।  
 ८ अणति ५३ । १७ वमति ११६ । २६ मिनाति ५१ । ३५ हयति ७७ ।  
 ९ एति १२० । १८ द्राति १०१ । २७ म्यपति ३३ ।

इन सूचियों में प्रथम अनुक्रमाङ्क है, उस के बाद पद है तथा उसके बाद की सङ्ख्या उपयुक्त खण्ड में उसके अनुक्रमाङ्क की सूचक है । इन पर विशेष विचार निरुक्त के पाँच अध्याय पृष्ठ ३१६ ३२४, में देखें ।

७ ■ गनीगति (८०) तथा आ गनीगति (११२) ।

■ द १ कल्पते (१३), २ पिपृक्षा (२३) ३ मणति (२०) ४ मणायत (२१), ५ मन्त्रपते (१५), ६ वदते (३४), ७ स्वदति (२७), ८ स्वपिति (२२) ।

गोत्रेति पृथिव्या ।' इस रूप में है और बृहत्पाठ में 'गौ । ग्मा । गोत्रेत्येक-  
विंशति पृथिवी नामधेयानि । इस रूप में है । बृहत्पाठ के कुछ कोषों में 'गौ ।  
ग्मा । गोत्रेति पृथिव्या ॥२१॥' इस प्रकार पाठ मिलता है । (घ) बृहत्पाठ के कोषों  
में प्रत्येक अध्याय के अंत में उस में आये खण्डों के पहले शब्दों को खण्ड सूत्र के  
रूप में दे कर उस में आये खण्डों की सङ्ख्या भी बतला दी गई है । जैसे प्रथम  
अध्याय के अंत में 'गोर्होमाम्बर स्व खेदय घाता इषावी विमावरी यस्तोरद्वि  
श्लोकोर्लोड्वनयोऽत्यो हरीडद्रस्य भ्राजते जमदिति सप्त दश । पाठ अधिक है ।  
अर्थात् इस अध्याय में गौ, हेम, अम्बर, स्व आदि शब्दों से प्रारम्भ होने वाले  
सत्रह खण्ड हैं । ये खण्ड सूत्र लघु पाठ में नहीं मिलते ।

डा लक्ष्मणसरूप के उपयुक्त व्यौरे (२ ग घ) के आधार पर ये निष्कर्ष हैं  
(क) प्रारम्भ में निघण्टु लघु पाठ के रूप में ही था, (ख) फिर उस में खण्ड गत पदों  
की सङ्ख्या अङ्कों में दी जाने लगी और (ग) उस के बाद सङ्ख्या के अङ्कों का  
स्थान सङ्ख्या शब्द ने ले लिया है तथा (घ) सब से अंत में अध्याय के अंत में  
खण्ड सूत्र भी जोड़े जाने लगे ।

७ यास्क ने किस पाठ की व्याख्या की है ? डा लक्ष्मणसरूप का भूमिका,  
(पृष्ठ १०) में मत है कि यास्क ने नघण्टुक काण्ड की व्याख्या में कई स्थलों पर  
निघण्टु के पदों की व्याख्या न कर के बाद में अनुक्त शब्दों के इतने प्रयोग हैं ।' इतना  
ही बताया है निघण्टु २।११ पर 'गो नामा'पुसराणि नव ।' (निवृत्त ३।६) यह  
अर्थ 'अथ वा, उत्तिषा ... शकवरीति गवाम् ।' (लघुपाठ) की व्याख्या में तो अपक्षिप्त  
है, परन्तु अध्याय, उत्तिषा ... शकवरीति नव गो नामानि ।' (बृहत्पाठ) की व्याख्या  
में तो पिष्ट पेपण ही है । अतः निघण्टु का यास्क कृत वस्तु लघु पाठ के अधिक  
उपयुक्त है । पर यह निष्कर्ष जल्द बाजी में निकाला गया लगता है । क्योंकि

(१) निघण्टु के चौथे अध्याय में बृहत् पाठ में तीन खण्ड हैं तथा लघु पाठ  
में चार, यह हम सभी (पृष्ठ १६४ में) कह आये हैं । यास्क ने इस अध्याय की व्या-  
ख्या तीन अध्यायों (४६) में की है । इस से सूचित होता है कि उन के समस्त यह  
अध्याय तीन खण्डों में ही था । (२) दशत काण्ड के बृहत्पाठ में छह अध्याय हैं तथा  
लघु पाठ में पाँच । यास्क ने इस काण्ड की व्याख्या छह (७।१२) अध्यायों में ही  
की है । (३) निघण्टु ३।१४ के बृहत्पाठ में ४४ पद हैं और लघुपाठ में ३४ । यास्क ने  
इस खण्ड में ४४ सङ्ख्या ही बताई है अचति-कर्माण उत्तरे घातवच्चतुर्चत्वारि  
शत (निवृत्त ३।१६) । (४) निघण्टु ४।१।७ के लघु पाठ में इविर है और बृहत्पाठ  
में इविरेण । यास्क ने इविरेण की व्याख्या (४।७ में) की है । (५) लघु पाठ में  
अनुपलब्ध किन्तु बृहत्पाठ में उपलब्ध गिरिम्बिठ (४।३।१२१) की व्याख्या यास्क  
ने (६।३० में) की है । (६) गिमे (४।३।७३) लघुपाठ में है, बृहत्पाठ के कुछ कोषों  
में नहीं है । यह ४।१।११ में भी दोनों पाठों में आया है । उस स्थल (निवृत्त ४।१०)

मे 'इस की व्याख्या या म करेंगे।' कह कर इस की व्याख्या नहीं की गई है। निघण्टु ४।३ में निम्न म पूर्व सु निम्न (७२) है। उस की व्याख्या ॥ ४३ की व्याख्या होगी ही, यत्र निम्ने की व्याख्या पहले स्थान म नहीं की गई। सु निम्न की व्याख्या के या निम्ने की व्याख्या (६।१७) म जिम द्य स की गई है उस स लगता है कि उस की व्याख्या सु निम्न का उत्तर प होने स ही की गई है। दुग भी निम्ने की व्याख्या को सु निम्न की व्याख्या म उपयोगी होने स प्रसङ्ग प्राप्त मान कर की हुई मानते हैं। इस से प्रतीत होता है कि यह शब्द यहाँ (४।३) म सङ्गिष्ठ है। नप ण्टुक काण्ड मे दिये प घनेवायक अवस्था चिह्नित व्युत्पत्ति होने के कारण दिये जा सकते हैं। पर इस प्रकार के शब्दों के लिये ही बनाये ऐव पदिक काण्ड म एक बार या चुके पद का दुबारा पाठ प्रमाद ही है। यत्र इस यहाँ प्रमाण-पाठ मानने की

१ ॥ सत्पुनरेतेनैव सुप्र गण्डेन व्याख्यातम् । निम्ने=हनु मासिके वा । ते तस्य प्रगल्भे स सु निम्न ।

२ उपलब्ध निघण्टु म इस प्रकार के दो पद (निम्न तथा दूत) हैं, जो एक पदिक काण्ड म दो बार मिलते हैं। हमारे विचार मे दोनों का पौनरुक्त्य अप्रामाणिक है। ४।३ म निम्ने का खण्डित हम कर ही चुके हैं, दूत (६।२।३ ४।३।१००) पद भी दूसरे खण्ड मे वस्तुन नहीं होना चाहिय (क) यास्क ने (निरुक्त ६।२२) मे दूत की व्याख्यात। कहा है। इस से सूचित होता है कि निघण्टु के पदों के क्रम म अव दूत की व्याख्या का क्रम था। अर्थात् यह पद निघण्टु के इस स्वतः म था जिस पर यास्क 'इस की व्याख्या की जा चुकी है। कह रहे हैं। अत्र यास्क के प्रमाण पर ४।३ म दूत का पाठ प्रामाणिक है। (ख) दूसरे खण्ड में किन्तु यह पद (घ) बाहिष्ठ (४।२।२) पर उद्धृत मात्र मे आगत पद के नाते भी व्याख्यात हो सकता है और (आ) स्वतन्त्र पद के नाते भी। (घ) प्रथम विकल्प से यदि व्याख्यात है तो इस मे कोई दोष नहीं है। टीकाकारों की सम्भवतः यही मान्यता रही है (ग) दुग ने इस की व्याख्या निम्न प्रसक्तमुच्यते।' कह कर मात्र म घाने के कारण व्याख्यात शब्दों म की है। निघण्टु म आये पदों की व्याख्या इत्यनव गतम्।' कह कर की है। इस से आये पीछे के पदों पर तो उन्होंने ऐसा कहा है पर इस पद पर नहीं। अतः यह पद उन के मत मे यहाँ निघण्टु में नहीं है। हाँ ४।३ पर निरुक्त (६।२२) मे 'दूत इत्यनवगतम्।' कहा है। अतः उन के मत मे यह इस खण्ड म निघण्टु गत है। (घ) स्कन्द की ४।२।३ पर की निरुक्त-व्याख्या तो खण्डित होने से अप्राप्त है। अतः वहाँ उन्होंने इसे निघण्टु-द्वितीय खण्ड गत स्वतन्त्र पद माना है या दुग के समान प्रसङ्ग प्राप्त, यह असंदिग्ध रूप से कहना सम्भव नहीं है। किन्तु आगे ४।३ म वे इस निघण्टु गत मानते हैं तथा यहाँ ४।२।२ पर प्राप्तज्ञान होने से व्याख्यात है, यही मानते प्रतीत होते हैं दूत इत्यनवगतम्। सत्पुन 'बाहिष्ठो वा ह्यनाम।' (श्रु ६।२६।१६) इत्यत्र दूतों जवतेर्वा' इत्येव व्याख्यातम्। (ङ) देवराज न भी दूसरे खण्ड में इस की व्याख्या नहीं की है तीसरे खण्ड म की है। अतः व

अपेक्षा उपयुक्त हेतुओं से न मानना ही उचित है। (७) वृहत्पाठ में उपलब्ध किन्तु भी इसे ४।३ में ही सङ्कलित मानते हैं, ४।२ में नहीं, यह सिद्ध होता है। (आ) द्वितीय विकल्प मानने पर यह दोष भ्राता है कि (च) यास्क ने इस का सङ्कलन निष्प्रयोजन क्यों किया ? जब तक इस दोष का कोई समाधान नहीं हो जाता तब तक निर्दोष विकल्प को मानना ही उचित प्रतीत होता है।

निघण्टु ४।२।३ में यह क्यों, कसे आया ? इस प्रश्न पर हमारा यह विचार है कि बाहिष्ठ पद श्रुतवद सहित म पाच बार आया है

(१) अस्माकमिन्द्र भूतु ते स्तोमो बाहिष्ठो अतम ।  
अस्मान् राये महे हिनु ॥ ६।४५।३० ॥

(२) आ वां बाहिष्ठो बहुषु स्तवध्व रथो वाजा श्रुमुलणो अमृक्त ।  
अग्नि मि वृष्ठ सवनेषु सोममदे मुशिप्रा महमि पूषध्वम् ॥ ७।३७।१ ॥

(३) अस्माकमद्य वामय स्तोमो बाहिष्ठो अतम ।  
पुषाभ्या भूत्वन्विना ॥ ८।५।१८ ॥

(४) आ वा बाहिष्ठो अग्निना रथो यातु व्युतो मरा ।  
उप स्तोमातुरस्य दशय धिये ॥ २६।४ ॥

(५) बाहिष्ठो वां हवानां स्तोमो दूतो हुवनरा । पुषाभ्या भूत्वन्विना ॥ १६ ॥  
इन में दो मन्त्रों (२-४) में यह पद √बाहि (√बह्, के व्युत्पत्ति) से निष्पन्न रूप में यौगिक अथ म रथ क विशेषण के रूप में आया है। अतः यह न व्युत्पत्ति की दृष्टि से अनवगत है न अथ की दृष्टि से अनवगत अथवा अनकायक।

इस लिये निघण्टु ४।२।३ में इन (रथ के विशेषणों) में से कोई-सा बाहिष्ठ सङ्कलित होन योग्य नहीं है। गेप तीन मन्त्रों में यह पद स्तोम के विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है। दो (१, ३) मन्त्रों में इस का प्रयोग वहन करने वाले स्तोम के लिये बहुत साधारण से ढग से हुआ है किन्तु अन्तिम मन्त्र में हवानां बाहिष्ठ दूत स्तोम ।' कहा गया है। अर्थात् (क) देवताओं की अग्नि वहन-स्तुतियाँ म प्रयुक्त

य. स्तोम जितने देवताओं को बुलाने वाले (हव) स्तोम हैं उन में अग्निवनों को लाने वाला सब से श्रेष्ठ स्तोम है। (ख) यह इस काय में अच्छे दूत के समान समय है। बाहिष्ठ शब्द बाहस' के सम कल √बाहि से निष्पन्न है। 'बाहस' के यास्क ने कम काण्ड स सम्बद्ध दा अथ (निरुक्त ४।१६ म) बताया है (१) अग्नि वहन-स्तुति, अर्थात् देवता की यज्ञ में लाने की की जाने वाली स्तुति, (२) अग्नि पवण प्रवादा स्तुति, अर्थात् देवता की सोम से पूरा पात्र अर्पित करते समय बोली जाने वाली स्तुति। 'बाहिष्ठ' का अर्थ यहाँ अविपवण प्रवादा स्तुति नहीं हो सकता। वह तो हव' (आ ह्वान) है अतः अविपवण-स्तुति अर्थ है। इस प्रकार यह विशेष अर्थ इस मन्त्र में ही है। परिणामतः इस 'बाहिष्ठ' का ही सङ्कलन यहाँ अप्रिय है यह बताने की निघण्टु में इस व्यवच्छेदक दूत' पद के साथ बाहिष्ठ दूत' के रूप में सङ्कलित किया गया है तथा 'दूत' की ध्यास्या प्रसक्त पद होने के कारण ही की

सधु-पाठ म अनुपलब्ध ऋजु-नीति (निघण्टु ४।३।६३), सुञ्जति (३।२०।६), घया (२।३।३) पद निरुक्त (यम ६।२१, १७ और ३।१५) म उसी अर्थ म हैं, जिन म वे सामान्यतः हैं। (८) सधु पाठ म उपलब्ध किन्तु बृहत्पाठ म अनुपलब्ध पदा की सूची म एक रोदसी पद ही रोदसी (३।३०।४ और ५।५।३६) की व्याख्या (रोदसी = रोपसी छाया वृषिष्ठी ६।१) में मिलता है। पर यह शब्द स्पष्ट ही रोदसी का शब्द निवचन देने की व्याख्या में आया है। रोदसी पद संहिताभा म अनुपलब्ध है। रोदसी सु बहुश प्रयुक्त है। अतः यहाँ इस पाठ से यास्क का सधु पाठ में परिचय सिद्ध नहीं होता। (९) बृहत्पाठ में मिलने वाला अम्बरम् (१।१२।३२) पद इसी अर्थ में निरुक्त १।१।४१ म मिलता है, परन्तु सधु पाठ का 'अक्षरा' कही भी नहीं मिलता।

इस विवरण के आधार पर हमारा यह निष्कर्ष है कि सधु पाठ से यास्क का परिचय सूचित करने वाली साक्षात् या परोक्ष एक भी युक्ति उपलब्ध नहीं है जब कि यास्क ने बृहत्पाठ की व्याख्या की है इस बात को सिद्ध करने की बहुत सी सामग्री उपलब्ध है<sup>१</sup>। अतः बृहत्पाठ ही मौलिक है। इस विषय में हम यास्क के एक साक्षात् कथन की प्रमाण रूप में देकर डा लक्ष्मणसरूप की युक्ति पर विचार करेंगे

निघण्टु का विषय विवेचन करते समय यास्क ने निघण्टु में सङ्कलित<sup>२</sup> नामों

गई है। स्वतन्त्र पद होने से नहीं। मात्र में व्यवहिन पद का ही सङ्कलन दर्शाने के लिये 'बाहिष्ठ' की 'वृत्' से संधि नहीं की है। अतः कमकर्जी का यहाँ निष्प्रयोजन संधि तोड़ दी है। (द्र पृष्ठ १६०) कहना भ्रान्त आधार पर है। कालान्तर में लोग ने इस प्रयोजन के दृष्टि से ओभल हो जाने के कारण यहाँ दो पदों को घुत मान लिया। परिणाम यह हुआ कि इस खण्ड की पद सङ्ख्या जो वस्तुतः ८३ थी वह अब ८४ हो गई।

१ यही कारण प्रतीत होता है कि डा लक्ष्मणसरूप ने निघण्टु के पाठ की प्रामाणिकता पर अथ्य जरतीय न्याय का अब सम्बन्ध से कर (पृष्ठ १२ पर) खण्डों के अन्त के प्राप्त प्राप्त पाठ्य का मूल सधु पाठ म सुरक्षित है। माना है तथा निघण्टु के चतुर्थ तथा पञ्चम अध्याय पर यास्क ने बृहत्पाठ का अनुसरण किया है।<sup>३</sup> माना है। परन्तु ऊपर के विवरण से सिद्ध होता है कि प्रथम काण्ड का भी बृहत्पाठ ही यास्क सम्मत है। अतः डा लक्ष्मणसरूप का निष्कर्ष सु विचारित नहीं है।

२ द्र निरुक्तम् १।२० \* (क) एतावत् समान-कर्माणि धातवः। एतावत् न्यस्य सत्त्वस्य नामधेयानि। (ख) एतावतामर्थानामिदमग्निं धातवः। (ग) नघट्टकमिदं देवताः नाम, प्रायायेनेदमिति। यहाँ एतावत् से सङ्ख्या ही अभिप्रेत है। अन्यथा यास्क 'एतत्' का ही प्रयोग करते। \* (क), (ख) (ग) म विभाजन काण्ड क्रम का सूचक है (क) में नघट्टक काण्ड के (ख) में नगम काण्ड के, और (ग) में देवत, काण्ड के पद-सङ्कलन का वर्णन किया गया है।

तथा धातुओं की सङ्ख्या भी निघण्टु में दी हुई है यह बतलाया है ।

निघण्टु में सङ्ख्या बतलाई होने पर भी निरुक्त में यदि किसी खण्ड के पदा की अधिक व्याख्या नहीं करती है, तो अगर यास्क ने जितना परिचय प्रमुख खण्ड का 'इस के बाद आगे इतने नाम प्रमुख के पर्याय हैं' कह कर दिया है वह भी नहीं देते तो क्या आज हम यह भी कहने की स्थिति में होते कि प्रमुख खण्ड निघण्टु में था कि नहीं ? अतः अथ की सुरक्षा की दृष्टि से इतना कहना लाभ हुआ है, हानि कोई नहीं ।

८ लघु पाठ बनने का कारण तथा समय हमारे विचार में ऋषयः अर्थात् ऋषियों को कण्ठ स्पष्ट करने में सुविधा के लिये लघु पाठ का विकास हुआ है सब से पहले बृहस्पति से सङ्ख्या सूचक परिचय हटाया गया, उस के स्थान पर कोषा में सङ्ख्या का निर्देश खण्ड के अन्त में दो-दो लम्बे शब्दों (॥ ॥) के मध्य में रख दिया गया । पर ऐसा करने पर भी उस सङ्ख्या को ध्यान में तो रखना ही पड़ता था । अतः सङ्ख्या के अङ्कों को अधिक-चित्कर ही नहीं, एक-दो समझ कर बाला-न्तर में अङ्कों को भी जोड़ दिया गया<sup>१</sup> । अस्तु सङ्ख्या निर्देश से छुट्टी पाने के साथ साथ वाच्य पद का पठनीय रूप रख कर सङ्क्षिप्त पाठ तैयार किया गया । ऐसा करने से विद्यार्थियों को सङ्ख्या और सङ्ख्येय 'नामानि' या 'धातवः' जैसे शब्द नहीं रटने पड़े । निघण्टु ४१३ के लम्बे (१३३ पद) पाठ को रटने से घबरा कर ही सम्भवतः उसे दो हिस्सों में बांट दिया गया । पाँचवें अध्याय के पहले दो खण्डों की पद सङ्ख्या (३/१३) में असन्तुलन देख कर अथवा सम्भवतः दूसरे खण्डों की तरह पृथिवी स्वामीय प्रमुख देवताओं को एकत्र करने के लिये, इन्हें मिला कर एक ही खण्ड बना दिया गया ।

दुर्ग ने कई स्थानों में लघु पाठ को ही उद्धृत किया है तथा उसी की व्याख्या भी कई स्थानों में की है<sup>२</sup> । इस आधार पर हमारा विचार है कि उन से पूर्व अर्थात् इससे प्रथम शताब्दी से पहले<sup>३</sup> ही लघु-पाठ बन चुका था तथा वह कुछ पदों

१ सम्भवतः यही कारण प्रतीत होता है कि निरुक्त में प्रोक्त सङ्ख्या से कम या अधिक सङ्ख्या में पद लघु पाठ में ही मिलते हैं बृहस्पति में नहीं । इस विषय में निरुक्त के पाँच अध्यायों में सम्पादित निघण्टु का पाठ तथा उस पर टिप्पणियाँ देखें ।

२ ॥ निरुक्त के पाँच अध्यायों, प्रस्तावना ।

३ अपने देश की सांस्कृतिक ज्ञान निधि पुराणों से परिचय न होने के कारण डा लक्ष्मणसम्पत् ने पहले तो दुर्ग को तेरहवीं सदी में 'जम्बू के समीप एक माध्यम (जम्बू मार्वाधिम) में रहने वाला बताया । ॥ निघण्टु तथा निरुक्त भूमिका, पृष्ठ ४६ । बाद में पुराणों से परिचय होने पर उन्हें भृगु वज्र (भडोच भरुच) के निकट (जम्बूसर) में प्रथम शताब्दी ईसवी में हुआ बतलाया है । डा थोल्क-द-स्वामि महेश्वर विरचिता निरुक्त भाष्य टीका ३४ भाग, पृष्ठ ८१-१०१ ।



विलिप्त पद, फिर विशेष रूप से विलिप्त और फिर वग विरोध से सम्बद्ध पद इग में दिये गये हैं। अतः हम इसे छोटे पैमाने पर वस्तु-साहित्य, विशेष कर ऋग्वेद-संहिता, की वर्गीकृत चुनिंदा पद सूची (classified selected word index) कह सकते हैं।

इस के विलिप्त योग-दान का मूल्याङ्कन करना अभी सम्भव भी नहीं है, क्योंकि अभी निघण्टु का अध्ययन अभी शुरुआत ही नहीं पाया है। यह अध्ययन निम्न दृष्टियों से अपेक्षित है

(१) सब प्रथम तो निघण्टु के पाठ का निर्धारण हस्त लेखी और व्याख्याओं तथा उद्धरणों में अपनाये पाठों की तुलना के आधार पर किया जाना चाहिये<sup>१</sup>।

(२) निघण्टु में सङ्कलित पद वदिक वाङ्मय के किस ग्रन्थ से लिये गये हैं, अर्थात् ये पद प्रधान रूप से किस संहिता से लिये गये हैं इस का निर्धारण किया जाना अपेक्षित है<sup>२</sup>।

(३) अमुक शब्द के अमुक रूप को ही क्यों लिया गया? इस पर विचार होना चाहिये।<sup>३</sup>

(४) यह सब करने के बाद ही सङ्कलन-शैली के सिद्धांतों पर विचार अपेक्षित तथा सम्भव है।

निरुक्त (अ) बिना व्याख्या किये भी निघण्टु के चार अध्यायों का वेदाय ज्ञान में महत्त्वपूर्ण योगदान है। (आ) कोष-कला का प्राचीनतम उदाहरण होने से इसका ऐतिहासिक महत्त्व है। (इ) योगदान का विशेष मूल्याङ्कन विविध दृष्टियों से इस का अध्ययन न हो पाने से अभी सम्भव नहीं है।

१ निघण्टु के १-३ अध्यायों तथा ४।१ और ७।१ भाग का इस दृष्टि से सम्पादन हमने निरुक्त के पाँच अध्याय में अपने सीमित साधनों से करने का प्रयास किया है। विद्वज्जन उस का मूल्याङ्कन करने की कृपा करें।

२ इस विषय में आर्य राम यह है कि ये पद प्रायेण ऋग्वेद-संहिता से लिये गये हैं। डॉ. डा. लक्ष्मणसूर्य भूमिका, पृष्ठ १४।

३ इस विषय में कुछ विचार के लिये हमारी 'निरुक्त के पाँच अध्याय पुस्तक का चौथा अध्याय तथा आगे 'निघण्टु ४।१ में पद सङ्कलन के प्रयोजन...' अध्याय देखें।

# निरुक्त और उसका भाषा-चिन्तन को योग-दान

१ 'निरुक्त और निरुचन' शब्दों का इतिहास ये दोनों शब्द 'भाषा शास्त्र' की एक विशिष्ट शाखा अथ वे मन्त्र ब्राह्मणात्मक वेद में अनुपलब्ध हैं। य दोनों निरु + √वच के योग से निष्पन्न हैं। यह योग अथर्व-संहिता में निरवोचम् के रूप में आया है<sup>१</sup>। इसी से मिलने से एक अर्थ प्रसङ्ग<sup>२</sup> में सायण ने इस की व्याख्या 'मन्त्र बोल कर विष को निस्तेज करता है। अथवा विष को निकला हुआ बोलता है। की है।'<sup>३</sup> इस का अर्थ यह है कि इस संहिता में यह योग अपने यौगिक अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है तथा यहाँ निरु = बाहर अर्थ में है।

यजुर्वेद की ऋग्वेद और मन्त्रायणी संहिताओं में 'निरुक्त' शब्द का प्रयोग स्पष्ट रूप से निरूपित अर्थ में देवता या सामन् आदि के विशेषण के रूप में पाँच बार<sup>४</sup> हुआ है। इस अर्थ में यह कमलि घानजन्त (निरुच्यमान) के रूप में भी काठक महिता<sup>५</sup> में आया है। शाङ्खायन<sup>६</sup> आदि में भी यह शब्द इसी अर्थ में इसी प्रकार प्रयुक्त हुआ है। अर्थात् यह योग इस वाङ्मय में निरु = स्पष्टतया, पूर्णतया + √वच = कहना = 'ब्याख्या करना' अर्थ में प्रयुक्त होने लगा था।

भाषा शास्त्रीय पारिभाषिक अर्थ में इस का सब प्रथम प्रयोग मुण्डक उपनिषद्<sup>७</sup> में अपरा विद्या के प्रसङ्ग में वेदों के बाद शिखा आदि वेदाङ्गों में चौथे वेदाङ्ग के स्थान में 'निरुक्तम्' के रूप में हुआ है। इसी प्रकार छात्राग्य उपनिषद्<sup>८</sup> में हृदय के निरुचन (हृदयम् = हृदयम्) को निरुक्त कहा गया है। अर्थात् उपनिषद् वाङ्मय में 'निरुक्त' शब्द न केवल 'शास्त्र विशेष' अर्थ में ही प्रसिद्ध हो गया था, अपितु इस पद्धति से की जाने वाली शब्द की व्याख्या के लिये भी प्रसिद्ध हो गया था।

निष्कर्ष निरु के दो अर्थों के कारण इस योग के दो अर्थ प्रकरण के अनुसार रहे हैं। याजुष परम्परा और ब्राह्मणों में इस का प्रयोग 'ब्याख्या करना' अर्थ में हुआ। पर यहाँ व्याख्या की कोई विशेष पद्धति अभिप्रेत नहीं है। उपनिषदों में 'निरुक्त' शब्द 'शास्त्र विशेष' तथा 'शब्द की व्याख्या की एक विशिष्ट पद्धति' अर्थ में प्रयुक्त हो गया है।

१ यद्भाषां सर्वेषां विष निरवोचमह एवम् । १।१३।१० ॥

२ अथ स्कन्मस्य शल्यानिरवोचमह विषम् । अ स ४ ६।४ ॥

३ मन्त्रेण निर्वोच करोमि । ऋग्वेद तद्वीथ विष निगत ब्रवीमोत्यम् ।

४ द्र का ॥ ६।५, ३२।१, मै स १।११।६, ३।८।६ १० ।

५ द्र १।१६ । ६ द्र ८।३ ११।१ । ७ द्र १।५ । ८ द्र ८।३।३ ।

निवचन' शब्द मात्र वाङ्मय में अनुपलब्ध है। ब्राह्मणों में यह 'देवताध्याय ब्राह्मण' <sup>१</sup> में ही आया है और भाषा भी पारिभाषिक ग्रन्थ में है। यह समूचा प्रकरण निरुक्त ७।१२ १३ से मिलता है, अन्तर बहुत मामूली है <sup>२</sup>। ग्रन्थ ब्राह्मणों में 'निवचन' शब्द तो क्या, इस योग में ही पारिभाषिक ग्रन्थ में न मिलने के कारण हमारा विचार है कि यह ब्राह्मण समय की दृष्टि से ग्रन्थ ब्राह्मणों की कालि का नहीं है। निरुक्त से प्राचीनता या अर्वाचीनता के विषय में कोई निर्भ्रान्त प्रमाण नहीं है। पर लगता है यहाँ उपलब्ध निवचनों के लिये निरुक्त ही उप-जीव्य है <sup>३</sup>।

२ निरुक्त क्या है? जसा कि हम ऊपर देख चुके हैं निरुक्त उस शास्त्र का नाम है जो 'ग' की व्याख्या करता है, तथा इस प्रकार की जाने वाली ध्यायों भी निरुक्त कहलाती थी <sup>४</sup>। देवताध्याय ब्राह्मण में दूसरे ग्रन्थ में निवचन 'ग' का प्रयोग किया गया है। यास्क ने भी शब्द की व्याख्या की इस पद्धति के लिये 'निवचन' शब्द का ही प्रयोग किया है <sup>५</sup>। यास्क ने स्थान स्थान पर इति नक्षता <sup>६</sup>। वह कर कुछ आचार्यों का उल्लेख किया है। इस प्रकार के कुछ ग्रन्थ उल्लेख हैं इति ऐतिहासिका <sup>७</sup> नराना <sup>८</sup>, पूर्व याज्ञिका <sup>९</sup>, - याज्ञिका <sup>१०</sup>, - अथारण्य <sup>११</sup>। इन सब से यास्क को तत्तत् शास्त्रों के वेदा आचार्य अभिप्रेत हैं। फलतः 'इति नक्षता' से भी निरुक्त शास्त्र के वेदा आचार्य ही अभिप्रेत हैं, यह स्पष्ट है। अतः यह कहना उचित ही होगा कि यास्क के समय निरुक्त शब्द किसी खास शास्त्र के लिये प्रसिद्ध था। यास्क वेदाङ्गों से परिचित हैं <sup>१२</sup>। वेदाङ्गों में प्रवृत्त निरुक्त शास्त्र भी एक था यह हम मुण्डकोपनिषद् <sup>१३</sup> के प्रमाण से देख चुके हैं। अतः यास्क के समय भी यह वेदाङ्ग माना जाता होगा, इसका अनुमान लगाया जा सकता है। जिस प्रकार शब्दानुशासन <sup>१४</sup> नाम व्याकरण शास्त्र और उसके एक ग्रन्थ पाणिनीय अष्टक के लिये प्रसिद्ध रहा है, वैसे ही निरुक्त 'ग' इस नाम के एक वेदाङ्ग शास्त्र और

१ इ ३।१। २ इ निरुक्त मीमांसा, पृष्ठ ८।

३ युक्तियों के लिये इ निरुक्त मीमांसा, पृष्ठ ८६।

४ ॥ क्रमशः मुण्डकोपनिषद् १।५ तत्रापरा—ऋग्वेदो यजुर्वेद, साम वेदोऽथ वेद शिक्षा कल्पो, व्याकरण, निरुक्त, छन्दो, ज्योतिषमिति। तथा छान्दोग्योपनिषद् ८।३।३ स वा एष आत्मा हृदि। तत्पतयेव निरुक्त 'हृद्यम्' इति। तस्मात् हृद्यम्। ५ इ निरुक्तम् २।१ अथ निवचनम्।

६ इ निरुक्तम् १२।१ १०। ७ इ वही ६।६, ७।१२।

८ इ ६।४, २३। ९ इ वही ५।११ ११।२६, ३१, ४२ ३, १३।६।

१० इ वही १।१२, ६।५ १३।६।

११ इ निरुक्तम् १।२० उपदेशाय त्वामतोऽवरे विलम्बप्रहलापेन ग्रन्थ समाप्तासिपुर्वे च वेदाङ्गानि च। १२ इ उपरि टि ४ में उद्धृत १।५।

१३ इ पतञ्जलि, महाभाष्य पस्पशा 'अथ शब्दानुशासनम्।' अथे गण्डोऽधिकाराय प्रयुज्यते। शब्दानुशासन नाम शास्त्रमधिकृतं यदित्यम्।

उस के ग्रन्थों के लिये प्रयुक्त होता था। अतः यास्क से पूर्व के इस विषय के ग्रन्थ भी निरुक्त कहलाते थे, तथा यास्क का ग्रन्थ भी अपने समय में 'निरुक्त' ही कहलाया। किन्तु कालांतर में भाषा के विशेष व्याख्याता व्याकरण शास्त्र के विकास के बढ़ते चरणों के साथ साथ भाषा के सामान्य व्याख्याता निरुक्त शास्त्र का ह्रास होता गया। अन्ततः यह समूचा शास्त्र अपने अन्तिम दो ग्रन्थों यास्क के निघण्टु और निरुक्त में ही सीमित रह गया<sup>१</sup>। परिणामतः कालान्तर में निरुक्त नामक वेदाङ्ग के रूप में यास्क का प्रकृत ग्रन्थ ही उसी प्रकार रह गया, जिस प्रकार व्याकरण नामक वेदाङ्ग की लम्बी परम्परा का एक मात्र अवशिष्ट उत्तराधिकारी पाणिनि का अष्टाध्यायी ग्रन्थ ही व्याकरण नामक वेदाङ्ग के रूप में बच रहा है, तथा आज व्याकरण नामक वेदाङ्ग कहने से उसी को समझा जाता है।

१ निरुक्त शास्त्र का विषय छांदोग्य उपनिषद्<sup>२</sup> में नारद ने उह आसी विद्याओं में एक विद्या 'देव विद्या' बताई है। ऋक्षराचाय ने इस से 'निरुक्त' का लिया है। इसी उपनिषद् में आगे<sup>३</sup> 'हृदय' शब्द के निवचन को 'निरुक्त' कहा गया है। इस से यह निष्कर्ष निकलता है कि निरुक्त शास्त्र के दो विषय हैं (क) देवताओं के स्वरूप को स्पष्ट करना (ख) निवचन के द्वारा शब्दों को स्पष्ट करना।

(ग) याजुष संहिताओं में किसी देवता के लिये निरुक्त या अनिरुक्त विशेषण के प्रयोग से भी उपर्युक्त कथन के प्रथम अंश की पुष्टि होती है। (घ) ब्राह्मणों में कई स्थानों पर देवताओं के नामों के निवचन से उन का स्वरूप स्पष्ट किया भी गया है, यह हम पीछे<sup>४</sup> दिखला चुके हैं। (ङ) प्राचीन निरुक्तों में सर्वाधिक प्रसिद्ध शाक पूणि के मत का उल्लेख भी यास्क ने पद्मह बार<sup>५</sup> देव विद्या के प्रसङ्ग में और केवल आठ<sup>६</sup> बार निवचन के सन्दर्भ में किया है। इस से विदित होता है कि उन के निरुक्त में 'देव विद्या' ही प्रधान थी। (च) यास्क ने पीछे<sup>७</sup> उद्धृत कथन में भी विदित होता है कि प्राचीन निरुक्तों में देवताओं के पर्याय तथा गुणाभिधानों की भरमार होती थी। अर्थात् उन में 'देव विद्या' ही प्रधान होती थी। (ज) यास्क के निरुक्त में भी आगे से अधिक भाग (७ १३ अध्यायो<sup>८</sup>) में देव विद्या का प्रति

१ निघण्टु यद्यपि एक और—बौद्धिक्य रचित—भी उपलब्ध है तथापि उसे विद्वानों ने अधिक आदर नहीं दिया है। उस का परिचय आगे देखें।

२ द्र ७।१।२। ३ द्र ८।३।३, पृष्ठ १७४ पर टि ४ में उद्धृत।

४ ॥ पृष्ठ १७३। ५ द्र निरुक्त २।८, ७।१४, २३, २८, ८।२,

५ ७ १० १४ १७ १८ १२।१६, ४०, १३।१०।

६ द्र निरुक्त ३।११, १३, १६, ४।३, १५ ५।३, १३, २८।

७ पृष्ठ १५८, टि ३ में उद्धृत निरुक्तम् ७।१३।

८ निरुक्त के चौदह अध्यायों में से अन्तिम अध्याय तो विषय की दृष्टि से सबथा और ही तरह का है। अतः तेरह अध्यायों की दृष्टि से सात अध्यायों वाले इस भाग को अधिक कहा गया है।

पादन है। अतः उन के निरुक्त में भी देव विद्या ही प्रधान है।

इस विवरण से विदित होता है कि निरुक्त शास्त्र का प्रधान विषय देवताओं के स्वरूप को स्पष्ट करना था। इस उद्देश्य की पूर्ति का साधन देवताओं का वर्णन जिन शब्दों में किया गया है, उन की व्याख्या को चुना गया। अर्थात् देवता नामों की व्युत्पत्ति तथा उनके अर्थ को स्पष्ट कर के देवता के तात्त्विक स्वरूप तक पहुँचने का प्रयास इस शास्त्र का सब प्रयत्न प्रति पाद्य था।

वदिक देवताओं की इस प्रकार की व्याख्या तब तक सम्भव नहीं थी, जब तक मन्त्रों का अर्थ भली भाँति स्पष्ट न हो। परिणामतः उसे स्पष्ट करने के लिये देवतार पदों को स्पष्ट करना आवश्यक हुआ और निघण्टुओं में नैघण्टुक और नगम काण्डों का अविर्भाव हुआ। इन काण्डों के सङ्कलन का प्रमुख उद्देश्य मन्त्रों को ठीक से समझना था। परिणामतः निरुक्त शास्त्र का दूसरा विषय मन्त्रों को स्पष्ट करना हुआ<sup>१</sup>। यास्क के निरुक्त से भी इस विषय की पुष्टि होती है। उन्होंने ने न केवल निघण्टु में सङ्कलित पदों की व्याख्या की है, अपितु मन्त्र गत अर्थ पदों की उन से मिलते जुलते अर्थवा साक्षात् या परम्परया सम्बन्धित किन्तु मन्त्र में अप्रयुक्त पदों की सङ्कलित पदों से भी इसी प्रकार मिलते जुलते और साक्षात् या परम्परया सम्बद्ध पदों की व्याख्या भी प्रचुर (निघण्टु के व्याख्यात पदों के लगभग बराबर) मात्रा में की है।

इन दोनों विषयों का प्रतिपादन करने के लिये निवचन को साधन के रूप में चुना गया है। अतः शब्दों का भाषा शास्त्रीय विवेचन इस का तीसरा विषय है।

कालान्तर में भाष्य की अपेक्षा साधन पर ही अधिक बल दिये जाने से देव-विद्या तथा मन्त्रार्थ की अपेक्षा निवचन को ही निरुक्त का प्रमुख विषय समझा जाने लगा। आज निरुक्त को भाषा शास्त्र का अर्थ ही आम तौर पर समझा जाता है। वस्तुतः निरुक्त शास्त्र के दो उपेय विषय हैं (क) देव विद्या, (ख) मन्त्रार्थ ज्ञान। एक उपाय विषय है निवचन। उपाय होने के कारण यही निरुक्त (शास्त्र तथा यास्क के अर्थ) का प्रधान विषय बन गया है।

४ निरुक्त विषय विवेचन इस प्रकरण में हम यास्क के निरुक्त में विषय का विवेचन क्या नहीं है? इस दृष्टि से न कर के क्या किस प्रकार से—किस दृष्टि से कहा गया है? इस दृष्टि से करेंगे। निरुक्त शास्त्र के पीछे बताये तीन विषयों में से हम मन्त्रार्थ ज्ञान का विवेचन पहले, फिर देव विद्या का और अन्त में निवचन

१ तुलना करें निरुक्त १३।१२ अथ मन्त्रार्थ वि ताऽभ्यूहोऽभ्यूहोऽपि भूतिर्तोऽपि तत्तत् । अनुप्या वा ऋषिषूक्तकामस्तु देवानब्रवन्—‘को न ऋषिभविष्यती’ति । तेभ्य एत तत्कर्मणि प्रायच्छन्मन्त्रार्थ चिन्ताऽभ्यूहमभ्यूहम् । वेदाय के स्पष्टीकरण के लिये ही इस शास्त्र का आविर्भाव किया गया था उपदेशाय गतायतोऽवरे वित्तमग्रहणायेम अर्थ समाम्नासिषु ।...वित्तम्=मित्रम्, भासनम् इति वा । (निरुक्तम् १।२०)

का विवेचन करेंगे।

(१) मन्त्राय ज्ञान अपने कथन की पुष्टि में यास्क ने लगभग ८०० मन्त्र या मन्त्राग उद्धृत किये हैं। उनमें से लगभग ४४० पर उन्होंने सङ्क्षिप्त टिप्पणी की है। (क) वे सरल शब्दों या वाक्यों को (अ) या तो ज्यों का त्यों रख देते हैं<sup>१</sup>, या (आ) उन के वदिव रूप को लौकिक में बदल देते हैं<sup>२</sup>। (ख) कठिन शब्दों के (अ) या तो लौकिक पर्याय रख देते हैं<sup>३</sup>, या (आ) उन का निवेचन कर के अर्थ निर्धारित कर देते हैं<sup>४</sup>। (ग) अस्पष्ट होन पर इतिहास<sup>५</sup> या किसी प्राचीन प्रथा<sup>६</sup> को भी दे देते हैं। (घ) मन्त्रगत पद के स्वरूप पर मन्त्राय पर, या पद के निवेचन पर मत भेद की स्थिति में वे या तो (अ) उस मत भेद को प्रस्तुत भर कर देते हैं<sup>७</sup>, या उस की भली भाँति समीक्षा कर के तत्त्व निरूपण कर देते हैं। (ङ) दृष्टि भेद से अर्थ भेद होन पर वे उन दृष्टियों से मन्त्राय भी कर देते हैं<sup>८</sup>। यास्क की अपनी दृष्टि, या वस्तुतः नैरुक्ता की अपनी दृष्टि, अर्थात् दत्त दृष्टि है, जिसे आज की दृष्टि से अर्थात् भूत दृष्टि कहा जा सकता है। अर्थ दृष्टियाँ हैं ऐतिहासिक<sup>९</sup> अर्थ-मन्त्र<sup>१०</sup>, अर्थात्<sup>११</sup> तथा लोक की अर्थात् सामाजिक<sup>१२</sup>।

किसी भी पद पर मन्त्र उद्धृत करने के सिद्धान्त के बारे में भी अभी अनुसंधान की अपेक्षा है। पर चौथे अध्याय के २० उद्धरणों के अध्ययन से विदित हुआ है कि ये मन्त्र उन पदों वाले मन्त्रों से अपनी किसी विशिष्टता के कारण ही उद्धृत किये गये हैं। अर्थात् जो मन्त्र सामान्य आया है, वही उद्धृत कर दिया हो, ऐसी बात नहीं है। इन मन्त्रों की विशेषताये निम्न प्रकार की हैं (१) सात पदों पर मन्त्र के अर्थ की क्लृप्ति के कारण वह मन्त्र दिया गया है। (२) तीन पदों पर सब-

१ ■ निरुक्तम् १।४ यक्षस्य नु ते पुत्र हूत, यया (ऋ ६।२४।३) = वृक्षस्येव ते पुत्र हूत, शाखा ।

२ ■ वही २।२४ इयं शुष्मेभि (ऋ ६।६।१२) = इयं शुष्म = शोषण ।

३ ■ वही, तव्येभिर्हमिभि = महद्भिर्हमिभि ।

४ ■ वही, 'पारावतं जनीषु' = पारा-वार घातिनीषु । पार पर भवति ।

अपारमवरम् ।

५ ■ निरुक्तम् २।१० तथा उस से अगले खण्डों में ऋ १०।६८।५ ७ । तथा निरुक्तम् २।२४ तथा उस से आगे ऋ ३।३३।५-६ १० ।

६ ■ निरुक्तम् ३।५ मे ऋ १।१।२४।७ के 'गर्तात्क' की व्याख्या ।

७ ३।८ मे ऋ १०।५३।४ के 'पञ्च जना' की व्याख्या ।

८ ■ वही २।८ म ऋ १।१६।३२ की परित्राजको और नैरुक्ता की दृष्टि से दो व्याख्याएँ । ९ ■ निरुक्त २।२४ म विश्वामित्र और नदियों का संवाद ।

१० ■ वही १।३।७ म ऋ ४।१८।३ की व्याख्या ।

११ ■ वही ३।१३ मे ऋ १।१६।२१ की अर्थात्-दैवत अर्थात्क व्याख्याएँ ।

१२ ■ वही ३।५ म 'गर्तात्क' की और ३।८ म पञ्च जना की व्याख्याएँ ।

श्रेष्ठ काव्य सौंदर्य वाले मन्त्र दिये गए हैं। (३) तीन मन्त्रों में व्याख्येय पद अपने कार्यक हैं। (४) दो मन्त्रों में व्याख्येय पद प्रचलित अर्थ से भिन्न अर्थ में प्रयुक्त हैं। (५) एक मन्त्र में व्याख्येय पद वाले सब मन्त्रों की देवतागत विशेषताओं का समाहार हुआ है। (६) एक मन्त्र में वह पद कम वाण्ड से सम्बद्ध विनिर्दिष्ट अर्थ में आया है। (७) एक मन्त्र व्याख्येय पद के अतिरिक्त पदों की व्याख्या अभीष्ट होने से दिया गया है। (८) व्याख्येय पद वाले मन्त्रों में संहिताक्रम में पहला मन्त्र ही उद्धृत कर दिया गया है<sup>१</sup>।

(२) देव विद्या देवता तत्त्व का स्पष्ट करने के लिये पहले इस के आधारभूत सिद्धान्तों की चर्चा देवत-वाण्ड के प्रथम अध्याय के पहले १३ खण्डों में की है। इन सिद्धान्तों में प्रमुख हैं १ मन्त्रों में देवता की पहचान (खण्ड १-४), २ प्रतिपादन शैली के आधार पर मन्त्रों के भेद (खण्ड २), ३ मन्त्रों के विषय (खण्ड ३-४) देवताओं की सङ्ख्या तथा उस का आधार (खण्ड ५), ५ देवताओं का आकार (खण्ड ६-७), ६ प्रधान देवताओं के साथ स्तुत गौण देवता तथा उन से सम्बद्ध कुछ वस्तुएँ (खण्ड ८-११), ७ प्राचीन निघण्टुओं के देवता पद-समाप्ति के सिद्धान्त और अपने सिद्धान्त में भेद तथा अपने सिद्धान्त का औचित्य (खण्ड १२)। इस अध्याय के गेय भाग में किसी एक भाग में प्रधान के रूप में स्तुत देवता की अथवा गौण रूप से स्तुति की चर्चा अग्नि आत वेदस और ब्रह्मदेव के सम्बन्ध में की गई है।

सातवें अध्याय के १४ वें खण्ड से लेकर १३ वें अध्याय के अन्त तक निघण्टु के देवत वाण्ड में सङ्कलित देवता-नामों की व्याख्या की गई है।

देवताओं का स्वरूप उद्घोषित करने तीन तरह से स्पष्ट किया है १ नाम के निवचन से, २ आधि दैविक स्वरूप पर मत भेदों पर विचार कर के ३ अपने सिद्धान्त के योग्य मन्त्र उद्धृत कर के तथा उन की व्याख्या कर के। देवता के नाम निवचन में उस के आधि यज्ञिय आधि दैविक और आधि भौतिक रूप का दृष्टि में रखा है। जैसे—अग्नि (निघण्टु ५।१।१) के ७।१४ में पाँच निवचन किये गये हैं १ अग्रणीर्भवति। यह निवचन अग्नि के आधि-दैविक स्वरूप को दृष्टि में रख कर किया गया है कि यह सब देवताओं का अग्रणी है, यही देवताओं को यज्ञ में लाता है, अतः उन का नेता है। तुलना करें अग्नि दूत पुरो दधि, हव्य वाहमुप ब्रूवे। स देवा आसादयादिह (श्रु ८।४।३)। २ अथ यज्ञेषु प्रणीयते। यह निवचन अग्नि के यज्ञिय स्वरूप का स्पष्ट करता है कि प्रत्येक कार्य के प्रारम्भ में इस का प्र-णयन (उद्दीपन) किया जाना है। ३ अक्षु नयति स-नममान। ४ अन्नोपनो मयतीति स्थोलाष्टीवि। ये दो निवचन उसके भौतिक स्वरूप—३ जला कर आत्मसाद करने

१ [ इस विषय पर विस्तार से विचार के लिये 'निश्कत के पाँच अध्याय' में चतुर्थ अध्याय तथा प्रकृत ग्रन्थ में आग निघण्टु ४।१ में पदों के सङ्कलन के और निश्कत के चतुर्थ अध्याय में उन पर तत्तद् मन्त्रों की उद्धृत करने के प्रयोजन ] अध्याय देखें।

की प्रवृत्ति ४ सुखान के स्वभाव—को प्रकट करते हैं। ५ त्रिम्य ब्राह्मणान्यो जायत इति शाकपूणि —१ इताद् २ अक्ताद् ३ दग्धाद्वा नीतात् । यह निवचन अग्नि के आधि भौतिक और आधि दैविक स्वरूप को स्पष्ट करता है कि यह १ फैलता है २ प्रकाश करता है, ३ जलाता है।

यास्क के मत में देवता आधि भौतिक तत्त्व हैं, कोई अलौकिक वस्तु नहीं। वस्तुतः देवता एक आत्मा ही है, अलग अलग कार्यों के कारण से वही अग्नि आदि नामा स पुकारा जाता है<sup>१</sup>। उन के इन अलग अलग नामा के वणन में काय, स्थान, कम, रूप तथा सह चारी देवता आदि में व्यभिचार दीखने के कारण उन के वास्तविक स्वरूप में संशय हो जाता है। यास्क ने इस संदेह का निराकरण करने के लिये युक्ति प्रतियुक्तियों से कुछ सिद्धान्त स्थापित किये हैं। इन में य तीन प्रमुख हैं (१) प्रत्येक देवता का एक भ्राम चरित्र निर्धारित कर के कुछ अग्र गौण बातें तय की जायें। (२) स्तुति के गौण प्राधाय भाव, या यज्ञिय कम काण्ड की परम्परा में प्रचलित गौण प्राधाय भाव, के आधार पर देवता की गौणता या प्रधानता का निश्चय किया जाय<sup>२</sup>। (३) मनुष्य अत्युक्ति प्रिय होता है। अपने देवता का वणन ता वह पूरा अत्युक्ति से करता है। अतः स्तुति यदि देवता के अपने प्रधान गुण घम से भिन्न रूप में, या भ्रम किसी देवता के गुण घम से युक्त रूप में की जाती है, तो वहाँ कवि (ऋषि) का अमिप्राय देवता के स्वरूप को भ्रात करना नहीं है, अपितु इस प्रकार अति स्तुति के माध्यम से देवता के प्रति भक्ति के अति रेक को यक्त करना ही है<sup>३</sup>।

(३) निवचन आज के युग की दृष्टि से निरुक्त का सर्वाधिक महत्त्व पूरा विषय यही है। इस विषय का प्रतिपादन भी देव विद्या के प्रतिपादन के समान ही दो भागों में किया गया है

(क) निवचन के लिये अपेक्षित सिद्धांतों को स्पष्ट करने के लिए उन्होंने अपने भाष्य के प्रारम्भ में पूरे पहले अध्याय में और दूसरे अध्याय के लगभग चौथाई हिस्से में निवचन शास्त्र के लिये अपेक्षित कुछ आवश्यक चर्चा की है। इनमें पद विभाग (१।१) नाम और आख्यात पदा के लक्षण (१।१ २) उपसर्गों की निरपेक्षता (१।३) निपाता का वर्गीकरण (१।४ ११), नामों की आख्यातजता (१।१२ १४) तथा निवचन के सिद्धान्त (२।१ ७), विषय विशेष महत्त्व पूरा है।

(ख) दूसरे अध्याय के पाँचवें खण्ड से १२ वें अध्याय के अन्त तक उन्हीं

१ अ निवचनम् ७।४ माहा-माग्यादेवताया एक आत्मा बहुधा स्तूपते । एकस्यामनोऽये देवा प्रत्यङ्गानि भवन्ति । अपि च सत्त्वानां प्रकृति भूमिश्च पयस्तु यतोऽप्याहुः, प्रकृति साधनाभ्याञ्च ।

२ अ वही ७।१८, २० और ३१ यस्तु सूक्त भजते निपातमेव ते उत्तरे ज्योतिषी एतेन नामधेयेन भजते ।

३ इस के लिये यास्क ने तेरहवाँ अध्याय लिखा है।



में निषण्ड व पा० की व्याख्या की है। निषण्ड व पा० की व्याख्या उहाँ-उहाँ में पर्याय पाँचों या सात परवचन की व्याख्या के माध्यम से सीमारे व्यापार के द्वारा तब की है। शब्दों का अर्थ के अर्थ व पा० की व्याख्या करने पर उन पा० की ओर कर की है, जिनकी व्याख्या (१) निषण्ड व्यापार में या (२) सङ्गति होने में (२) प्रसङ्ग होने से, या (३) प्रसङ्गावृत्ति होने में की जा चुकी है। पीछे इन की व्याख्या की जा चुकी है। इस बात की सूचना उद्दिष्ट व्याख्यान पर दे दी है।

निषण्ड व पा० के पर्याय शब्दों की व्याख्या में व्यापार माध्यम में पदों शब्दों के वाच्य शब्दों का, फिर पर्यायों में विनाश-व्याख्या-माध्यम का निवचन देना है। जय निषण्ड १।६ के शिवा के वाच्य पाँचों में मध्य में पदों शिवा का निवचन (निष्कृत २।१५ म) फिर पाठ पा० में म वाच्य का ही निवचन किया गया है। निषण्ड १।१ के पृथिवी के २१ पर्यायों में से केवल गी और 'निराति' का निवचन किया गया है। 'पृथिवी' का निवचन निष्कृत (१।१३ १४ म) में पा चुका है मध्य यहाँ नहीं किया समान है।

निवचन करते समय मातृ निषण्ड के पाँचों तब ही सीमित नहीं रहता अपितु (१) निषण्ड-निराति पद के निवचन में पाए पर्याय आदि प्रासङ्गिक पाँचों का<sup>१</sup> (२) निषण्ड-गत वर पर उद्धृत भवन में ध्वन किन्तु निषण्ड में ध्वन-निराति निवचन पदा का<sup>२</sup> (३) इन पाँचों की व्याख्या में पाए शब्दों का<sup>३</sup>, (४) मात्र-गत वर से (५) ध्वनि (sound) प्रत्यक्ष प्रत्यक्ष की दृष्टि से मिलते-जुलते पदों का<sup>४</sup>, (६) वग की दृष्टि से समान पदा का<sup>५</sup> भी निवचन कर देता है<sup>१</sup>।

पद के दो अर्थ हैं (१) शब्द, अर्थात् ध्वनि और (२) अर्थ। यास्क ने

१ = निष्कृत २।१५ 'गो' के प्रसङ्ग में 'अर्थ' और 'क्षीर' की व्याख्या।

२ = वही २।८ म 'निराति' निषण्ड (१।१।१६) की व्याख्या में उद्धृत शब्द १।१६।३२ के मातृ और शीत की व्याख्या।

३ = वही २।२५ में मात्र-गत 'मूर्त' की व्याख्या में पाए 'शब्द', 'अवधारण' और 'क्षण' की व्याख्या।

४ = वही १।२० 'मीम' (शब्द १।१५।३२) से मिलते जुलते 'मीम' शब्द की व्याख्या।

५ = वही ३।२।१ म 'क्षते' (निषण्ड २।१७।३८) पर उद्धृत शब्द १।१४।७ के एक, 'द्वा' और त्रय का निवचन करने के बाद अर्थ सङ्ख्या शब्दों— 'चतुर्' 'अष्ट' 'नव' 'दश' विनाश 'गन' 'सर्व' और 'अव्युक्त' की व्याख्या।

६ हमारा निरवक के पाठ का सम्पादन पूरा न होने के कारण अभी हम यह कहने की स्थिति में नहीं हैं कि कितने निवचन वास्कीय हैं तथा कितने प्रक्षिप्त। अतः इन पर्यक्त श्रेणियों के निवचनों की सङ्ख्या बनाने में भी अभी असमर्थ हैं। निरवक के पाँच अध्यायों में उसके अन्तर्गत आये भाग के निवचनों का स्मारा हम इस दृष्टि से दे रहे हैं। विद्वज्जन यहाँ न दे पाने के लिए हमें क्षमा करेंगे।

निवचन में (१) कही उस के शब्दाश की व्याख्या की है, (२) कही केवल अर्थाश की, तो (३) कही दोनों की समवित व्याख्या की है। इन्हें क्रमशः (१) शब्द निवचन (२) अर्थ निवचन और (३) शब्दार्थ निवचन कह सकते हैं। उदाहरण (१) अश्व < √ अश् (१।१२), पुत्र < पुत् + √ त्र (२।११), विंशति < द्विदशन् (१।१०), शत < दश दशत (३।१०) सहस्र < सहस्र (३।१०), कीकटा < कि कृता (६।३२), (२) कीकटा < कि क्रियाभि (६।३२), सेना < सेश्वरा, समान गतिर्वा (२।११), (३) अन्तानृण < अन्तमातदन (६।३२), समुद्र < समभि द्रवत्येनमाप (२।१०)। निरुक्त में प्रथम प्रकार के निवचन ही अधिक किये गये हैं तथा सम्भवतः आज के भाषा शास्त्री इन्हें ही अधिक महत्व भी देते हैं।

निवचन में जहाँ उन्हें अर्थ की व्याख्या प्रमुखता से करनी होती है वहाँ वे (१) उस के ऐतिहासिक अन्तर को दृष्टि में रखते हैं पहल वैदिक अर्थ की व्याख्या करते हैं फिर यदि उन का प्रयोग लोक में भी होता है, तो उन के लौकिक अर्थ की व्याख्या भी अभाषीशमितरत्न कह कर करते हैं। उदाहरण के लिये निरुक्त १।२० में 'वधन्' २।१३ में 'व्रत' २।१७ में 'अहि' २।२२ में 'अश्रूष की व्याख्या देखें। (२) यदि किसी शब्द के मूल में उन्हें कोई (अ) मनोवैज्ञानिक (आ) धार्मिक या (इ) सामाजिक मायता प्रतीत होती है तो वे उस भी स्पष्ट करते हैं ॥ (अ) निरुक्त ३।५ में 'गत' की रथ पत्रक व्याख्या, (आ) निरुक्त २।२६ में 'वाणि' की और (इ) निरुक्त ३।४ में 'बुहितु की व्याख्या (३) संस्कृत में एक शब्द के अनेक अर्थ बहुतायत में होते हैं। यास्क उन के निवचन में उन के असंग प्रत्यय पहलुओं को ध्यान में रख कर निवचन करते हैं। उदाहरण के लिये निरुक्त २।५ में 'गो' (निघण्टु १।१।१) तथा १।७ में 'क्षिणा के निवचन देखें। (४) एक ही अर्थ के पर्याय शब्दों से अन्तर के साथ समानता होगी है। यास्क उस भी ध्यान में रख कर निवचन करते हैं ॥ अथर्व (३।१) पुत्र (२।११)।

५ यास्क के निवचन के सिद्धान्त मोटे तौर पर यास्क की निवचन विषयक आधारभूत दृष्टियाँ पर विचार हम अभी कर चुके हैं। इस प्रसङ्ग में हम उन के द्वारा साक्षात् प्रतिपादित निवचन के सिद्धान्तों को थोड़े विवरण के साथ देख रहे हैं।

यास्क के अनुसार शब्द तीन प्रकार के होते हैं

(१) अर्थ के अनुकूल व्याकरण की प्रक्रिया के अनुसार प्रकृति प्रत्यय तथा उन के योग से होने वाले विकार आदि हो चुकने पर शब्द का जो रूप निष्पन्न होता है वह प्रथम वर्ग में आता है। इसे बाद के लोगो ने प्रत्यक्ष-वृत्ति या प्रत्यक्ष क्रिय कहा है। यास्क का कथन है कि इन की व्याख्या व्याकरण के अनुसार कर

१ द्र दुर्ग ४।१ अत्राश्रयाप्रतीयमानस्य पर्यायानिधानेन विमज्ज प्रतिपादन व्याख्या। शब्दस्यापि ध्रुत्वात्तु व्याख्या। एवमेते द्वे व्याख्ये। तत्पारय-परिज्ञानमेकस्या कायम्, शब्द-परिज्ञानमेकस्या। तथा शब्द २।१५ (पृष्ठ ६०) रश्मिरयमनादित्य-कथनमेतत्, ॥ चातु प्रदर्शनम्।

देनी चाहिए<sup>१</sup>। दुर्गावाय का यह कथन बहुत सही है कि इन की व्याख्या के लिये निवचन की आवश्यकता नहीं है<sup>२</sup>। व्याकरण की कृत्, तद्धित आदि वृत्तियों से निष्पन्न पाचक, धात्मिक आदि शब्द इसके उदाहरण हैं।

(२) जिन का अर्थ और व्याकरण की प्रक्रिया परस्पर अनुकूल नहीं हैं अर्थात् शब्द में उमका मूल, अथवा उसकी व्युत्पत्ति स्पष्ट नहीं भनकती है। इहे बाद में परोक्ष वृत्ति या प्रकल्प्य क्रिय नाम दिया गया है। सम्भव होने पर इनकी व्याख्या भी व्याकरण की अनुकूलतर वृत्ति<sup>३</sup> से कर देनी चाहिये<sup>४</sup>। अर्थात् इन की व्याख्या में भी निवचन की कोई खास आवश्यकता नहीं है। दुर्बोध (वृत्ति अ स्पष्ट) होने पर निरुक्त की सहायता लनी चाहिये<sup>५</sup>। ऋक्षर तथा कण्टक (६। २), धिषणा (८।२), आग्री (८।४) आदि को उदाहरण के रूप में लिया जा सकता है।

(३) जिन में व्युत्पत्ति दिक्कूल अस्पष्ट है, अनुमान गम्य भी नहीं है<sup>६</sup>। इहे प्रति परोक्ष वृत्ति कहा गया है। इनकी व्याख्या निरुक्त से ही हो सकती है। इन का निवचन (१) इन से मिलने जुलने ध्वर (स्वर युक्त ध्वजन) या वणों वाले एवम् (२) इन के अर्थ में मिलते जुलने अर्थ वाले शब्दों के माध्यम से करना चाहिये। अर्थात् इनके निवचन में निवचनीय शब्द और उस के मूल के रूप में अविध्यमान शब्द या धातु की (अ) ध्वनियों और (आ) अर्थ की समानता पर ध्यान केंद्रित करना चाहिये। व्याकरण के अनुसार इन की सिद्धि की अपेक्षा नहीं करनी चाहिये, और न परिणामतः, व्याकरण की प्रक्रिया को बहुत धादर हो देना चाहिये। उदा

१ इ निवचनम् २।१ तद् वेपु पदेपु स्वर सत्कारो समर्थो प्रादेगिजेन विका रेणावितो स्यातां तथा तानि निब्रूयात्। तुलना करें १।१४ ययो हि तु वा एतत् तद् यत्र स्वर सत्कारो समर्थो प्रादेगिजेन गुणेनावितो स्यातां सव प्रादेगिजमित्येव साधुपालम्भ एव भवति।

२ इ दुर्ग-टीका २।१ राजवाड-सस्तरण पृष्ठ १२३ न च निवचने कारक हारक-सावकादि शब्द व्युत्पाद्यन्ते, सुबोधैव हि तेषां व्युत्पत्तिः, प्रतिद्वय च व्याकरण इति। ३ १ कृत्, २ तद्धित, ३ समास ४ ध-नेव ५ सनाद्यत घातु—इन पाँच शब्द-व्युत्पादन की पद्धतियों में से अन्यतम।

४ इ निवचनम् २।१ अथान्वितेऽर्थे प्रादेगिजे, विकारेऽप्य नित्य परोक्षेन केनचिद् भति सामायेन। पृथोदरादि (अध्या) गण के धातु इस के उदाहरण हैं। पाणिनि के निपातन प्राय इसी कोटि में धातु गण के साधन का प्रयास है।

५ इ दुर्ग-टीका, पृष्ठ १२८ य एव तु दुर्बोधा परोक्षेति परोक्ष वृत्तयो वित्तम-कृदरोदर वतन-यव शब्दादयम त एव व्युत्पाद्य निरुच्यन्ते। तपु हि विनेवेणा भवता निवचनस्य।

६ इ निवचनम् २।१ अविद्यमाने सामायेऽप्यत्र वल-सामाया निब्रूयात्। न त्वेव न निब्रूयात्। न सत्कारमाश्रिते। विनयवत्यो हि वृत्तयो भवति। यथाप्य विमरतो सतमपेत्। इस वाटि के धातुओं के लिए विद्यता लिखी दगें।

हरण के लिये बाल (६।१०), रथ (६।११), शुतुद्रि (६।२६), सिधु, (६।२६) के निवचन देखें।

सङ्क्षेप में इस विवरण का निष्कर्ष यह है (१) अस्पष्ट शब्द के लिये निवचन लाभ-कारी है। (२) ऐसे शब्दों का निवचन (क) अथ की, और (ख) ध्वनि की समानता के आधार पर किया जाना चाहिये

(क) अथ साम्य का निश्चय करने के लिये दो बातें आवश्यक हैं (अ) प्रसङ्ग स अष्ट या अज्ञात सन्दर्भ वाले एकाकी शब्द का निवचन नहीं करना चाहिये। अर्थात् शब्द का अर्थ जानने के लिये उसके प्रकरण का ज्ञान आवश्यक है। (आ) निवचनीय शब्द आधारभूत शब्द के अर्थ की किसी विशेषता के अनुकरण से भी प्रचलित हुआ हो सकता है। जैसे—'पवन्' शब्द का एक अर्थ है 'उत्सव', अर्थात् 'त्योहार', और दूसरा अर्थ है 'जोड़' (सधि, पोर, पोरी, पोरवा)। मूलतः इस का अर्थ है 'प्रसन्न करने वाला'। देवताओं तथा पितरों को प्रसन्न करने के लिये किये जाने वाले दश और 'पौणमास' नामक कर्मों को 'पव' कहा जाता था। य दोनों पव कृष्ण और शुक्ल पक्षों की सधि पर आते हैं 'दश' कृष्ण और शुक्ल पक्षा की सधि, अर्थात् अमावास्या पर और 'पौणमास' शुक्ल तथा कृष्ण पक्षा की सधि अर्थात् पूर्णिमा पर। परित्यागत प्रमन्न करने वाला अवसर होने से 'पव = त्योहार', और इस के 'सधि' अर्थ के अनुकरण पर यह शब्द 'जोड़' अर्थ में प्रचलित हो गया। यह अर्थ 'सधि' के सामान्य अर्थ को छोड़ कर आज अनुलियों के जोड़ के लिये पोर, या पोरवा के रूप में तथा गने की दो जोड़ों के बीच के एक भाग के लिये 'पोरी' के रूप में आज भी प्रचलित है। एक के बाद एक पत्थरों के जोड़ से बना होने से पहाड़ न जाने कब से पवत' कहलाता चला आ रहा है। उत्सव वाला 'पव' भी दश और पौणमास के अनुकरण पर आज उत्सव के हर अवसर के लिये प्रयुक्त होता है। इसी प्रकार पाद (निरुक्त २।७) के विभिन्न अर्थों की व्याख्या भी द्रष्टव्य है।

(ख) ध्वनि साम्य को खोजने के लिये आवश्यक है कि हम किसी भी शब्द की ध्वनियों के बदलन की विभिन्न दिशाओं का तथा उनके कारणों का अध्ययन करें। यास्क ने ध्वनियों में विकार की निम्न दिशाएँ तिराई हैं

(अ) लोप आधार शब्द में विद्यमान ध्वनि का निवचनीय शब्द में न रहना लोप कहलाता है। इस की निम्न दिशाएँ हैं (१) आदि-शेष अर्थात् जिस में आधार शब्द की ध्वनियों में पहली ध्वनि ही बचती है, शेष नहीं रहती हैं। जैसे—अ + √ दा + त > अ + द + त > अस्त। (२) आदि लोप अर्थात् पहली ध्वनि का लोप हो जाता है। जैसे—√ अस + तस > स्त। (३) अन्त लोप। जैसे—√ गम् + त > गत। (४) उपधा लोप अर्थात् अन्तिम से पूर्व की ध्वनि का लोप हो जाता है। √ हन् +

१ द निरुक्तम् १।२० पववान् पवत । पव पुन पृणते, प्रीणातेर्वा । अथ मास-पव, देवानस्मि प्रीणन्तीति । तत्प्रकृतोत्तरत्, सधि सामान्यात् ।

घति > हृ + घति > हर्घति > हर्घति । जगम् + घनुम् - जगन्तुम् । (५) घाते घमय यहाँ की रात जाना । जग-घाघामि > घाघामि - घामि । (६) गघ गाय समान व्यतिष के प्रयुक्त होने पर किसी व्यति का सोर हा जाता है । अने-वि + श्रघ > शृ + श्रघ > शृष ।

(घा) विकार यह दो प्रकार का होता है (१) स्थर विकार । इन के अघोर स्वर की भांति में विवृति आ जाती है । जग-राजन् > राजा दन्तिन् > दण्डी । (२) व्यञ्जन विकार अर्थात् वर्णांतर भाव । इस की निम्न शिष्टि है (i) आदि व्यञ्जन का वर्णांतर भाव । जग-घोनिन् > ज्योनिन् । (ii) अन्त्य व्यञ्जन का वर्णांतर भाव । जस-√मिद् - मप । √दृ - दाय > दाय । (३) सम्प्रसारण अर्थात् य व र ल के स्थान में यमरा - उ श्रु लू का घाना । जते-√यज् + त > दज > त > दज् । यास्व का वचन है कि स्वरों की अनेका घतस्थ ही भाषा में अधिक प्रयुक्त होते हैं ।

(ङ) यहाँ विषय अर्थात् दान में वर्णों के क्रम में घन्ता-यन्ती शिरता < √वत् + दता । √वृत् + उ > वृत्तु > वृत्तु ।

(झ) आगम मुख-मुखादि के लिय बहुरूपाना में घटित स्वर अथवा व्यञ्जन जुड़ जाया करता है । जस-√घञ् - भजता - भजा > भजता । √घत् + घत् > घा + घत् + घ + घत् > घाघत् ।

ये ध्वनि प्रवृत्तियाँ ही वस्तु व्याकरण की दान-भाषन-वृद्धि का भी आधार हैं । तभी तो वाणिजा-वार (१।३।१०६) का वचन है

यर्णागमो, यण विषयदश्च, द्वौ घापरौ यण विकार जागौ ।

घातोस्तदर्थानिगमेन योगस्तद्वृद्धते यञ्च विष निदत्तम् ॥

शब्दों के निवचन में (क) ऐतिहासिक तथा (ख) भौगोलिक सम्बन्ध तथा विप्रेतामो की भी ध्यान में रखना चाहिये ।

(क) ऐतिहासिक दृष्टि से धादो में सम्बन्ध की ये दो शिष्टि हैं (१)

१ ॥ निरुक्तम् २।१ (१) प्रसन्नवत्तमिति धात्वादी एव निष्येते । (२) अथाप्यस्तेनितृति-स्थानेव्याधि लोपो भवति—स्त, सन्तीति । (३) अथाप्यन लोपो भवति—गत्वा गतमिति । (४) अथाप्युपधा लोपो भवति—जगन्तुम्, जगुरिति ।

(५) अथापि यण लोपो भवति—तत्त्वा यामोति । (६) अथापि द्वि यण-लोपस—वृद्ध इति । २ ॥ निरुक्तम् २।२ (१) अथाप्युपधा विकारो भवति—राजा, दण्डीति ।

(२) अथाप्यादि व्यापत्तिर्भवति—ज्योतिषमो विदुर्बट्टि इति । (३) अथाप्या एत विषयमो भवति—स्तोत्रा, रज्जू सिक्तास, तविषति । (४) अथाप्यन्त व्यापत्तिर्भवति—भोघो मेघो, नाघो नाघो, यधूमध्विति । (५) अथापि वर्णोपजन—आस्यद्, द्वारो, मरुजेति । तद् यत्र स्वरादन-तरा-तस्या-तर्थात् भवति, तद् द्वि प्रहृनोनां स्थानमिति प्रदिशति । तत्र सिद्धायामनुप-पद्यमानायामिनरयोप विपादयि वेत् । तत्राप्येवेऽल्प निष्पत्तयो भवति । तद्यत्तद्वृत्तिमृदु पृथु पृथत, कुलादमिति ।

पुराने नाम पदों का प्रचलन बंद हो जाता है, जब कि उन की भाधार भूत धातुओं के आख्यात रूप चालू रहते हैं। दमूनस<sup>१</sup> √दम् से है (द्र निष्कृत ४१४)। इस का प्रयोग लौकिक में नहीं होता, √दम् का खूब होता है। (२) पुरानी धातुओं के आख्यात रूप चलने बन्द हो जाते हैं, पर उन से निष्पन्न नाम पद चालू रहते हैं। जैसे दाहायक √उष का प्रयोग लौकिक में नहीं मिलता, पर 'उष्ण' आज भी चालू है। √घृ क्षरण तथा दीप्ति) अप्रचलित है, घृन लौकिक में प्रचलित रहा है। आज उस के श्रृ की इ' स्वर भक्ति घोष रह गई है, रेफ सहस्र ध्वनि भाग लुप्त हो कर यह शब्द 'घी' के रूप में जमा हुआ है<sup>२</sup>।

(ख) भौगोलिक सम्बन्ध की यह स्थिति है कि देश के किसी भाग में आख्यात का सामान्य प्रयोग होता है, तो दूसरे भाग में उस से निष्पन्न नाम पद का अर्थ की कुछ विशिष्टता के साथ। जैसे—बलोचिस्तान (बह्ल व स्थान ?) में √शव √गम् की तरह 'जाना' अर्थ में प्रयुक्त होती रही है, तो शायों में इस का 'शव' रूप अन्तिम प्रमाण करने वाले मुर्ते के लिये (अथवा वेगायक शवस' रूप) प्रयुक्त होता रहा है<sup>३</sup>। नैरक्त को निवचनीय णिद पर इस दृष्टि से भी विचार कर लेना चाहिए।

यास्क ने ये सब बातें धातुज णिदों के निवचन के बारे में बताई हैं<sup>४</sup>। तद्धित और समान णिदों के बारे में उनका सिद्धांत यह है कि (क) पहले उन समाहृत अर्थों का समन्वित अर्थ विग्रह के द्वारा खोलना चाहिये, (ख) फिर प्रथम अर्थ की व्याख्या ऊपर बताये सिद्धान्तों के अनुसार करे (ग) उस के बाद पर वर्ती अर्थ की व्याख्या करे। जैसे—'कक्ष' एक तद्धित शब्द है। पहले ही इस का समन्वित अर्थ बताना चाहिये कि यह तग (घोड़े की बगल से बाधी जाने वाली रस्ती) हाँसी है क्योंकि यह कक्ष (फाल) में पड़ी रहती है। इस से यह स्पष्ट हुआ कि इस शब्द में दो अर्थ हैं कक्ष + य। 'य' का अर्थ है 'पड़ा रहना'। अब (तद्धिताय बताने के बाद) कक्ष (पूर्वार्थ) का निवचन करना चाहिये। इसी प्रकार समास णिदों में (क) पहले समासाय बताना चाहिये फिर (ख) पहले पूर्व-पद का निवचन, और (ग) अन्त में उत्तर पद का निवचन<sup>५</sup>। प्रत्येक पद का निवचन<sup>६</sup> उस पद के अर्थ की जो छायायें

१ ■ निष्कृतम् २।१ अथापि भाषिकेभ्यो धातुभ्यो नममा कृतो भाष्यते—  
दमूना, क्षेत्र साधा इति। अथापि नममेभ्यो भाषिका—उष्ण, घृतमिति।

२ द्र वही अथापि प्रकृतय एवकेषु भाष्यन्ते, विकृतय एवकेषु। शवति गति कर्मा कम्बोजेभ्येव भाष्यते विकारमस्यायेषु भाष्यते शव इति। दातिलवनायें प्राप्येषु, दात्रमुदीच्येषु। यहाँ बलायक 'शवस्' भी अभिप्रेत हो सकता है।

३ द्र वही एवमेक पदानि निब्रूयात्।

४ द्र वही अथ तद्धित समासेभ्येक पदसु चानेक-पदसु च पूर्वपूर्वपरपरपर प्रविभज्य निब्रूयात्।

५ उदाहरण के लिए निष्कृत २।२ में दिये 'कक्ष' के तथा २।३ में दिये 'पुरुष' के निवचन द्रष्टव्य हैं।

है उह दृष्टि में रस भर करता चाहिये ।

निरुपेक्ष सन्दर्भ निवचन में अर्थ सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है । अर्थ को प्रयानता देते हुए ही सन्दर्भ चरित्र गत विनाश को चरित्र परिवर्तन की विविध दिशाओं की दृष्टि से समझने का प्रयास करना चाहिये । अर्थ निवचन में समानता (analogy) पर विशेष दृष्टि रखें ।

६ निरुक्त के दो पाठ कोषों के तुलनात्मक सम्पादन के आधार पर डा सङ्गणसरूप का कथन है नि निषण्डु के समान ही निरुक्त के भी दो पाठ हैं । इन में निम्न अंतर है

(१) लघु पाठ में बहुत्पाठ की अपेक्षा कुछ कम पाठ हैं । उदाहरण के लिये निरुक्त ५।२७ के पाठ को लें

लघु-पाठ सु देवस्त्व = कल्याण दानो यस्य तव देव, सप्त सिंघव प्राणा-  
धानु-क्षरगति काकुद सूक्ष्म सुविरामिवोद्यपि निगमो भवति ।

बहुत्पाठ सु देवस्त्व = कल्याण-देव, कमनीयदेवो वा भवति वरुण, यस्य ते सप्त सिंघव = सिंघु अवस्थात्, यस्य ते सप्त सोनांसि तानि ते वाकुदमधु क्षरति । सूक्ष्म = कल्याणोर्मि । सोत सुविरामनु यथा मोरित तद्विरातरितमेव माह—पूब वपतेरत्तरमिरते यथासीरत्यस्मिन् भासि वा । तदेतस्यामृच्छुदाहरति । अयि निगमो भवति ।

इन दोनों की तुलना करने से विदित होता है कि लघु-पाठ की अपेक्षा बहुत्पाठ में निवचन अधिक है ।

(२) बहुत्पाठ में कई कही अप्रासङ्गिक बातें भी मिलती हैं जो लघु-पाठ में नहीं हैं । इ 'उपल प्रक्षिणी' (निषण्डु ५।३।२३) की व्याख्या (निरुक्त ६।५)—

लघु पाठ यो है उपलप्रक्षिणी = उपलेशु प्रक्षिणाति । उपल प्रसेविणी वा । कादरहमस्मि = कर्ता स्तोमानाम् ।

बहुत्पाठ यो है उपल प्रक्षिणी = उपलेशु प्रक्षिणाति । उपल प्रसेविणी वा । इन्द्र श्रुयो वप्रच्छ—दुर्मिसे केन जीवति ? इति । तेषामेक शत्रुवाच—

शकट, नाकिनी गावो, जालम् अस्थानं वनम् ।

उदधि, पवतो, राजा—दुर्मिसे नव वलय ॥'

इति सा निगद व्याख्याता । 'कादरह सतो परिवत्त । (श्रु ६।११।२३) । कादरहमस्मि = कर्ता स्तोमानाम् ।

यहाँ लघु-पाठ में उद्धृत मन्त्र की व्याख्या ही की गई है जब कि बहुत्पाठ में 'इन्द्र व्याख्याता ।' अथ अप्रासङ्गिक है तथा 'इति व्याख्याता ।' तो शकट

१ इस प्रकार के पाठों के प्रामाण्यावामाण्य पर विचार कर के हमने निरुक्त में पाँच अध्याय में निरुक्त १ ४ तथा ७ अध्यायों का यथा सम्भव प्रामाणिक पाठ दित कराने का प्रयास किया है ।

.. वसप ॥' की मात्र समभन व भ्रम पर ही स्पष्टतया आधारित है' ।

(३) लघु-पाठ वतनो (spelling) तथा व्याकरण आदि की दृष्टि से बहुत घुंघु है<sup>१</sup> ।

(४) लघु पाठ की सब पाण्डु लिपिया में निष्कृत के परि गिष्ट के दानों (१३-१४) अध्याय एक अध्याय के रूप में समवेत मिलते हैं । अर्थात् सारा परि गिष्ट निषण्डु निष्कृत की समवेत अध्याय सङ्ख्या (५+१२+१) के साथ जुड़ कर १८वें अध्याय के रूप में तथा बबल निष्कृत के १२ अध्यायों से जुड़ कर १३वें अध्याय के रूप में परि-गणित है । 'परि गिष्ट' में कुल ५० खण्ड ४ पादों में बँटे हुए हैं । लघु पाठ में प्रथम २३ खण्डों की तरह<sup>२</sup> अध्याय का प्रथम पाद बड़ा गया है । गेय खण्डों में तत्तत् पाद में उन की अनुक्रम प्राप्त सङ्ख्या नी गई है । जैसे बृहत्पाठ में १४।१' की (त्रयो-दश के) द्वितीय पाद का प्रथम खण्ड बड़ा गया है । बृहत्पाठ के कोषा में जब कि इस '१४।१' के रूप में ही सूचित किया गया है<sup>३</sup> ।

(५) लघु पाठ के अध्याय पाँचों और खण्डों में विभाजित हैं, जब कि बृहत्पाठ के अध्याय खण्डों में । बृहत्पाठ के कुछ कोषों में निष्कृत पूर्व पटक और उत्तर पटक के रूप में विभक्त मिलता है ।

कोषा में उपलब्ध दोनों पाठों की सावधान आलोचना के बाद का लक्षण सरूप का यह निष्कर्ष है कि इन दोनों पाठों में से कोई सा एक पाठ पूरणतया विश्वसनीय नहीं है । दोनों में ही (क) या तो महत्त्व की कई बातें छूट गई हैं (ख) या प्रक्षेप के कारण कई सामग्री भूल में जुट आई है<sup>४</sup> ।

दुर्ग की और स्कन्द महेश्वर की निष्कृत की टीकाशा में धृत तथा व्याख्यात पाठा और अथर्व उद्धत पाठों की का लक्ष्मणसरूप द्वारा कोषों की तुलना कर के सम्पादित पाठ से तुलना के द्वारा निष्कृत के पाँच (१४ तथा ७) अध्यायों के पाठ का सम्पादन कर के हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं

(१) दुर्ग ने जिस पाठ की व्याख्या की है वह लघु पाठ की अपेक्षा भी सङ्गठित है । जस—

(क) गिरी बुलाते (निष्कृत १।१०) पाठ दुर्ग में न उद्धृत है, न यादयात ही है । स्कन्द में उभयथा है । दोनों पाठों में भी है ।

(ख) दुर्ग ने २।७ में 'शृङ्ग के तीन निबचन उद्धृत किये हैं तथा उही की व्याख्या की है । स्कन्द में दूसरे निबचन के बाद एक निबचन और (कुल ४) है । दोनों पाठों और सायण भाष्य (ऋ १।१५।६) में धृत पाठ में दो निबचन और

१ यह अतिरिक्त अथ बृहदेवता (५।२३७) से प्रक्षिप्त हुआ है । २ मैकडानल की इस पर टिप्पणी तथा 'निष्कृत मीमांसा', पृष्ठ ३२ ।

३ विवरणार्थ २ निष्कृत मीमांसा पृष्ठ ३२ ३३ तथा स्कॉल्ड का प्रथ ।

४ अधिक विचारार्थ ७ परिशिष्ट की 'प्रामाणिकता' प्रकरण पृष्ठ १८६ ।

५ इस विवरण का आधार का लक्ष्मणसरूप के संस्करण की भूमिका है ।



कथन से पूर्व उपोद्घात में निरुक्त की जो विषय सूची भी है, उस में आज के तेरहवें अध्याय के विषय भी बताये गये हैं<sup>१</sup> । (२) 'आगम (याज्ञ) कहेंगे' कह कर तेरहवें अध्याय में एक वाक्य उद्धृत किया है तथा घोर दो बार उसी वाक्य का आगम 'आगम प्रमाण से सिद्ध' कह कर दिया गया है<sup>२</sup> । (३) त्रयोऽङ्ग ही नही चतुर्दश अध्याय के भी कुछ वाक्यों को दो स्थानों पर '(याज्ञ) कहेंगे', 'सा कहा है' कह कर उद्धृत किया है<sup>३</sup> ।

इन कथनों को देखते हुए भी आधुनिक बारहवें अध्याय तक ही निरुक्त का विस्तार दुग में बताया है, यह कहना उचित नहीं है। दुर्गोक्त 'आदंग्माध्यामी' का आगम यह प्रतीत होता है (१) निरुक्त के विषय से सीधा सम्बन्ध होने के कारण आज का त्रयो दश अध्याय दुग के समय में आदंग के अन्तर्गत ही माना जाता था। अर्थात् आदंग अध्याय 'तादङ्गाध्यमनुभवस्यनुभवति।' (१३।१३) पर ही समाप्त होता था। (२) निरुक्त के विषय से भिन्न (जीव की ऊर्ध्व-मति) विषय होने के कारण आज के चतुर्दश अध्याय को अग्रे अध्यायों के समान निरुक्त के अन्तर्गत नहीं समझा जाता था, अपितु परिनिष्ठ के रूप में ही लिया जाता था।

इस आशय की पुष्टि अन्य आचार्यों के कथनों तथा उनके द्वारा दिये निरुक्त के उद्धरणों से मली भाँति होती है

(१) सायणाचार्य ने निरुक्त को बारह अध्यायों वाला तथा वर्तमान १३।

१ इ उपोद्घात अध्यायवमलित पुदवार्थोपकार समयस्य सङ्ग्रह ।

(३६) विद्या पार प्रादयुषाधोषवेगो मन्त्राय निवचन द्वारेण । देवताऽभिधान निवचन फल देवता तादङ्गाध्यम् । इत्येवमसमा सतो निरुक्त गात्र चिन्ता विषय ।

२ इ दुग टीका १।२० वक्ष्यति हि 'यं-या देवता निराह तस्यास्तस्यास्तादङ्गाध्यमनुभवति (निरुक्तम् १३।१३) । ७।१४ तन्निरुक्तनादागम प्रमाणात् देवता तादङ्गाध्यमनुभवतीत्यवेत्य । निरुक्त्य विमूर्ति तादङ्गाध्यमनुभवतीति सच पद व्युत्पत्ति प्रयोजनम् ।

३ इ दुग टीका ७।४ वक्ष्यति हि 'स एष महानात्मा सत्ता लक्षण । तत्पर ब्रह्म । स भूतात्मा । सवा भूत प्रकृति (निरुक्तम् १४।३) । ७।६ तदुक्तम् 'दक्षिणायनातिपटु लोकम् (१४।८)' ।

४ इ दुग-टीका १३।१ 'अथेमा अति स्तुतय इत्याचक्षते । इत्येवमादि वक्तु प्रकृत शेषमनुवक्ष्यते । किं चात्र प्रकृतम् ? स्तुति सख्या देवतेति । 'यत्काम ऋषियस्या देवतायामाय पत्यमिच्छत्स्तुति प्रयुज्यते ।' (निरुक्तम् ७।१) इत्यत्र ता स्तुतय कर्माधिकार निरुक्ता । स्व कर्माधिकाराति क्रमेण स्व गुणाति गयेन च मास ता उपप्रदर्श्या ।

५ इ ऋग्वेद भाष्य उपोद्घात पृष्ठ २१ तद्व्याख्यान च 'समाभ्नाय समाभ्नात । (निरुक्तम् १।१) इत्यारभ्य 'तस्यास्तस्यास्तादङ्गाध्यमनुभवत्यनुभवति ।' (निरुक्तम् १३।१३) इत्यन्तर्द्धा दगमिरध्यायपर्याङ्गाचार्यो निममे ।

१३ के अन्तिम वाक्य पर समाप्त होने वाला बताया है : सायण ने इस तथा अगले अध्यायों से उद्धरण भी पर्याप्त मात्रा में यत्र तत्र दिये हैं<sup>१</sup> ।

यह परि शिष्ट को यास्क्रीय मानने की निचनी सीमा है<sup>२</sup> ।

(२) बहुदेवता में निरुक्त के तेरहवें अध्याय के एक प्रयोग का समाहार किया गया है<sup>३</sup> ।

(३) कात्यायन की सर्वानुक्रमणी में निरुक्त के १४वें अध्याय के एक स्थल का परा मग उपलब्ध होता है<sup>४</sup> ।

(४) स्कन्द द्वारा नामोल्लेख किये बिना चर्चित वर रुचि ने तेरहवें अध्याय के अन्तिम दो खण्डों से एक-एक वाक्य 'भाष्यकार का वचन तथा 'शास्त्र के अंत में' कह कर उद्धृत किया है<sup>५</sup> ।

(५) स्कन्द ने प्रथम अध्याय में त्रयो-दश अध्याय के अन्तिम खण्ड से तथा सातवें अध्याय में १४।८ को उद्धृत किया है । त्रयो दश अध्याय पर स्कन्द की टीका भी उपलब्ध है तथा इसमें उन्होंने मूल के एक स्थल की चर्चा 'भाष्य-कार' के नाम से की है<sup>६</sup> ।

(६ १०) कुमारिल भट्ट, उद्गीथ शाङ्खायन श्रौत सूत्र पर आनर्त्तम भाष्य के प्रणेता जमिनीय सूत्राय सङ्ग्रह कार परमेश्वर तथा भाष्य-दिन संहिता के भाष्य

१ द ऋ भा १।१६४।२० में निरुक्त १४।३०, ऋ भा ३६ में नि १३।२०, ऋ भा ४५ में नि १३।६, ऋ भा ४।५८।३ में नि १३।७ ऋ भा १०।७।१८ में नि १३।१३ तथा ताण्ड्य ब्राह्मण भाष्य ४।८।३ में नि १४।६ ।

२ डा लक्ष्मणसरूप की भाष्यता का आधार कोष लगभग सायण का सम कालिक है, सायण का आधार कोष उन से कुछ सी बरस पुरानी परम्परा पर तो आधारित होगा ही । अतः डा लक्ष्मणसरूप का निष्कर्ष तो सायण के इन निर्देशों से ही खण्डित सिद्ध हो जाती है तथापि 'परि शिष्ट' की प्राचीनता के साधक प्रमाण भाग दिये हैं ।

३ द निरुक्तम् १३।१२ न ह्येषु प्रत्यक्षमस्त्यनयेरतपतो वा । बहुदेवता वा।१२६ न प्रत्यक्षमनयेरस्ति मात्रम् ।

४ निरुक्तम् (१४।३०) में अग्नि को ओङ्कार मान कर व्याख्या की गई है तथा ऋक्सर्वानुक्रमणी (१।२।११) में मन्त्र का देवता ओङ्कार सभी देवताओं के स्थान में होता है यह बताया है ।

५ द निरुक्त-समुच्चय, पृष्ठ २ तथा च प्रकरण एव निरुक्तव्या ।' (निरुक्तम् १३।१२) इति भाष्य कार वचनम् । ३० शास्त्रान्ते च यां यां देवता... मनुमवति ।' (नि १३।१३) इति च ।

६ द स्कन्द-महेश्वर टीका १।२० पर उद्धृत निरुक्त १३।१३ तथा ७।६ पर नि १४।८ । १३।४ तदेतद् भाष्य कारानुरोधेन व्याख्यायते । यतो भाष्य-कार आह, ये न सलापस तै सहेति वा ।' (निरुक्तम् १३।६) ।

बार उल्ट ने अपनी अपनी कृतियों में तरह-तुर्ह प्रकार के अक्षरों को उल्टा किया है<sup>१</sup>।

(११ १३) याज्ञवल्क्य-स्मृति के टीकाकार जिज्ञानेश्वर ने १४ वें अध्याय के एक पाठ्य को, तथा साम विवरण के प्रयोगा माधव ने इसी अध्याय के एक अन्य प्रमाण को तथा गीता भाष्य के रचयिता साङ्ख्यनन्द ने इस अध्याय में उल्टा-पल्टा और दक्षिणावर्त का प्रकरण उल्टा किया है<sup>२</sup>।

कोषा के सामान्य में भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है। निरुक्त के उदाहरणों में प्राचीनतम (१४७६ ई. व.) लघु पाठवान् कोष में ब्राम्हण १३ १४ अध्याय चार पाठ्य वाले एक ही अध्याय के रूप में संशुद्धि है। इन में तथा लघु पाठ के अन्य कोषों में 'अनुमति' को सबंध दुहराया गया है। यह इन १३ शब्दों की पृथक् अध्यायता में ही उप-पन्न हो सकता है। विद्वानों ने भी आज के प्रयोग-अध्याय के उदाहरणों को 'गात्रोक्त' कह कर बार-बार ही उल्टा किया है। आज के अनुशासन को 'अष्टांग' (अष्टांग के पाँच अध्याय, निरुक्त के बार-बार तथा यह) कर दिया गया है। इन लघुपाठ के कोषों और भाषाओं के बचन में परिगलित के बार में पूर्ण सामञ्जस्य है।

निरुक्त इन की टीका में कई बार परिगलित में उदाहरण दिये गये हैं। उन के मत में आज का प्रयोग-अध्याय आज के अन्तर्गत ही है। अन्य लोग भी आज के प्रयोग-अध्याय पर गात्र का अन्त मानते हैं। आज का अनुशासन अध्याय तरह-तुर्ह अध्याय माना जाता था। पूरा परिशिष्ट कोषा में प्रयोग-अध्याय के रूप में मिलता है। इन और स्व-दे के वर्तमान अनुशासन से पाठ उल्टा कर के भी टीका वर्तमान प्रयोग-अध्यास तक ही सिमटी है। अतः परिगलित सब प्रमाणों से प्रमाणित है तथा निरुक्त का 'प्रकृत' होने से परिगलित कहा गया है। सायणाचार्य ने बृहस्पति को सर्वात्मना अपनाते हुए भी इस बारे में प्राचीन भाषाओं की परम्परा के अनुसार ही

१ इ तत्र वातिक १।१७, पूना स पृष्ठ १२८ यदेव किं चानूचानोऽग्नौ हत्याय तद्भवति (निरुक्तम् १३।१२)। उद्गीथ, ऋ मा १०।७।१५ मे नि १३ १३। गाङ्गायन श्रौत सूत्र भाष्य ५।१।१ मे उल्टा 'को न ऋषिभविष्यति?' (निरुक्तम् १३।१२) इत्यादि प्रकरण। परमेश्वर-कृत भी सू स म धृत नि १३।७। उल्टा मा ॥ मा १८।७७ 'न ह्येषु प्रत्यक्षमस्त्यनयेरतपसो वा।' (नि १३।१२) इत्युपक्रम भूयो विष्ट प्रत्यक्षो भवतीति चाभिधाय तस्माद्यदेव किं चानूचानोऽग्नौ हत्याय तद्भवति।' इति।

२ याज्ञवल्क्य स्मृति, मिताक्षरा ३।८३ जात स वायुना स्पृष्टो न स्मरति पूव जम, मरण, कम च शुभाशुभम्।' (तुलना करें निरुक्तम् १४।६ जातश्च वायुना स्पृष्टो न स्मरति जम, मरणम् अतः च शुभाशुभ कम।) इति निरुक्त-स्याष्टा दशोऽभिधानात्। इ गङ्गारानन्द, गीता भाष्य (८।२७) में उल्टा निरुक्तम् १४।६।

नक्षत्र के परिमाण का वर्णन किया है<sup>१</sup> ।

८ यास्क का स्थान निरवत परिशिष्ट के अन्त में ब्रह्म को नमस्कार । महान् भूत को नमस्कार । पारस्कर को नमस्कार । यास्क को नमस्कार<sup>२</sup> । —वाक्य में उल्लिखित पारस्कर और यास्क एक ही व्यक्ति प्रतीत होते हैं । जैसे अष्टाध्यायीकार का उल्लेख 'दाक्षी पुत्र पाणिनि' कह कर होता है, वैसे ही यहाँ यास्क का उल्लेख उन के स्थान नाम और व्यक्ति का या गोत्र-नाम—दोनों—से किसी श्रद्धालु ने किया लगता है । यास्क के परिचय का इतना सा सूत्र ही हमें उपलब्ध है ।

'पारस्कर' एक सञ्ज्ञा है । पतञ्जलि ने इस किसी देश (इलाके) का नाम बताया है । जिनेन्द्र मुद्रि ने इस पार करने की कुछ क्लिष्ट तथा विशिष्ट काय मान कर इस की व्याख्या पार करता है इस लिये पारस्कर<sup>३</sup> । की है । इस से विनिश्चित होता है कि यह कोई ऐसा प्रदेश है जिसे पार करना कठिन है । वर्तमान में इस प्रकार की विशिष्टता और नाम-साध्य से युक्त एक प्रदेश है यर पारकर' (२५ उत्तर, ७०° पूव) । यह प्रदेश भारतीय महा मरु वा-न्तार के दक्षिणी छोर पर है, जिसे पार करना कठिन है तथा उस के पार होने से मारा रेगिस्तान पार हो जाता है । इस के और भी दक्षिण पूव की ओर आज नगर पारकर' नामक एक बस्ती है । हमारे विचार में आचार्य यास्क इसी पारकर देश के निवासी थे ।

इस विवरण की पुष्टि में निम्न तथ्य भी सहायक हैं (१) यास्क उस देश की सांस्कृतिक परिधि में थे जहाँ मास का प्रारम्भ शुक्ल पक्ष से और अतः कृष्ण पक्ष से होता था<sup>४</sup> । पारकर देश में आज यह व्यवस्था है कि नहीं, यह जो हम जान नहीं है कि-तु इस प्रदेश से लगे हुए गुजरात में आज भी यही व्यवस्था चालू है । उन की ओर गुजरात की पक्ष व्यवस्था में समानता से विदित होता है कि वे इस से बहुत दूर के नहीं हैं । (२) निम्न की प्रथम शताब्दी ई०<sup>५</sup> की दुर्ग की टीका भी पारकर से अनति दूर जम्बूसर (पुराना नाम जम्बूमार्वाभूमि २५ उत्तर ७३° पूव के लगभग) में लिखी गई और पाचवीं सदी के अन्त या छठी सदी के शुरू में स्कन्द स्वामी ने भी पारकर से अनति दूर बलभी में लिखी थी । अतः इस क्षेत्र में निरुक्त का कोई

१ विशेषार्थ 'निरुक्त मीमांसा पृष्ठ ४७ ५६ द्रव्ये ।

२ नमो ब्रह्मणे । नमो महते भूतये । नमः पारस्कराय । नमो यास्काय ।

३ ॥ अष्टाध्यायी ६।१।१५७ पारस्कर प्रमृतीनि च सञ्ज्ञायाम् । इस पर महा भाष्य, अञ्जुसूत्र भाग ४, पृष्ठ ४८३ पारस्करो देन । तथा यही काशिका पर यास तथा पद मञ्जरी ।

४ ३ निरुक्तम् ५।११ त्रिंशदपर पक्षस्याहो रात्रौ । त्रिंशत्पूर्व पक्षस्येति नरुक्ता । त पूव पक्ष आध्यापयन्ति । ११।६ नयो नवो मज्जति जायमान' इति पूव पक्षादिमभिप्रेत्य । 'अज्ञां केतुश्चक्षामेत्यग्रम्' इत्यपर पक्षात्तमभिप्रेत्य ।

५ ३ डा सप्तमणसरूप, कपेष्टरी भाषा स्व-स्वामिन् ऐण्ड महेश्वर ग्रान् दी निरुक्त, भाग ३ ४, भूमिका, पृष्ठ ६७ ६८ ।

विशेष सम्बन्ध रहा प्रतीत होता है। हमारे विचार में वह सम्बन्ध यही है कि यास्क इस क्षेत्र के राज के 'पारकर और पुराने पारस्कर' प्रदेश के निवासी हैं।

■ यास्क का समय यास्क के समय के बारे में विद्वानों में बहुत मत भेद है। कुछ लोग उन्हें पाणिनि से अर्वाचीन मानते हैं तो कुछ प्राचीन। हमारे विचार में ये न केवल पाणिनि से प्राचीन हैं अपितु पर्याप्त प्राचीन हैं। इस विषय में उपसंघ प्रमाणों को हम चार भागों में प्रस्तुत कर रहे हैं

### (अ) भाषा शास्त्रीय सङ्केतो के आधार पर यास्क का काल निर्णय

(क) निरुक्त में उपसंघ व्याकरण की पारिभाषिक सङ्ज्ञायें भाव तथा सरचना की दृष्टि से पारिनि की सङ्ज्ञायों से बहुत भिन्न हैं और उनसे प्राचीन स्वरूप को प्रकट करती हैं

(१) पाणिनि ने गण के दो भेद सुबन्त और तिङन्त माने हैं। यास्क नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात मानते हैं<sup>१</sup>। इन में से दो उपसर्ग और निपात तो पाणिनि-संज्ञ में सुबहु प्रयुक्त हैं, किन्तु 'नाम और आख्यात' साद कतिपय बार ही प्रयुक्त हुए हैं। प्रतीत होता है कि पाणिनि के समय यह वर्गीकरण प्रचलन से बाहर होने के लगभग की स्थिति में आ चुका था।

(२) यास्क ने उपसर्गों को अवशिष्टेषु नाम तथा आख्यातो में युक्त होने वाला बताया है जबकि पाणिनि ने केवल क्रिया-योगी। पाणिनि ने उनके निपात, गति और कम प्रवचनीय आदि भेद भी किये हैं, यास्क ने नहीं। शोतकता और वाचकता के विषय में यास्क ने क्रमशः शाकटायन और गार्ग्य के मत उपस्थित कर के गार्ग्याभि मत वाचकता का समर्थन किया है<sup>२</sup>। यदि ये पाणिनि से अर्वाचीन होते, तो इन के सिद्धान्तों की कुछ तो प्रतिक्रिया यास्क के ग्रन्थ में दिखलाई पड़ती।

(३) पाणिनि ने एक खास प्रकरण में विहित द्वित्व के पहने प्रश की ही 'अभ्यास तथा दोना को अभ्यस्त कहा है। किन्तु निरुक्त में ये दोनों शब्द व्याकरण के सदम में भी क्रमशः आवृत्ति मात्र तथा आवृत्ति किया हुआ अर्थ<sup>३</sup> में ही

१ इ अष्टाध्यायी १।४।१४ सुप्तिङन्त मवम् । निरुक्तम् १।१ तद्यानि चत्वारि पद-जातानि नामाख्याते चोपसर्ग निपाताश्च, शानीमानि भवन्ति । तथा १।१२ इतोमानि चत्वारि पद जातान्यनुबान्तानि नामाख्याते चोपसर्ग निपाताश्च । १।१६ नामाख्याते चोपसर्ग निपाताश्चेति वयाकरणम् ।

२ इ निरुक्तम् १।३ न निबद्धा उपसर्गा अर्थान्निराहुरिति शाकटायन । नामाख्यातपोस्तु कर्मोपसर्गयोग-शोतका भवन्ति । उच्चा-वच्चा पण्यार्था भवन्तीति गार्ग्य । तद् य एषु पदार्थ, प्राहुरिमे त नामाख्यातयोरप्य विकरणम् । या इत्यर्थागर्थे ।

एवमुच्चावचानर्थप्राहुरि । अष्टाध्यायी १।४।३८ ६० आदय उपसर्गा क्रिया योगे, गतिश्च । ८४ ६८ कम प्रवचनीया । इत्यादि ।

३ इ अष्टा ६।१।४५ पूर्वोऽभ्यास, उभे अभ्यस्तम् । निरुक्त में पारि

प्रयुक्त हुए हैं। यास्क की सञ्ज्ञायें यौगिकता के निकट हैं, जब कि पाणिनि की पारिभाषिक ही हैं।

(४) गुण-वृद्धि के निषेध स्थलों के लिये यास्क ने निवृत्ति स्थान (२।१) जैसे महा सञ्ज्ञा का प्रयोग किया है और पाणिनि ने क्वि, गित् (१।१।५) आदि यादृच्छिक सञ्ज्ञाओं का। पाणिनि की सञ्ज्ञायें यादृच्छिक और अधिग व्यापक हैं। यह सौरी अपेक्षा कृत धर्वाचीन है।

(५) प्रत्यय 'गन्ध पाणिनि द्वारा पारिभाषिक अर्थ में प्रयुक्त है, जब कि यास्क ने यौगिक (जान) अर्थ में प्रयुक्त किया है'। पारिभाषिक अर्थ में प्रत्यय के विभिन्न स्वरूपों को प्रकट करने वाली कई अन्वयक महा सञ्ज्ञायें— अत करण<sup>१</sup>, 'उप-वच<sup>२</sup>' तथा 'नाम करण<sup>३</sup>'—दी हैं। ये सञ्ज्ञायें पाणिनि की प्रत्यय सञ्ज्ञा की अपेक्षा प्राचीन प्रतीत होती हैं।

(६) निरुक्त म उप-सम्बन्ध 'कारित<sup>४</sup>', 'चकरीत<sup>५</sup>', 'चिकीपित<sup>६</sup>' सञ्ज्ञायें पाणिनि के तन्त्र में क्रमशः प्यत्, यडलुगन्त और सन त के लिये प्रयुक्त प्राचीन सञ्ज्ञायें मानी जाती हैं<sup>७</sup>। ये सब निरुक्त म बहुत सामान्य सञ्ज्ञाओं की तरह प्रयुक्त हुई हैं। हाँ, 'चकरीत' सञ्ज्ञा निरुक्त म पाणिनि के तन्त्र के यङत के लिये<sup>८</sup> और यङत और यडलुगन्त दोनों के लिये<sup>९</sup> प्रयुक्त हुई हैं। पाणिनीय तन्त्र म यह सञ्ज्ञा यडलुगन्त के लिये ही प्रयुक्त होती है। पाणिनि की कृत्<sup>१०</sup> और 'कृत्य' (कृतों का एक भेद, निरुक्त म अप्रयुक्त) सञ्ज्ञायें इसी परम्परा की हैं। पाणिनीय तन्त्र म इन सब सञ्ज्ञाओं में से कृत् और कृत्य सञ्ज्ञायें ही चालू रही हैं, अन्य सब सञ्ज्ञायें तो प्राचीन व्याकरणों द्वारा प्रयुक्त सञ्ज्ञायें (प्राचीन सञ्ज्ञा) मानी जाती हैं। अतः इन सञ्ज्ञाओं का निरसङ्कोच प्रयोग करने वाला निरुक्त म अष्टाध्यायी से निश्चित रूप से प्राचीन है।

(ख) निरुक्त में भाषा म प्रत्ययों के अध्ययन की पाणिनि से सुन्तराम प्राचीन स्थिति मिलती है। तथाहि—

भाषिक अर्थ में 'अभ्यास' के लिये २।२३, ५।१२ तथा धातुति सामान्य अर्थ में १०।४२ देखें। 'अभ्यस्त' पारिभाषिक अर्थ में २।१२, ४।२३ २५ ६।५ में तथा 'गुणित' अर्थ में २।१० में द्रष्टव्य है।

१ द्र अष्टा ३।१।१ तथा निरुक्तम् १।१५। २ द्र निरुक्तम् १।१३।

३ द्र वही १।७८, ६।१६।

४ द्र वही १।१७, २।२, ५, ६।२२, ७।२६, १०।१७।

५ द्र निरुक्तम् १।१३। ६ द्र वही २।२८, ६।२२। ७ द्र वही ६।१।

८ द्र धातु-पाठ, अदादि गण, १०८१ चकरीत च। महा भाष्य ६।१।६

मञ्जरि-स भाग ४, पृष्ठ ३०८ में 'चकरीतम्' पर प्रदीप चकरोतमिति यडलु गन्तस्य पूर्वाचार्य-सञ्ज्ञा। महा भाष्य ७।४।६२ भी देखें।

(१) यास्क ने 'आ दध्नास'¹ की व्याख्या में 'दध्' को  $\sqrt{\text{दध}}$  (य वि करण) से निष्पन्न नाम-पद बताया है²। पाणिनि 'दध्' (दध्न्च्) को प्रत्यय मानते हैं³। इसी प्रकार 'प्र वत', नि-वत', 'उद्वत' आदि पदों में विद्यमान 'वत्' को यास्क ने  $\sqrt{\text{वव}}$  निष्पन्न बताया है और पाणिनि ने वदिक क्षत्रियों में ही सीमित वति' प्रत्यय बताया है⁴। 'ऋजुवत्' और 'नीचायमान' को यास्क ने क्रमशः ऋजु+वत् ( $< \sqrt{\text{इ}}$ ) और 'नीच + अयमान ( $< \sqrt{\text{अय}}$ )' नामों का समवित रूप माना है⁵। पाणिनि इन्हीं 'ऋजु' और 'नीच' नामों की नाम धातु ही यत्ना करेंगे। 'अपत्य' को यास्क और पाणिनि दोनों 'अप+त्य' से निष्पन्न मानते हैं, किन्तु यास्क त्य को  $\sqrt{\text{तन्}}$  से निष्पन्न मानते हैं⁶ जब कि पाणिनि इसे तद्धित प्रत्यय मानते हैं⁷। इस ध्योरे से सूचित होता है कि यास्क न भाषा के अध्ययन की उस स्थिति को प्रस्तुत किया है जब भाषा शास्त्रियों में बहुत से प्रत्यय नाम पद ही मान जाते थे। पाणिनि ने इस संविकसित स्थिति को प्रतिनिधित्व दिया है।

(२) अश्वयु' को यास्क ने 'अश्वर+यु' से तोड़ कर 'यु' को  $\sqrt{\text{युज}}$  से या 'तत्त्वामयते' अथवा 'तदधीते' अथ मे 'यु' उप-अध (प्रत्यय) से निष्पन्न बताया है⁸। इस से पीछे वही यह बात ही पुष्ट होती है कि प्राचीन काल में बहुत ही प्रत्यय धातु निष्पन्न नाम पद माने जाते थे। 'यु' नाम और प्रत्यय के बीच भूल रहा था। 'इद यु' (६।३१) पर यास्क ने 'यु' के दो अर्थ बताये हैं 'कामयमान' तथा 'तद्वान्'। इस के अतिरिक्त यहाँ यास्क का यह कथन भी ध्यान देने योग्य है कि 'तद्वत् अथ म यु' उस समय व्यवहृत होता था⁹।

'यु' प्रत्यय के बारे में समुचित सूचना यह है कि इस के (क) तदधीते (ख) कामयमान और (ग) तद्वान् ये तीन अर्थ थे। इन में सर्वाधिक प्रचलित अर्थ था तद्वान्, उस में कम प्रचलित था कामयमान, और सब से कम प्रचलित अर्थ था 'तदधीते'। पाणिनि संविदित होता है कि (क) यह प्रत्यय आम व्यवहृत तो

१ ■ ऋ १०।७।७।

२ द निरक्तम् १।६।

३ द अष्टा ५।२।३७ प्रमाणे द्वयस्य दध्न्च्मात्रम् ।

४ द निरक्तम् १०।२० तथा अष्टाध्यायी ५।१।११८।

५ द निरक्तम् ४।१४ तथा १२।३६।

६ ■ ३।७।

७ द अष्टाध्यायी ४।२।१०४।

८ ■ निरक्तम् १।८। ६ द ६।३१ इदयुर=इद कामयमान । अथापि

तद्वदर्थं भाष्यते—यस्यपुरिन्द्रो=यसुमानिर्यथ । • अपने समय में बोल चाल की विगपताओं को निरुक्त में  $\sqrt{\text{भाष}}$  के कतरि या कमणि वतमान काल में प्रयोग से कम से कम भाषी दरजन बार कहा गया है '१) अग्नि भाषते २।२, (२) भाष्यते २।२३ ६।३० २।३ (३) भाष्यन्ते २।२। इन सब का अर्थ यास्क का समय में 'बानन है' या बोला जाता है यदि नहीं किया जाये, तो बानना की सद्गति नहीं हो पायेगी ।

या ही नहीं (ख) 'कामयमान' अथ म क्यञ्चत्प्रयान नाम धातु से वैदिक पदों में ताच्छीलिक 'उ' प्रत्यय<sup>१</sup> से यु रूप निष्पन्न था, (ग) तद्गान् अथ म 'यु प्रत्यय लौकिक म<sup>२</sup> 'क्यु', २ श्यु ३ 'ग्रह्यु' और ४ शुभ्यु पदों में ही सीमित था<sup>३</sup>। 'ऊर्ण्यु' का प्रयोग वैदिक में ही होता था, न कि लौकिक म<sup>३</sup>। अर्थात् पाणिनि के समय यह प्रत्यय न केवल प्रयोग की मात्रा की दृष्टि से ही यास्क के समय से सीमित हो गया था अपितु अथ की दृष्टि से भी मत्वय मात्र में केवल ४ प्रयोगों में सीमित रह गया था। 'तदधीते' और 'तत्कामयते' अर्थों में यह अष्टाध्यायी में ही नहीं। इस आधार पर हम यह कह सकते हैं कि पाणिनि यास्क से इतना बाद में हुए कि (क) यास्क के समय इस के जहाँ तीन अथ थे वहाँ पाणिनि के समय एक (तद्गान्) ही रह गया था। (ख) यास्क के समय आम भाषा में प्रयुक्त प्रत्यय पाणिनि के समय केवल चार शब्दों में सीमित रह गया था। भाषा में इस विकास के लिये पर्याप्त काल के अन्तर की अपेक्षा है।

(३) यास्क ने 'आविष्ट्य' की व्याख्या में 'तत् पद से 'त्य' का प्रयोग किया है<sup>४</sup>। इसी प्रकार सत्य की व्याख्या में भी सन्-त्य के 'त्य' की व्याख्या √तन् से की है या इसे 'तत्र अथ' अथ म सद्धित प्रत्यय मान कर की लगती है<sup>५</sup>। इस से सूचित होता है कि वे 'त्य' को किन्हीं खास प्रयोगों तक ही सीमित नहीं मानते। पाणिनि ने इसे कुछ प्रयोगों तक सीमित बताया है यह दक्षिणा, पश्चात्, पुरस पदों से तथा अययो से त्यक् अथवा त्यप् के रूप में विहित है<sup>६</sup>। पाणिनि के बाद तो यह और भी सीमित हो गया मिलता है। भाषा में केवल १ अमा, २ इह, ३ वव, ४ नि और ५ नित पदों से वैदिक म आविस से तथा 'तस' और 'न' प्रत्ययान्त पदों से भाषा में यह प्रत्यय विहित है<sup>७</sup>। इस विवरण से यह स्पष्ट होता है कि 'त्य' का प्रयोग क्रमशः सीमित होता गया है। पर निरुक्त में उन का प्रयोग इन सीमाओं की परिधि से बाहर मिलता है। अतः यास्क पाणिनि से उसी प्रकार प्राचीन हैं, जिस प्रकार पाणिनि 'त्य' के और भी अधिक सीमित प्रयोगों की सूचना देने वाले वार्तिककार से प्राचीन हैं।

(ग) शब्दों के विकास की दृष्टि से निरुक्त में प्राचीनतर सरल पद्धति पर विचार किया गया है

(१) पाणिनीय तत्र में √चम और √स्था स्व-तत्र धातु नहीं हैं, कुछ प्रयोगों में √चम का प्रयोग विहित है, तो कुछ में √स्था का<sup>८</sup>। यास्क के समय

१ द्र अष्टा ३।२।१७०। २ द्र अष्टा ५।२।१३८ ४०।

३ द्र अष्टा ५।१।१२३।

४ द्र निरुक्तम् ८।१५ अ १।६५।५ की व्याख्या आविरावेदनात्। तस्य

५ द्र वही ३।१३ सत्सु ताप्यते। सत्प्रमथ भवतीति वा।

६ द्र अष्टा ४।२।१८ १०४।

७ द्र महा भाष्य ५।२।१०४ पृष्ठ ६७२। ८ द्र अष्टा २।४।५४ ८।



मे दोनों ही धातुमा का प्रयोग अविगयेण होता था । निरुक्त में चयु का नियचन  $\sqrt{\text{स्या}}$  से, या  $\sqrt{\text{चन्}}$  से बहु कर दिया है<sup>१</sup> । इसी प्रकार 'घोर चगते'<sup>२</sup> के 'चक्षत' की व्याख्या  $\sqrt{\text{स्या}}$  से की है<sup>३</sup> । इस से सिद्ध होता है कि  $\sqrt{\text{स्या}}$   $\sqrt{\text{चन्}}$  की समानाधिक्य है पर  $\sqrt{\text{चन्}}$  का आदेश नहीं है जसा कि पाणिनि ने बताया है । यास्क के समय भी अगर दोनों धातुमा में कोई रास सम्बन्ध हुआ होना कोई एक धातु का प्रयोग ही अगर सीमित रहा होता, तो उन्हें ने 'चयु' की व्याख्या किसी एक धातु में ही बताई होती । पर इस विषय में भी यास्क ने पाणिनि से प्राचीन स्थिति को प्रस्तुत किया है ।

(२) पाणिनि ने 'अयम्' को 'इदम्' के 'इद' के स्थान में 'अय' आगे से निष्पन्न बताया है । यास्क ने इस  $\sqrt{\text{इ}}$  से निष्पन्न बताया है । चिन्ता भाषा के 'ईम्', 'अया' आदि रूप यास्क की व्याख्या की पुष्टि करते हैं । इसी प्रकार पाणिनि ने 'अतो' को 'अन्त' से निष्पन्न बताया है । यास्क ने इस  $\sqrt{\text{अन्त}}$  (नेपथ्य) से निष्पन्न बताया है । यह व्याख्या भाषा के व्याकरण के प्राचीन रूप को अधिक निबट से प्रस्तुत करती है<sup>४</sup> ।

(३) 'अहन्' और 'अहर्' प्रकृतियों में पाणिनि ने उपजीव्योपजीव्य भाव सम्बन्ध स्थापित किया है 'अहन्' के 'न्' को रेफादेश का विधान किया है । यास्क ने 'अहर्' को 'आ +  $\sqrt{\text{ह}}$  से स्वतन्त्र रूप से निष्पन्न बताया है<sup>५</sup> ।

(४) लघि की दृष्टि से भी यास्क भाषा चिन्तन की पाणिनि से प्राचीन स्थिति का प्रस्तुत करते हैं

(१) पाणिनि का कथन है कि प्राचीन भाषाय शाक्य के समय अण<sup>६</sup> प्रत्याहार से पूव वर्ती पदातीय 'य' 'व' का लोप होता था । अर्थात् पाणिनि के समय इस में विकल्प हो गया था । निरुक्त में, जहाँ तक हम देख पाय हैं उस स्थली में सबन्ध लोप ही उपलब्ध होता है । यास्क ने एक स्थल में शाक्य का नाम ले कर उन के पद-पाठ की आलोचना की है तथा दूसरी जगह शाक्य का उल्लेख किये बिना ही उन के पद पाठ से भिन्न पद पाठ दिया है<sup>७</sup> । इस से सूचित होता है कि यास्क शाक्य से बहुत दूर बाद के नहीं हैं, पर पाणिनि से पर्याप्त प्राचीन हैं ।

(२) यास्क ने 'पृथु-वृद्धे' की व्याख्या 'पृथु वृद्धे'<sup>८</sup> की है । पाणिनि के

१ ॥ निरुक्तम् ४।३ चयु ह्यातेर्वा । षष्ठेर्वा ।

२ ॥ ऋ ७।१०४।२ ।

३ ॥ निरुक्तम् ४।३ घोर ह्यानाय ।

४ ॥ पृष्ठ ३६ तथा अ स ६।२।७ सर्वे देवा हवमा यन्तु म इमम् ।

५ ॥ अष्टा ८।२।६८६ अहन् रोऽमुपि । निरुक्तम् २।२० अह कस्मात् ? उपाहारत्यस्मि कर्माणि । ॥ निरुक्त के पाँच अध्याय पृष्ठ २३४ ।

६ अयात् स्वर, अन्तस्थ ह तथा घोष स्पृग याज्ञी प्रत्यक वय के तीसरे तथा पाँचवें व्यञ्जन । ७ ॥ निरुक्तम् ६।२८ तथा १।२१ । ८ ॥ ऋ २।३२।६ ।

९ ॥ निरुक्तम् १।१।३२ ।

१० ॥ अष्टा ८।३।१०३ ।

अनुसार यहाँ मूत्र-यादेश वैदिक प्रयोगों में ही एकीय मत से प्राप्त है। पर निरुक्त में यह सधि बहुत ग्राम की गई है (क) 'ग्रामी पाठ' की व्याख्या अग्नि पहमाणा की गई है<sup>१</sup>। पाणिनि ने √सह के 'म' के मूत्र-यादेश का विधान किया है, पर केवल १ 'परि', २ 'नि' ३ 'वि', ४ 'वृत्ता' और ५ ऋत शब्दों के बाद तथा अन्त के लुङ में किसी भी उपसर्ग के बाद में स्थित होने पर ही<sup>२</sup>। (ख) निरुक्त में 'लेमि-ष्टवा' की व्याख्या 'सष्टवा' की गई है<sup>३</sup>। पाणिनि ने इस स्थिति में घत्व का विधान ही नहीं किया है। यास्क के छोड़ा बाद तक इस प्रकार की सधियाँ 'गवि ष्ठिर', 'युधि ष्ठिर' आदि शब्दों में प्रयुक्त हुई हैं। पाणिनि के समय तक यह अपवाद की कोटि में पहुँच चुकी थी। 'युधि ष्ठिर' शब्द बाङ्गमय में सब प्रथम अष्टाध्यायी तथा उस के गण पाठ में ही मिलना है<sup>४</sup>।

इस प्रकार भाषा शास्त्र के विकास की दृष्टि में यास्क के निरुक्त में पाणिनि के पूरे तंत्र से प्राचीन स्थिति के दक्षन प्रचुर मात्रा में हाते हैं। उन के काल में अन्तर का मोटा अन्तराज इस बात से ही लगाया जा सकता है कि (क) इस दौरान बहुत-से शब्द प्रत्यय के रूप में परिणत हो गये थे, (ख) बहुत से प्रत्यय पाणिनि के समय तक लगभग अप्रचलित से हो हो गये थे, (ग) यास्क के समय की बहुत सी सधियाँ अप्रचलित हो गई थी, (घ) प्राचीन पारिभाषिक सञ्ज्ञाये अप्रचलित हो गई थी, (ङ) यास्क के समय अव्ययक सञ्ज्ञाये (अत करण, उप बन्ध, नाम करण, निवृत्ति स्थान) अधिक प्रचलित थीं पाणिनि ने माहञ्छिक (टि, धु, भ, कित्, गित् आदि) सञ्ज्ञाओं का अधिक उपयोग किया है।

### (आ) ऐतिहासिक सङ्केतो के आधार पर यास्क का काल निर्णय

(१) पाणिनि यास्क में तो परिचित है ही<sup>५</sup> भिन्नु मूत्र प्रयेता पाराशय<sup>६</sup>, युधि ष्ठिर<sup>७</sup>, अजुन, उन के प्रवीन जनमेजय कृष्ण साम्ब गद, प्र-धुम्न तथा राम<sup>८</sup> से वे केवल परिचित ही नहीं हैं अपितु उन के समय तक वामुदेव कृष्ण और अजुन की तो भक्ति भी प्रचलित हो गई थी<sup>९</sup>।

यास्क अव्यय वृत्तिशास्त्र के प्रसिद्ध पुरुष अक्षर से बाद के किसी भी व्यक्ति से परिचित नहीं हैं। अक्षर जनमेजय के प्रपितामहा के काल में भी वृद्धों में ही गिने जाते थे। यास्क के समय में लगता है, वामुदेव कृष्ण भी बहुत महत्त्व नहीं पा पाय थे, अव्यय व उन के नाम करण के आधार काल वरुण के वाचक 'वृष्ण'।

१ द्र निरुक्तम् ३।३ में ऋ ७।४।८ की व्याख्या।

२ द्र अष्टा ८।३।७०, १०७, ११४।

३ द्र निरुक्तम् ६।३० में ऋ १०।१५।२ की व्याख्या।

४ द्र अष्टा ८।३।६५ तथा गण पाठ ४।१।६६। ५ द्र अष्टा २।४।६३।

६ द्र ४।३।१७०। ७ द्र ८।३।६५। ८ द्र गण पाठ ४।१।६६।

९ द्र अष्टाध्यायी ४।३।६८।

को 'नीच कोटि का वण' <sup>१</sup> कहने का साहस नहीं कर पाते । अतः यास्क न केवल पाणिनि से प्राचीन हैं, अपितु बहुत प्राचीन हैं ।

(२) निरुक्त म यास्क ने 'लोग बाग ऐसा कहते हैं' कह कर इतिहास में वर्णित एक घटना को पुष्ट किया है कि मणि अक्रूर के पास है <sup>२</sup> । श्रीमद्भागवत आदि ग्रन्थों में वर्णित इतिहास <sup>३</sup> विदित होता है कि अक्रूर और कृत वर्मा के पड़ पड़ से श्री कृष्ण के समुद्र सन्ना जित् को मार कर चुराई गई स्वयं-तक मणि को कुछ दिनों तक अक्रूर ने अपने पास छुपा कर रखा था । भे<sup>४</sup> खुलने के डर से वह देश छोड़ कर भाग गये थे । उन के पीछे लोगो में काना फूँसी होने लगी कि मणि अक्रूर के पास है <sup>५</sup> । निरुक्त का अज्ञात भूत यह श्लोकाद्य इसी काना फूँसी को 'यक्त करता लगना है । इस विवरण से यह स्पष्ट होता है कि यास्क के समय यह घटना ताजा-ताजा थी । यास्क का पारस्वर देश इस घटना के स्थल द्वारका से बहुत दूर नहीं था । अतः उन का इस घटना से परिचय असम्भव नहीं है न ही इस घटना पर अफवाहो, या काना फूँसी का होना ही असम्भव है । अतः इस घटना के समय यास्क निरुक्त लिख रहे थे यह सूचित होता है ।

(३) निरुक्त (२।१०) में देवापि और शन्तनु नामक दो कौरव भाइयों को इतिहास में हुमा बताया है । इन से सम्बद्ध एक घटना का वर्णन यास्क ने किया है कि छोटे शन्तनु ने बड़े भाई देवापि की उपेक्षा कर के अपना राज तिलक करवा लिया । देवापि वन में भाग गये । इस के बाद उन <sup>६</sup> राज्य में बहुत समय तक वर्षा नहीं हुई, सब ब्राह्मणों ने इस का कारण अघम पूर्वक तरत पर कब्जे को बताया <sup>७</sup> । यह घटना शीनकीय बहुदेवता <sup>८</sup> में और महा भारत <sup>९</sup> में और तरह से वर्णित है कि देवापि को चम रोग के कारण ब्राह्मणों द्वारा राज गद्दी का अनधिकारी घोषित कर दिया जाने पर शन्तनु <sup>१०</sup> को गद्दी पर बठाया गया तथा उन का राज्य प्रजा के लिये बहुत सुख समृद्धि कारक था । इन वर्णनों में हमें यही अन्तर

१ ॥ निरुक्तम् २।२० कृष्णो नि कृष्टो वण ।

२ द निरुक्तम् २।२ अक्रूरो दवते मणिम् इत्यमि साधन्ते ।

३ द श्रीमद्भागवत १०।५७।३ ६ १० १५ १८ २३, २६ ३४ ३८ ।

४ ॥ निरुक्तम् २।१० तत्रेति हासमा चसते—देवापिर्चाष्टि पेल शन्त मुत्त कौरव्यो भ्रातरो बभूवतु । स शन्तनु कनीयानमि-वेत्तयाञ्चक्रे । देवापिस्तप प्र पेवे । तत शन्तनो राज्ये द्वा दश वर्षाणि देवो न ववथ । तमुचुर्ब्राह्मणा 'अ घमस्त्वया चरित—ज्येष्ठ भ्रातरमतस्त्वयमि पेचितम् तस्मात्त देवो न वथ तो ति । ॥ शन्तनुर्देवापि निशिष्य राज्येन । यास्याथ द निरुक्त के पाँच अध्याय', पृष्ठ २०३ ५ । तुलना करे श्रीमद्भागवत ६।२२।११ १६ ।

५ बहुदेवता ७।१५५ ८।६ । ६ आदि पर्व ६४।६१ २ ६५।४५ ६

७ योग-पर्व १४६।१७ ७८ तस्य पर्व ३६।३६ ७ ।

८ महा भारत म यही वतनी प्रयुक्त है ।

प्रतीत होता है कि निरुक्त का वणुन अथ वणुनो की अपेक्षा तट स्थ तथा सचाई के अधिक निकट का है जब कि बहुदेवता और महा भारत के वणुन सत्ताधिकारी के अनुकूल हैं। यास्क का वणुन इस घटना से अनति दूर का वणुन है। अतः यास्क देशपि और शतनु क बाद के हैं। यह यास्क के समय की ऊपर की सीमा है।

इस विवरण से विदित होता है कि यास्क महा भारत युद्ध के नताघो से तीन पीढ़ी पहले के लोगो (पाण्डव > पाण्डु > विचित्र-वीर्य > शतनु) के बाद तथा बाद की चौथी पीढ़ी के लोगो के बचपन के समय युद्धों में गिने जान वाले अरुण के समय में विद्यमान थे।

### (इ) सांस्कृतिक प्रथा के आधार पर यास्क का काल निर्णय

यास्क ने 'इमशान' की व्याख्या जिस प्रकार की है, उस से विदित होता है कि उन के समय तक आर्यों में 'इमशान' का अर्थ 'कथ गाह' समझा जाता था, तथा आर्यों में शव को दफनाने की प्रथा विद्यमान थी। अपनी व्याख्या की पुष्टि में उन्होंने किसी (सम्भवतः याजुष) संहिता से निम्न वाक्य उद्धृत किया है। यथा ऋग्वेद संहिता<sup>१</sup>, मन्त्रायणी-संहिता<sup>२</sup>, काठक-संहिता<sup>३</sup>, अथर्व संहिता<sup>४</sup>, अथर्व-ब्राह्मण<sup>५</sup> में विद्यमान है। आर्यों में अति दूर काल में विद्यमान इस प्रथा के परिचय यास्क की अत्यन्त प्राचीनता का सूचक है।

### (ई) ब्राह्मण प्रमाणों के आधार पर यास्क का काल निर्णय

क प्रणिम है। शतपथ में यास्क की मूल-परम्परा का जिक्र नहीं है। इस वग्रा के अनुसार यास्क पाराशर्य के पर-गण गुरु हैं और पाराशर्य के एक अन्य पर-गण गुरु धामुरायण के सम-कालिक हैं जो धामुरि के मुखा-गिष्य हैं। इन यास्क पाराशर्य से पूर्व और धामुरि के पश्चात् हुए। जानूषण्य १ यहन भारद्वाज से पड़ा उन के गुरु भारद्वाज ने अपने ही से गोत्र एक आचार्य धामुरादण से और (निर) यास्क से पड़ा। अतः जानूषण्य को पड़ा। समय तब यास्क पुरानी पीढ़ी में म्रित जा गये होंगे। उन के गिष्य जानूषण्य के गुरु भारद्वाज याचि ही उस समय तब आचार्य के रूप में प्रतिष्ठित हो चुके थे। इन जानूषण्य को पड़ाने समय यास्क अवश्य वृद्ध हो चुके होंगे। जब जानूषण्य आचार्य के रूप में प्रतिष्ठित हो कर पाराशर्य को पड़ा रहे होंगे, तब यास्क या तो बहुत वृद्ध हो चुके होंगे या पाराशर्य के समय यास्क नहीं रहे होंगे।

संस्कृत वाङ्मय में पाराशर्य के नाम से वृष्ण उपायन व्यास और एक अन्य मुनि जाते हैं। वृष्ण उपायन व्यास शत-गु की अष्टक व्यवस्था के संगमय में पाराशर्य से सत्यवती से हुए थे। इन के यास्क के प्र-प्र गिष्य तो क्या, गिष्य भी नहीं हो सकते। दूसरे पाराशर्य महाभारत में मुषिष्ठिर के सम-कालिक बताये हैं। इन यास्क के प्र-प्र गिष्य वही पाराशर्य होंगे तथा यास्क की चौथी पीढ़ी के गिष्य पाराशर्य जब मुषिष्ठिर के समय मुनि के रूप में प्रतिष्ठित हो चुके थे तब यास्क या तो अर्धवत् वृद्ध हो चुके होंगे, या नहीं ही रहे होंगे। ऐसी स्थिति में यास्क का समय मुषिष्ठिर से प्राचीन है। यह यास्क की अवधि-सीमा है। यास्क तीर पर यह कहा जा सकता है कि यास्क कौरवों की गल्लु की पीढ़ी के बाद तथा मुषिष्ठिर की पीढ़ी के पूर्व, अर्थात् पतराष्ट्र और पाण्डु के शासनावधि के समय में रहे होंगे।

(२) जसा कि पीछे बताया है, यास्क धामुरि के प्र-गिष्य के गिष्य धामुरायण के सम-कालिक हैं अतः यास्क भी धामुरि के पश्चात्कालीन हैं। ये धामुरि हमारे विचार में साङ्ख्यशास्त्र धामुरि ही हैं उन के अलावा और किसी धामुरि का परिचय हमारे साहित्य में नहीं है। दण्ड के क्षेत्र में तो यास्क धामुरि के अनुयायी हैं। धामुरि के सिद्धांत यद्यपि आज अधिष्ठा अस्त हो हैं तथापि हमारे सोभाग्य से उन का एक सिद्धांत दलन धर्मों में उद्धत भिन्नता है और यास्क के निरुक्त में भी वह सिद्धान्त प्रतिपादित है।

पुरुष अतः (विविक्त) है। मन और इन्द्रिय के द्वारा विषय से सम्पर्क कर के बुद्धि-वृद्धि (रस रूप आदि के जान) के रूप में अध्यवसित (परिणत) हो जाती है। अतः होने के कारण स्वच्छ पुरुष में तब वह बुद्धि उसी प्रकार प्रतिबिम्बित हो जाती है जिस प्रकार स्वच्छ जल में चन्द्र बिम्ब प्रतिबिम्बित हो जाता है। ऐसी स्थिति में बुद्धि का जो विषयों का भोग है, वह भी पुरुष में आरोपित हो जाता है।

और इस प्रकार असङ्ग पुरुष कर्तृत्व भोक्तृत्व के आसङ्ग से युक्त हो जाता है<sup>१</sup> ।

इसके विपरीत आचार्य विध्यवासी का यह सिद्धांत है कि पुरुष असङ्ग (अविकृतात्मा) ही है । उसकी उपस्थिति में अचेतन चेतन सा (स्व-निर्भास) उसी प्रकार हो जाता है, जिस प्रकार उपाधि (बिम्ब) की उपस्थिति में पारदर्शी वस्तु (स्फटिक) उपाधि जैसी हो जाती है । अर्थात् अपने में चेतन के प्रति बिम्बन से अचेतन बुद्धि (मन) चेतन-सी हो जाती है<sup>२</sup> ।

इन दोनों मतों में यह अंतर है आसुरि पुरुष में बुद्धि की प्रतिबिम्बित मानते हैं तथा विध्यवासी बुद्धि में पुरुष की प्रतिबिम्बित मानते हैं । ईश्वरकृष्ण और वाचस्पतिमिश्र विध्यवासी के मत को मानते हैं<sup>३</sup> । यास्क ने आसुरि के

१ विविक्ते हृषपरिणतो बुद्धौ भोगोऽस्य कथ्यते ।

प्रतिबिम्बोदय स्वच्छे\* यथा चन्द्रमसोऽम्भसि ॥

गुण रत्न के अनुसार यह श्लोक आसुरि का है । ३ हरिभद्र सूरि पद्म-  
दशन समुच्चय, की गुण रत्न-कृत रहस्य दीपिका टीका पृष्ठ १०४ तथा स्याद्वाद-  
मञ्जरी १५, वाद महाणव आदि ग्रंथ । स्वच्छे उचिततर है ।\* कुछ ग्रंथों में  
स्वच्छ पाठ मिलता है । तुलना करें महा भारत शक्ति २१८।१२३

पुरुषावस्थमव्यक्त परमाथ 'यवेदयत्' ॥ इष्ट सत्रेण स सिद्धो भूयश्च तपसाऽऽसुरि ।  
तथा यथा जले च द्रमस कम्पादिस्तत्कृतो गुण ।

हृषपतेऽस्तनवि द्रष्टुरात्मनोऽनात्मनो गुण ॥ श्रीमद्भगवत् ३।७।११ ॥

२ पुरुषोऽविकृतात्मव स्व निर्भासमचेतनम् ।

मन करोति सान्निध्यादुपाधि स्फटिक यथा ॥

गुण रत्न के अनुसार यह श्लोक विध्यवासी का है उन्होंने विध्यवासी  
श्वेद भोगमा चष्टे । वह कर यह श्लोक उद्धृत किया है ।

३ तस्मात्तत्सयोगादचेतन चेतनावदिव लिङ्गम् ।

गुण कर्तृत्वेऽपि तथा कर्त्तव्यं भवत्युदासीन ॥ साङ्ख्य-कारिका २० ॥

वाचस्पति तत्सयोग = तत्सन्निधानम् । कारिका ३७ पर वाचस्पति  
बुद्धिर्हि पुरुष सन्निधानात्तच्छ्रयाऽऽपस्या तद्रूपेव सन्न विषयोपभोग 'पुरुषस्य साध-  
यति' । सुख दुःखानुभवो हि भोग । स च बुद्धौ । बुद्धिश्च पुरुष रूपवेति सा पुरुषमुप-  
भोजयति । श्री उदय वीर शास्त्री, साङ्ख्य-दर्शन का इतिहास, पृष्ठ ४७७ 'ईश्वर  
कृष्ण ने ३७वीं कारिका में आसुरि के मत का आश्रय लिया है । परन्तु २० वीं  
कारिका (उपर उद्धृत) में स्पष्ट रूप में पुरुष के समयोग से अचेतन लिङ्ग की चेतना  
वासा जैसा बताया है । यह कथन विध्यवासी के कथन के अनुकूल है, न कि  
आसुरि के । अतः ३७वीं कारिका में भी यही सिद्धान्त मानना उचित है तथा ३७वीं  
कारिका में वाचस्पति न ही ईश्वरकृष्ण के आश्रय को ठीक समझा है ।

४ ३ निरुक्तम् १४।१३ गृध्राणीन्द्रियाणि मृष्यतेजान् कमल, यत एत  
स्मिंस्तिष्ठति । स्वधितिवनानामिति—अयमपि स्वयं कर्माण्यात्मनि धत्ते वनानां=  
वनन कमलामिन्द्रियाणाम् । इति सा यस्मिन्नात्मयेक भवन्ति ।

से भी नहीं घूँसते हैं।

अग्नि (७।१४), गो (२।५) और निष्कृति (२।७) आदि शब्दों की व्याख्या में उन्होंने अपनी व्यापक और बहुमुखी दृष्टि का परिचय दिया है। वन, देवताओं की आकारवत्ता आदि के विवेचन में उन्होंने अपनी रूढ़ियों से मुक्त वस्तु निष्ठ दृष्टि का परिचय दिया है। वे याज्ञिकों की परम्परा को यथाथ पर आधारित न मान कर कल्पना पर अधिक आधारित मानते हैं, यह उन की जाहज़ाओं में अथवाद के प्रति दृष्टि से भली भाँति विदित होता है। अपने सिद्धान्त को वे प्रत्यक्ष पर आधारित बताते हैं (७।४७)।

उनकी दृष्टि बहुत सजग है अपने आस पास के जगत् की प्रवृत्तियों से वे स्वयं को घाट नहीं लेते हैं कि उनके समय में क्या लोक प्रसिद्धियाँ, भाषा में क्या विशिष्टताएँ, छाछ हैं। देश काल की दृष्टि से भाषा में तथा रीति रिवाजों में क्या प्रवृत्तियाँ काम कर रही हैं इन सब बातों को उन्होंने दृष्टि से ओझल नहीं होने दिया है।

पदे पदे उपयुक्ततम मन्त्रों तथा अन्य प्रमाणों को उद्धृत करने से प्रतीत होता है कि उनका स्वाध्याय बहुत गहरा तथा बहु क्षेत्रीय है। वे अपने समय के कम काण्ड से तथा वेद की व्याख्या की विभिन्न दृष्टियों से सुतराम् परिचित हैं। प्राचीन परम्परा में खामी होने पर वे उप का प्रबलता से समुचित निराकरण कर के अपना भाग स्वयं बनाने में भी सज्जोची नहीं हैं। उनकी दृष्टि बहुत गंभीर हुई निष्पक्ष तथा ज्ञान के प्रसार पर ही केन्द्रित है। अतः यास्क एक मेधावी परिश्रमी, उदार तथा स्वाभिमानी व्यक्तित्व के धनी थे, यह निरुक्त में उनकी भाँकी देख कर कहा जा सकता है।

११ यास्क का योगदान यास्क ने निरुक्त के पाँच प्रयोजन बताये हैं<sup>१</sup> (१) निघण्टु का व्याख्यान (१।१) (२) मन्त्राद्य ज्ञान (१।१५), (३) पद विभाग ज्ञान (१।१७), (४) देवता ज्ञान (१।१७) और (५) ज्ञान का प्रसार (१।१७)। यास्क के योगदान की परीक्षा भी हम वही बातों को दृष्टि में रख कर करेंगे

(१) निघण्टु के योगदान की चर्चा के प्रसङ्ग में हम देख चुके हैं कि बिना व्याख्या के निघण्टु का योगदान सीमित ही है। उस की व्याख्या का तो मन्त्राद्य, निवेचन शास्त्र तथा देवता तत्त्व के विवेचन में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योगदान स्वाभाविक ही है। यास्क के मूल का शोध पत्रिक विवेचन कर के यास्क ने इन तीनों उद्देश्यों को बहुत निर्भ्रान्त रूप से पूरा किया है। प्रत्येक काण्ड की व्याख्या उन्होंने उस काण्ड के लिए अपेक्षित सिद्धान्तों का पृथक्-पृथक् स्वयं विकास कर के की है। स्वोपम व्याख्या की कुछ अशुद्धियाँ होनी हैं तो कुछ कमजोरियाँ भी। अशुद्धियाँ तो

१ इन पर विस्तरेण विचार के लिए निरुक्त भाषाशास्त्र, पृष्ठ ८० ८७, तथा निरुक्त के पाँच अध्याय, पृष्ठ १७ २०, देखें।

ये हैं कि ग्रन्थ के बारे में, या ग्रन्थ के अमुक विवादास्पद विषय पर, हमें ग्रन्थ कार का स्वयं का विचार मिल जाता है। ग्रन्थ व्याख्या-कार तो जो कुछ भी कहेंगे, अपने ग्रह तथा अपनी दृष्टि से ही ग्रन्थ वास्तुतः तो अपनी दृष्टि की ही व्याख्या करेगा। ब्रह्मसूत्र की अनेक परस्पर विरोधी व्याख्याएँ इस वचन की प्रमाणित करती हैं। स्वोपन व्याख्या में हम लेखक की दृष्टि ही मिलती है। कमजोरी यह है कि लेखक अपने युग की कुछ बातों को निगद व्याख्यात मानता है, पर भागे चल कर वे ही बातें व्याख्या सापेक्ष हो जाती हैं। स्वोपन व्याख्या ऐसे स्थलों में सहायक नहीं हो पाती। कुछ बातें लेखक की दृष्टि में अपने ग्रन्थ के बारे में सही ही नहीं सकती। जैसे—अपनी मातृ भाषा हमें बड़ी सरल लगती है। पर जब उसी के बारे में कोई विदेशी बहुत साधारण-सी बातें पूछता है, तब हम लगता है कि उन पर न हमारा ध्यान गया होता है और न जाना सम्भव हो होता है। वैसे ही ग्रन्थ व्याख्या-कार की कठिनाइयों का समाधान तो दूर, हमें उनका ग्रहसास भी स्वोपन व्याख्या में नहीं मिल सकता। अतः इन अशुद्धाद्यों और कमजोरियों के बावजूद निघण्टु की स्वोपन व्याख्या निरुद्ध में यास्क का महत्त्व-पूर्ण योग दान है। एक पदिक वाण्ड के अनेक पदों का अमुक मात्रो में क्या ग्रन्थ उचित है, इस को व्याख्या तथा इन प्रति परोक्ष-वृत्ति पदों का निश्चयन में दोनों बातें भाषा के विकास की समझने में तथा मात्राओं की स्पष्ट करने में बहुत उप-योगी हैं। निघण्टु की 'यास्क' की उनकी शैली का अध्ययन हमें उस नितान्त प्राचीन वाण्ड के बौद्धिक विकास तथा प्रक्रिया का सुंदर चित्र उपस्थित करने में समर्थ होगा।

(२) भाषा की नौ दिन बढ़ती कठिनाई के समाधान के लिये छह वेदाङ्गों का आविष्कार हुआ। वेदाङ्गों की आवश्यकता के दबाव को हम आधुनिक युग के वैदिक साहित्याध्ययन के पुनर्जागरण की प्रक्रिया से भली भाँति समझ सकते हैं। वेद को भली भाँति समझने के लिये ही रोष तथा अयो में तुलनात्मक भाषा विज्ञान के इस विषय में योग दान पर प्रबल बल दिया। रोष का संस्कृत जन्म, यहा कोष तथा शास्त्रात्मा का वैदिक कोष युगानुक्रमिक तारतम्य के साथ हमें निघण्टु के सङ्कलन तथा उस पर निरुक्त नामक व्याख्या के सहज ही लगता है। आधुनिक भाषा-विज्ञान तथा देव शास्त्र वास्तुतः आधुनिक निरुक्त शास्त्र ही तो हैं। हिट्टी, मैकडानल् और वाकरनागल न भी अपने अपने व्याकरण आखिर वेदाय की स्पष्ट करने के लिये ही लिखे हैं। वेबर और आर्नाल्ड का छंदो पर सारा काम क्या वेदाङ्ग (वेदा को समझने के लिये) नहीं है? इसी प्रकार 'वैदिक मॉड्यलालाजी' आदि ग्रन्थ देवत निष्पत्ति के लिये नहीं लिखे गये क्या? 'वैदिक रिचुअल लिटराचर' उसी आवश्यकता को पूरा करने के लिये लिखा गया है, जिस के लिये प्राचीन काल में कल्प के अर्धन श्रोत तथा गृह्य सूत्र लिखे गये थे। अतः केवल नौ युगों की आवश्यकताओं में वेद का है एक युग में ये शास्त्र हमें विकास के लिये प्रयत्नशील अवस्थाओं में मिलते हैं तो दूसरे युग में हम आज तक हो चुके विकास की सज्जने अपने उपयोग के अनुकूल खजाने की स्थिति में मिलते हैं। अतः ये छह दृष्टियाँ हैं, किन्हीं खास



प्रयोगों का नाम ही नहीं है। जब भी वदिक अध्ययन में रुचि होगी ये छह दृष्टियाँ हमें नितांत उपयोगी होगी। इसी दृष्टि से यास्क ने भी वेदाय को स्पष्ट करने में अपना योगदान किया है।

छह वेदाङ्गों में से कुछ तो वेदाङ्ग ज्ञान में साक्षात् उपयोगी हैं, कुछ परोक्ष रूप से। निरुक्त और व्याकरण प्रथम कोटि के वेदाङ्ग हैं। निरुक्त व्याकरण की अपेक्षा भी अधिक साक्षात् उपयोगी है व्याकरण भाषा (के शब्दों) की व्याख्या करने के माध्यम से वेदाय को स्पष्ट करने में तनिक परोक्ष रूपेण उपयोगी है। पर निरुक्त का इस दिशा में साक्षात् तथा दुहरा योगदान है। इसमें यास्क ने (१) वेद से पद चुन कर उन की व्याख्या में जो वे इन के अर्थ की दृष्टि से की है। (२) में जो पर भाष्य कर के साक्षात् वेदाय किया है तथा इस के द्वारा आने वाली पीढ़ियों को इस विषय में दिशा दी है। आज वेदाय पर हमारे पास प्रकृत निरुक्त के प्रतिरुक्त और कोई टीका या भाष्य उस प्राचीन युग का नहीं है। यही कारण है कि पर वर्ती भाष्य यास्क की पद्धति को ही प्रमुख आधार बना कर लिखे गये हैं। अतः अस्पष्ट होने हुए वेदाय को कुछ सी मात्रों पर सङ्क्षिप्त व्याख्या के द्वारा ही सही स्पष्ट कर के यास्क ने वाङ्मय को एक बहुत बड़ा योगदान किया है।

(३) भाषा शास्त्र के विकास में अपनी पद्धति के प्रतिपादन के द्वारा आगामी विद्वानों को मार्ग दर्शन तथा महत्त्वपूर्ण सामग्री प्रदान कर के भी यास्क ने एक बड़ा योगदान किया है। निरुक्त में प्राचीन भाषा शास्त्रियों का नाम मात्र ही विदिन हैं। यास्क ने भाषा के अनेक शब्दों का वर्गीकरण करने वाले आचार्यों के रूप में व्याकरणों का नाम दिया है। परन्तु शेष ऊहापोह उन का अपना है। उन के द्वारा विषय नाम और भाव के लक्षण आज भी उसी रूप में विद्यमान हैं, जिस रूप में यास्क ने निरुक्त में उन्हें निदिष्ट किया था। भाव की दो समस्याएँ—पूर्वापरी भूतता और सत्त्व भूतता—का चलन ही पर-वर्ती व्याकरणों में इस विषय के प्रतिपादन का आधार है। प्रतिष्ठित व्याकरण पालिनि भी उपसर्ग के यास्क के बताये लक्षण में तनिक हेर फेर कर के भी वस्तुतः उसे निबाह नहीं सके। आज भी उपसर्ग का यास्क कृत लक्षण ही सर्वाधिक वैज्ञानिक है। नाम की व्याख्यातज्ञता का उन का सिद्धांत भाषा विज्ञान के क्षेत्र में एक क्रांति कर ही चुका है। आज भी यास्क का यह ही एक विशेषता ध्यान देने योग्य है। वेद-भाष्य-वाचस्पत्यन की प्रातिशाख्यों की प्राचीन परिपाटी से भाषा का व्याकरण भली भाँति नहीं हो पाता। उस समय का पूरा करने के लिये आपिशलि, शाकटायन प्रातिशाख्यों ने व्याकरण में निरुक्त का सहारा लिया और अपने व्याकरण लिखे। पालिनि के व्याकरण में इन दोनों का परम समन्वय किया हुआ है। इसमें यास्क के अर्थ की व्याख्या प्रधान तथा निरुक्त का विषय है। यास्क की व्युत्पत्ति बनाना व्याकरण का। शाकटायन प्रातिशाख्यों में निरुक्त गोल और व्याकरण प्रधान बन गया था। यास्क ने



सार नैसर्गिक की निती भी दाग के भिन्न भिन्न प्रयोगों में मिल जाते होते प्रयोगों का ज्ञान होना चाहिये। इसी प्रकार दागों के गुणों और नय दागों में पारस्परिक सम्बन्ध का ज्ञान अध्ययन योग्य है।  $\sqrt{\text{दाग}} < \text{दाग का प्रयोग} > \text{दाग का प्रयोग}$  और  $\sqrt{\text{उप}} < \text{उपयोग} > \text{दाग का प्रयोग}$  का प्रयोग की मात्रा का प्रयोग उदा। १ उदाहरण के रूप में बताया है।

(स) संस्कृत में दागों में ध्वनि विभाग का ध्वनित्व अध्ययन दागों ने सिद्धान्त और व्यवहार दोनों दृष्टियों में प्रस्तुत किया है। उन के दाग (२।२८) दाग (२।१६) दाग (२।१४), दण्ड (२।३२) जड़िता=परिता (२।३), दूनी (२।२३), प्रथम (२।२२) मया (३।१६) विनाति (३।१०), दा (३।१०) मह्य (३।१०) पदों के निश्चय आधारित भाषा विज्ञानियों की भी ध्वनि में जानने का है। वे संस्कृत में ध्वनि विभाग की प्रकृतियों की भाषा प्राकृतिक और ऐतिहासिक दोनों परिप्रेक्ष्य में जाते हैं।

(ग) बहुत से संस्कृत दागों पर संस्कृत के साथ बोनी जान जाती प्राकृत का प्रभाव भी पड़ा है यह वे जानते हैं। उदाहरण—अमूर < अमूड (१।८), कीकटा < कि कटा (१।३२), निव < नित वा (२।२२) आदि के निवचन दृष्ट्य है।

(घ) वे निवचन पद्धति की दागों की व्याख्या का एक साधन मात्र मानते हैं। उदा अपने किसी भी निवचन का दुराग्रह नहीं है। यही कारण है कि वे एक तरह से प्रत्यक्ष न होने पर दूसरी तरह से निवचन करते हैं। अर्थात् वे प्रकृतिक नहीं हैं।

(ङ) किसी भी दाग के मूल में कोई क्रिया होती है यह उनका प्रमुख सिद्धान्त है। किसी एक क्रिया से पदों का सम्बन्ध कई प्रकार से हो सकता है। उदा ने किसी दाग के मूल में स्थित क्रिया के विभिन्न पहलुओं (aspects) की दृष्टि में रत्न कर भी विभिन्न व्याख्याएँ देना उचित समझा है। उदाहरण के लिये 'गो' के तथा 'मादित्य' और 'गो' के साधारण नामों के निवचन लिये जा सकते हैं।

(च) कई दागों के एक दूसरे में घुस जाने (contamination) में भी कई बार नये दाग बन जाते हैं। यास्क उन के भिन्न भिन्न अवयवों को पहचानने में समर्थ हुए हैं अमूर (३।८) अतिवृ (३।१६), किमीदिन् (१।२), कीकट (१।३२) इमथु (३।५) और स्थाल (६।६) के निवचन देखें।

(छ) वेदाय ज्ञान भली भाँति सब तक नहीं हो सकता, जब तक हमें वैदिक देवताओं का स्वरूप स्पष्ट न हो। इस दिशा में हम यास्क का अर्थ नहीं चुका सकते। आज की वैदिक विद्वानों तथा माध्यामी का कुछ (देवता-तत्त्व वृत्त परक) भाग अपने उद्भव और विकास के लिये विद्वत् के दत्त वाण्ड का अध्ययन है। इस बारे में उन का योगदान प्रमुख रूप से मात्र है देवता की पहचान देवताओं के वर्गीकरण का आधार उन की सङ्ख्या और प्रत्येक का स्वरूप बतलाना आदि के द्वारा हुआ है। इस क्षेत्र में उन का सब से महत्वपूर्ण कार्य देवताओं के प्राकृतिक स्वरूप का निर्धारण करने में निहित है। आचार्यों में वैदिक देवताओं पर

रहस्य की एक काफी मोटी पत चढ़ चुकी थी। उन के द्वारा हम वैदिक देवता के स्वरूप की अमलियत को ठीक तरह से नहीं समझ सकते हैं। इतिहास पुराण में आते तक तो वैदिक देवताओं का स्वरूप बिल्कुल ही भिन्न हो गया है। इस साहित्य के विष्णु रुद्र वरुण, इंद्र, अश्विनौ, पूषा, सरस्वती आदि देवताओं का वैदिक साहित्य (प्रमुख रूप से ऋग्वेद संहिता) के इन देवताओं से साम्य नाम मात्र का ही है। स्वरूपगत समानता नहीं के बराबर है। ऋग्वेदीय वृत्र का स्वरूप लौकिक साहित्य में आ कर आमूल भूल बदल गया है। यानबल्य वेचारे बहुत कह कर यह कह गये कि देवताओं तथा असुरों का क्याओं तथा इतिहास में वर्णित युद्ध वास्तविक नहीं है<sup>१</sup>।

वैदिक और लौकिक साहित्य के देवताओं के मध्य की यह खोड़ी खाई नहीं भरती, अगर यास्क ने वैदिक देवताओं के स्वरूप को स्पष्ट नहीं किया होता। यास्क के पश्चात् बहुदेवता फार शीनर आदि ने इस विषय में जो कुछ भी प्रगल्भ विचार किया है उस का आधार यास्क का प्रतिपादन ही है। यास्क ने अपने ग्रंथ के आधे से अधिक भाग में वैदिक देवताओं के स्वरूप का वैज्ञानिक ढंग में तथा भाषा के भाष्यम (निबचन) से सम्यक् निरूपण कर के अपने इस योग दान को बहुत प्रामाणिकता और स्पष्टता प्रदान की है। अतः यास्क का यह योग दान उन के अन्य योगदानों से कथमपि कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। बल्कि एक दृष्टि से तो उन में अधिक ही महत्त्वपूर्ण है। अब तक यारक का महत्त्व धाम तीर पर निबचन के रूप में उन की भाषा शास्त्र को देने के कारण ही आँका जाता रहा है। पर इस विषय में तो प्रातिशाक्या और अप्टाध्यायी आदि से भी बहुत कुछ प्राचीन स्थिति का अनुमान किया जा सकता है। निबचन के सिद्धांत आदि के रूप में यास्क का जो योगदान है, वह मोटे तौर पर परवर्ती व्याकरण शास्त्र में समाहित हो चुका है। परन्तु देवताओं के स्वरूप के विषय में और किसी प्राचीन ग्रंथ की अनुपलब्धि के कारण तथा मात्रा और गुणवत्ता की दृष्टि से इस प्रकार की सामग्री के अन्य किसी ग्रंथ में न मिल पाने के कारण यास्क का निरूपण ही एक मात्र स्रोत है। यही कारण है कि अन्य ग्रंथ जहाँ अपनी शाखा के एक अङ्ग ग्रंथ हैं, वहाँ यास्क का निरूपण तो पूरी शाखा ही अपने आप में समाहित किया हुआ है। अतः निरूपण का महत्त्व अन्य ग्रन्थों से अधिक है।

(५) वाङ्मय ज्ञान राशि की धारण करने वाली शब्द मयी मञ्जूषा होना है। उस में मनुष्य जाति की सहस्रा पीढ़ियों का अम, अनुभव और चिन्तन का वैभव गद्यों में सजोकर रखा हुआ होता है। यह उस ज्ञान की ही महिषा है कि वह रत्न जिस मञ्जूषा में रखा होता है वह वाक् रूपी मञ्जूषा ही इतना महत्त्व पा लेती है कि लोग उस का दूर से या निकट से दूरस परस कर के ही अपने आप को पुण्य

वान् घोर कृत कृत्य समझते हैं। सें बड़ा क्यों त वं, पुराण, रामायण, गीता, भागवत आदि का प्राप्त वास दक्षिण 'पाठ' कर व पुण्याजन करने की सातसा भारतीय जनता ॥ रही है। यही स्थिति ग्रन्थ देगे व वाग्म्य की है। जब पाठ-मात्र से पुण्य हाता है, तब उस समझने ॥ हो। वास पुण्य की मात्रा का तो कहना ही क्या? ऐसी स्थिति म यास्क का निदान म उद्धत यह वचन कि वे को वण्ट-रूप कर के उस के धय को नहीं समझा वाला व्यक्ति तो गंध के समान शोभ ही होता है। ग्रन्थ को समझन वाला उस की मम ध्येयार्थों का पत्र पाता है।<sup>१</sup> ज्ञान के प्रसार म नितांत प्ररव है। ये वचन ज्ञान के प्रसार का मन्त्रव्य वतसा कर ही रह गय हा, ऐसी बात नहीं है। मनुष्य पाठ मात्र म धय का कृत कृत्य समझता है, तो इस म उस की ग्रन्थ समझ पाने म असमर्थता ही उत्तर दायी है। यास्क ने मनुष्य की उस सामर्थ्य को बढ़ाने वाला शास्त्र सिद्ध कर ज्ञान के प्रसार में योग दिया है। उनका यह प्रयास एकाङ्गी न हो कर बहु गेत्रीय है (क) उा के बाद की पीढ़ियों में होने वाला वदिव विद्वान् उन व श्रुणी है। वग्राध करन की उनकी पद्धति पुर्णों स भाष्य-कारों को प्रेरणा और भाषार देती आई है। (ख) भारतवर्ष के देव शास्त्र की सम्बन्धी एव धनी परम्परा को समझने म यास्क न वदिव और लौकिक साहित्य की दो धाराओं के मध्य जनय सन्तु का काम किया है यह हम सभी ऊपर कह ही चुके हैं। (ग) शास्त्र म प्राचीन दृष्टि स उन का जो महत्त्व आका गया है वह निरुद्ध को यह वेदाङ्गी म गमित करन स तो सूचित होता ही है उसस वदाङ्गी की मनुष्यों के धङ्गी के नाम द कर जो समानता बताई है वह उस के महत्त्व व स्वरूप को और भी अच्छी तरह से स्पष्ट करती है व्याकरण मुख है, निष्कत ज्ञान। अर्थात् व्याकरण शास्त्राशासन का शास्त्र है। यह व्यवहार निष्पादन के लिय मनुष्य को गन्ध की सिद्धि कर व दता है। अत वह उसे भाषा देता है और इस कारण वह वेद गरीर का मुख है। मुख यदि न हो तो मनुष्य बोवगा कहाँ से? व्याकरण यदि नहीं हो तो मनुष्य गुड तथा अर्थाभिप्यक्ति मे समय भाषा बोलेगा कैसे? अत व्याकरण को मुख कहना उचित है। परन्तु क्या बालन मात्र से मनुष्य का उद्देश्य पूरा हो जाता है? वह तो तब पूरा होता है, जब वह किसी के कानों म पड़े। और कानों मे भी उन मे पड़े। जिनमे उसे ग्रहण करने की सामर्थ्य हो। वाक का ग्रहण केवल आवाज सुनने से नहीं हो जाता। अपितु उस के अर्थावबोध से होता है। तभी तो यास्क ने उद्धत किया है—'कोई वाणी को (लिखित रूप मे) देखता हुआ भी नहीं देखता, और कोई उस सुनता हुआ भी नहीं सुनता। किसी को यह अणना पूरा समपण उसी प्रकार कर देती है, जिस

१ ॥ निष्कतम् १।१७ अथापि ज्ञान प्रज्ञासा भवत्यज्ञान नि दा च—

स्याश्चर्य मार हार विनामूदधोत्य वेद न विज्ञानाति योऽथम् ।

योऽथज्ञ इत्यवतल मद्रमन्तुने, नाकमेति ज्ञान विद्युत पाप्मा ॥ मूल अनात ॥

प्रकार पति के प्रेम में पगो पत्नी पति को पूरा आत्म समर्पण करती है<sup>१</sup> । निरुक्त इस उद्देश्य को पूरा करता है। परम्परा ने निरुक्त को 'गन्नाय निवचन शास्त्र' नाम दिया है, अर्थात् इस के द्वारा शब्द के अर्थ का स्पष्टीकरण किया जाता है। निरुक्त शब्द को मुनता है, गुनता है और उसका अर्थ स्पष्ट कर के रख देता है। अतः इसे 'कान' कहा गया है। यही कारण है कि यास्क ने व्याकरण के अधूरे काय की पूर्णता निरुक्त से ही बताई है। (घ) पश्चिम में भाषा विज्ञान का जन्म होना ही असम्भव था, यदि उसका परिचय संस्कृत से न हुआ होता। उस का सही दिशा में विकास ही नहीं हो पाता, यदि पश्चिम को यास्क और पाणिनि के ग्रन्थ नहीं मिलते। भाषा विज्ञान की एटिमालोजी शाखा निरुक्त के एक विषय के एक भङ्ग (शब्द निवचन) का और सिमैण्टिक शाखा उस के दूसरे भङ्ग (अर्थ निवचन) का ही विस्तार है। भाषा विज्ञान के विविध ध्वनि नियम (फोनेटिक लाज) यास्क के वर्णांगम, वण विचार आदि ध्वनि नियमों का आज के युग के अनुरूप व्यापक स्तर पर विस्तार ही हैं।

निष्कर्ष इस प्रकार हम देखते हैं कि यास्क के निरुक्त का मानवीय ज्ञान की अनेक शाखाओं को विविध रूपों में महत्त्वपूर्ण योगदान है। उन के अधिक मूल्याङ्कन के लिये अभी यास्क के दोनों ग्रन्थों में और परिश्रम आवश्यक है।

१२ निरुक्त के अध्ययन की समस्याएँ यास्क के काय के मूल्याङ्कन की यह स्थिति तो सब है जब कि अभी न निष्पट्ट पर विविध दृष्टियों से विचार हुआ है और न निरुक्त पर ही। निष्पट्ट के विषय में चर्चा हम पीछे कर चुके हैं। निरुक्त पर विचार की दृष्टियाँ तथा समस्याएँ क्या हैं, इस विषय में हम प्रसङ्ग प्राप्त होने से आगे विचार कर रहे हैं।

निरुक्त पर विविध दृष्टियों से विचार का अर्थ है निरुक्त का जो भी प्रतिपाद्य है उस का आज के युग की उपयोगिता तथा आवश्यकता की दृष्टि में अवबोध, विश्लेषण और मूल्याङ्कन किया जाना। इस तथ्य की प्राप्ति के लिए कुछ महत्त्वपूर्ण मुद्दों पर विचार आवश्यक है।

(क) सब से प्रथम तो निरुक्त का प्रायोगिक पाठ निश्चित करना बहुत आवश्यक है। जैसा कि हम पीछे देख चुके हैं, निरुक्त के आज दो पाठ मिलते हैं। विद्वानों की मोटे तौर पर धारणा है कि इन में बहुतांश पर वर्तमान विकास अर्थात् प्रक्षेपों से बना है। निष्कर्षों में नितान्त प्रायोगिकता ज्ञान के लिये हम दोनों पाठों पर मज़ी भाँति विचार कर के शुद्धतम पाठ निर्धारित करना चाहिये। पाठ सम्पादन की दो विधियाँ होती हैं

(प्र) याद मात्र उपलब्ध कोषों के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर शुद्ध पाठ निश्चित करना। अधिकांश ग्रन्थों का पाठ सम्पादन इसी पद्धति पर किया

१ अ १।२० उत त्व पश्यन् ददन् वाचपुत्रं त्व शृण्व न शृणोत्येनाम् ।

उतो त्वस्मै तव वि सस्ते जायेय पत्य जगती शु-चासा ।। अ १०।७।१।४।।

जाता है। हमारे लिये बड़े हृष का विषय है कि इस पद्धति से निरुक्त का बहुत सुन्दर संस्करण डा. सम्मणसरूप के तप के फल ग्रन्थ प्रकाश में आ चुका है।

(घा) संस्कृत-साहित्य में टीकाभा और भाष्यो की बड़ी प्राचीन परम्परा है। इन में भी उनके अपने समय में उपलब्ध पाठ की ही व्याख्या की जाती है। अतः वस्तुतः टीकाओं में अतः, उद्धृत तथा व्याख्यात पाठ की पूर्वोक्त पद्धति से तैयार हुए पाठ से तुलना कर के हस्त लेखों से पर्याप्त प्राचीन तथा प्रामाणिक पाठ तक पहुँचा जा सकता है। यह निरुक्त शास्त्र में अध्ययन के लिये परम सौभाग्य की बात है कि निरुक्त की दुग जैसे सावधान व्याख्याकार मिले। उन्होंने (क) अपने समय के उपलब्ध कोषों के आधार पर पाठ सम्पादित कर के (ख) अपनी टीका में मात्र व्याख्या परक भागों को छोड़ कर शेष को अक्षर उद्धृत कर के (ग) उस की अक्षरशः—पाठ के प्रत्येक अक्षर की—व्याख्या की, (घ) यत्र तत्र मत भेद भी दिये। परिणाम यह है कि आज हमें मात्र व्याख्याओं को छोड़ कर निरुक्त का गेय भाग (क) टीका में पूरी तरह भूत मिलता है, (ख) उसकी पूरी व्याख्या की हुई मिलती है। मन्त्रांश की भी शारदा में उन्होंने (क) निरुक्त के सिद्धान्त के अनुकूल तो व्याख्या की ही है, (ख) प्रायेण निरुक्त के वाद प्रयुक्त करते हुए ही व्याख्या की है। अतः दुग की टीका हम एक भाग, अच्छी तरह सम्पादित, ऐतिहासिक महत्त्व के संस्करण का काम देती है। इसी प्रकार स्कन्द यद्यपि दुग की अपेक्षा तो पाठ-सुरक्षा के प्रति कम सावधान हैं, तथापि सामान्य से पर्याप्त अधिक सावधान हैं। निरुक्त अपने विषय का भवेत्ता ग्रन्थ है। यही कारण है कि विभिन्न भाषाओं ने मौके मौके पर इससे उद्धरण पर्याप्त मात्रा में दिये हैं। अतः कोषों के आधार पर तैयार पाठ की तुलनात्मक विवेचना टीकाओं में अतः उद्धृत और व्याख्यात पाठ तथा विविध ग्रन्थों में प्राप्त उद्धरणों के पाठ में कर के एक प्राचीनतम तथा प्रामाणिकतम पाठ तैयार किया जाना चाहिये।

पहली पद्धति से पाठ सम्पादन तो आम है, परन्तु दूसरी पद्धति से पाठ सम्पादन, जहाँ तक हम ज्ञात हैं अभी किसी ग्रन्थ का नहीं हुआ है। इस काम को पूरा करने के लिये हमने अपने भरपूर परिश्रम स्वल्प बुद्धि-बल स्वल्पतर प्रयास साधनों तथा स्वल्पतम बिद्वज्जन-कृत मार्ग दर्शन, प्रोत्साहन आदि के द्वारा निरुक्त के पाँच अध्याय नामक ग्रन्थ में पाठ सम्पादन का प्रयास किया है।

(ख) इन दोनों पद्धतियों का मिला कर पाठ तैयार करने के पश्चात् निरुक्त में किस ग्रन्थ से अमुक मात्र उद्धृत किया गया है, तथा वे ही क्या उद्धृत किए हैं? अर्थात् अमुक मात्र को ही उद्धृत करना सप्रयोजन हुआ है या निष्प्रयोजन? इस दृष्टि से विचार करना चाहिये।

(ग) निरुक्त में किए गए निवेचना में से कितने उस से पूर्व के बाह्यमय में मिलते हैं तथा कितने यास्क के अपने किये हुए हैं? इस का विस्तारण व्योरे से

किया जाना चाहिये।

(घ) प्राचीन वाङ्मय में उपलब्ध तथा निश्चय में भी दिये गए निवचनों के आधार भूत सिद्धांतों का ऊन किया जाना चाहिए।

(ङ) यास्कीय निवचना का उन के निवचन सिद्धान्तों की तथा आधुनिक भाषा विज्ञान के सिद्धांतों की दृष्टि से अध्ययन व्यापक दृष्टि से किया जाना चाहिए।

(च) निश्चय में प्रति बिम्बित समाज, यास्क के दार्शनिक विचार, उनके विविध ज्ञान शाखाओं के ज्ञान आदि का अध्ययन भी किया जाना चाहिए।

(छ) अप्रतिष्ठित समय दृष्टियों से निश्चय की प्रामाणिक व्याख्या भी करनी चाहिए।

इस अर्थ में महत्वाकाङ्क्षी कार्य के निर्वाह के लिए (क) बौद्ध साहित्य में प्रभाव गति, (ख) व्याकरण का उत्कृष्ट ज्ञान, परन्तु उसके प्रभाव से मुक्तता, (ग) भाषा विज्ञान में स्वच्छ वैज्ञानिक दृष्टि से अभिनिवृत्ति, (घ) भारतीय परिवार की भाषाओं के प्राचीन रूप से तथा वाङ्मय से विवेक युक्त परिचय (ङ) अपनी परम्परा का अच्छा ज्ञान, (च) पाठ निर्धारण के लिए अप्रतिष्ठित समय, सावधान, निष्पक्ष दृष्टि तथा (छ) अनन्त श्रम परायणता—इन गुणों की अनिवार्य आवश्यकता है। मानव सामर्थ्य को देखते हुए इन सब गुणों से युक्त किसी महा मानव का जन्म तो मानव जाति के बहुत पुण्यान्व उदय से ही होता है। उस के प्रभाव में इनमें से जितने भी अधिक से अधिक गुणों से कोई व्यक्ति सन्तुष्ट हो उसका का कार्य उतना ही अच्छा होगा।



## शिक्षा ग्रन्थ

संस्कृत के शिक्षा ग्रन्थ विश्व साहित्य में ध्वनिविज्ञान के प्राचीनतम ग्रन्थ हैं। अन्य देशों के भाषाशास्त्री उच्चारण विषयक जिन अनेक बातों की जानकारी ग्रहण कर पाए हैं उनमें कइ ऐसी है जो शिक्षा ग्रन्थ में बहुत पहले से मिलती है। इसका अर्थ यह हुआ कि भारतीय ध्वनिशास्त्री उन बातों का पता आज से प्रायः ढाई हजार वर्ष पूर्व ही लगा चुके थे। हमारे यहाँ व्यवस्थित अध्ययन पर इतना बल दिया जाता था कि अत्यन्त प्राचीन काल में ही छः वेदों का विकास किया जा चुका था। ये वेदों में शिक्षा कल्प व्याकरण निरुक्त छः और ज्योतिष। शिक्षा का सम्बन्ध शुद्ध उच्चारण से था। वेदों के उच्चारण में अशुद्धि न होने देने के लिए शिक्षा ग्रन्थों की आवश्यकता का अनुभव हुआ था और परिणाम स्वरूप इनकी रचना की गई थी। शिक्षा ग्रन्थ कुल कितने थे यह कहना तो कठिन है किन्तु आजकल लगभग ८० शिक्षा ग्रन्थ मिलते हैं जिनमें से कुछ हैं अमरेश शिक्षा, काल शिक्षा मनस्स्वार शिक्षा लोमहर्षी शिक्षा प्रातिगम्यप्रदीप शिक्षा मातृव्य शिक्षा कौहली शिक्षा मातृवल्क्य शिक्षा, वल्लरत्नप्रदीपिका शिक्षा नारदीया शिक्षा अमाधानन्ती शिक्षा, लघ्वमो घानदिनी शिक्षा माध्यन्तिन शिक्षा लघुमाध्यन्तिन शिक्षा गणितेय शिक्षा कात्यायनी शिक्षा गौतमी शिक्षा वेणीवी शिक्षा केशवी पद्यात्मिका शिक्षा स्वराकुण्ड शिक्षा स्वरभक्तिलक्षण शिक्षा स्वराष्टक शिक्षा पाङ्कजसूत्री शिक्षा मल्लार्जुनी शिक्षा क्रमसंघान शिक्षा, क्रमवार्त्ता शिक्षा गृहलक्ष शिक्षा भाविगानि शिक्षा कालनिर्णय शिक्षा पारांगरा शिक्षा भारद्वाज शिक्षा गौतमाय शिक्षा वासिष्ठी शिक्षा, वसिष्ठ शिक्षा मातृवी शिक्षा अवसाननिर्णय शिक्षा पाणिनीय शिक्षा पारि शिक्षा मयसंमत शिक्षा व्यास शिक्षा चारायणीय शिक्षा गमान शिक्षा विलम्ब्य शिक्षा भारव्य शिक्षा पदकारिचरित्तमाला शिक्षा मिथ्यात शिक्षा स्वरव्यञ्जन शिक्षा कण्व शिक्षा बाघायन शिक्षा हाराज शिक्षा वात्स्याकि शिक्षा मालव शिक्षा तथा बरौण उच्चार शिक्षा आदि। इनमें से कई शिक्षाग्रन्थों के ऐतिहासिक नाम भी मिलते हैं। जैसे सामान्य शिक्षा—सामान्य शिक्षा—सामान्यीय शिक्षा वल्लरत्नप्रदीपिका—वल्लरत्न प्रदीपिका गौतमाय शिक्षा—गौतमी शिक्षा मातृव्य शिक्षा—मातृवी शिक्षा आदि। शिक्षा ग्रन्थों का प्रारम्भ उम्र समय हुआ होगा जो कि बच्चे मनुष्य धातुचान का भाषा नहीं है वह बच्चा होगा तथा ठीक बच्चा ठीक करने में भाषा का बच्चा है होने लगी होगी। ऐसा अनेक मन्त्र ग्रन्थों में आता है कि बच्चा का अशुद्ध पाठ करने वाला अधोगति का प्राप्त होता है। यह अनु की क्या प्रमिद हो है। यह का प्रधान है कि हो शिक्षा (और प्रातिगम्य) ग्रन्थ निम्न गण। एक अनुर्थानि व अनुमान प्राधान

तम शिक्षा के लेखक वाग्भट्ट थे। महाभारत के शांति पर्व (३४२।१०४) में माल वृद्ध एक प्राचीन शिक्षाग्रन्थ का उल्लेख मिलता है। धवतरि के एक शिक्षाग्रन्थ का नाम पाचास वाग्भट्ट गालव मिलता है। इस आधार पर कुछ लोग मालवशिक्षा को ही वह प्राचीन शिक्षा मानते हैं किन्तु यह शिक्षा वस्तुतः उतनी प्राचीन नहीं है। इसी प्रकार कुछ लोग पाणिनि शिक्षा को ही मूल मानते हैं।

ऐसी मायता है कि शिक्षा ग्रन्थ प्रारम्भ में लिखे गए तथा प्रातिशाख्य उसके बाद। इस मायना के कई आधार हैं। एक मुख्य आधार तो यह है कि शिक्षा ग्रन्थ मूलतः उच्चारण या ध्वनिविज्ञानविषयक सैद्धांतिक ग्रन्थ (General Phonetics) है तथा प्रातिशाख्य प्रायोगिक ग्रन्थ (Applied phonetics) है, और सिद्धांत के विकास के बाद ही उनका प्रयोग होता है अतः शिक्षा पूर्ववर्ती है तथा प्रातिशाख्य परवर्ती। दूसरे, सबसे सम्मत शिक्षा में एक श्लोक आता है

शिक्षा च प्रातिशाख्य च विरुध्येते परस्परम्।

शिक्षा च बुचलेत्पाठुं सिहस्येव मुगी यथा ॥ ४६ ॥

अर्थात् यदि किसी विषय में शिक्षा तथा प्रातिशाख्य में विरोध हो तो शिक्षा कम प्रामाणिक मानी जानी चाहिए। इस आधार पर भी कुछ लोग का कहना है कि शिक्षाग्रन्थ पुराने है इसलिए प्रातिशाख्य जो अपेक्षाकृत अधिक विकसित भाषा-चिन्तन का प्रतिनिधित्व करत है अधिक प्रामाणिक मान गए हैं। तीसरे कुछ प्रातिशाख्या में शिक्षा ग्रन्थों का उल्लेख है। ऐसे ही जैली, पारिभाषिक शब्दावली या उद्धृत नामा के आधार पर भी इस प्रकार के निष्कर्ष निकाले गए हैं।

इन आधारों पर त्रमश विचार किया जा सकता है। जहां तक सिद्धांत और प्रयोग का सम्बन्ध है सिद्धांत के आधार पर प्रयोग किए जाते हैं और प्रयोगों से सिद्धान्त विकसित होते हैं। हर क्षेत्र में यही होता है। अतः यह तो हो सकता है कि एक दो शिक्षा ग्रन्थ पहले लिखे गए हों और फिर उनके आधार पर कुछ प्रातिशाख्या की रचना हुई हो। किन्तु ऐसा नहीं माना जा सकता कि सारे के सारे प्रातिशाख्य शिक्षा ग्रन्थ पहले लिख लिए गए और फिर प्रातिशाख्या की रचना हुई। दूसरे तर्क की व्याख्या एकाधिक प्रमाणों से हो सकती है। मैं इस बात से बहुत महमत नहीं हूँ कि उक्त श्लोक से इस बात का समर्थन होना है कि शिक्षा ग्रन्थ पुराने हैं। प्रातिशाख्या का सम्बन्ध विभिन्न श्रमशास्त्रों से अपेक्षाकृत अधिक है अतः वेदों के उच्चारण सम्बन्धी विवादों में प्रातिशाख्या का अधिक प्रामाणिक माना जाना स्वाभाविक है। यहाँ तक पारिभाषिक शब्दावली या उद्धृत नामा का प्रश्न है शिक्षा ग्रन्थों के पाठ इतने विद्वान् हैं उनमें इतने प्रतिभाशाली एवं परिवर्तन हैं कि उनके आधार पर कोई भी निष्कर्ष निकालना बहुत बगान्धक गढ़ा है। वस्तुतः आज जो शिक्षाओं उपलब्ध हैं भाषा और पाठों दोनों ही दृष्टि से वे न तो बहुत प्राचीन हैं और न किसी एक काल की हो। इस स्थिति में वर्मा या ऐनेन का शिक्षा ग्रन्थों का ८०० ई० पू० से ५०० ई० पू० तक का मानना बहुत उपयुक्त नहीं लगता। किसी बहुत प्रौढ़ आधार के अभाव में यन्त्र निर्दिष्ट ज्ञान तो नहीं कहा जा सकता किन्तु पूरी स्थिति

पर विचार करने पर मैं निम्नावित निष्कर्षों पर पहुँचा हूँ। वेदांग म शिक्षा का नाम आता है प्रातिशाख्यो का नहीं। साथ ही वदिक साहित्य म (उदाहरण के लिए तत्सरीय आरण्यक म आता है) भी शिक्षा व्याख्यास्याम। शिक्षा का उल्लेख है प्रातिशाख्यो का नहीं अतः शिक्षा ग्रन्थों की परम्परा निश्चित रूप से प्रातिशाख्यो से पुरानी है। स्पष्ट ही छद्म वेदांग वस्तुतः छद्म विषय या शास्त्र हैं, तत्सरीय वेदांग या शास्त्र के एक दो या अधिक निश्चित ग्रन्थ नहीं हैं। आगे चलकर इन विषयों म ग्रन्थों की रचना हुई। बहने का आशय यह है कि शिक्षा मूलतः वेदांग का एक विषय या शास्त्र है। ध्वनिया के उच्चारण की शिक्षा या ध्वनियों के उच्चारण का शास्त्र। ऋक्सप्रतिशाख्य की विष्णुमित्र कृत व्याख्या में आता है शिक्षा स्वरवर्णों पर्यन्त शास्त्रम्। यह शिक्षा प्रारम्भ में केवल अध्यापन द्वारा दी जाती थी किन्तु आगे चलकर इसके लिए कुछ ग्रन्थ भी लिखे गए और वही प्रारम्भिक या प्राचीन शिक्षा ग्रन्थ थे किन्तु आज जो शिक्षा ग्रन्थ हैं वे पुराने ग्रन्थ नहीं हैं। सम्भव है जो शिक्षा ग्रन्थ आज उपलब्ध हैं उनमें कुछ पुराने शिक्षा ग्रन्थों पर आधारित या उनके परिवर्तित रूप हैं। या आज प्राप्त शिक्षाग्रन्थ म बहुत से लोग पाणिनि शिक्षा को सबसे पुरानी मानते हैं। इससे भी आजकल प्राप्त शिक्षा ग्रन्थों की परम्परा ५वीं सदी २० पू० से पहले की नहीं सिद्ध होती। साथ ही यह शिक्षा पाणिनि द्वारा लिखित शिक्षा का कदाचित् परिवर्तित परिवर्धित रूप है। एक टीका शिक्षा प्रकाश के अनुसार पाणिनि शिक्षा उनके छोटे भाई पिगल द्वारा लिखी गई थी। पाणिनि के मतानुसार होने से यह पाणिनि शिक्षा कहलाई। वस्तुतः आज प्राप्त सारे शिक्षा ग्रन्थ प्रातिशाख्यो के बाद के हैं।

पूरी स्थिति पर विचार करने पर ऐसा लगता है कि शिक्षा शास्त्र तथा शिक्षा ग्रन्थों का विकास पाँच चरणों म हुआ माना जा सकता है। पहल चरण में शिक्षा मूलतः एक सामान्य शास्त्र के रूप में प्रयुक्त होता रहा होगा, और तब वेदाध्यायियों की उच्चारण शिक्षा के लिए ध्वनिशिक्षा या वेदशिक्षा जमा कोई शब्द प्रयोग में रहा होगा जिसमें शिक्षा एक सहसंज्ञा रहा होगा। दूसरे चरण में शिक्षा पर बल के कारण इसके साथ व शब्द का लोप हो गया होगा और पाठशालाओं आदि में उच्चारण विषय सामान्य शिक्षा के लिए इसका प्रयोग होने लगा होगा। तत्सरीय उपनिषद् (१।२) में तथा अथर्व वेद प्राप्त कुछ प्रयोगों से इस बात के सबूत मिलते हैं। तीसरे चरण में शिक्षा शब्द सामान्य ध्वनिविज्ञान का पर्याय हो गया। पारस्कर गृह्यसूत्र की भूमिका में रामहृषण ने शिक्षा का मूलनाम अर्थात् आधारभूत शास्त्र इसका अर्थ में कदाचित् कहा है। इस बात में आकर हा कदाचित् वे शिक्षा-ग्रन्थ लिखे गए जो प्रातिशाख्यो के सम्बन्ध में मिथ्या ग्रन्थ सिद्ध हुए तथा जो अज्ञेय प्राप्त नहीं हैं—यह म वेद अध्यापन मूल रूप में। और आगे चलकर इन शिक्षा-ग्रन्थों के सिद्धान्तों के आधार पर जो प्रातिशाख्यो की रचना हुई ता सिद्धान्तों के प्रयोग में आने पर तब और भी विकास होने लगा और तब चौथे चरण में कदाचित् दृष्टि से कुछ पित विरचित शिक्षा-ग्रन्थों की रचना हुई। आज उपलब्ध शिक्षा ग्रन्थों में कुछ

इसी परम्परा के हैं। यह बात बल देन भी है कि चौथे चरण में रचित ये शिक्षा ग्रन्थ सद्धान्तिक दृष्टि से कई बातों में पूर्वरचित शिक्षा ग्रन्थों एवं प्रातिशाख्या से आगे थे। इनमें प्रातिशाख्या में विवक्षित सिद्धांतों का भी आधार दिया गया है। वणरत्न प्रदीपिका शिक्षा में एक स्थान पर कहा गया है कि शिक्षा के आधार प्रातिशाख्य हैं। इनमें ऐसी काफी बातें मिलती हैं जो पूर्वरचित शिक्षा ग्रन्थों में कदाचित् नहीं थी और इसीलिए प्रायोगिक ध्वनिविज्ञान के ग्रन्थों—प्रातिशाख्या—में भी उनका प्रयोग प्रायः नहीं हो पाया। पाचवें चरण में कुछ परवर्ती शिक्षा ग्रन्थों की रचना हुई जो सद्धान्तिक तथा प्रायोगिक बातें—दाना के नियम ५। इस तरह वे शिक्षा और प्रातिशाख्य ग्रन्थों के बीच में थे। स्वभावतः इनकी प्रायोगिक बातें प्रायः विशिष्ट वेदा या वेदशाखाओं से सम्बद्ध थीं अतः ये शिक्षा ग्रन्थ पूर्ववर्ती शिक्षा ग्रन्थों की तरह वेदों से असम्बद्ध न होकर विशिष्ट विशिष्ट वेदों से सम्बद्ध हो गए। इसी परम्परा में कदाचित् कुछ पूर्ववर्ती शिक्षा ग्रन्थ भी भाग चलकर कुछ परिवर्तन-परिवर्धन करके विशिष्ट वेदों या वेदशाखाओं से सम्बद्ध कर दिए गए। स्पष्ट ही इस काल में शिक्षा तथा प्रातिशाख्या में सद्धान्तिक तथा प्रायोगिक का मूल अन्तर नहीं रह पाया और इसी परंपरा में कुछ प्रातिशाख्या का भी शिक्षा ग्रन्थ कहा गया। 'ग्रन्थ आचार्यों मगवान् शौनक शिक्षाशास्त्रं कृत्वा'। म विष्णुमित्र ने ऋक्सप्रतिशाख्य की शौनक द्वारा रचित शिक्षाशास्त्र कहा है। आज उपलब्ध शिक्षा ग्रन्थों में कुछ ग्रन्थों कुछ वेदा या वेदशाखाओं से सम्बद्ध हैं। उदाहरणार्थ —

**ऋग्वेद**—स्वर ध्वजन शिक्षा शमान शिक्षा। पाणिनि शिक्षा अने तो किसी विशिष्ट वेद या वेदशाखा से सम्बद्ध नहीं है किन्तु उसका एक पाठ (संस्करण) ऋग्वेद से सम्बद्ध है। जसा कि मैं ऊपर सूचित कर चुका है पाणिनि शिक्षा का यह पाठ बाद में उस समय परिवर्तन परिवर्धन से बना हुआ जब कुछ शिक्षा ग्रन्थ वेदा या वेदशाखाओं से सम्बद्ध बन रहे थे।

**सामवेद**—सोमगी शिक्षा शौतमी शिक्षा, नारदीया शिक्षा।

**यजुर्वेद**—(क) वृष्ण—हारीत शिक्षा सवसम्भता शिक्षा, वाल्मीकि शिक्षा वसिष्ठ शिक्षा आरण्य शिक्षा, कौहलीया शिक्षा बोधायन शिक्षा चारायण शिक्षा आपिशलि शिक्षा, कालनिण्य शिक्षा भारद्वाज शिक्षा, व्यास शिक्षा पारिशिक्षा, सिद्धांत शिक्षा शमु शिक्षा। पाणिनि शिक्षा का भी एक पाठ यजुर्वेद की वृष्ण शाखा से सम्बद्ध है।

(ख) शुक्ल—यानवल्क्य शिक्षा कात्यायनी शिक्षा, मांडवी शिक्षा पाराशर्य शिक्षा वणरत्नप्रदीपिका शिक्षा केनवी शिक्षा, अमोघा नन्दिनी शिक्षा माध्यदिनी शिक्षा।

**अथर्ववेद**—माह्वी।

प्राप्त शिक्षा ग्रन्थों का मोटे रूप से यह वर्गीकरण जा सकता है। एक तो वे

हैं जिनमें सद्भाषित्व सामग्री है दूसर व हैं जिनमें जमी सामग्री प्रायः गहा या कम है। कुछ में तो केवल विशिष्ट प्रकार के शब्दों की सूचियाँ ही हैं। उदाहरण के लिए पूरी माडकी शिक्षा में यजुर्वेद में ओष्ठ्य वर्णों (प, फ, ब, भ, म, उ) के शब्दों की सूची है। भरद्वाज शिक्षा सिद्धान्त शिक्षा तथा शमान शिक्षा आदि में भी विभिन्न प्रकार की सूचियाँ हैं। या प्रातिशाख्या में भी यह बात मिलती है। उदाहरण के लिए ऋक्सप्रातिशाख्य के कुछ अध्याय भी प्रायः सूची ही हैं। जहाँ तो सद्भाषित्व सामग्री का प्रश्न है शिक्षा ग्रन्थों में उच्चारण स्थान, वरण, प्रयत्न—आत्म्यतर ब्राह्म तथा उनके भेदापभेद अल्पप्राण महाप्राण घोष अघोष मौलिक अनुनासिक स्वर व्यञ्जन तथा उनके भेदापभेद, सयुक्त स्वर सयुक्त व्यञ्जन (दो के तथा तीन के) मात्रा तथा उसके भेद (स्वर मात्रा व्यञ्जन मात्रा ह्रस्व स्वर दीर्घ स्वर, गुरु स्वर) अवग्रह, विवृत्ति, विराम तथा उसके भेद संधि तथा उसके नियम एवं भेद स्वराघात तथा उसके भेदापभेद अक्षर (अक्षर तथा अक्षर विभाजन आदि) ध्वनि प्रागम स्वरभक्ति तथा उसके भेद, वतनी से अलग उच्चारण स्वराघात के अनुसार हस्त सकेत, तथा उच्चारण के गुण दोष आदि विषयक प्रचुर सामग्री है। प्राचीन ग्रन्थों के अनुसार शिक्षा ग्रन्थों का विषय वस्तु (स्वर व्यञ्जन) स्वर (स्वराघात), मात्रा बल (महाप्राण अल्पप्राण के लिए प्रयुक्त प्रयत्न, सायण ने इसे मुह में करण तथा उच्चारण स्थान द्वारा उच्चारण-वायु के पथ में साए गए अवरोध की मात्रा कहा है) साम (लय, सहजा या Tempo, सामवेद का धृति मधुर वेद-पाठ भी कदाचित् यही है) तथा सतान (संधि) का विवचन है। अनेक पश्चिमी विद्वानों ने इसे स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि आधुनिक पश्चिमी भाषा में ध्वनिविज्ञान विषयक ज्ञान के मूल में काफी बड़ी सीमा तक भारतीय शिक्षा एवं प्रातिशाख्य ग्रन्थों का हाथ है। किंतु इसके साथ ही यह कह दिया नहीं रहा जो सकता कि आज जो शिक्षा ग्रन्थ प्राप्त हैं उनके पाठ विभिन्न प्रकार के प्रक्षेपा एवं परिवर्तनादि के कारण बहुत अधिक भ्रष्ट हैं इसी कारण उनसे आज उतना अधिक लाभ नहीं उठाया जा सकता, जितना उनके मूल रूप में हानि पर उठाया जा सकता था।

## प्रातिशाख्य

भारतवर्ष में कई विद्यायाँ का आविर्भाव वेदा को सम्भन्धने के लिए हुआ था। मीटे तौर पर वे विद्याएँ इसी कारण 'वेदाङ्ग' कहो जाती रही हैं। ये विद्याएँ अथवा 'वेदाङ्ग' छह हैं। इनमें से तीन वेदाङ्ग सीधे सीधे वेद की भाषा के अध्ययन से सम्बद्ध हैं (१) शिक्षा (२) निरुक्त तथा (३) व्याकरण। 'प्रातिशाख्य' भी प्रकारानुसार से वेदाङ्ग है। विषय वस्तु की दृष्टि से ये शिक्षा तथा व्याकरण का कार्य करते हैं अतः कुछ लोग इसे शिक्षा तथा व्याकरण वेदाङ्ग के अंतर्गत मानते हैं। शिक्षा-वेदाङ्ग के जो ग्रन्थ आज उपलब्ध हैं वे विविध दृष्टियों से विचार करने पर बहुत प्राचीन नहीं प्रतीत होते। अस्तु बहुत बर के प्रातिशाख्या पर ही आधारित हैं। उदाहरणार्थ 'प्रातिशाख्य प्रदीप' शिक्षा का नाम लिया जा सकता है जो शुक्ल यजु प्रातिशाख्य पर आधारित है। अतः बहुत से लोग शिक्षा को अलग वेदाङ्ग न मान कर शिक्षा प्रातिशाख्य को छह में एक वेदाङ्ग मानते हैं<sup>१</sup>। कुछ लोग इसे वेदों का प्राचीन प्रति-पद-व्याख्या की पद्धति से लिखा व्याकरण मानते हैं। जो 'प्रातिशाख्य' नाम वेदाङ्ग के नाम का कारण करने वाले प्रसिद्ध श्लोक<sup>२</sup> में नहीं है। अतः कदाचित् वेदाङ्ग से इनका विशेष सम्बन्ध नहीं है।<sup>३</sup>

पास्क के 'मव चरणा के पापद'<sup>४</sup> कथन की व्याख्या में अनेक प्राचीन तथा अर्वाचीन विद्वानों ने 'पापदा' का अर्थ प्रातिशाख्य किया है<sup>५</sup>। कुछ भाष्य-कारों ने 'अवप्रातिशाख्य' को पापद कहा भी है। हमें इस भी उपयुक्त व्याख्या की पुष्टि होती

१ द्र भारद्वाज शिक्षा १६३८ ई., पूना भूमिका पृष्ठ १।

२ शिक्षा, कल्पो, व्याकरण, निरुक्त, छन्दसां चय।

ज्योतिषामयन च वेदाङ्गानि षडेव तु॥

३ द्र गोवेन, दी हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर यूयाक पृष्ठ १५०।

४ द्र निरुक्त १।१७ पद प्रष्टुनीनि सव चरणाना पापदानि।

५ दुर्ग टीका १।१७ पापदानि=स्व चरण पश्येव य प्रतिशाखा नियम मेव पदावग्रह प्रगृह्याप्रगृह्य क्रम सहित-स्वर लक्षणमुच्यते, तान्नीमानि=प्रातिशाख्या नीत्यय। तथा जहाँगीरदार एन इण्ट्रोडक्शन टू दी कम्परेन्सिव फिलालोजी आफ इण्डिया मायन लडवेजेज पृष्ठ १५५, और डा सिद्धेश्वर वर्मा फांनलिक भागवेंशस। पृष्ठ २१ एवम् माण्डवी शिक्षा (प्रथम सस्वरण) भूमिका पृष्ठ ७।



व्याख्या को काटन के लिये पर्याप्त नहीं हैं। यह भी सम्भावित है कि अनेक प्राचीन भारतीय ग्रन्थों, या ग्रन्थाशा की भाँति ये भी नष्ट हो गये हैं।

प्रातिशाख्य' शब्द उपयुक्त ग्रन्थ में अधिः प्रचलित रहा है<sup>१</sup> किन्तु इस पुट प्रमाणों पर आधारित नहीं माना जा सकता। मुझे लगता है कि डा सिद्धेश्वर वर्मा तथा डॉ. सूर्यकांत आदि विद्वानों ने माघव के उपयुक्त उद्धरण का जो ग्रन्थ निकाला है कदाचित् वह ठीक नहीं है। यहाँ 'प्रति' का अर्थ एक-एक' न हो कर 'प्रत्येक' है। इस प्रकार उपयुक्त उद्धरण के अनुसार प्रातिशाख्य का अर्थ हुआ 'वह जिसका सम्बन्ध एक वेद की प्रत्येक शाखा में हो।'<sup>२</sup> दूसरे शब्दों में प्रातिशाख्य वह है 'जो प्रत्येक या सभी शाखाओं से संबद्ध हो।' गणपालयज्वन् ने तत्सिनीय प्रातिशाख्य के अपने वदिकाभरण नामक भाष्य<sup>३</sup> में प्रातिशाख्य के इस अर्थ की ओर संकेत किया है। प्रतभट्ट ने कात्यायन वृत्त वाजसनेयीप्रातिशाख्य का भाष्य लिखते समय भूमिका में इस प्रश्न को उठाया है और वे भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं।<sup>४</sup> उनके अनुसार कात्यायन के वाजसनेयीप्रातिशाख्य का सम्बन्ध एक शाखा से न हो कर 'कुन यजुर्वेद की पद्वि शाखाओं से है। दुग् के निरुक्त के भाष्य<sup>५</sup> तथा उवट<sup>६</sup> आदि के संकेतों में भी इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि अब तक जितने भी प्रातिशाख्य प्राप्त हैं वे सम्बद्ध वेद की सभी शाखाओं की विशेषताओं पर प्रकाश डालते हैं। पूरी स्थिति पर विचार करने पर ऐसा लगता है कि जब प्रातिशाख्य बने, उस समय सम्बद्ध वेद की सभी शाखाओं का प्रतिनिधित्व करते थे किन्तु प्रातिशाख्यों के बनने के बाद भी शाखाएँ और उपशाखाएँ विकसित होनी रही। अतएव कुछ ऐसी शाखाओं का मिलना भी असम्भव नहीं है, जिन पर उन वेद के सम्बन्ध में लिखित प्रातिशाख्य की सभी बातें लागू न हों। ऐसी स्थिति में ग्रन्थ अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि प्रातिशाख्य का सम्बन्ध वेद विषय की सभी या बहुत सी शाखाओं से होता है।

प्रातिशाख्य के वष्य विषय का लेकर भी विद्वानों में मतभेद है। कुछ लोग इसे प्रमुखतः व्याकरण ग्रन्थ<sup>७</sup> कहते हैं और कुछ लोग ऐसा कहना विन्तुल भ्रामक<sup>८</sup> मानते हैं। इसी प्रकार कुछ लोग प्रातिशाख्य का आधार व्याकरण मानते हैं और

१ द्र. आप्ट. संस्कृत इतिहास कोष प्रथम संस्करण तथा हिंदी 'गण सागर' प्रथम संस्करण, आदि में प्रातिशाख्य शब्द।

२ द्र. वदिकाभरण ४।११ (हस्तलिखित प्रति)।

३ द्र. वाजसनेयीप्रातिशाख्य सं० कवटराम शर्मा यदाग १९३४ पृ० २।

४ निरुक्त १।१७ पर दुग्-वृत्ति।

५ ऋग्वेद प्रातिशाख्य ७।३२।५४।

६ वदिकाभरण तथा अथर्ववेद प्रातिशाख्य में यह बात स्पष्ट रूप से कही है।

७ गोल्डपुवर पाणिनि हिज प्लेग इन मधुन लिखर, १९१४ पृष्ठ



कुछ लोग शिक्षा ग्रन्थ । कुछ लोग दोनों को ही । तत्त्वतः दोनों ही प्रकार के ग्रन्थों के आधार पर लिखे गये हैं और इनमें आवश्यक और ध्वनि विज्ञान दोनों ही की बातें हैं । या वे प्रमुखतः ध्वनि से ही सम्बन्धित हैं । सभी बाना पर विचार करने पर अनुमान लगता है कि ज्या ज्या प्रायः दूर-दूर तक फैलते गये तथा उनकी भाषा विकसित हो कर वदिक सभ्यता से दूर हटती गई वे वदिक सभ्यता का पूर्व प्रचलित ऋग्वेद से गुड पाठ करने में अपनी असमर्थता पाए लगे । किन्तु धार्मिक दृष्टि से यह असमर्थता पाप जसी चीजों को इसीलिए विद्वानों ने इस बात की आवश्यकता का अनुभव किया कि कुछ ऐसे नियम बना लिए जाएँ जिनके आधार पर लोग गुड पाठ कर सकें । प्रातिशाख्य कदाचित् इसी के परिणाम थे ।

प्रातिशाख्य के समय के सम्बन्ध में विद्वान् एक मत नहीं हैं । समवेत विचार करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि प्राचीन और महत्वपूर्ण प्रातिशाख्यों का काल ५०० ई० पू० और १५० ई० पू० के बीच में है । इनमें ऋग्वेद प्रातिशाख्य सम्भवतः सबसे पुराना है<sup>१</sup> और ऋग्वेद के सबसे बाद का । कुछ लोगों<sup>२</sup> का यह भी विचार है कि आज जो प्रातिशाख्य का उपलब्ध रूप है, वह मूल रूप नहीं है । यदि इसे माना जाए, तो मूल प्रातिशाख्य का काल कुछ सदी और पीछे चला जाएगा ।

प्रातिशाख्य शब्द के अर्थ पर विचार करते समय हम देख चुके हैं कि अनेक भारतीय और पाश्चात्य विद्वान् इस मत के रहे हैं कि एक प्रातिशाख्य का सम्बन्ध वेद की किसी एक शाखा से है । इस आधार पर कहा जा सकता है कि प्रातिशाख्य की संख्या १०० से भी ऊपर रही होगी । किन्तु जसा कि ऊपर कहा गया है एक प्रातिशाख्य का सम्बन्ध वेद विशेष की प्रायः एक से अधिक शाखाओं से रहा है । ऐसी स्थिति में यह प्रायः निश्चित है कि प्रातिशाख्यों की संख्या बहुत अधिक न रही होगी । इस समय केवल निम्नांकित प्रातिशाख्य ही प्रमुखतः उपलब्ध हैं<sup>३</sup> ।

- (१) ऋग्वेद प्रातिशाख्य (ऋग्वेद का) गौतम
- (२) तैत्तिरीय प्रातिशाख्य (ऋग्वेद का) — कात्यायन
- (३) वाजसनेयी प्रातिशाख्य (गुण्य यजुर्वेद का) — कात्यायन
- (४) सामवेद प्रातिशाख्य (सामवेद का) — पुष्पि (या बरहस्पति)
- (५) अथर्ववेद प्रातिशाख्य (अथर्ववेद का)<sup>४</sup> —

१ ब्रूडस ने तैत्तिरीय प्रातिशाख्य को प्राचीनतम माना है यद्यपि अब यह मत भाग्य नहीं है ।

२ सिस्टम आफ सभ्यता ग्रामर, वेल्स्वर पूना १९१५ पृष्ठ ४ ।

३ सभी प्रातिशाख्यों के लेखकों के नाम पात नहीं हैं । जिनके ज्ञात हैं सामने दे दिये गये हैं । कुछ के आगे दो नाम दिए गए हैं । कोष्ठक के बाहर के नामों को लेखक अधिक प्रामाणिक मानता है ।

४ इसके दो रूप उपलब्ध हैं । एक श्री विद्यार्थी द्वारा दूसरा डा. मयनात

पुराने ग्रन्थों से कुछ ग्रन्थ प्रातिशाख्य के नामों का भी पता चलता है यद्यपि वे उपलब्ध नहीं हैं अतः उनके सम्बन्ध में कुछ कहना कठिन है<sup>१</sup> ।

उपयुक्त सभी ग्रन्थों के नामों में प्रातिशाख्य शब्द आया है किन्तु कुछ ग्रन्थ ऐसे भी मिले हैं जिनके नामों में प्रातिशाख्य शब्द नहीं है यद्यपि विषय की दृष्टि से वे भी प्रातिशाख्य हैं । उनमें प्रमुख केवल दो हैं—

(१) ऋक्सूत्र (सामवेद का)—श्रीदक्षिण

(२) चतुरध्यायिका (अथर्ववेद की)—कौत्स (या शौनक)

इन विभिन्न प्रातिशाख्यों का सम्बन्ध उनसे सम्बद्ध वेदों की किन किन शाखाओं से है, यह प्रश्न विवादास्पद है और विद्वानों द्वारा विराधी मत भी प्रकट किए गए हैं<sup>२</sup> ।

ध्वनि विज्ञान की दृष्टि से प्रातिशाख्यों में प्रमुखतः बोलने की प्रक्रिया, उच्चारण म्यान, उच्चारणायवयव, अक्षर और उसका आधार, ध्वनिों का वर्गीकरण वर्गीकरण के विभिन्न आधार (स्थान, प्राणत्व, घापत्व आदि) मात्राकाल, स्वराघात, स्वरसंघि, स्वरभक्ति, व्यञ्जनमन्त्र, व्यञ्जनद्वित्व, ध्वनि परिवर्तन (आगम लोप तथा विकार आदि), वदित्व, ऋचाओं के पठने का ढङ्ग तथा पठते समय उदात्त, अनुदात्त और स्वरित के अनुसार हस्त संचालन आदि का विवेचन मिलता है । इस प्रकार हम देखते हैं कि आधुनिक दृष्टि में ध्वनिविज्ञान के अन्तर्गत जो-जो बातें आती हैं प्रायः सभी 'यूनायिक्' रूप में प्रातिशाख्यों में आ चुकी हैं । आज से लगभग अठ्ठाई हजार वर्ष पहले इन सारी बातों का इतना सुन्दर विवेचन देखकर आश्चर्य होता है । यह वह समय था, जब विश्व के और किसी भी देश में इस दिशा में कुछ विशेष हुआ ही नहीं था । सच पूछा जाए, तो यूरोप और अमेरिका में १९वीं सदी में और उसके बाद ध्वनि के अध्ययन के क्षेत्र में जो उन्नति हुई है, उसके पीछे भारत के इन पुराने कार्यों का बहुत बड़ा हाथ है । जब इनमें से कुछ के अनुवाद पश्चात्त्य विद्वानों के सामने आए तो उनके लिए इस दिशा में आगे सोचने समझने और बढ़ने का अब काश दिखाई पड़ा । मकडनिल ब्लूम्फील्ड, वेस्पसन जोस तथा फथ आदि अनेक

शास्त्री द्वारा सम्पादित होकर प्रकाशित हो चुका है । द्विटनी ने चतुरध्यायिका की ही अथर्ववेदप्रातिशाख्य के नाम से १८६२ ई० में प्रकाशित किया था ।

१ आश्लायन प्राति०, चारमणीय प्राति०, सात्यमुषि प्राति०, गोम प्राति०, तथा क्षाप्त्र प्राति० ।

२ ग्रन्थों में सामतत्र, अक्षरतत्र, लघुऋक्सूत्र, निदानसूत्र, पञ्चविंशसूत्र, प्रतिशासूत्र तथा भाषिक्सूत्र आदि के नाम लिए जा सकते हैं ।

३ ऋग्वेदप्रातिशाख्य का सम्बन्ध कुछ लोग केवल 'शाकल' शाखा से मानते हैं और कुछ लोग शाकल तथा वाष्कल दोनों से । इसी प्रकार कुछ लोग वाजसनेयी प्रातिशाख्य का सम्बन्ध मात्र माध्यदिनी शाखा से मानते हैं, पर अन्तर्भट्ट आदि कुछ लोग पद्रह शाखाओं से मानते हैं ।

विद्वानों ने इसे स्वीकार किया है। यहाँ तक कि रागात्मक तत्त्व (Prosodic features) जसी इस सदी की उपलब्धियाँ के सूत्र भी इनमें मिले हैं। पथ ग्रन्थवेद प्रातिशाख्य के सम्बन्ध में लिखते हुए यहाँ तक कहते हैं कि यह ध्वनि विज्ञान की बहुत-सी आधुनिक पुस्तक। से कहीं अच्छा है<sup>१</sup>।

इस प्रकार प्रातिशाख्य का काल तक भारत में ध्वनि विज्ञान का अध्ययन बहुत आगे बढ़ चुका था, इस में कोई भी सन्देह नहीं। साथ ही ऐसा भी अनुमान है कि आधुनिक भाषा विज्ञान की तरह उस काल में भी ध्वनि शास्त्रियों के कई सम्प्रदाय (स्कूल) थे जो अनेक मद्दान्तिक और प्रायोगिक दृष्टियाँ से आपस में मतभेद रखते थे। यहाँ तक कि उनका पारिभाषिक शब्दा में भी (आज ही की तरह) भिन्न था। उदाहरणार्थ अनुनासिक के लिए ऋग्वेद प्रातिशाख्य रक्त का प्रयोग करता है तो वाजसनेयी प्रातिशाख्य उत्तम का। तत्तिरीय प्रातिशाख्य में अक्षर का प्रयोग स्वर के लिए भी हुआ है। परी प्रकार वाजसनेयी प्रातिशाख्य अघोष का जिह्वा, घोष को धि और महाप्राण को सोष्मन् कहता है। इस प्रकार की विभिन्नताएँ इस क्षेत्र में उस काल के चिन्तन की अनेक स्वतंत्र परम्पराओं को प्रकट करती हैं जो अपने आप में ध्वनि अध्ययन के समुचित रूप से विकसित एवं बहु चर्चित होने का प्रमाण है।

ध्वनि विवचन की दृष्टि से प्रातिशाख्यो में ऋग्वेद प्रातिशाख्य, तत्तिरीय प्रातिशाख्य तथा अथर्ववेद प्रातिशाख्य अधिक अच्छे हैं।

प्रातिशाख्य पर प्राचीन और अर्वाचीन अनेक विद्वानों ने अनेक रूपों में काय किया है जिनमें ऋग्वेद प्रातिशाख्य पर उषट भक्षममूलर, रेगनियर पण्डित शास्त्री तथा मंगलदेव शास्त्री तत्तिरीय प्रातिशाख्य पर राय सौम महाराज द्विवेदी राजे ब्रजलाल मिश्र बी बी गमा, रंगाचार्य तथा आर एस शास्त्री शुक्ल यजुर्वेद प्रातिशाख्य पर उषट अनन्त भट्ट रामचन्द्र बालकृष्ण बेबर तथा बी बी शर्मा, अथर्ववेद प्रातिशाख्य पर सायण राय द्विवेदी लक्ष्मण लक्ष्मण शास्त्री तथा बी बी बी शास्त्री और अक्षत व्याकरण पर वर्नेल और सूयकात शास्त्री प्रमुख रूप से उल्लेख्य हैं। उषट और सायण आदि पुराने विद्वानों के काय भाष्य रूप में हैं और आधुनिक विद्वानों के काय सरासन अनुवाद तथा तुलनात्मक अध्ययन आदि रूपों में।

शिक्षा ग्रन्थ और प्रातिशाख्यो को तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर यह एक प्रष्ट स्वभाविक रूप से उठता है कि दोनों में कौन से प्राचीनतर हैं। इस क्षेत्र में काम करने वाले अनेक विद्वानों का मत लगभग यही है कि शिक्षा ग्रन्थ प्राचीन हैं। साथ ही लोगो का यह भी अनुमान है कि शिक्षा ग्रन्थ के आधार पर ही प्राति-

१ Archivum Linguisticum वाल्यूम १ पृष्ठ १०८।

२ एनन फानटिक्स इन एन्टो इण्डिया, पृष्ठ ५ सिद्धेश्वर वर्मा द फोनेटिक आन पृष्ठ २१ मनमोहन घोष पाणिनीय शिक्षा पृष्ठ ३६ (भूमिका), दीक्षित तथा अय्यर भारद्वाज शिक्षा, पृष्ठ १ (भूमिका) भगवद्दत्त, माह्वी शिक्षा पृष्ठ १२ (मिका)।

शास्त्र्य वन पर यथायथा यह है कि प्रातिशाह्य और शिक्षा ग्रन्थ आज जिस रूप में उपलब्ध हैं, उनके आधार पर इस प्रकार के निष्कर्ष निकालना बहुत वनानिक् नहीं कहा जा सकता। इनका पाठ इतना भ्रष्ट है और इनमें इतने अधिक परिवर्तन परिवर्द्धन हुए हैं कि वही तो इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि शिक्षा के कुछ अंगों में आधार प्रातिशाह्य हैं<sup>१</sup> और वही इस प्रकार के प्रमाण मिलते हैं कि प्रातिशाह्य का आधार गिना है।<sup>२</sup> दूसरे शब्दों में आज के उपलब्ध शिक्षा और प्रातिशाह्य ग्रन्थों में मुक्त रूप से आदान प्रदान हुए हैं और वही कहा इसी कारण उनमें अंतर भी बहुत कम या प्रायः नहीं के बराबर है। या यदि शिक्षा को 'मामान्य' ध्वनि विज्ञान (General Phonetics) और प्रातिशाह्य का प्रायोगिक ध्वनि विज्ञान' (Applied Phonetics) माना जाए, जसा कि उचित भी है, तो यह अनुमान लगाना असंगत न होगा कि मिथ्यात किसी न किसी रूप में आधार है और प्रयोग का स्थान काल की दृष्टि से बाद का है। समस्त पाठ विज्ञान के आधार पर सभी शिक्षा और प्रातिशाह्य ग्रन्थों के अपेक्षाकृत शुद्ध संस्करण सामने आने पर इस प्रश्न पर कुछ और प्रकाश पड़ सके।

१ व्यास शिक्षा 'तत्तिरीय प्रातिशाह्य' का संक्षिप्त संस्करण सा है।

२ कात्यायन प्रातिशाह्य में कुछ बातें याज्ञवल्क्य शिक्षा से ली गई हैं।

## महान् भाषाविद् शाकटायन

यास्क के परवर्ती भाषाविदों और व्याकरणों में जिस प्रकार पाणिनि का नाम सर्वोच्च ठहरता है उसी प्रकार उसके पूर्ववर्ती भाषाविदों में शाकटायन को सर्वोच्च स्थान दिया जा सकता है। ऐसा कहने से हमारा अभिप्राय इन्द्र भाषिणिलि आदि अन्य अनेकानेक व्याकरणों या शाकल्य कात्यायन, आदि निरुक्तों के प्रति किसी प्रकार की अपमानना से नहीं है। सत्य तो यह है कि व्याकरण सम्प्रदाय और निरुक्त सम्प्रदाय में समान रूप से जो महत्त्व शाकटायन को प्राप्त है वह कदाचित् ही किसी अन्य प्राचीन भाषाविद् को प्राप्त रहा होगा। ऐसा इस कारण कि उन्होंने निरुक्त और व्याकरण के क्षेत्र में ऐसी कई नवीनताओं को एक साथ ही जन्म दिया, जिन्हें अन्य विद्वान् इतने स्पष्ट रूप में सोच भी न सके थे।

किन्तु यह ही महाभाग भारतीय भाषाव्ययन के क्षेत्र में सर्वाधिक विवादास्पद व्यक्ति भी रहा है। यास्क एक स्थान पर कहते हैं 'किन्हीं अन्य पदों से दूसरे पदों के अंशों के निर्माण की जो बात शाकटायन ने कही और वैसा यत्न किया, तो इसमें ऐसा करने वाला व्यक्ति की त्रुटि है न कि नाम आख्यात' हैं' उसके द्वारा भाषिणिकृत इस सिद्धान्त की। यह व्यक्ति की निन्दा का विषय है 'यास्क निन्दा का नहीं।' साय ही दूसरी ओर पतञ्जलि भी दो बातें ऐसी कहते हैं जिससे विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि उनकी दृष्टि में शाकटायन कदाचित् अधिक समाहित नहीं थे। प्रथम 'अपने व्याकरण और निरुक्त में शकट के शब्द ने 'नाम' को घातुज कहा है।<sup>१</sup> इसमें उनका नाम शाकटायन न लेकर शकट का बड़ा कहना और वह भी तो कम जसे एक तुच्छाद्यधोतक शब्द के द्वारा, विद्वानों को इस शकट का बाह्यक प्रतीत हुआ है कि कदाचित् पतञ्जलि उनके प्रति आदरवान् नहीं थे। द्वितीय एक अन्य स्थान पर वे कहते हैं ऐसा भी होता है कि कोई जागते हुए भी वर्तमान काल को नहीं उपलब्ध करता। जस कि व्याकरणों में से शाकटायन रथमाग पर बैठा हो कर भी जाते हुए कारवाँ को नहीं जान सका।<sup>२</sup> अर्थात् स्वयं महान् व्याकरण होकर भी वह अपने साधियों की कृतियों या उनकी उपलब्धियों के प्रति जागरूक न रहा और अपनी ही मायताएँ ने कर बढ़ता रहा।

पर सत्य यह है कि इन तीनों ही स्थलों पर कोई भी ऐसी बात नहीं कही गई है, जो उस रूप में अपमानजनक प्रतीत हो। इसके विपरीत तीनों ही जगह शाकटायन की मौनिकता की विविध उपलक्षणों में बताया गया है। तथा यास्क

१ निरुक्त १।६।४। २ शकटस्य च तोक्म — म० ३।३।१।१।

३ 'अथा रथ मार्गे — म० ३।२।२।१।१५।

ने जिस प्रकार अथ पदा से अथ पदार्थों की निर्मिति की शाकटायन की भाष्यता के विषय में 'पुण्यगहा' की बात बही है वह वास्तव में शाकटायन की निन्दा न हो कर उसकी व्याजस्तुति ही बही जा सकती है। यास्क यह कहना चाहते हैं कि तुम सिद्धांत की निन्दा क्यों करते हो यदि शाकटायन ने कोई गलती की है, तब उस दोषी ठहराओ। स्पष्ट है कि यास्क स्वयं उह दोषी नहीं मान रहे। अथवा, अग्नि, हिरण्य, हृन्म, नरक आदि शब्दों की व्युत्पत्ति या निरक्षित में वे स्वयं ही उस सरणि को न धपनाते, जिसे सत्य शब्द की व्युत्पत्ति के लिए अपनाने पर शाकटायन की स्याकथित निन्दा का प्रश्न उठा। इतना ही नहीं उ होने शाकटायन के मतों का जिस आदर के साथ उल्लेख किया है और उनकी व्याख्या की है, वसा गान्धर्व आदि के मतों के लिए भी नहीं किया, यद्यपि गान्धर्व और शाकटायन को व समान महत्त्व के भाषाविद् मान कर चले हैं। दूसरी ओर, महाभाष्य के प्रकरण को देखते हुए पतञ्जलि का कथन तो स्पष्ट ही शाकटायन के व्यक्तित्व महत्त्व का द्योतक है।

पतञ्जलि का और यास्क का यही आशय था, यह बात काशिका की एक उक्ति या उदाहरण से भी पुष्ट होती है। उभय पाणिनि के दो सूत्रों के उदाहरण देते हुए 'अनुशाकटायन व्याकरण' और 'उपशाकटायन व्याकरण' कहा गया है। इन दोनों का शाब्दिक अनुवाद ठहरता है—'अथ सब व्याकरण शाकटायन के अनुकारी या उससे लघु हैं'। काशिकाकार पतञ्जलि और उनके महाभाष्य के प्रति अत्यन्त आदरवान् रह कर चले हैं। मत, उनका वक्तव्य केवल निःशङ्कात्मक न हो कर वास्तविकता का उद्घोषक ही कहा जा सकता है।

प्रसिद्ध जैन व्याकरणों में से एक अप्रतिम व्याकरण हुए हैं—'पाल्यकीर्ति'। उन्होंने अपने व्याकरण की रचना करके उसका नाम 'शाकटायन व्याकरण' के रूप में प्रचलित किया। बाद में विद्वानों ने उह भी जन शाकटायन नाम दे दिया। परन्तु, वे पाणिनि से बहुत अधिक परवर्ती हैं। इनका ऐसा करने का एकमात्र कारण यह है कि या तो पाणिनि भिन्न शाकटायन के व्याकरण का पुनरुद्धार के अपने ढंग से और अपनी समझ के अनुसार करना चाहते थे, या फिर वे शाकटायन के मतों से इतने चमत्कृत थे कि अपने व्याकरण को भी उनके नाम से ही प्रतिष्ठा और प्रचलन देने को उत्सुक थे। यह बात भी सगत दीखती है क्योंकि आचार्य देवर्षी (जनाचार्य) ने भी अपना व्याकरण 'ऐन्द्र' या 'जनेन्द्र' नाम से श्रुत किया था, जिसका कारण एक ओर ऐन्द्र व्याकरण की नाम्ना प्रतिष्ठा किन्तु व्ययहारत अनुपलब्धि या दूसरी ओर अपने व्याकरण को पाणिनि भिन्न परम्परा का अनुयायी सिद्ध करने का था। अतः पाल्यकीर्ति के शाकटायन नामकरण का अभिप्राय और 'शाकटायन' की व्यक्तित्व लोकप्रियता इससे स्पष्ट है।

शाकटायन की इस प्रतिष्ठा का आधार उनके 'नैरुक्त' और स्वरूपों को माना गया है, यह बात ऊपर बही गई है। उनके ...

सम्बन्ध में सूचना हम केवल यास्क से ही उपलब्ध होती है। सम्भवतः उन्होंने या तो निवचनविषयक कुछ सिद्धांतों को ही उद्धोषित किया था, या फिर उन्होंने कोई स्वतंत्र निरवत ग्रन्थ भी लिखा होगा। इस विषय के सिद्धांतों की चर्चा हम अगले ही प्रकरण में करेंगे। उनके व्याकरण रूप का परिचय भी दो रूपा मिलता है। एक ओर 'ऋक्षत्र' और 'लघु ऋक्षत्र' नामक प्रातिशाख्यों को उनकी कृति माना जाता है और अन्य ओर पाणिनी ने उनके मतों को जिस तरह उद्धोषित किया है, उससे पता चलता है कि शाकटायन ने कोई लौकिक भाषा का व्याकरण भी लिखा था। पर यह व्याकरण आज भी, किसी भी रूप में अनुपलब्ध है। महान् व्याकरण गोल्लडुकर ने यह बात विश्वास के साथ कही है कि उन्होंने लघु की 'इण्डिया हाउस लाइब्रेरी' में जिस 'शाकटायन व्याकरण' की एक प्रति को देखा था, वह मूलतः शाकटायन की ही थी यद्यपि बहुत सूम्माक्षरो में होने के कारण वे उसे तत्काल नकल न कर सके। उस काय को उन्होंने भविष्य के लिए बचा रखा था, जो काल की स्वीकृत न था। किंतु तब से इस विषय की छानबीन का प्रयास किसी ने नहीं किया। निश्चय ही यह जन शाकटायन व्याकरण नहीं रहा होगा। अन्यथा पाणिनि और भारतीय व्याकरण के अप्रतिम मनीषी गोल्लडुकर उसके प्रारम्भिक पृष्ठों के अध्ययन से ही इतना निष्कर्ष तो निकाल ही लेते।

पर शाकटायन की कृतियाँ म 'ऋक्षत्र' और 'लघु ऋक्षत्र' की भावना भी विवादास्पद ही रही है। डा० सूयनाथ ने इन दोनों का प्रामाणिक सत्करण प्रकाशित किया था। उनके समेत अन्य विद्वानों का भी यही कहना है कि ये दोनों कृतियाँ पाणिनि से परवर्ती प्रतीत होती हैं। ऐसा उन्होंने इन दोनों की वस्तु परीक्षा के आधार पर कहा है। कारण यह है कि 'ऋक्षत्र' और पाणिनीय व्याकरण की समानता कई स्थलों पर आश्चर्यजनक लगती है। उनकी परिभाषाएँ भी आश्चर्यमय रूप से समान हैं। किंतु अन्यत्र हमने इस बात को अत्यधिक विस्तार और प्रामाण्य के साथ सिद्ध किया है कि ये दोनों ग्रन्थ मूलतः प्रातिशाख्य ही हैं और इनकी सजाएँ और उपलब्धियाँ अन्य प्रातिशाख्यों से किसी भी प्रकार अधिक आश्चर्यजनक रूप से भिन्न नहीं हैं। उनकी अनेक उपलब्धियाँ की चर्चा के बाद अब पाणिनि की हर उपलब्धि को उनकी ही मौलिकता नहीं माना जाता है। धन जो बात उससे समान सिद्धाई दे, उसे आलस मूढ़ कर पाणिनि का 'अनुकरण' मात्र ही घोषित नही किया जा सकता। यह सम्भव है कि 'ऋक्षत्र' का वर्तमान सत्करण पाणिनि के बाप ही तयार हुआ हो, और उस पर बहुत कुछ परवर्ती छाप भी पड़ गई हो, किंतु उसकी अन्य अनेक मौलिकताओं को दृष्टि से अस्मत् नही किया जा सकता। लघु ऋक्षत्र को हमने भी परवर्ती रचना ही स्वीकार किया है।<sup>१</sup>

अतः स्पष्ट है कि शाकटायन की उपलब्ध कृति तो स्वतंत्र ही है, यद्यपि निरुक्तकार और यास्ककार के रूप में उनकी मायता किन्हीं भिन्न ही सम्प्रति अनुपलब्ध ग्रंथों के आधार पर रही दीखती है। 'ऋक्सत्र' मूलतः प्रातिशाख्य है। अतः शाकटायन का महत्त्व तीन रूपों में स्थापित है प्रातिशाख्यकार निरुक्तकार और व्याकरण। वास्तव में वर्तमान में जिस भाषाशास्त्र या भाषाविज्ञान कहा जाता है, इन तीनों रूपों में 'यस्य शाकटायन के मत उन्नी प्रकृति के हैं। उनके इस भाषाविद् रूप को हम अगली पंक्तियों में, उनकी उपसर्गव्याख्या की चर्चा के रूप में देखेंगे।

सब से प्रथम धारणा जो स्वयं में उतनी ही महत्त्वपूर्ण भी है, और जो यास्क ने शाकटायन के नाम में दी है इस प्रकार है "निबद्ध या स्वतंत्र रह कर उपसर्ग किसी अर्थ को नहीं प्रकटित करते।" यद्यपि यास्क ने इस का सबल प्रतिरोध किया पर पाणिनि ने उसे अपूर्व मायता प्रदान की। उनका सूत्र 'उपसर्ग क्रियायोगे' शाकटायन के यास्कप्रोक्त मत का ही पुनरुच्चारण मात्र है। बहुत अधिक सम्भव है कि यह सूत्र शाकटायन से ही पाणिनि ने लिया हो जब कि अर्थ अनन्त सूत्र उन्होंने अपने से पूर्ववर्ती परम्परा से अपनाए हैं। यदि भाषा में चाह तो अन्धात्मकता के कारण या कदाचित् जन प्रयोग के भी कारण, उपसर्गों को क्रिया से वियुक्त रूप में लेकर एक मायता चल पड़ी थी कि उनका स्वतंत्र रूप में भी एक अर्थ होता है। शाकटायन ने इसका अर्थ 'अर्थात्मक' आधार पर सिद्ध किया था। उसका कहना था कि भले ही प्रत्यक्षतः 'उपसर्ग' स्वतंत्र सत्ता के साथ दिखाई दें, किन्तु अर्थविचार की बेला में उनका उपयोग क्रिया से वियुक्त रह कर नहीं होता। अर्थात् अर्थ की दृष्टि से वे क्रिया के साथ समवेत होकर ही अपने अर्थ की अभिव्यक्ति करते हैं। यास्क ने अपनी अर्थ प्रणाली में यही पद्धति अपनाई है। पाणिनि तो इससे भी आगे बढ़ गए और उन्होंने घोषणा की कि वे ही निपात 'उपसर्ग' कहलाते हैं, जो क्रिया के योग में प्रयुक्त होते हैं। वात एक ही है 'उपसर्ग' का अपना कोई अर्थ नहीं होता केवल क्रिया के साथ संयुक्त होकर ही वह किसी भी अर्थ की अभिव्यक्ति कर सकता है। स्वतंत्र रूप में अर्थ की अभिव्यक्ति की बात उपसर्ग की 'निपात' का ही एक भेद सिद्ध करती है। क्रिया में योग की बात ही उसे, रूपात्मक दृष्टि में निपात होने पर भी, प्रकृति की दृष्टि से उसमें भिन्न सिद्ध करती है। निपात सामान्यतः अर्थ को वहन नहीं करते। किन्तु उनमें जिस भी अर्थ की, उच्चारण ही सही अभिव्यक्ति होती है, यह निबद्ध या बन्धनहीन (स्वतंत्र) स्थिति में रहकर ही होती है। निरर्थक प्रयोग तो उनका हो ही सकता है। किन्तु, स्वतंत्र प्रयोग की अवस्था में आकृतिसाम्य होने पर भी किसी निपात

१ 'न निबद्धा उपसर्गा अर्थानिराहुरिति'—नि १।१।४।

२ वा १।४।३६।



को उपसर्ग नहीं कहा जा सकता, जब तक कि वह श्रिया न अथवा किसी वैशिष्ट्य का साधन न करे। अतः 'भार प' की कल्पना का दृग प्रसार का व्याख्या—नाम आख्यात, उपसर्ग और निपात के रूप में—वरन का प्रथम अर्थ भी शाकटायन को ही जाता है।

इससे भी अधिक चमत्कारी घोषणा शाकटायन की यह थी कि नाम आख्यात से जन्म लेते हैं। यह बात देखने में छोटी प्रतीत होती है, किन्तु इसका अन्तर्हित महत्ता बहुत अधिक है। हमारे अपने सम्युक्त व्याकरण का उद्भव और विकास में इस बात की स्पष्ट किरा है कि शाकटायन शाकटायन के क्रम से क्रमशः व्याकरण की उस आधारभूति का निर्माण हुआ, जिसके आधार पर आपि शलि और पाणिनि जैसे व्याकरणों ने क्रमवद्ध रूपात्मक व्याकरण का विधान किया।

भात की पूरी तरह समझने के लिए यह जान लेना अधिक आवश्यक है कि 'इन्द्र' को व्याकरण का आदि प्रवक्ता माना जाता है। वस तो आदिप्रवक्ता 'बृहस्पति' थे, किन्तु उनका व्याकरण शब्दपारायण या प्रतिपदपाठ के रूप में था, अर्थात् प्रातिपात्य पद्धति का। प्रातिपात्यो में भी प्रतिपद पर ही विचार किया गया है। किन्तु इन्द्र ने इसकी अभिसाध्यता और व्ययता को पहचान लिया और वे व्याकरण की एवं नई सरणि के उद्घापक और सजक हुए जिसमें प्रकृति प्रत्यय का विभाग कर के आकृति मूलक या 'रूपात्मक' व्याकरण की आधारभूति रखी गई।<sup>१</sup> ऐन्द्र व्याकरण भी कम विस्तृत नहीं था। 'पञ्चवीस हजार श्लोक परिमाण' का इसे माना गया है<sup>२</sup>। लगता है कि उनके समय तक धातु को मूल हवाई स्वीकार नहीं किया गया था। कदाचित् उनके समय तक मूलतः प्रातिपदिक और क्रिया की धारणा ही जन्म पाई थी।

उनकी परम्परा में ही हुए 'भारद्वाज', जिन्हें 'आख्यात' का आदि द्रष्टा कहा गया है<sup>३</sup>। पर वे भी इस निष्कर्ष पर न पहुँचे थे कि 'नामों की रचना में आख्यात' का क्या स्थान है? सम्भवतः नाम और आख्यात की भाषा की दो प्रथम इकाइयों के रूप में घोषित करने का श्रेय उन्हें ही सर्वप्रथम जाता है। किन्तु शाकटायन इनसे अगले चरण में हुए। उन्होंने प्रथम बार और अत्यन्त बल के साथ, घोषणा की कि सभी नाम आख्यातजन्य हैं<sup>४</sup>। अनेक व्याकरण और शास्त्र उनकी इस धारणा के भी विरोधी थे। शास्त्र ने कहा सभी नाम आख्यातजन्य नहीं हो सकते<sup>५</sup>। उनका इगारा वेद के शब्दों के साथ साथ कुछ अन्य प्रयोग और सिद्धांतों के आधार

१ नामाख्यातो० —नि १।१।२। २ नि १।१।१।

३ डा वर्मा, स 'या उद्भव और विकास', अ २ '५ द्र।

४ वही। ५ भारद्वाजकमाख्यातम् —वा प्रा ८।

६ 'नामायाख्यातजानीति —नि १।१।१। ■ न सर्वाणीति वही।

पर भी था। किन्तु, यास्क ने जिस दृढ़ता के साथ शाकटायन के मत का उपस्थापन और ग्रन्थों के मत का खण्डन किया है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यास्क स्वयं भी इस मत के अनुयायी थे। उनकी सारी निवचन प्रक्रिया का आधार ही 'आरयात्' या 'धातु' की इस पृथक् पहचान पर आधारित है। 'मूलाथ' पर टिके रहने का उनका प्राप्ति यही स ज-म लेता है। पर, पाणिनीय व्याकरण का तो साग आधार ही इस बात पर रहा देखना है। जहाँ व 'धातु' को खोज नहीं पाए हैं, या जहाँ प्रत्यय की पृथक्ता उ है' विधिवत् प्रतीत नहीं हुई है वहाँ उन्होंने शब्दों को 'निपातन' या 'यथावत् सिद्ध' के रूप में स्वीकार कर लिया है। किन्तु उनका सर्वाधिक चमत्कारी प्रयास है 'उणादिसिद्धा' और 'प्रत्ययों को मायता देने में। 'उणादिसूत्र' पाणिनि ने लिखे या नहीं यह प्रश्न उनका महत्त्वपूर्ण नहीं है। क्योंकि उसने उन्हें पूर्ण मायता, स्वीकृत प्रत्यय के ही समान, दी है। पर उन्हें अलग से पढ़ने का कारण है उनकी अथसूचन क्षमता में, सामान्य अथवत् प्रत्ययों की क्षमता की अपेक्षा भिन्नता।

'उणादि' के विषय में हमने अथत्र पाणिनि ही नहीं अपितु तत्कालीन शाकटायन का ज़रूरी सिद्ध किया है। इसका एकमात्र कारण यह है कि इन सूत्रों की रचना का एकमात्र आधार इस भावना पर है कि प्रत्येक अथवान् शब्द में से 'धातु' को अलग पहचानने का यत्न किया जाए। सत्य यह है कि इस कोटि में ग्रहीत प्रत्यय सामान्य प्रत्ययों की भाँति, किसी विशिष्ट अथ की पहचान' (=प्रत्यय) नहीं करवाते। बल्कि उनकी कल्पना का लक्ष्य सामान्यतः अविभाज्य प्रतीत होने वाले शब्दों में से मूलाभासना की बाहिका 'धातु' को पृथक् से खोज निकालना है। 'धातु' की यह खोज केवल शाकटायन के इस सिद्धांत से ही अनुप्राणित है कि 'सभी नामों के मूल में कोई न कोई आरयात् विद्यमान होता है।' वर्तमान समय में मक्षम्यूलर ने जिस 'धातुमत' को उपस्थित किया, उससे यह भिन्न है।

निरुक्त' में इसकी मायता की बात तो इतने से ही स्पष्ट है कि यास्क स्पष्ट घोषणा करते हैं कि अथनित्य परीक्षेत' अर्थात् अथ अनुगत न होने पर भी व्याकरण के सामान्य प्रत्ययों के उपलब्ध न होने पर भी, किसी शब्द की खोज में इस मायता के आधार पर बने कि सभी शब्द अथ के कारण ही निरुक्त हैं। अर्थात् प्रयुक्त शब्द अपने अथ के कारण ही अस्तित्ववात् रहता है। इसी आधार पर उन्होंने निरुक्त प्रक्रिया का जा सिद्धांत तय किये उनमें धातु को खोज निकालने की व्यग्रता ही कई विचित्र (?) कल्पनाओं का आधार बनकर रही है।

इही आधारों पर हमने शाकटायन को 'उणादि' की मूलभासना का ज-म दाता घोषित किया है।

इस युक्ति के प्रसंग में ही यास्क एक बात और ऐसी कहते हैं जिससे शाकटायन के लोक भाषा-याकरण का प्रमुख प्रयोजन होने की बात पुष्ट होती है। इस में व लौकिक शब्दों और वैश्विक शब्दों की 'युत्पत्ति' की दृष्टि से समान घोषित कर रहे हैं। शाकटायन का 'श्रुतत्र' सामवेद से सम्बद्ध है। उसमें पद और संहिता के परस्पर सम्बन्ध को, और उस बहाने पदपाठ और संहितापाठ को, बनाना ही उनका मुख्य लक्ष्य है। फिर भी उसमें याकरण के अनेक ऐसे सिद्धांत व्यक्त हुए हैं, जिनका सम्बन्ध लौकिक भाषा के याकरण के साथ भी उतना ही है।

इस विषय में सबसे बड़ा प्रमाण है कि नामोजी या नागेन भट्ट का शाकटायन के विषय में यह कथन "शाकटायन आदि का शास्त्र केवल लौकिक आरम्भिक मन्त्र/शब्दों को लेकर ही प्रवृत्त हुआ है।"

शाकटायन की एक और महत्वपूर्ण बात, जिस कई आधुनिक विद्वान अत्यन्त धुनिक भी कहेंगे, यह है कि उन्होंने ही प्रथम बार यह घोषणा की कि जहाँ सीधे से प्रकृति प्रत्यक्ष विभक्त नहीं होते, वहाँ यत्नपूर्वक यह देखना चाहिए कि कहीं छंद एक से अधिक 'मूल' या 'प्रकृतियों' से तो नहीं बना हुआ। इसके सम्बन्ध में यास्क ने शाकटायन के दो मत व्यक्त किये हैं। एक है—पदा में इतर पदार्थों का संस्कार, और दूसरा है—पदों का द्विप्रकृति होना। पहले का अर्थ है, एक जगह जो पद रूप में प्रयुक्त शब्द है वही अर्थ किसी अन्य पद के एक अर्थ का निर्माण हेतु बन कर आता है। आज कस तो इस प्रकार के साकेतिक या संक्षिप्त शब्द बनाने की प्रवृत्ति प्रचलित है ही किंतु हिरण्य, हिम, नरक, हृदय, आदि शब्दों का शाकटायन को 'सत्य' की निरुक्ति के आधार पर यास्क ने ही निबचन करने का यत्न किया था। 'अग्नि' की इस प्रकार की व्युत्पत्ति शाकटायन ने की थी। किंतु जब सिद्धांत चर्चा या आक्षेप की भी बात आती है यास्क केवल शाकटायन को ही श्रेय या उपासना देते हैं।

शाकटायन का यह मत किताब दृढ़ था, यह बात उक्त दूसरे मत की एक व्याख्या से भी सिद्ध हो जाती है। द्विप्रकृति के दो अर्थ हैं। दो धातुओं के नीतिक योगदान से बनने वाले शब्द, और जिनकी मूल धातु आकारत एक होकर भी दो भिन्न भूतार्थों को कहन करने वाली हो—अर्थात् रूप में एक होकर भी दो भिन्न धातुओं से शब्द का निर्माण हुआ हो। दुर्गाचार्य ने भी शाकटायन का यही मत माना है।<sup>१</sup> ऐसी कल्पित धातुएँ स्वरूप में भिन्न मान ली जाती हैं। इह, इण आदि के रूप में। इन दोनों अर्थों में सप्रज्ञता अथ पूर्वोक्त 'दो या अधिक शब्दों के योग' वाले सिद्धांत का अधिक पुष्ट करता है।

किन्तु, दूसरा पक्ष भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। इसमें अनवधार्य शब्दों की

धातु का पूरा समाधान मिल जाता है। शाकटायन का इस सम्बन्ध में ठीक मत प्रतीत होता है कि तत्सामान्य अनेकधातु शब्द भूतत भिन्न भिन्न धर्मों में रचे गए एक ही आकार या रूप के भिन्न भिन्न शब्द होते हैं। उनका निर्माण, इसीलिए, भिन्न भिन्न या वैकल्पिक धातुओं से होना स्वीकार करते हैं।

इसने प्रतिनिधु भी अन्य कुछ मत विकीर्ण रूप में हमें मिलते हैं जिनसे शाकटायन का महत्त्व पता चलता है। इनमें से 'यामवार जिनेन्द्रबुद्धि न 'काशिका' पर अपना 'यास लिखते हुए एक जगह लिखा है 'इम प्रकार निरुक्तकार और शाकटायन के दशम में शब्दों की प्रकृति तीन रूप में होती है जाति शब्द, गुण शब्द, और क्रिया शब्द के रूप में।' उनका यह मत भी व्याकरणों की परम्परा में नहीं है। व्याकरण 'यदच्छा शब्द' की एक चौथी कोटि मानते मात्र ही नहीं हैं, बल्कि उस कोटि को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भी मानते हैं। वे ऐसे शब्दों को 'अभ्युत्पाद्य' भी मानते हैं। किन्तु शाकटायन ने जानते नूतने भी इस सत्य को स्वीकार नहीं किया।

इसी प्रकार भी अनेक बातें मध्य भी हैं, जिनमें उनकी मौलिकता सिद्ध होती है। प्रातिशाख्य निरुक्त और व्याकरण के दोनों में एक साथ इतने आशोक के साथ आने वाले शाकटायन मुनि का भी व्याकरण आज शेष नहीं है, इससे बड़े दुःख की बात और क्या हो सकती है। उह प्रातिशाख्यकारों, निरुक्त और व्याकरणों के सभी वर्गों से आदर भी मिला उन का अनुकरण भी हुआ, किन्तु विवादों का सृजन करने का दोष भी उन्हें ही सहन करना पड़ा।

महान् वाक्यशास्त्री औदुम्बरायरा

नाम की जो व्याख्या पदमजरी के प्रणेता हरदत्त ने दी है उसके अनुसार यह नाम अन्वयक रखा गया है 'स्फोटप्रतिपादन म रत आचाय । हेमचन्द्राचाय और केशव ने स्फोटायन को 'कक्षीवान' नाम दिया है । अथत्र 'कक्षीवान' नाम मिलता है किन्तु उसे 'स्फोटायन' नहीं कहा गया । उधर भरतमित्र स्पष्टत कहते हैं कि श्रीदुम्बरायण ही स्फोटायन है, क्योंकि उन्होंने ही 'स्फोट सिद्धा त' को स्पष्टत उद्घोषित किया था । इस पर श्री युधिष्ठिर मीमांसक लिखते हैं "वहा श्रीदुम्बरायण के मत म (यास्क ने) शब्द का अनित्यत्व दर्शाया है ।" इसी आधार पर वे स्फोटायन से उसे अभिन्न मानने को संसार नहीं हैं । क्योंकि, उनके मत मे स्फोटायन "शान्तित्वत्वाद् और स्फोटवाद" का उपस्थाता था ।

किन्तु, इस प्रकार की भाति केवल मीमांसक जी को ही नहीं, अथ भी बहुत से विद्वानों की हुई है । इसका विश्लेषण हम अगले प्रसंग मे करेंगे । यहा इतना कह देना ही पर्याप्त है कि हमारे मत म यदि स्फोटायन नाम 'यक्तिवाचक' न होकर अवयव पद के रूप मे है तब इसका अधिकारी श्रीदुम्बरायण से बढ कर कोई अन्य नहीं हो सकता ।

यास्क के वक्तव्य को अपुण ठग से समझने और उसे विपरीत दिशा मे ले जाने का कारण यह है कि उनके पाद खण्ड आदि को बाटने मे विद्वानों ने कुछ अधिक 'उदारता (?)' से ही काम लिया है । 'मिन्नश्चिह्नि लोक' के सिद्धान्त का इतना भुला अनुकरण नहीं हुआ । परिणामतः जिन आचार्यों को सर्वाधिक भ्रम का शिकार हुना पडा, उनम श्रीदुम्बरायण एक है । उनके मत का जिस तरह विचित्रन करक भिन्न भिन्न ढङ्गो मे दिया गया है उसन उनकी स्थापना के पूर्व पक्ष को ही उनके मत के रूप मे उपस्थित किया है । उसके बाद वे क्या वक्तव्य देना चाहते हैं उस भुला कर उस वक्तव्य को यास्क का वक्तव्य मान लिया गया है । यह आश्चर्य की बात है कि दुर्गाचाय अपनी निरुक्तवृत्ति मे उसकी 'व्याख्या' मे उपवयव का जो मत व्यक्त करत हैं वह श्रीदुम्बरायण के वक्तव्य को आश्रित करके ही पडा गया है और वह पाणिनि के एक सूत्र पर दिए गए पतञ्जलि के वक्तव्य से नितान्त अभिन्न है । अतः यास्क के आधार पर श्रीदुम्बरायण को शब्द का अनित्यत्वादी ठहराना स्वतः एक अधः अपराध है ।

कनाचित् यह बात अचीन्ही और अजानी रह जाती यदि भत हरि जैसा महान् भाषाविद् उन महाभाग श्रीदुम्बरायण के मत को स्पष्ट शब्दो मे न समझता । उनके कथन को उपवयव पतञ्जलि, और दुर्गाचाय के वक्तव्यों के साथ रख कर पढ़ने के बाद ही यह कहा जा सकता है कि यास्क उसके वक्तव्य को किस रूप मे प्रस्तुत करना चाहते थे । यास्क का वक्तव्य इस रूप मे है 'श्रीदुम्बरायण के मत मे वचन द्वित्रयनित्य है । उनम चतुष्टय (पदचतुष्टय) का प्रश्न ही नहीं

उठता<sup>१</sup> ।" चित्तु, यह है वक्तव्य का यह अर्थ जिस अर्थ अगले अक्षर से बाटकर पड़ा जाए, तब एक आत्मन्य भुक्तिजास को जन्म दे सकता है । इसके साथ अगले अक्षर में ही वास्तव जाड़त जात है 'वा' की व्याप्तिमत्ता के कारण, इस अक्षर या सधु में रूप में होने के कारण, इत्यादि से (यह नित्य है)<sup>२</sup> । वास्तव में अगले प्रकरण में नित्य वाली बात को इस रूप में कहा नहीं गया है । पर, सारा भुक्तिजाल बनाता है कि वह इस बात का उत्तर है कि ईश्वरनित्य होने हुए भी वचन का प्रयोग क्यों होता है । वास्तव में वही 'उच्चरित वाक्' और उसके द्वारा वहन किया जाने वाले 'वा' या वक्तव्य की स्थिति का अन्तर और सम्बन्ध बनाया जा रहा है ।

श्रीदुम्बरायण ने प्रथम बार दोहरे शब्दों में कहा कि वाक् का उच्चरित रूप तो अनित्य और उच्चरितप्रत्यक्षी है । अतः उस रूप में आपत्ति होने वाले पदों या शब्दों की चार पदों आदि के रूप में बांटना गलत है । पर, इसका अर्थ यह नहीं कि 'पद उच्चरित रूप में नित्य' होने पर भी, अथवा बुद्धिस्थ होने आदि के कारण नित्य है । जहाँ तक शब्द की अवधारणा और उसकी स्वरूप स्थिति का प्रश्न है, वह बुद्धिस्थ रूप में नित्य है । और, व्याप्तिमान् सधुत्व या मूढमत्त्व आदि गुण होने से वही वाक्यव्यवहार के योग्य ठहरता है । उसका उच्चरित रूप तो ध्वन्याश्रित है । ध्वनि ईश्वराश्रित होने से अनित्य है । दूसरी ओर वही शब्द जब वाक्य या वक्तव्य का अंग बनकर प्रयुक्त होता है, तब सम्बन्धितत्व या कारकादिसंयोग को वहन करता है । इस नवस्थापित सम्बन्ध के कारण ही वह अर्थ पदों से मिलकर वक्तव्यभावना या वक्तव्यभावना के वहन में समर्थ होता है । पर, यह सम्बन्ध तो प्रयोगाधीन है । मूल रूप में शब्द 'भावना' को वहन करता हुआ, जिस रूप में बुद्धिस्थ रहता माना जा सकता है, उसके साथ पदभावना का कोई सम्बन्ध नहीं बैठता । प्रत्ययों का—विभक्त्यादि का—योग उसके अर्थ में कुछ भी अन्तर उपस्थित नहीं करता । अतः उसकी पदरूप स्थिति भी नित्यता की दृष्टि से अव्यवहार्य है । और जब ऐसा है, तब बुद्धिस्थ रहने की दृष्टि से 'चारों पदों' की सत्ता मानना भी व्यर्थ है । जब विभक्त्यादिरहित रूप में ही शब्दों ने मन में रहना है, तब कौन नाम है, कौन 'माख्यात' और कौन उपसर्ग—इत्यादि प्रश्नों का अवकाश ही कहा है ? और, यदि ये हो भी, तो भी उनके 'शब्दत्व' या 'नित्यत्व' का निणय उनके वाक् का और वक्तव्य का अंग या अंश होने के कारण होता है, उनकी अपनी वैयक्तिक स्थिति आदि के कारण नहीं । अतः चारों पदों का प्रश्न भी अव्यवहार्य है ।

भरतमिश्र द्वारा श्रीदुम्बरायण को स्फोटवाद का प्रवक्तक और शब्दनित्यता का उद्घोषक कहने के बाद भी यह शका बनी ही रही की यास्क का इस विषय में कथन कहाँ तक प्रामाणिक है ? अथवा, भरतमिश्र ने यह वचन कही यास्क-वचन

के विरोध में तो नहीं कहा ? 'वाक्यपदीय' भट्ट हरि की, भाषाशास्त्रीय अध्ययन के क्षेत्र में, वह अपूर्व कृति है, जो अब तक अक्षकार में न रहती तो सम्भवतः पाश्चात्य भाषाविज्ञान के चिन्तन की दिशा अधिक सही रूप ग्रहण कर पाती । उसमें जहाँ अनेक नई बातें नए ढंग से भट्ट हरि ने कही हैं, वहाँ कुछ पूर्वस्थापित भ्रमा का निराकरण भी उन्होंने किया है । भरतमित्र से सदियों पूर्व होने वाले इसी महान् व्याकरण और भाषाविद् भट्ट हरि ने औदुम्बरायण के मत को कदाचित् सर्वाधिक संक्षिप्त किन्तु पूर्ण और सहेतुक रूप में प्रस्तुत किया है । यदि आधे श्लोक के इस स्पष्टीकरण को वे न प्रस्तुत करते तब कदाचित् औदुम्बरायण के वास्तविक अभिप्राय का रहस्योद्घाटन कभी न हो पाना ।

भट्ट हरि के इस श्लोक का अभिप्राय यह है औदुम्बरायण का यह कथन कि 'पदों को चार मानना उचित नहीं है', या कि "पदों के चारभेदों की कल्पना सम्भव नहीं है" उनके इस पयवेल्लेख का परिणाम है कि "वाक्य बुद्धिगत रूप में नित्य होता है और अर्थ का योग (वाक्य या वाक्य के साथ) नित्यात्मक होता है" । यह वक्तव्य देखन में जितना ही छोटा है निहितायता की दृष्टि से उतना ही महत्त्वपूर्ण है । इसमें दो बातें निहित हैं । वाक्य की नित्यता नामक्रियादि पदों के प्रयोग के कारण नहीं है । उसकी नित्यता का निणय ध्वनि की निरयता अनित्यता के निणय पर भी आधारित नहीं है । न ही उसकी नित्यता उसके किसी लक्षण के रूप में निहित है । किन्तु, सत्य यह है कि वाक्य की नित्यता उसके बुद्धिस्थ होने के कारण है । उत्पन्न होने और विनष्ट होने वाली वस्तु 'ध्वनि' है, शब्द या वाक्य नहीं । ध्वनि जिसका उद्गरण करती है, वह शब्द या वाक्य पहले से ही बुद्धि में परिपक्व या स्थिर होता है । अतः ध्वनिव्यापार केवल उद्गरण तक ही सीमित है । और जब शब्द या वाक्य बुद्धिस्थ है, तब ध्वनि उसका उद्गरण कितनी ही बार करे, इससे क्या भ्रंश पड़ता है ? बुद्धिस्थ होने से ही यह भी परिणाम निकलता है कि उच्चारण में हम उसको कितने भी शब्दों या ध्वनियों के माध्यम से प्रयुक्त करें, उसका अपना स्वरूप केवल उच्चरित शब्दों पर निर्भर नहीं करना । बुद्धिस्थ रूप अखण्ड है और परिमित या अपरिमित ध्वनियों उसके इस नित्य रूप को ही स्पष्ट करती हैं । वे स्वतः 'अनित्य' भले ही हों पर वे स्वयं ग्राह्य नहीं हैं । उनके माध्यम से जो वस्तु ग्राह्य है उस पर उनकी अनित्यता का कोई प्रभाव नहीं पड़ता । अब, क्योंकि, यह बुद्धिस्थ या बहन् की जाने वाली वस्तु वाक्य है 'पद' नहीं, अतः उसी वाक्य का उद्गरण वाक्य या ध्वनियों के माध्यम से होता है । पदों या शब्दों को जिस रूप में हम ग्रहण करते हैं, या स्वरूपतः ऐसा करने का भ्रम होता है वह स्वतः अनस्तित्ववान् इस लिए है कि वाक्य योग के बिना उसका अस्तित्व हो या न हो इससे कोई भ्रंश नहीं पड़ता । और प्रयोग में एकाकी शब्द और पद के प्रयोग का कोई अवकाश नहीं रहना । वस्तुनिष्ठा या वक्तव्य की गन्धभाषना ही उसे वाग्व्यापार में प्रवृत्त करती है । यह इच्छा स्वतः पद रूप में ध्वनिमात्र है । इसे अखण्ड रूप में प्रकाशित करने के प्रयास में ही हम





रूप में नित्यता ।

अथ की यह नित्यता ही उस सिद्धान्त के जन्म का कारण बनी जिसे स्फोट सिद्धान्त के नाम से कहा जाता है । अथ का वाक्य से अभिन्न और शाश्वत रूप में सम्बन्ध है, यह बात तभी नहीं जा सकती है, जब हम वाक् और अथ दोनों को, परस्पर अविभाज्य और अखण्ड मानने के साथ साथ, प्रकृति में भी अखण्ड और अविभाज्य मानें । और, यदि वे अविभाज्य हैं, तब इन प्रयोगों या शकाओं का अवकाश ही वहाँ रहता है, कि वाक्य निम्न शब्दों से मिलकर बनता है, उसकी परिभाषा क्या है, अथवा उसमें कितने पद या शब्द प्रयुक्त हुए हैं ? अखण्ड रूप में वह बुद्धि में जन्म लेता है, खण्डरूप ध्वनि के माध्यम से व्यक्त होकर, वह फिर से एक अखण्ड भावना या प्रतीति को जन्म देता है । इस अखण्ड और युगपत् प्रतीति को ही वैयाकरणों के सम्प्रदाय में 'स्फोट' कहते हैं ।

और, श्रीदुम्बरायण इस मत के ही उद्घोषक—स्फोटात्मन— रहे थे ।

इन श्रीदुम्बरायण का समय क्या रहा होगा, यह तो निश्चय में नहीं कहा जा सकता । किन्तु, एक तथ्य अवश्य अवचेय है तत्तिरीय संहिता के एक वचन में, और सायणाचार्य द्वारा उसकी व्याख्या में, इस बात को बताया गया है कि पहले बाणी को अखण्ड ही माना जाता था । कदाचित् इसीलिए उसके व्याकरणादि अविभाग व्याकरणों के रूप में ही लिखे जाते थे । किन्तु प्रकृति प्रत्यय के रूप में सविभाग पद्धति का श्रीगणेश इन्द्र ने ही किया । यह बात हमने अथर्व विस्तार से समझाई है<sup>१</sup> । किन्तु, इस वक्तव्य से यह अवश्य स्पष्ट होता है कि श्रीदुम्बरायण से बहुत पहले, वेदों के समकाल ही, बाणी की अविच्छिन्नता का सिद्धान्त बद्धमूल हो चुका था । यह बात ऋग्वेद के भी अथाय सूक्तों और मन्त्रों से व्यक्त है । 'वत्वारि शृगा' के रूप में जिस चतुःशृङ्ग और का वर्णन है, वह 'महादेव शब्द' स्वयं 'वाक्' का ही प्रतिरूप है, पद रूप शब्द का नहीं ।

किन्तु परवर्ती वैयाकरणों और भाषिकों में से वह सौभाग्य श्रीदुम्बरायण, उक्त स्फोटात्मन, का ही था कि वाक् की अखण्डता को 'वाक्य की अप्रतिनित्यता और स्फोटात्मक अखण्डता' के रूप में उसने पुनः सम्पादित किया ।

उत्तसे क्या वाक्यशास्त्री और कौन रहा होगा ? भीमासा, भीमासक और भट्ट हरि आदि उनके ही सिद्धान्त के परवर्ती उद्घोषक कहे जा सकते हैं ।

पर उसे प्रकाश में लाने का प्रथम श्रेय वाक् को ही मिलना चाहिए, जब कि उसके महत्त्व प्रतिपादन का श्रेय सर्वाधिक भट्ट हरि को ही जाता है ।

१ बर्मा, संस्कृत व्याकरण का उद्भव और विकास, द्वितीय अध्याय ।

## पारिणीय व्याकरण-पद्धति

११ भाषा विश्लेषण तथा व्याकरण की भारतीय परम्परा ससार में सबसे प्राचीन है और ईसा से पूर्व चौथी शताब्दी से लेकर इस का क्रमिक इतिहास उपलब्ध होता है। चौथी शताब्दी (ईसा से पूर्व) पाणिनि का समय माना जाता है। पाणिनि के समय के बारे में विवाद है कुछ विद्वानों ने ईसा से पूर्व सातवीं शताब्दी को पाणिनि का सिद्ध करने का यत्न किया है। किन्तु अनन्त प्रमाण चौथी शताब्दी को भाषा सिद्ध करते हैं। पाणिनि से कई शताब्दी पहले से ही भारत में भाषा विश्लेषण के अनेक प्रयोग हो रहे थे—इस बात का प्रमाण स्वयं पाणिनि द्वारा अष्टाध्यायी में उपलब्ध होता है। पाणिनि के पूर्व ही वेदों की भाषा के व्याकरणिक नियम प्रतिपादित करने वाले प्रातिशाख्य नामक ग्रन्थ रच गये थे। ग्रन्थ के अनुसार भारतीय प्रातिशाख्य का व (अज्ञात नामा) निर्माता ही थे जो इस (भाषा विज्ञान नामक) विज्ञान की आधार गिला डालने वाले थे और जिनकी रचना नामा से पाश्चात्य भाषावैज्ञानिक प्रेरित होते रहे हैं।

१२ भाषा का विश्लेषण व्याकरण का निर्माण इत्यादि भाषा सम्बन्धी अन्य प्रातिशाख्य से ही प्रारम्भ हुए। वेद का अर्थ मान जान वाले छ शास्त्रों में से चार शास्त्र भाषा विषयक चर्चा करने वाले हैं वे हैं—शिक्षा व्याकरण निरुक्त तथा छन्द। ज्योतिष और कल्प का अर्थ शास्त्र हैं जो वेदों हैं किन्तु भाषाविषयक चर्चा नहीं करते। शिक्षा व्याकरण आदि चार शास्त्रों में भाषा की (सम्बद्ध की) स्वन प्रक्रिया पदरचना वाक्य विन्यास अनुष्ठान आदि उत्पत्ति अर्थान्वयित की प्रक्रिया को रचना आदि बातों की चर्चा है। इनके अतिरिक्त वेदों के चित्रण पर आधारित दशम शास्त्र ने भाषा की चर्चा की है। 'याय वैयाक्य भीमासा (पूर्वभीमासा) वेदान्त (उत्तरभीमासा) न तथा याय शास्त्र न भी भाषा के बारे में विवेचन किया है। (साम्य दशम का इस प्रसंग में हम उल्लेख नहीं कर रहे हैं।) इनके अतिरिक्त जैन तथा बौद्ध दशना में भाषीय चर्चा की गई है। व्याकरण निरुक्त आदि में भाषीय अर्थों की रचना तथा उनके प्रकारों का विवेचन मुख्य है। पूर्व भीमासा आदि में भाषीय अर्थान्वयित और वाक्य प्रयोग सम्बन्धी चर्चा मुख्य है। प्राधुनिक भाषा विज्ञान के अध्ययन में भी सीमा में ये सभी बातें आती हैं। (इन का विस्तृत विवेचन इसी लेखक के एक अन्य ग्रन्थ प्राचीन भारतीय भाषा वैज्ञानिक चिन्तन पार में द्रष्टव्य है।)

१३ इन प्राचीन अर्थों का अवलोकन हम भले ही न करें तो भी नाम प्राप्त पारिभाषिक शब्द स्वयं यह अनुमान करने के लिए पर्याप्त हैं कि किस सूक्ष्मता

तथा तथ्यग्राही पद्धति से अध्ययन हुआ है। ये पारिभाषिक गुरु भारत की सभी भाषाओं के लिए सामान्य हो गये हैं और 'संघ' शब्द तो विश्व के स्तर पर अपनाया गया गुरु है। 'व्याकरण' शब्द स्वयं वनानिव ग्रन्थ से सम्पन्न है और वास्तव में लिपिपट्टिकम का पर्यायवाची है। अंग्रेजी का शब्द 'ग्रामर' (जो कि वास्तव में ग्रीक भाषा से लिया गया है) तथा संस्कृत का शब्द 'व्याकरण'—दोनों का परिशीलन करने पर 'व्याकरण' की वैज्ञानिकता तथा उपादेयता स्पष्ट होती है। सना, क्रिया विशेषण, सर्वनाम, प्रत्यय, उपसर्ग, धातु, पद, ग्रन्थ, विभक्ति, समास, वण, अक्षर, स्वर, व्यंजन, लिंग, वचन, वाक्य, काल, पुरुष, सन्निधि सहित, आकाशा अभ्यन्तर, प्रमाण, व्युत्पत्ति, निष्पत्ति, अभ्यास आन्तेडिन दत्त्यानि अनन्तर जो कि आधुनिक भाषा विज्ञान के लिए उपाग्य हैं, प्रथमतया इही प्राचीन ग्रन्था में प्रयुक्त हुए हैं। यही तब कि आधुनिक व्याकरणा में—विशेष कर विपरिवर्तक निष्पादक व्याकरण (Transformational and Generative Grammar) में—जिस गणितीय आधार की बात कही जाती है वैसा गणितीय आधार स्वयं पाणिनि की रचना में विद्यमान है।

१४ उक्त पारिभाषिक शब्दा में अनन्तर एम हैं जो अब प्रचलित नहीं हैं किन्तु आज की वैज्ञानिक चर्चा के लिए अत्यन्त उपयोगी बन सकते हैं। इधर अंग्रेजी शब्दावली के समानांतर हिन्दी में तथा अन्य भारतीय भाषाओं में शब्दावलीयानि निर्मित की जा रही हैं इनमें नये तोर पर गये गये अनन्तर शब्दा की अपेक्षा प्राचीन पारिभाषिक शब्द अधिक उपयुक्त प्रतीत होते हैं। उदाहरण के लिए 'Generative' शब्द को लीजिए। इसका प्रथम नई शब्दावली में 'प्रजननात्मक' माना गया है इसका समानान्तर प्राचीन शब्द है—निष्पादक या अधिन वैज्ञानिक है।

१५ आधुनिक भाषा विज्ञान पद्धतियाँ में भाषीय नियमों की प्रतिपादित करने के लिए उपयुक्त 'निरूपक भाषा' और 'लिप्यन्त पद्धति' की गोज बराबर चलती रहती है। पाणिनि की रचना में एक निरूपक भाषा गली दिखाई पड़ती है जिसका आधार स्पष्ट रूप से शिखित है। 'बीजगणित' (जो कि भारत का ही आविष्कार था) का सहारा प्राचीन भाषा वैज्ञानिक चिन्तन में लिया जाता रहा है। 'याम' शास्त्र ने अपनी एक 'निरूपक भाषा' गली अपनाई है। ('निरूपक' शब्द स्वयं इसा 'यामशास्त्रीय भाषाशैली' की देन है)। पश्चात् की जो भाषा विषयक चर्चाएँ हुई उनमें कहीं कहीं 'यामशास्त्रीय निरूपक भाषाशैली' का अपनाया गया है। इन ग्रन्थों का अध्ययन करने के लिए इन निरूपक भाषाशक्तियों का परिचय आवश्यक है। इस परिचय के अभाव के कारण वे ग्रन्थ कम पढ़े जाते रहें और अब उनका अध्ययन सुप्तप्राय होता जा रहा है। ऐसी निरूपक शैली की आधुनिक विद्वान् आज और प्रयोग करते रहते हैं तो इस प्राचीन शैली को ही क्या न अपना कर भाषीय अनुसंधान किये जायें ? इस दिशा में चिन्तन होना आवश्यक है।

२ संस्कृत भाषा चिन्तन-परम्परा यह मानती है कि पाणिनि के पूर्व (अर्थात् ईसा से पूर्व की चौथी शताब्दी के पहले) आठ व्याकरण-सम्प्रदाय प्रचलित हुए

जिनके नाम (बदाचित् उन व्याकरण सम्प्रदाया व प्रवक्तव्य व्यक्तियों के नाम पर) ऐन्द्र, चान्द्र, काशकृष्ण, कौमार, शाकटायन, सारस्वत, आपिंगल और वापिग दिये जाते हैं। पाणिनि के ग्रन्थ में बारह ऐसे नाम प्राप्त होते हैं जिनका सम्बन्ध व्याकरण चर्चा के मतवादों से है, अतः बदाचित् कुछ और भी सम्प्रदाय प्रचलित थे। पाणिनीय व्याकरण पद्धति स्वयं इन सम्प्रदायों की ऋणी है—यह स्पष्ट है। पाणिनि ने ऐसे अनेक पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया है जो स्पष्ट ही उन के पूर्ववर्ती सम्प्रदायों की देन थे। जैसे नत्पुरुष बहुब्राहि आदि सामाना के नाम, 'विभक्ति', 'प्रत्यय प्रातिपदिक' कमप्रवचनीय उपसर्ग सबनाम इत्यादि। इन शब्दों का प्रयोग करने पर भी पाणिनीय व्याकरण-पद्धति मौलिक तथा अधिक वनानिक बनी है। पाणिनीय व्याकरण पद्धति का समिप्त विवेचन आगे प्रस्तुत किया जा रहा है।

३.१ पाणिनि का व्याकरण संस्कृत भाषा का—बर्धन तथा उस समय लोक व्यवहार में स्थित संस्कृत की शाली का—व्याकरण है। इसमें भाषा संरचना का पूर्ण विश्लेषण किया गया है और नियम निरूपण एक विनिष्ट निरूपक शाली में किया गया है। इस विश्लेषण की तह में भाषा सम्बन्धी एक निश्चित सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के बारे में पाणिनि ने स्पष्ट शब्दों में कुछ नहीं कहा है। फिर भी पाणिनीय सूत्रों से उसका स्पष्ट सकत मिल जाता है। पाणिनीय सूत्रों की व्याख्या करने वाले विभिन्न व्याख्याताओं ने इस के बारे में स्थान स्थान पर कहा है।

३.२ पाणिनीय सूत्र एक समुच्चय—Set के रूप में प्रस्तुत किये गये हैं। अतएव 'अष्टाध्यायी' नाम से समुच्चयता का संकेत दिया गया है। इस सूत्र समुच्चय के उपसमुच्चय—Subsets—हैं आठ अध्याय। इन आठ उपसमुच्चयों में भी प्रत्येक में चार चार और उपसमुच्चय हैं जिन्हें पाद नाम दिया गया है। या कुल बत्तीस पाद हैं। प्रत्येक उपसमुच्चय का एक विशिष्ट लक्षण है। यह लक्षण उन सूत्रों के प्रयोग पर आधारित है। सूत्रों के उन के प्रकार के अनुसार ॥ भेद किये गये हैं (१) सज्ञासूत्र (२) परिभाषासूत्र (३) विधिसूत्र (४) नियमसूत्र (५) अनि

समुच्चय कोई विशेष ब्रह्म अथवा सब्रह्म होता है जिसमें समान लक्षण वाले अनेक तत्त्व सदस्य बने रहते हैं। समुच्चय दो प्रकार का होता है एक वह जिसमें सदस्यों का क्रम निश्चित नही रहता दूसरा वह समुच्चय जिसमें सदस्यों का क्रम निश्चित होता है। इसे क्रमशः क्रमहीन समुच्चय और क्रम बद्ध समुच्चय कहते हैं। अंग्रेजी में क्रमबद्ध समुच्चय को Sequence अथवा ordered set कहा जाता है और क्रमहीन समुच्चय को orderless Set। उदाहरण—

$$\left. \begin{matrix} (१\ २\ ३) \\ (क\ च\ ट\ त\ प) \end{matrix} \right\} \text{क्रमबद्ध समुच्चय}$$

$$\left\{ ३, २, १, ५, \dots \right. \\ \left. (क\ प\ ट\ त\ च) \right\} \text{क्रमहीन समुच्चय}$$

$( )$  यह कोष्ठक क्रमबद्ध समुच्चय का चिह्न है।  
 $\{ \}$  यह क्रमहीन समुच्चय का चिह्न है।

देशसूत्र और (६) अधिकारसूत्र ।

पाणिनिवृत्त सूत्र लगभग ४००० हैं । 'लगभग' इंगीनिए कहा गया है कि विभिन्न व्याख्याताओं की दृष्टि से सूत्र संख्या में कुछ अन्तर आ गया है । कुछ व्याख्याताओं की दृष्टि में जो पृथक् पृथक् सूत्र हैं, वे और किसी व्याख्याता की दृष्टि में मिल कर एक सूत्र बन जाते हैं । इन चार सहस्र सूत्रों में अधिकतर सूत्र विधि सूत्र हैं । ये सूत्र मूल सूत्र सजाविधायक हैं । कुछ परिभाषा-वचन करने वाले हैं । कुछ अधिकारसूत्र हैं जिनका स्वतन्त्र कोई कार्य नहीं है, किन्तु क्रम में अपने-वादे आये सूत्रों में उपस्थित होकर उन सूत्रों के कार्य को परिवर्तित या स्पष्ट करना होता है । इन अधिकारसूत्रों के तीन भेद किये गये हैं । एक वे सूत्र हैं जो व्याकरण के समस्त क्षेत्र का इस प्रकार प्रकाशित करते हैं जिस प्रकार कोई दीप सारे घर का प्रकाशित करता है । दूसरे वे अधिकारसूत्र हैं जो किसी सूत्र में जो ध्यान से उसके द्वारा आह्वित होकर सूत्र के साथ एकवाक्यता प्राप्त करके अथ बोध कराते हैं । तीसरे वे अधिकारसूत्र हैं जो किसी वाक्यविशेष को विहित करने वाले प्रत्येक सूत्र से सम्बद्ध हो जाते हैं । अतिदेशसूत्र वे हैं जो किसी विशेष वाक्य को विहित करने वाले सूत्र का कार्यान्तर में प्रवृत्त कर देते हैं । जब किसी विधिसूत्र के कार्यक्षेत्र को सीमित कर दिया जाता है, तब, उस प्रकार सीमित करने का विधान करने वाला सूत्र नियमसूत्र कहलाता है । विधि के ही उत्सर्ग और अपवाद दो भेद होते हैं । एक निषेधसूत्र भी होता है जो वास्तव में किसी पूर्व विहित कार्य का निषेध विधान करता है । इसे विधि वग के अन्तर्गत माना जा सकता है । सभी निषेध को परिभाषातुल्य भा मान लिया जाता है । ये सभी नाम पाणिनि के द्वारा कही उल्लिखित नहीं हैं । किन्तु परम्परा से इस नाम दिये जाते हैं । इन नामों से यह प्रकट होता है कि सूत्रों का परिचालन—Operation—किस प्रक्रिया से होता है । पाणिनीय पद्धति में सूत्र परिचालन की प्रक्रिया का समझना अत्यन्त आवश्यक है । पातञ्जल महाभाष्य, नागार्जुन परिभाषा-दुर्गावर इत्यादि ग्रन्थों में विस्तार से सूत्र परिचालन का विवेचन किया गया है । इन विविध प्रकार के सूत्रों के नमूने इस प्रकार हैं—

(संज्ञासूत्र) १ 'वृद्धिरावृत्ति'—'आत् और एच्' नामक प्रत्याहार के वर्णों की वृद्धि संज्ञा की जाती है । अर्थात् आकार, ऐकार और औकार इन तीनों वर्णों का नाम 'वृद्धि' होगा ।

(परिभाषासूत्र) २ 'पठो स्थानेयोगा'—जब किसी सूत्र में पठो विभक्ति वाला पद हो और उस के सम्बन्ध में कुछ विधान किया गया हो तो यह समझना चाहिए कि वह विधि उस पठोपदवाच्य शब्द के स्थान में (आदेश के रूप में) होती है । (इस बात का उदाहरण आगे के सूत्र में मिल जाएगा ।)

(विधिसूत्र) ३ 'इको यणचि'—इक प्रत्याहार के वर्णों के स्थान पर 'यण' सवर्ग के वर्ण आते हैं, जब अच् वर्ण पर हो ।

इसी बात को आधुनिक ढंग के आरेख में प्रस्तुत करना चाहें तो इस प्रकार होगा—

$$\left\{ \begin{array}{c} इ \\ उ \\ ऋ \\ ॠ \end{array} \right\} \quad \left\{ \begin{array}{c} य \\ व \\ र \\ ल \end{array} \right\} \quad \left\{ अ आ इ } \right.$$

(नियमसूत्र) ४ अनुदात्तङित आत्मनेपदम् [१ ३ १२] इसमें पूर्व धातु पर परस्मैपद और आत्मनेपद—दो प्रकार के प्रत्ययों का विधान किया गया है। इस सूत्र से यह नियम किया जा रहा है कि आत्मनेपद उहा धातु पर होगा जो इत् सगा से युक्त अनुदात्त स्वर वाले हों अथवा इत्सगा वाले ङकार से युक्त हों। अर्थात् इन ॥ भिन्न धातुओं पर परस्मैपद ही होगा न कि आत्मनेपद।

(प्रतिदेशसूत्र) ५ स्थानियदादेशोऽनृत्विषो [१ १ ५६] अन्तेभू [२ ४ ५२] सूत्र से आघधातुके प्रत्यय पर हान पर अस्ति धातु पर भू आदेश विहित किया गया। यह भू चूनि आदेश से प्राप्त है अतः इसमें धातुत्व नहीं रहा अतः धातुप्रयुक्त वाय द्र नहीं हुए। अतः यह सूत्र यह प्रतिदेश कर रहा है कि स्थानी का वाय उस पर आय आदेश को भी होता है।

(अधिकारसूत्र) ६ प्रत्यय [३ १ १] तीसरे अध्याय के प्रथम पाद से प्रारम्भ कर के पंचम अध्याय के अतः तक प्रत्यय सूत्र में प्रत्यय गणना जाड़ा जाएगा। परश्च [३ १ २] तीसरे अध्याय से पंचम अध्याय तक जो प्रत्यय विहित होंगे, वे परस्थान में होंगे।

३५ इन मुख्य सूत्रों के परिचालन के लिए सहायक तीन और समुच्चय हैं। इन तीन समुच्चयों का उल्लेख सूत्रों में आवश्यक स्थानों में उन समुच्चयों के नाम से किया जाता है। किन्तु उन समुच्चयों के सदस्य अश्वीन हैं—इस बात का पता उस सूत्र से नहीं प्राप्त होता किन्तु इन समुच्चयों का पृथक् परिगणन किया जाता है। इन तीन समुच्चयों को गण्य कहा जाता है। सूत्रों के समुच्चय के साथ इन तीनों गण्य—ममुच्चय—को मिनाकर—सम्भूत भाषा का पूर्ण ध्याकरण बनता है। ये तीनों ममुच्चय हैं—१ धातु समुच्चय २ विभिन्न शब्द ममुच्चय ३ वग समुच्चय।

१ धातु समुच्चय—सम्भूत की सभी धातुओं का यह सवर्ग है। इसके भीतर दस उपसमुच्चय हैं। इन दस उपसमुच्चयों के भीतर भी आवश्यकतानुसार कुछ अश्वीन के पृथक् सवर्ग बना लिये गये हैं। इस प्रकार वर्गीकृत कर देने से यह सुविधा होती है कि काङ्क्ष विधान करते समय अनेक अश्वीन को मिनाकर समुचित रूप में उल्लेख करना सम्भव है। जैसे—दिवादिभ्यः श्यत् [३ १ ६६]—दिवादि समुच्चय के अंग पर श्यन् आता है। 'दिवादि' एक धातुसमुच्चय है जिस में १४१ धातुएँ हैं इन पर 'श्यन्' विकरण का विधान किया गया है। इस से दिव नृत् धातुओं से दीव्यति नृत्यति जैसे रूप बनते हैं।

२ विभिन्न शब्द समुच्चय—वाचन में दस समुच्चय के भीतर २५१ उपसमुच्चय हैं। ये धातु से भिन्न अंग शब्दों का किसी विशेष कार्य के लिए किया गया

वर्गीकरण है। जमे सप्तान्विगण इस गण मे सब त्रिद्व, उभ, उभय आदि ३४ शब्द हैं, इन्हें 'सवादीनि मवतामानि [११ २७] सूत्र से सवनाम सना दी गई है।

अजादिगण मे अजा एन्का, अश्वा भूपता आदि शब्द दिय गये हैं। अजा घतष्टाप [४१ ४] सूत्र मे अजादि शब्दा पर स्त्रीलिङ्ग मे टाप प्रत्यय का विधान किया गया है।

दूसी प्रकार उपसर्गों का और अव्यया का भी उपसमुच्चय है। इन गण मे कुछ 'आकृतिगण' कहलाते हैं। याने मुक्त समुच्चय—Open set, अर्थात् इनके सदस्या की संख्या निर्धारित नही है। आकृति शब्द से सम्बद्ध गण के सदस्या मे विद्यमान लक्षण का संकेत दिया जाता है, उस लक्षण से युक्त कोई अश उस गण मे रखा जा सकता है। जो आकृतिगण नही है वे 'सीमित गण' कह जा सकते हैं, याने उनके सदस्या की संख्या निर्धारित है—Close set—जैसे।

स्वरान्विगण इसमें अव्यया का परिगणन किया गया है। यह आकृतिगण है।

सर्वादिगण सवनाम मन्त्र गद इम गण के सदस्य हैं। यह सीमितगण है।

कभी-कभी मुख्य सूत्र मे ही कुछ अंगा का कोई सबग दे दिया जाता है।

ऐसे सबग अपक्षाकृत छोटे हाने हैं। उदाहरण के लिए—

इवयुवमघोनमितद्धिते [६४ १३३] अतद्धित प्रत्यय जब पर हो तब इवन्

युवन् मघवन्—इनमे सम्प्रसारण होता है। इ उ ऋ, ऋ—ये जब क्रमशः य, व र ल के स्थान पर आवे तब सम्प्रसारण कहलाते हैं। इवन् मे सम्प्रसारण का तात्पर्य है—व' का उ हो जाना—'गुम्' बन जाना।

इसी प्रकार स्वीजसमौ [४१ २] सूत्र मे प्रातिपदिक पर नगन वाले सभी विभक्तिप्रत्यया का परिगणन करके उल्लेख किया गया है।

३ वण समुच्चय—यह सप्तान्विगण के सभी वर्णों का परिगणित सबग है। इसके भीतर भी चौदह उपसमुच्चय हैं। यह क्रमबद्ध समुच्चय है अर्थात् इनके सदस्या का क्रम भी निर्दिष्ट किया गया है। इन चौदह उपसमुच्चयों का इसीलिए चौदह सूत्र कहा जाता है। अर्थात् इन समुच्चयों मे, वर्णों का क्रम क्रमशः—ऐमा विधान भी संभव है। गण और सूत्र का यही अंतर है। सूत्र' विधायक (=विधान करने वाला) होता है 'गण' केवल सदस्या की सूचना देता है।

अशुभ एशुभ एशुभ ह्यवरट लण ब्रमडणनश् इत्यादि चौदह वण-समुच्चय है। इन सूत्रों मे प्रत्येक के अंत मे दिया गया व्यंजन—ए क इ ऋ ऋ इत्यादि इसलिये है कि उसके साथ पूरा वर्तनी किसी वण का सम्मिलित करके अण्, इण्, अक् इक् एङ ऐच अच इच अट इत्यादि कुछ सानेतिव सबग बनाय जा सकें। याने अण् कहने पर अ और 'ण' के बीच के सभी वर्णों का उल्लेख हो जायगा। अच' कहने पर अ इ उ ऋ ऋ आदि 'च' तक के सभी वर्णों का बोध हो जाएगा। ऐम संकेतों को प्रत्याहार नाम दिया गया है। पाणिनीय पद्धति मे इन प्रत्याहारों का बड़ा महत्त्व है इनके द्वारा छोटे छोटे सूत्र बनाना संभव है जिनका काय विस्तृत क्षेत्र मे ही जाता है।



३६ उक्त तीनों शमुच्चय तथा सूत्र-समुच्चय मिलकर पाणिनीय व्याकरण बनते हैं। इनके अतिरिक्त उणादिसूत्र लिङानुगासन तथा परिभाषागण—य तीन और घट भी बाद में जोड़े गये हैं। उणादिसूत्र यास्नब में कुछ सूत्रों का समुच्चय है, सूत्रों के द्वारा अनेक अव्युत्पन्न शब्दों की व्युत्पत्ति या रचना का विधान किया गया है। 'लिङानुगासन' में शब्दों के लिंग के बारे में कुछ नियम दिये गये हैं। परिभाषागण पाणिनीय सूत्रों का परिचासन करने की प्रक्रिया का स्पष्ट करने के लिये बना लिये गये कुछ नियम या Conventions हैं।

इनके अतिरिक्त षट् सूत्र नाम के कुछ सूत्र हैं जिनके द्वारा यदा में प्रयुक्त शब्दों के उदात्त अनुदात्त तथा स्वरित स्वरों का निर्धारण किया जाता है। ये सभी अंग—उणादि सूत्र से षट् सूत्र तथा के अंग—पाणिनि के पश्चात् हमारे व्यक्तियों के द्वारा किसी विशेष प्रयोजन से सम्मिलित किये गये हैं।

४ पाणिनि-पद्धति के लिए भाषा-सम्बन्धी कुछ अभिधारणाएँ या मान्यताएँ (Postulates) हैं। इनका स्पष्ट उल्लेख या व्याख्या पाणिनिवृत्त सूत्रों में नहीं है। तो भी इनका सवेत स्पष्टतया प्राप्त होता है। ये अभिधारणाएँ भाषा सम्बन्धी सिद्धांत के अंग हैं जो पाणिनि के लिए सम्मत हैं। इनका संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार से है—

(१) भाषा का मुख्य अंग वाक्य है। वाक्य रचना का मुख्य आधार 'पद' है। पद का अर्थ है शुबन्त या तिङन्त शब्द—अर्थात् प्रयोगसाधक प्रत्यय लगाने पर निष्पन्न क्रियात्मक अथवा समासवाक्य।

(२) भाषा का विश्लेषण दो प्रकार से संभव है एक—वाक्य से आरम्भ करके पद तथा पदानों का निरूपण। इसे वाक्यसंस्कार पक्ष नाम दिया गया है। दूसरा—पदानों का निरूपण करने के पश्चात् पद तथा पदानों का निरूपण करना। इसे 'पदसंस्कार पक्ष' कहा गया है।

(३) जो भाषीय अंग पहले से समाज से प्राप्त होते हैं उन्हें चार भागों में विभाजित कर सकते हैं

(१) नाम (२) आख्यात (३) उपसर्ग (४) निपात। आख्यात धातु है, उपसर्ग धातु से सलग होने वाला अंग है। नाम से संज्ञा संवनाम तथा विशेषण का ग्रहण होता है। 'निपात' में अव्यय तथा अनिष्पन्न शब्द आते हैं।

(४) नाम शब्द तथा आख्यात शब्द का अर्थ पहले से समाज में निश्चित रहता है, शब्द की आकृति (रूप) तथा (वस्तु जगत् का) अर्थ—दोनों में नित्य सम्बन्ध रहता है और नाम या धातु की आनुपूर्वी (अर्थात् वक्ता का पूर्वपरिग्रह—Tactical position of the sounds) निश्चित रहती है। व्याकरण केवल उन का 'संस्कार' करता है। 'संस्कार' से तात्पर्य है—उनका वृत्तिधर्म में संयोजित करना तथा वाक्य में प्रयोग-योग्य बनाना। (वृत्ति का विवेचन आगे किया जाएगा)

(५) वाक्य समस्तपद पद तथा पदानों—ये चार वाक्यगत स्तर हैं। पदानों नाम, धातु निपात, उपसर्ग तथा कृत, तद्धित, शुभ्र तिङ् आदि प्रत्यय एवं अ

‘य’, ‘स्य’ इत्यादि विकरण आते हैं।

(६) ‘पद’ के भीतर कृदन्त, तद्धितान्त तथा क्रिया रूप आते हैं। कुछ पाठ च्छिन्न पद या अव्युत्पन्न पद भी होते हैं।

(७) एक पदाक्ष को दूसरे पदाक्ष से जोड़कर तब उस विशिष्ट आकृति के द्वारा अर्थ प्रतिपादन करने की रीति ‘वृत्ति’ कहलाती है। भाषा में छ प्रकार की वृत्तियाँ पायी जाती हैं। जैसे—

- १ कृदवृत्ति—धातु पर विभिन्न व्युत्पादक प्रत्यय लगाकर शब्द बना लेना।
- २ तद्धितवृत्ति—एक नाम शब्द पर व्युत्पादक प्रत्यय लगाकर दूसरा नाम शब्द बना लेना।
- ३ समास वृत्ति—दो शब्दों का योजन।
- ४ एक शेष वृत्ति—दो या अधिक शब्दों में से एक को बचाकर शेष शब्दों का लोप कर देना और उस बचे हुए से पूरा अर्थ प्रतिपादित करना।
- ५ सनाद्यन्त वृत्ति—धातु पर मन्, यङ् आदि प्रत्यय लगाकर विविध क्रिया रूप व्युत्पादित कर लेना जिनसे विविध प्रकार—moods तथा क्रिया वृत्तियाँ—aspects प्रकट होती हैं।
- ६ धातुवृत्ति (क्रियारूप)—धातु पर ‘तिङ्’ प्रत्यय लगाकर विविध क्रिया रूप व्युत्पन्न करना।

(८) किसी शब्द का अर्थ दो प्रकार का होता है—

- १ शब्द का स्वरूप स्वयं शब्द का अर्थ है।
- २ वस्तुगत अर्थ विशेष या ‘जाति’, उस जाति से युक्त ‘व्यक्ति’ (याने वस्तु) व्यक्ति की आकृति—ये अर्थ होते हैं। एक मत के अनुसार वस्तुगत लिंग, वचन तथा कारक भी शब्द का ही अर्थ हैं। (प्रत्यय केवल संकेत देने वाले हैं, अर्थ बोधक नहीं)।

(९) अर्थ-बोधकता की दृष्टि से शब्द के चार भेद किये जा सकते हैं—

- १ सज्ञा शब्द २ जाति शब्द ३ क्रिया शब्द और ४ गुण शब्द। सज्ञा, जाति क्रिया और गुण—इन्हें प्रवृत्तिनिमित्त कहते हैं। अर्थात् किसी शब्द की अर्थ में प्रवृत्ति या अर्थ प्रतिपादन के लिये ये निमित्त—हेतु बनते हैं। पशु जातिशब्द है, पाचक क्रियाशब्द, सुन्दर गुणशब्द है और दिव्य सज्ञाशब्द।

(१०) वाक्य में एक पद का अन्य पद के साथ तीन प्रकार का सम्बन्ध होता है— १ आनन्तर्य २ सामीप्य और ३ प्रसंग। दो अक्षरों के मध्य किसी लक्षण के आधार पर जो साम्य स्थापित हो वही आनन्तर्य है। यह आनन्तर्य स्थान, अर्थ (याने प्रकार—Function), गुण तथा प्रमाण—इनके आधार पर होता है।

(११) सामीप्य अक्षरों के मध्य ‘सहिता’ होती है। ‘सहिता’ से तात्पर्य यह है— दो अक्षरों का ऐसा योग कि बीच में अवरोध या विराम न रहे। यह सहिता प्रवृत्ति और प्रत्यय में, उपसर्ग और धातु में, समस्त पद के घटकों में, नित्य रहती है किन्तु वाक्य के स्तर पर उसके धातु पदों के मध्य कभी हो सकती है या नहीं भी

हा सकती है।

५ उपयुक्त भाषामन्वघी मायताया व अतिरिक्त भाषा की अथप्रतिपादकता के बारे में स्फोट नामक सिद्धांत माय हुआ है। व्याख्याताया के अनुसार पाणिनि इस मत से परिचित थे। किंतु पाणिनि ने अवड स्फोटायनस्य आदि सूत्रों में 'स्फोटायन' नामक किसी स्फोटमतावलंबी यवित के उल्लेख के अतिरिक्त स्पष्ट रूप में इस सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा है। वैसे वाक्य शब्द के केवल दो बार प्रयोग के अतिरिक्त पाणिनि ने कहीं भी उसकी व्याख्या नहीं की है।

स्फोट के दो प्रधान भेद हैं—अखण्डस्फोट और लघुस्फोट। अखण्ड रूप में वाक्य अथबोधक होता है वाक्य का विखण्डन संभव है और प्रत्येक विखण्डित अंग का अपना अपना पृथक् अर्थ या प्रकाय—function होता है—इस प्रकार दो पक्ष हैं।

भाषा का ही नाम है स्फोट। क्योंकि उससे अर्थ स्पृष्टि—प्रकाशित होता है स्फुटति अर्थोऽस्मादिति स्फाट = भाषा की स्वनात्मक संरचना को जिसका अर्थ के साथ नित्य सम्बन्ध होता है 'स्फाट' कहा जाता है।

शब्द और अर्थ के सम्बन्ध में कुछ मतवाद हैं। पद में दो अर्थ होते हैं—प्रकृति और प्रत्यय। 'प्रकृति' से नाम शब्द तथा धातु का ग्रहण होता है। नामशब्द से बाधित होनेवाला अर्थ है—

(१) प्रवृत्तिनिमित्त (अर्थार्थ सत्ता क्रिया गुण या जाति)

(२) वस्तु की आकृति तथा व्यक्ति (द्रव्य)।

धातु से बाधित होनेवाला अर्थ है—

(१) फल (जो कि व्यापारजन्य है)

(२) व्यापार (फलानुबन्ध व्यापार)

प्रत्यय जब नाम शब्द पर सलग्न होता है तब उसमें निग्न वचन और कारक का बोध होता है। एक मत में ये भी नाम शब्द से ही बाधित होते हैं प्रत्यय केवल चोक्त है। धातु पर सगनेवाले प्रत्यय से काल वृत्ति प्रयोग आदि का बोध होता है। धातु पर सग्न होने वाले कुछ प्रत्ययों से पीन पुन्य भृगाथ इच्छा आदि का बोध होता है।

उपसर्ग धातु के पूर्व सलग्न होनेवाले अंग हैं इनसे धातु का अर्थ परिवर्तित हो जाता है।

६ पाणिनि के सूत्रों का परिचालन करने में दो प्रकार के कार्य होते हैं—

(१) पदनिष्पत्ति (२) स्वन प्रक्रिया।

पदनिष्पत्ति से तात्पर्य है—नाम या आख्यात पर व्युत्पन्न या प्रयोगमात्रक प्रत्यय सलग्न करके शब्द निष्पन्न करना।

स्वन प्रक्रिया से तात्पर्य है—पदानों के परस्पर मिलन से स्वन में हानवाने परिवर्तन की सिद्धि। ये परिवर्तन आदेश भोग आगम और प्रवृत्तिमात्र नाम से चार प्रकार के होते हैं।

७ पाणिनीय व्याकरण निष्पादक (Generative) है। इसके सूत्रों का प्रयोग

से अनेक शब्दरूप निष्पन्न हो सकते हैं जो भाषा के लिए ग्राह्य है। सूत्रों का प्रयोग या परिचालन एक विशेष क्रम से होता है। सूत्रों का क्रम अनेक वातावरणों में निर्भर रहता है। एक तो जिस क्रम से सूत्र अष्टाध्यायी में अनुक्रान्त हैं, वही क्रम है। दूसरा किसी सदभ या उल्लेख में स्थित लक्षणा के आधार पर काह सूत्र पहले परिचालित होता है कोर्र वाद म। अपवादसूत्र उत्तमगमून से चलवान् है नियम सूत्र विधिसूत्र से चलवान् है। इसी प्रकार अनेक Conventions या समर्थ निश्चिन है जिनके आधार पर अष्टाध्यायी के सूत्रों का परिचालन होता है। इन 'समर्थ या Conventions का परिभाषा नाम दिया जाता है। पतञ्जलिकृत महाभाष्य नागार्जन परिभाषा-दुष्कर आदि ग्रन्थों में इन समर्थों की विस्तृत चर्चा मिलती है।

पाणिनिमूत्रों के परिचालन तथा उनसे पन्निष्पत्ति एवं स्वन प्रक्रिया का एक नमूना दिया जा रहा है—

भवति किरारूप की निष्पत्ति —

धातु समुच्चय में पहला अक्षर है भू जिसका अर्थ है मत्ता (या अस्मिन्त्व) भूवादया धातुव [१३१] म् सूत्र में भू को धातु मत्ता दी गई है।

वतमाने लट् [३२१२३] 'भू धातु के परे वतमानकालसूचक लट् आता है—भू+लट्

उपदेशेऽजनुनासिक इत् [१३२] } लट् में 'अ और ट को इत् सना  
हलन्त्यम् [१३३] } दी गई है।

तस्य लोप [१३६] ,, 'इत्' का लोप—भू+ल

लस्य [३४७७] अधिवारमून

निप्तम् [३४७८] इस सूत्र से 'ल' का 'तिप्' आदेश भू+तिप्

हलन्त्यम् [१३३] ,, तिप् में प को 'इत्' सना

तस्य लोप [१३६] प् का लोप—भू+ति

तिङ्गित् सावधातुकम् [३४११३] , ति को सावधातुक सना

क्तरि णप् [३१६०] धातु पर णप् आता है। भू+क्षप+ति

हलन्त्यम् [१३३] , णप् में प और

लगावतद्धिने [१३८] 'ण्' को 'इत्' सना

सम्प लोप [१३६] इत् का लोप—भू+भ+ति

सावधातुवाधधातुकयो [७३८४] इस सूत्र से सावधातुव प्रत्यय परे होने पर इगन्त णद् [३३८८, लृ—जिसके अन्त में आवे वने शब्द] का गुण होता है।

अनेक गुण [११२] इस सूत्र से अ ए ओ—अ गुण सना दी गई है।

स्यानेऽतस्तम् [११८०] इस सूत्र से आदेश 'सहानम' होना चाहिए।

भू+भ+ति' भू में ऊ है। गुणवत् अ, ए, ओ—मत्ता ऊ का सामर्थ्य आ व साथ है क्योंकि 'ऊ और या दोनों का उच्चारण घाण्ट से होता है। अतः भू का आदेश 'भो' होगा।

अलोऽत्यस्य [१ १ ५२] इस सूत्र से पठ्ठी विभक्तिसहित निर्देश जहाँ हा वहाँ शब्दगत अंतिम वण पर काय होता है। भू' का गुण होता है—

इसका अर्थ है अंतिम वण 'ऊ' का गुण ओ होता है। ओ+अ+ति एचोऽमवायाव [६ १ ७८] इस रूप से अ (अच) परे होने से ओ' में 'आ' (एच) का अव आदेश होता है। अव+अ+ति=भवति

उक्त उदाहरण में पदनिष्पत्ति एवं स्वन प्रक्रिया दोनों के नमून हैं।

॥ १ वाक्यगत पदों का क्रिया के साथ अवयव माना जाता है। इस अवयव को ही 'कारक' नाम दिया जाता है।

क्रियामें मुख्यतः घातु है। घातु शब्दकोणीय अक्ष है जिस का अर्थ वस्तु जगत् से सिद्ध होता है। व्याकरण की दृष्टिसे घातु के द्वारा दो बातों का संकेत प्राप्त होता है—(१) फल (२) व्यापार। यहाँ पर फल शब्द व्यापक अर्थ देनेवाला एक शास्त्रीय पारिभाषिक शब्द है। किसी व्यापार से उत्पन्न होनेवाला कार्य परिणाम लाभ, व्यापार का उद्देश्य आदि बहुतसे तत्त्व फल में अन्तर्भूत हैं।

खाना घातु में— अन्न को मुँह में डालकर चबाना निगलना आदि— व्यापार है। भूख की शांति— फल है।

(रोटी) बनाना— म आटा मूँधने से लेकर तब पर डालकर पकाना और सेंकन तक की क्रियाएँ व्यापार हैं। आटे में खानयोग्य सुपाच्य तत्त्व का उत्पादन फल है।

(पुस्तक) पढ़ना— म पुस्तक में लिखित अक्षरों को आँखों से देखकर लिपि को पहचानना समझना उससे लिखित अक्षरों का बुद्धिसे ग्रहण करना व्यापार है।

कोई नई जानकारी या बुद्धि वशेष उसका फल है।

नाना— मे पर उठाकर रखना, कदम बढाना, एक प्रश्न का छोड़कर आगे के प्रदेश का संपर्क प्राप्त करना आदि व्यापार है।

आगे के प्रदेश का संयोग ही 'फल' है।

इस प्रकार देखने पर प्रत्येक घातु में कोई व्यापार बाधित होता है जो किसी फल के लिए होता है।

॥ २ वाक्य के विभिन्न खंडों में से प्रत्येक का अवयव घातु के साथ होता है किसी खंड का सम्बन्ध घातु के फलाश से होता है तो किसी का सम्बन्ध घातु के व्यापार से होता है। इस सम्बन्धविशेष का नाम ही कारक है—क्रियावयित्व कारकत्वम्।

॥ ३ कारक सात प्रकार का माना गया है। इनमें से सातों क्रिया के साथ किसी पद का साक्षात् सम्बन्ध व्यक्त करते हैं। एक ऐसा है जो वाक्यगत एकपद का दूसरे पद के साथ सम्बन्ध व्यक्त करता है न कि क्रिया के साथ।

वर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण—वाक्यगत पद का — के साथ साक्षात् सम्बन्ध व्यक्त करते हैं।

सम्बन्ध कारक (षष्ठी विभक्ति) वाक्यगत एक पद का दूसरे पद के साथ सम्बन्ध बन करता है न कि क्रिया के साथ। इस कारक का क्रिया के साथ सम्बन्ध राक्ष रूपसे होता है, याने किसी अर्थ पद के माध्यम से होता है। अत एव कुछ व्याकरण इस अंतिम कारक को—सम्बन्ध कारक को—‘कारक’ नहीं मानते।

८४ धातु तथा विभिन्न कारकों का अवयव द्म प्रकार है —

१ कर्ता—धातुबोधित व्यापार का आश्रय,

२ कर्म—धातुबोधित फल का आश्रय

३ करण—धातुबोधित व्यापार से सम्बद्ध

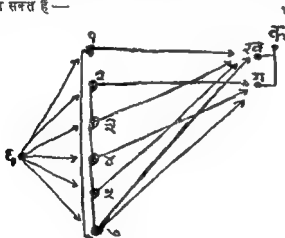
४ सम्प्रदान—धातुबोधित फल से सम्बद्ध

५ अपादान—धातुबोधित व्यापार से सम्बद्ध,

७ अधिकरण— { काल—धातुबोधित फल या व्यापार से सम्बद्ध  
स्थान—धातुबोधित फल या व्यापार से सम्बद्ध

अधिकरण का कर्ता अथवा कर्म के द्वारा भी धातु के साथ सम्बद्ध होता है।

६ सम्बन्धकारक (षष्ठी विभक्ति) का अवयव कर्ता, कर्म आदि के माध्यम से होता है और उनके माध्यम से धातु के साथ सम्बन्ध होता है। इन बातों का निम्न प्रकार से दिखा सकते हैं—



६ पाणिनि का भूत्रात्मक व्याकरण मक्षिण मुद्राय तथा अत्यधिक निष्ठा दशममतायुक्त है। अतः यह अत्यन्त सावधान्य हुआ। यह सम्प्रतः भाषा का सम्पूर्ण विश्लेषणमात्र नहीं किन्तु भाषा पर अधिराज्य करने की इच्छा रखने वाला न किण्वरदान रूप सिद्ध हुआ। अतः सम्प्रतः क अध्वयन क निष्ठा पाणिनि की अष्टाध्यायी का अध्वयन अनिवार्य माना जान लगा। पाणिनि के व्याकरण की पद्धति में अपरिचित व्यक्ति कभी इस बतल एक प्रयोग व्याकरण या भाषा शिक्षण क लिए निमित्त व्याकरण कहत हैं। (जगा कि इस संग्रह न कभी जिगा विद्वान् का एमी टिप्पणी करते हुए मुना।) किन्तु यह तथ्य नहीं है। (पाणिनि क व्याकरण का केवल शिक्षण का पाठ्यग्रन्थ कना ऐसा ही है जम बाइ भारतीय त्रिधि मक्षिता—Indian Penal Code—का कानून-पाठ्यक्रम क निय निमित्त समभ।) एग सम्बन्ध म हम ब्लूमफील्ड और चाम्बो जम प्राधुनिक भाषाविज्ञानिका क कथन। की धार इन विद्वानों का ध्यान धावृष्ट करना चाहत हैं उक्त भाषात्वनामिका क पाणिनि सम्बन्धी कथन प्रसिद्ध हैं।

पाणिनि के इस छोटे ग्रन्थ के आधार पर एक विंगल ग्रन्थरानि निमित्त हुई है। पाणिनि क पश्चात् बररचि (काल्यायन) ने अष्टाध्यायी की कुछ कमिया का उल्लेख करते हुए उह सुधारने के लिए वृत्तिग्रन्थ (वातिक) का प्रणयन किया जिस के द्वारा बररचि ने कुछ नये सत्र जोड़ या मूलसूत्रा म सुधार उपस्थित किये।

१० बररचि के पश्चात् पतञ्जलि ने अष्टाध्यायी पर अपना महाभाष्य 'शानुशामन' नाम स प्रस्तुत किया। इसमें बररचि की वृत्ति की परीक्षा करते हुए तथा पाणिनि का समयन करते हुए पतञ्जलि न विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की है। पतञ्जलि का यह महाभाष्य आचार गुण तथा प्रभाव सब म महान् सिद्ध हुआ। यह केवल सस्कृत भाषा का विश्लेषणमात्र नहीं है, किन्तु भाषा सम्बन्धी दान है। अपनी प्रतिपादन शली की रोचकता के लिए भी महाभाष्य समस्त सस्कृत बाइमय म एक अनुपम रचना माना जाता है। पतञ्जलि का समय ईसा स डेढ़ सौ वष पूर्व माना जाता है।

११ पाणिनि व्याकरण नाम से अब पाणिनि बररचि तथा पतञ्जलि—इन तीना—की वृत्तिया का समुदाय लिया जाता है। इह मुनिग्रन्थ कहत हैं।

१२ पतञ्जलि के पूर्व अष्टाध्यायी पर व्याडि न व्याख्या लिखी थी यह अब अप्राप्य है। पतञ्जलि के बाद के व्याख्याता हुए बजि सोमव ह्यक्ष आदि।

१३ ईस्वी प्रथम शती स से कर चौदहवी शती तक की अवधि म अनन्य व्याकरण प्रसिद्ध रहे इनकी तथा इनके ग्रन्था की एक लम्बी सूची है। इनम से कुछ तो स्वतंत्र व्याकरणनिर्माता थे। कात त्रव्याकरणकर्ता बलाध चन्द्रमोमी पूज्यपाद नेवनदी, शाकटायन (जैन), भोज हेमचन्द्र सूरि वधमान, पाल्यकीर्ति यशवर्मा बोपदेव, इत्यादि ऐसे ही व्याकरण थे। इनके अतिरिक्त ऐसे अनेक व्याकरण हुए जिहोने पाणिनीय परंपरा का पृष्ठपोषण किया। अतृ हरिवृत्त 'वाक्यपदीय तथा

महाभाष्यटीका 'त्रिपदी उल्लेखनीय है। त्रिपदी के कुछ ही अंग अब उपलब्ध हैं, वाक्यपदीय उपलब्ध है। इस के प्रथमकाण्ड की हरिवृषभवृत्त व्याख्या तथा उत्तर कांड की पुष्पराज और हेलाराज वृत्त टीका उपलब्ध हैं।

१४ दामन और जयद्रित्य (सातवा गनी ईस्वी) ने अष्टाध्यायी पर काशिरा टीका रची। ईस्वी मोलहवी शती के पश्चात् महाभाष्य की व्याख्या प्रतीप के विरचयिता कयट तथा महाभाष्य एवं प्रदीप पर 'उद्योत व्याख्या लिखने वाले नागश भट्ट (अठारहवीं गनी) अत्यन्त विग्यान हुए। नागश भट्ट ने अताधिक ग्रन्था की रचना की। इनकी 'वैयाकरणमिद्वानमञ्जूषा पर अनुपम कृति है इही के गणरत्न, शङ्खेदुशेखर स्फोटवाद, परिभाषेदुशेखर इत्यादि अनेक ग्रन्थ आदर के साथ पढे जाते रह हैं। इन सब ग्रन्था की अनेक व्याख्याएँ उपलब्ध है।

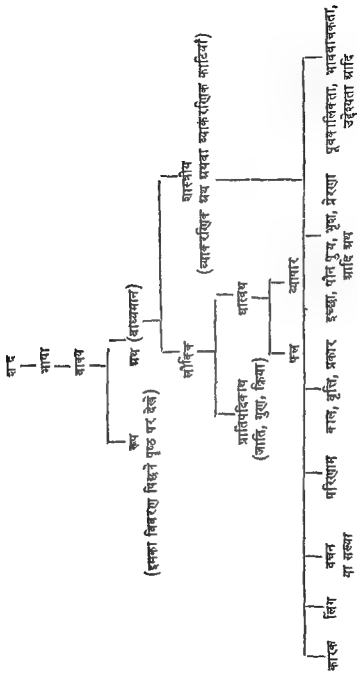
१५ इनके अतिरिक्त रामचन्द्राचार्यवृत्त 'प्रशिया वीमुनी' (पंद्रहवीं शती ईस्वी), भट्टोजी दीक्षित वृत्त 'मिद्वानवौमुनी' (सत्रहवीं शती ई०) कौण्टभट्टवृत्त 'वैयाकरणभूषणवार' (सनहवीं शती ईस्वी) आदि उल्लेखनीय हैं। 'मिद्वान्तवौमुनी' अष्टाध्यायी की व्याख्या है। भट्टोजी ने स्वयं इस की व्याख्या प्रीतमनोरमा रची है। भट्टोजीवृत्त शङ्खेदुस्तुभ अष्टाध्यायी पर उनकी एक दूसरी व्याख्या है। इन सब ग्रन्था की अनेक व्याख्याएँ उपलब्ध हैं।

१६ यह सारी व्याकरण परंपरा अथपरिमाण, मनवानों की मात्रा, विवेचन की वगानिकता तथा व्यापकता नहीं उपनम्त्रिया—इत्यादि दृष्टिया से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विज्ञानराशि है। इस विज्ञान राशि के अन्तगत केवल सन्तुत भाषा का प्रयोग शिक्षा के लिए निमित्त व्याकरण ग्रन्थ मात्र नहीं (जमे रि कभी भ्रमवश समझा जाता है) किन्तु भाषा यामा य मे सम्बद्ध विस्तृत चर्चाएँ हैं। भाषा दशत के अनेक विषय हैं। भाषा की व्याकरणिक संरचना का ता विवेचन है ही साथ ही अथविवेचन के सम्बन्ध में अनेक भौतिक तथा वज्ञानिक विवेचन है। यह अवश्य है कि इनमे स अधिकतर ग्रन्थों की प्रतिपादन श्रुती तक शली है। किन्तु यह तकशली विज्ञानसम्मत है। तब शब्द स यह न समझना चाहिए कि इनमें ऊहापोहात्मक चिंतन (प्रदक्लबाजी) है। यह पाश्चत्य speculative thinking नहीं है। यह शुद्ध वस्तुविश्लेषणपरक चिंतन है। आधुनिक भाषाविज्ञान में जिम गणिनीय तक का कभी उल्लेख किया जाता है वह इस प्राचीन भारतीय तक का प्रतिरूप है। यह इस दृष्टि से कहा जा रहा है कि अब भी इन ग्रन्था के पुनरवलोकन अध्ययन मनन तथा इन पर आधारित अनुसंधानों से हम आधुनिक भाषाविज्ञान के गोच क्षेत्र में कुछ नया दे सकत है। भारतीय विद्वानों का यह वक्तव्य भी है।

पाणिनीय भाषा विनपण पद्धति के अनुसार भाषा मरचना गत विविध तत्त्वा की सारिणी अगले पृष्ठा पर दी है







## व्याडि और 'संग्रह'

संस्कृत व्याकरण और विनोद व्याकरण दोनों के अनेक प्राचीन लेखकों ने अपने ग्रन्थों में अनेक-आचार्य व्याडि और उनका कृति 'संग्रह' का सममान उल्लेख किया है। पर व्याडि की यह कृति कहीं उपलब्ध नहीं होती और न कहीं व्याडि विषयक प्रामाणिक एवं सम्पूर्ण सामग्री ही मिलती है। इसलिए प्रतीत होता है कि संस्कृत के अथ अधिसूच्य लेखकों के समान व्याडि ने अपने विषय में कुछ नहीं निगा और बुद्धि का समस्त वैभव अपनी कृति के प्रणयन में लगा दिया। फिर भी 'संग्रह' कृति और इसके कृतिवार का नाम गेय रह जाना आश्चर्यजनक है। साथ अपनी गरिमा का परिचायक भी है। तदर्थ परवर्ती उल्लेखन हमारे ध्यान के पात्र हैं।

किसी भी व्यक्ति और उसके कृतित्व से परिचित होना के लिए उसके कान का भुविचित ज्ञान बड़ा सहायक होता है। इसलिए यदि व्याडि के समय की आन्तिम व अन्तिम सीमाओं का बोध हो जाय तो यह निश्चय ही अथ सामग्रियों के सफलन में सहायक होगा।

संस्कृत व्याकरण-भगन व ज्योतिषुक्त आचार्य पाणिनि ने अष्टाध्यायी में प्रसंगवश अनेक वाक्यरूपा का उल्लेख किया है पर वे व्याडि के विषय में मौन हैं। इससे स्वाभाविक रूप से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि व्याडि या तो पाणिनि के समय तक हुए ही नहीं थे और यदि हुए भी थे तो अपने क्षेत्र में अथ प्रतिष्ठा नहीं थे।

व्याडि के अथ का प्रथम उल्लेख हम व्याकरणमहाभाष्य में मिलता है जहाँ पञ्जलि ने शब्द के नित्यत्व विषय वाक्यत्व पर विचार करने हुए लिखा है कि संग्रह में इस विषय की चर्चा मुख्य रूप से की गयी है<sup>१</sup>।

“संग्रह विषयक पस्पशाह्निक” के इस प्रथम उल्लेख पर टीका करने हुए महाभाष्य के टीकाकार नाग ने भट्ट ने अपनी उद्धात टीका में संग्रह अथ का व्याडि कृत बताते हुए यह भी स्पष्ट कर दिया है कि यह अथ एक शब्द शब्द परिमाणका था<sup>२</sup>।

इसी प्रकार वाक्यपदीय के एक (२८५) शब्द की टीका में पुण्यराज ने

१ “संग्रह एतत्प्राधान्येन परीक्षितम्।”—पस्पशाह्निक।

२ “संग्रहो व्याडिकृतो सप्त श्लोक सङ्घो अथ” इति प्रसिद्धिः।

भी उपयुक्त विचार का ही गत्यान्तर माध्यम से प्रस्तुत किया है ।

इन तीन उद्धरणों के आधार पर यह मान्यता निरापद प्रतीत होती है कि 'सग्रह' व्याडि नामक आचार्य की कृति थी और व्याडि पतञ्जलि से पूर्ववर्ती थे ।

अब व्याडि और सग्रह की काल सीमा के आदिम व अन्तिम छाना को क्रमशः पाणिनि के पहले और पतञ्जलि के पीछे लाना सम्भव नहीं प्रतीत होता । इसलिए व्याडि का समय पाणिनि और पतञ्जलि के मध्य में ही कहा निश्चित करना होगा ।

पाणिनि और पतञ्जलि के समय को भी यदि दो भागों में विभक्त कर लिया जाय तो व्याडि का ठीक समय उत्तरार्ध की अपेक्षा कहीं पूर्वाध में ही निश्चित करना होगा । इस अनुमान की पुष्टि में यदि प्रमाणों की अपेक्षा हो तो वास्तविकता यह है कि उन दोनों इलाकों का प्रस्तुत किया जा सकता है जिनके अनुसार सग्रह के अन्त या अग्रचर्चित हान के पश्चात् ही महाभाष्य की रचना हुई थी<sup>२</sup> ।

यहाँ हम बात पर ध्यान देना आवश्यक है कि महाभाष्यकार जसी व्याकरण विभूतियाँ जिस ग्रन्थ की प्रशंसा उन्मुक्त कण्ठ से करती हैं—उसके अन्त हान में कम समय लगा होगा—यह बात गलत नहीं उतरती । अतः पतञ्जलि से काफी पहले ही व्याडि का समय मानना समीचीन लगता है ।

इस धारणा के समर्थन में महाभाष्य का एक और प्रमाण मुखरित होता प्रतीत हो रहा है । तदनुसार पूर्वपदस्वरत्वविधायक सूत्र 'आचार्योपसजनचान्त यासी' (६२३६) के भाष्य में पतञ्जलि ने उदाहरण दिया है— 'अपिगल पाणिनीय व्याडौ गौतमीया ।' यह उदाहरण व्याकरणों की जाँच पर (गिण्य) पर प्रस्तुत कर रहा है उसमें व्याडि की चर्चा अव्यवहित पर के रूप में पाणिनि के पश्चात् की गयी है । सबसे अन्त में उल्लिखित हैं गौतम जो इस बात का समर्थन है कि काल की दृष्टि से व्याडि पतञ्जलि के अव्यवहित पूर्व युग में नहीं हुए थे ।

महाभाष्य में सग्रह के रचयिता के रूप में दाक्षायण उल्लिखित है । उसमें प्राप्तोक्तमणि (७३६६) के वार्तिक शेष विभाषा के दाक्षायण उदाहरण प्रस्तुत करते हुए सग्रह का दाक्षायण की श्रेष्ठ कृति बताया गया है ।<sup>३</sup> हम प्रकार नागेश भट्ट और पुण्यगज ने जिस सग्रहकार का व्याडि नाम दिया है, उस ही

१ इह पुरा पाणिनीयेऽस्मिन् याकरणे व्याडिपुपरचिते तस्य ग्रन्थ परिमाणं सग्रहाभिधानं निबध्नासीत् ।

२ प्रायेण लक्षोपचोत्पत्तिविद्यापरिग्रहान् ।

सप्राप्य व्याकरणान् सग्रहेऽस्तमुपागते ॥ २१४८४ ॥

कृतेऽयं पतञ्जलिना गुरुणा तीर्थदत्तिना ।

सर्वेषां पायबीजानां महाभाष्ये निबध्ने ॥ ४८१ ॥

३ शोभनास्तु दाक्षायणस्य सग्रहस्य कृति ।

तथा शोभनास्तु दाक्षायणेन सग्रहस्य कृति ।

पतञ्जलि दाक्षायण कहते हैं। प्रथ 'सग्रह' दोना के मध्य तादात्म्य स्थापित करना है। अतः यह बात असंदिग्ध प्रतीत होती है कि व्याडि और दाक्षायण उसी एक व्यक्ति के दो नाम हैं जिसने सग्रह की रचना की।

सग्रहकार व्याडि का दूसरा नाम दाक्षायण मान लेने पर हमारे सम्मुख एक और विचार मग्न हो प्रस्तुत होती है। तदनुसार हम यह साधन पर विचार करने हैं कि पाणिनि के नामान्तर दाक्षीपुत्र<sup>१</sup> और व्याडि के नामान्तर दाक्षायण में वही कोई पारस्परिक संबंध तो नहीं है क्योंकि दोनों के ही मूल में प्रत्यय विरहित मूल शब्द दक्ष ही है।

पाणिनि के दाक्षीपुत्र नाम के कारण उनकी माता का नाम दाक्षी बताया जाता है। इस दाक्षी नाम में अपत्यायक और स्त्रीवाचक प्रत्यय निकाल देने पर जो दक्ष नाम बच रहता है वह पाणिनि के नाम का नाम होना चाहिए।

दूसरी ओर वागिका में प्राचायक संहिता (४ १ १७) सूत्र में उद्धृत उदाहरण तथा भवान् दाक्षायण दाक्षिर्वा के आधार पर १० मुष्टिष्ठिर मीमांसक न सग्रहकार के दाक्षि और दाक्षायण दो नाम माने हैं।<sup>२</sup> अपत्यायक और युवायक प्रत्ययों के भेद का निर्ममन वागिका के उक्त उदाहरण द्वारा प्रतीत होता है। इस प्रकार दाक्षायण (व्याडि) दाक्षीपुत्र (पाणिनि) के नाम (दक्ष) के पुत्र और माता (दाक्षी) के भाई होने के कारण पाणिनि के मामा सिद्ध होते हैं। वागिका के इस उदाहरण की अनदेखी भी कर दी जाय तो प्रत्यय भेद के कारण दाक्षायण को अधिक से अधिक दाक्षीपुत्र का भरोसा भाई ही कहा जा सकता है।<sup>३</sup>

मीमांसक जी की ही अन्य खोज के अनुसार व्याडि पद अष्टाध्यायी के एक (६ २ ८६) सूत्र से सबद्ध व्याख्यादिगण में भी पठित है। तदनुसार गजोत्तरपदीय व्याडिशाला पर आनुदात्त होता है। व्याडिशाला में आया हुआ 'द' पाठशाला वाचक है। इसमें स्पष्ट है कि पाणिनि के समय में ही आचार्य व्याडि की पाठशाला स्थापति प्राप्त थी।<sup>४</sup>

इस प्रकार व्याडि पाणिनि के समकालिक ही प्रतीत होते हैं और इस दाक्षी की समकालिकता महाभाष्य (६ २ ३६) में वर्णित दो महान् व्याकरणों की चरण परपरा को जान गति से सतत सिद्ध करती है।

समकालिकता की यह प्रतीति उस व्यवस्थापना के लिए हानिकर मानी जानी चाहिए जिसके अनुसार समकालिक होने पर भी व्याडि पाणिनि के जीवन काल में स्थापतिप्राप्त व्याकरण के रूप में प्रतिष्ठित नहीं हो पाये थे। अन्यथा अष्टाध्यायी में

१ सर्वे सवयदादेशा दाक्षीपुत्रस्य पाणिने । महाभाष्य १ १ २० ।

२ संहृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग (२००७), पृष्ठ १६६ ।

३ संहृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग (२००७), पृष्ठ १३१ ।

अथ व्याकरण के समान उनका नामालेख अवश्य होता । यह सम्भावना भी की जा सकती है कि ‘याडि न पाणिनीय व्याकरण के मात्र दशम पक्ष का अपना वाय क्षेत्र बनाया हो । इसीलिङ्ग स्वतन्त्र शास्त्र स्थापना के अभाव में व पाणिनि के समान प्रसिद्धि न पा सके हो ।

याडि का पाणिनि का समकालिक मित्र करने के पश्चात् पाणिनि के बाल निर्धारणमवधी विवाह में पड़ना प्रासंगिक नहीं प्रतीत होता । “सलिए म्व० डा० चामुण्डशरण अग्रवाल द्वारा अपने शोध प्रबंध पाणिनिकालीन भारतवर्ष में निर्वा रित समय (ई० पू० पाचवीं शती) का ही स्वीकार कर लेना उचित प्रतीत होता है । बहुजनसमन होने का कारण ही यह मायता याय सगत लगती है ।

काल निर्णय के पश्चात् सग्रह ग्रन्थ की विषय वस्तु विचारणीय प्रतीत होती है । इस विषय में महाभाष्य दीपिका में पतञ्जलि द्वारा की गयी ‘सग्रह’ की प्रथम चर्चा पर टिप्पणी करते हुए भट्टहरि ने कहा है कि इस ग्रन्थ में चौदह हजार वस्तुओं का परीक्षा (विचचना) की गयी है । मदभानुमार दीपिका में आये हुए इस वस्तु-सूची का अर्थ व्याकरणशास्त्र सग्रही दानानिद समस्याएँ करना ही अधिक उचित प्रतीत होता है ।

पम्पशास्त्रिक में सग्रह की उपयुक्त चर्चा शब्द के नित्यानित्य विचार प्रसंग में की गई है ।<sup>२</sup> यह नित्यानित्य विषय-दशम की सीमा में ही आता है । अतः सग्रह व्याकरण दशम का ग्रन्थ प्रतीत होता है ।

व्याकरणों में अथवा वही भी जहाँ याडि का मतारलम्ब किया है व सब प्रकार व्याकरण दशम के ही हैं । अतः यह मायता माधार प्रतीत होती है कि सग्रह में ‘याडि’ शास्त्र के दशम पक्ष पर ही विचार किया गया है । प्रमाणस्वरूप वाक्यपनीय (तृतीय काण्ड) की प्रकाश व्याख्या में हेमचन्द्र का यह मत उद्धृत किया जा सकता है कि याडि मतेन सब शब्दों का अर्थ द्रव्य ही मित्र करता है<sup>३</sup> ।

‘सग्रह’ के आकार के विषय में नामेन भट्ट और पुष्कराज के मत पहले ही दिये जा चुके हैं तिनके अनुसार इस ग्रन्थ में १ लाख श्लोक थे ।

संस्कृत में श्लोक अनुष्टुप् छन्द का कहते हैं । इसलिए भट्टहरि ने जिन चौदह हजार व्याकरण दशम सबधी समग्र्यो का उल्लेख सग्रह के सदृश में किया है—उनकी ऊहापाह के कारण यदि सग्रह, दशम साहस्री महाभारत संहिता का समाकार रहा हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है ।

सग्रह के आकारसबधी उक्त मायता का एक ग्रन्थ पक्ष भी है । तदनुसार श्लोक ‘याडि’ सदा छन्दोबद्ध पद्य का ही बोधक नहीं होता । कभी-कभी यह गद्य का बोध भी करवाता है । इसका प्रमाण दशकुमारचरित (अष्टम उच्छ्वास, निर्णय भाग, १८४४ श्ल० पृष्ठ २१६) में प्राप्त उस वाक्य में मिल सकता है जहाँ

१ चतुर्दश सहस्राणि वस्तुयस्मिन् सग्रहग्रन्थे परीक्षितानि ।

२ नित्यो वा स्यात्कार्यो वा ।

३ याडिमते तु सर्वान् दाना द्रव्यमय ।

नीटिलीय ग्रन्थाम्भ की ६००० श्लोकों वाला ग्रन्थ बताया गया है<sup>१</sup>। उपलब्ध ग्रन्थ शास्त्र तो गद्य बहुत ही हैं।

इसी प्रकार संभव है 'सग्रह' गद्य में भी रहा हो और १ लाख श्लोकों वाला ग्रन्थ बताने में मुख्य उद्देश्य उसके विशाल परिमाण का परिचय देना रहा हो। तत्नुसार इस ग्रन्थ में  $१००००० \times ३० = ३००००००$  सस्वर वर्ण रहें होंगे क्योंकि प्रत्येक श्लोक के चार चरणों में  $८ \times ४ = ३२$  सस्वर वर्ण रहते हैं।

संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास (मबन् २००७ प्रथम भाग पृ० २०२-२०३) हमें आज तक प्राप्त सग्रह के १४ उद्धरणों से परिचित कराता है। इनमें से आदिम १० पं० चाण्डेवगाम्भी के अनुसन्धान पर हैं और अंतिम ४ मोमासक जी के प्रयास परिणाम। उनमें से ५ गद्य में और अप्सिष्ट ९ पद्य में हैं। इन उपलब्धियों से उपयुक्त संभावना घुष्ट होती है।

गद्य की अपेक्षा गद्य उद्धरणों की अधिक उपलब्धि के आधार पर सग्रह में गद्य पद्य के अनुपात का अनुमान निरापद नहीं है क्योंकि प्राप्त सभी उद्धरण ग्रन्थों से लिए गए हैं और यह बड़ा स्वाभाविक है कि कोई लेखक जब किसी दूसरे का मन उद्धत करता है तो वह पद्य का प्राथमिकता देता है क्योंकि गद्य की तुलना में पद्य का स्मरण रखना अपेक्षाकृत सरल होता है।

यह प्रश्न भी विचारणीय है कि व्याडि के उक्त ग्रन्थ का नाम सग्रह क्या है? क्या वह व्याकरण दर्शन से संबंधित अनेक प्राचीन सिद्धांतों का संकलन मात्र है? अथवा इस नामकरण का भी कोई विशेष कारण है?

इन प्रश्नों का उत्तर हमें भरतनाट्यशास्त्र (६६) में मिलता है। वहाँ सग्रह का एक परिभाषिक शब्द माना गया है और कहा गया है कि किसी शास्त्र में सूत्र व भाष्य के रूप में प्राप्त विस्तृत मत के संक्षिप्त निबन्ध का नाम ही सग्रह है<sup>२</sup>।

व्याकरण शास्त्र के संदर्भ में इस परिभाषा को लागू करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि पाणिनि तथा अन्य पूर्ववर्ती व्याकरणों द्वारा जिन संक्षिप्त या विस्तृत दार्शनिक भाष्यताओं के संकेत मात्र तत्र किये गये थे उन्हीं का सार संकलन सग्रह'कार ने अपने ग्रन्थ में किया है। तथापि विषय की व्यापकता में ग्रन्थकार का कारण यह सग्रह सदाश्लोकी हो गया।

इस विषय में यह अवश्य स्मरण रखना होगा कि विस्तार की दृष्टि में सग्रह का क्षेत्र चाहे जितना व्यापक रहा हो—उसका मुख्याधार पाणिनाय व्याकरण ही रहा होगा। इस मत के समर्थन में वाक्यपदीय (द्वितीय वाक्य, अंश ४८४) की टीका में पुण्यराज का वह मत उपरन्व है जहाँ सग्रह का पाणिनीय व्याकरण का अनुगत ही माना गया है।

१ इयमिदानीमावायविष्णुपुत्रेण सौर्याय यज्ञभि श्लोकसहस्र संक्षिप्ता ।

२ विस्तरेणोपदिष्टानामर्थानां सूत्रभाष्ययो ।

निबन्धो य समासेन सग्रह त विदुषा ॥

# वार्त्तिककार कात्यायन

(पाणिनिसमीक्षक के रूप में)

व्याकरण के मुनित्रय में पाणिनि एवं पतञ्जलि के अतिशक्ति ममाविष्ट आशय कात्यायन पाणिनिभक्तों की एक बड़ी सन्ध्या के मन में गूल की भाँति चुभते हैं। उनका विचार है कि कात्यायन का वार्त्तिक बनाने में प्रधान उद्देश्य पाणिनि की आलाचना करना था। यहाँ इस सन्दर्भ में आलाचना गलत कुछ स्पष्ट अथ सम्भवतः न प्रगट कर पाय, अतः यह कहना समीचीन होगा कि कात्यायन का प्रधान उद्देश्य पाणिनि का नीचा दिगाना था। इसी पक्ष के विद्वानों का मन है कि पतञ्जलि पाणिनि में वस्तुतः श्रद्धा रखते हैं और उन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति के लिये उन्होंने पाणिनि का कात्यायन के प्रहारों से बचाने का हर सम्भव प्रयास किया है।

क्या कात्यायन सचमुच पाणिनि का नीचा दिगाने में प्रयत्नशील हैं? पतञ्जलि पाणिनि के अधमन है? और क्या पतञ्जलि ने पाणिनि की रक्षा में कात्यायन की बहुत भत्सना की है? आदि प्रश्नों का समाधान पान में पूर्व कुछ अन्य बातों को भी जानना होगा।

कात्यायन को वार्त्तिककार एवं पतञ्जलि का महाभाष्यकार कहा जाता है। सूत्रों के ऊपर व्याख्यान का सामान्य अभिधान 'वार्त्तिक' है। यद्यपि नागशंभु ने विधिवत् इसकी परिभाषा दी है, परन्तु उसका भी माराश यही है। उन्होंने वार्त्तिक का लक्षण दिया है—

“उक्तानुक्तदुरुक्तचिन्ताकरस्य हि वार्त्तिकत्वम् ।”

कथं वार्त्तिक का व्याख्यानसूत्र के नाम से कहते हैं, उनके अनुसार वार्त्तिक नामे सूत्रात्मक वाक्य है जो पाणिनि के सूत्रों के व्याख्यान हैं।

पतञ्जली में एक पक्ष भी इस विषय पर कुछ प्रकाश डालता है—

“यद् विस्मृतमदृष्टं वा सूत्रकारेण तत् स्फुटम् ।

वाक्यकारो ब्रवीत्येव तेनादृष्टं च भाष्यकृत् ॥”

सूत्रकार से जो विषय विस्मृत अथवा अदृष्ट रह गया है, उसका वाक्यकार (वार्त्तिककार) ने स्पष्ट रीति से व्याख्यान किया है और उनके द्वारा भी अदृष्ट (दुष्कृत) विषय का भाष्यकार ने।

वार्त्तिकों को ही दृष्टि में रख कर महाभाष्यकार ने एक स्थल (३ १ १०) पर कहा है—

“इह किञ्चिद्विद्यमानं चोद्यते, किञ्चिच्च विद्यमानं प्रत्याख्यायते ॥”

इसमें भी प्रकारान्तर से उक्तानुक्त चिन्ता तथा दुष्कृत का ही उल्लेख है।



इनके अतिरिक्त भट्ट हरि ने महाभाष्य दीपिका में दो स्थानों पर वाक्तिक के लिये भाष्यसूत्र पद का प्रयोग किया है<sup>१</sup>। अनुतत्र और अनुस्मृति में दो नाम भी वाक्तिक के लिये प्रयुक्त हुए हैं<sup>२</sup>।

पतञ्जलि को भी यदि महाभाष्यकार के स्थान पर वाक्तिनकार मानें तो पूर्व के प्रश्ना का समाधान सरल होगा क्योंकि गाल्डस्टकर ने बहुत स्पष्ट शब्द में इसे घोषित किया है<sup>३</sup>—

‘The position of Patañjali is analogous though not identical Far from being a commentator on Pāṇini, he also could more properly be called an author of Vārtikas

इसमें तो किसी भी विद्वान् को विप्रतिपत्ति होनी ही नहीं चाहिए कि पतञ्जलि ने अनेक स्थानों पर स्वयं भी वाक्तिक की रचना की है। इष्टियों भाष्यकार के आधार पर पतञ्जलि की इष्टियाँ तो सुप्रसिद्ध ही हैं। ये इष्टियाँ भी वाक्तिक के उद्देश्य की प्राणिक पूर्ति के अतिरिक्त और क्या हैं? यहाँ कात्यायन और पतञ्जलि दोनों का वाक्तिनकार मानन में एक प्रश्न उठ सकता है कि क्या दोनों के व्याख्यान एक ही प्रकार के हैं जो उन्हें एक जसी सभा में अभिहित किया जा रहा है? उत्तर स्पष्ट है कि उन दोनों के व्याख्यान में पर्याप्त अन्तर है लेकिन इसमें आचार्यों की अपनी अपनी सीमाएँ हैं प्राचीन आचार्य केवल चर्चापदा को व्याख्यान मानते थे जबकि भाष्यकार उसमें विस्तार की आकांक्षा से बहुत हैं—

न केवल चर्चापदानि व्याख्यानम् किं तर्हि उपाहरणं प्रत्युपाहरणं वाक्याध्याहार इत्यतस्तमुदितं व्याख्यानं भवति।

[इस अर्थ की छाया में यदि विचार कर देखें तो कात्यायन और पतञ्जलि, दोनों की वाक्तिनकार की कौटि में बहुत सरलता के साथ रखा जा सकेगा]।  
अब यहाँ एक और बात पर विचार करना होगा कि वृत्तिग्रन्थ भी तो सूत्रों का व्याख्यान है फिर दोनों में अन्तर कहाँ है? अन्तर दोनों के स्वरूप में है। व्याख्या के अन्तर्गत भाव का स्पष्ट करना आलोचकों का उत्तर वृत्तियों की और संकेत एवं अन्तर्गति का सुलभना ही होता है वाक्तिना में यह सब सूत्रज्ञानी में एवं वृत्तियों में विस्तार से होता है। वृत्ति में प्रत्येक सूत्र पर क्रमशः विचार किया गया है परन्तु कात्यायन या अन्य वाक्तिनकार और पतञ्जलि का व्याख्यान प्रत्येक सूत्र पर नहीं है। प्रोफेसर मक्समूलर ने कात्यायन की पाणिनि का सम्पादक (Editor) कहा है तथा पतञ्जलि का महाभाष्य कात्यायन के वाक्तिक एवं पाणिनि के सूत्र—दोनों का एकत्र करके चलता है The great Commentary of Patañjali embraces

१ भाष्यसूत्र गुरुलाघवस्यानाश्रितत्वात् । पृष्ठ ४८ ।

न च तेषु भाष्यसूत्रेषु गुरुलघुप्रयत्नं क्रियते । पृष्ठ २८१ ।

२ वाक्यपदीय ब्रह्मज्ञान की स्वायत्तकीका पृ० ३५ माधवीयपातुवृत्ति पृ० ३० ।

३ Pāṇini: His place in Sanskrit Literature, Page 132

aces both the Vārttikas of Kātyāyana and the sūtras of Pāṇini <sup>१</sup>

पतञ्जलि का महाभाष्य वार्तिका का व्याख्यानग्रन्थ अधिक है, अपेक्षाकृत पाणिनि सूत्रा के भाष्य के। पतञ्जलि के भाष्य की रचना का आधार कात्यायनादि वार्तिककारों के वार्तिक ही हैं यह महाभाष्य को पढ़ने से स्पष्ट बात होता है। शीघ्र ५० युधिष्ठिर मीमांसक ने अपने संस्कृत व्याकरण शास्त्र के इतिहास में 'अष्टाध्यायी के वार्तिककार' प्रकरण में कात्यायन के बारे में लिखते हुए कहा है—

'पतञ्जलि ने कात्यायनीय वार्तिका के आधार पर अपना महाभाष्य रचा है।' इन सभी बातों का विशद समालोचन करने पर एक निष्कर्ष सामने आता है कि वृत्ति, वार्तिक एवं भाष्य में अशत साम्य एवं अशत अंतर दोनों विद्यमान हैं।

धन पुनः उस मूल प्रश्न पर विचार कर लेना अपेक्षित होगा कि क्या कात्यायन पाणिनि में दोष निवारण के लिए ही प्रवृत्त हुए हैं ?

कात्यायन वास्तव में पाणिनि के सच्चे भक्त एवं आत्मा व्यापना ह। कात्यायन पाणिनि व्याकरण के उस स्तम्भ के समान हैं जिसके कारण उस महल में स्थायित्व एवं नदता आती है। मेरी दृष्टि में कात्यायन का वार्तिकपाठ पाणिनीय अष्टाध्यायी को समायानुबल एवं पूरा बनाने में पर्याप्तान तक सहायक है। श्री ५० युधिष्ठिर मीमांसक के गहन चिन्तन एवं मनन से उद्भूत यह शब्द इस कथन की पुष्टि करते हैं—

"कात्यायन का वार्तिकपाठ पाणिनीय व्याकरण का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण अंग है। इसके बिना पाणिनीय व्याकरण अधूरा रहता है।

प्याडार गोल्डस्टेकर जैसे विद्वान् के कात्यायन के बारे में विचार जान कर ऐसा कहने को बाध्य होना पड़ता है कि उन्होंने कात्यायन के सम्पूर्ण वार्तिकपाठ का अनुशीलन नहीं किया। कारण कुछ भी रहा हा गोल्डस्टेकर कात्यायन के साथ 'याय नहीं करते प्रतीत होते। वे लिखते हैं—

In proposing to himself to write Vārttikas on Pāṇini, Kātyāyana did not mean to justify and to defend the rules of Pāṇini but to find fault with them and who ever has gone through his work must avow that he has done so to his heart's content

काफी विचार करने पर डॉ० कीलहान का यह मत ही ठीक जान पड़ता है कि थ्योडोर गोल्डस्टेकर के सामने पाणिनीय अष्टाध्यायी एवं कात्यायनीय वार्तिका का वह संस्करण था, जो पूरा वार्तिक पाठ को समाविष्ट नहीं किया हुआ था, व निम्न है—

1 Ancient Sanskrit Literature Pages 353 and 243

२ संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास प्रथम, भाग, पृ० ३१५।

३ वही, पृष्ठ २१५।

4 Panini His Place in Sanskrit Literature Page 132

स निवाला जा सकता है अर्थात् यदि पाणिनि उस सूत्र में दीधीववी का समावेश न करें, तो ठीक रहगा।

पतञ्जलि का कहना है कि 'इट' भी उसी प्रकार अनावश्यक है।

अन्तर बहियोगोपसध्यानयो (अ० १ १ ३६) सूत्र पर इन वार्तिकों का उत्प्रेष मिलता है—

(अ) उपसध्यानग्रहणमन्यक् बहियोगेण कृतत्वात् ।

(आ) न वा शाटक्युगाद्यम ।

(इ) वाप्रकरणे तोयस्य डित्सूपसद्वानम ।

प्रथम वार्तिक के द्वारा पाणिनिसूत्र में एक सुधार बताया गया है, जिसे कि द्वितीय वार्तिक व्यय बताता है। तृतीय वार्तिक एक अधिक नियम का निर्देश करता है।

पतञ्जलि प्रथम वार्तिक के द्वारा उपदिष्ट सुधार को स्वीकार करते हैं और उस प्रकार पाणिनि के सूत्र में पठित उपसध्यान शब्द को ठीक नहीं मानते इसके साथ ही पतञ्जलि अपुरीति वक्तव्यम् इस नियम का और समाविष्ट करते हैं।

एक प्राचा देशे (अ० १ १ ७५) सूत्र पर कात्यायन का कोई वार्तिक उपलब्ध नहीं हाता परन्तु महर्षि पतञ्जलि ने पाणिनीय सूत्र में सुधार का सुझाव दिया है।

विस्तारभावाद् यद्वा अन्य अनेक सूत्रों और वार्तिकों के उद्धरण देना ठीक प्रनीत नहीं होता। परन्तु ऊपर के वार्तिकों के निदर्शन से यह ज्ञात हो सकेगा कि वे सभी वार्तिक किसी एक ही विद्वान् मनीषी की रचना हैं। यदि उन्हें एकत्र रख कर पढ़ा जाय तो अपने आप में पूर्ण एक बहुव्यपूरा रचना का गापन करते हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि वार्तिकरचना का उद्देश्य पाणिनि से ईर्ष्यावां उन की आलाचनादि करना नहीं था बल्कि एक द्वार पाणिनि को अनाश्यक या सम्भावित दोषों से बचा कर उनके नियमों का आचित्य प्रमाण करना तथा दूसरी ओर पाणिनीय सूत्रों में सुधार दोष और परिहार का निर्देश करना था। वार्तिक का लक्षण उक्तानुक्तदुरुक्तचिन्तन भी उचित ही है।

दूसरा कोई सन्देह नहीं कि अनेक स्थलों पर पतञ्जलि ने कात्यायन प्रदर्शित दाया सुझावों का निराकरण किया है। परन्तु यह ऐसा नहीं कि सभी स्थलों पर हुआ हो। ऊपर के उदाहरणों से स्पष्ट होगा कि पतञ्जलि कात्यायन से सहमत भी उनमें ही होते हैं जितना कि वे उनका विरोध करते हैं तथा साथ ही यह भी कहना ठीक नहीं होगा कि महामाध्य की रचना पाणिनि का आचित्य स्थापित करने के लिये की गई है। ऊपर दिये गये वार्तिकों के उद्धरणों के अतिरिक्त ऐसे कई उदाहरण दिये जा सकते हैं जहाँ पतञ्जलि पाणिनिसूत्रों में कई पदों को अनावश्यक ठहराते हुए कात्यायन से भी एक कदम आगे बढ़ जाते हैं। हाँ श्रद्धावांद् ऐसा तो कहते हैं कि 'प्रमाणभूत आचार्यों दम्पवित्रपाणि सुचारवक्त्रो प्राहमुख उपविष्य

महता प्रयत्नेन सूत्राणि प्रत्ययति स्म । न तत्र गम्य धर्मेणाप्यनयनेन भवितुं किं पुनरियता मूत्रेण ।" परन्तु इन नीचे के उल्लेखा से उनके वचना एवं वाय म परम्पर विराध दिखाई देता है—

१ दीधीवेवीटाप् (१ १ ६) सूत्र पर कात्यायन न ता केवल दीधीवेवी' का ही मान्यत्व स्थापित किया था, पतञ्जलि 'इट्' को भी अनावश्यक बताते हैं ।

२ बहुगणवतुडति सह्या (१ १ २२) अथवा इति च (१ १ २४) सूत्री म म किसी एक म्याग पर इति व्यय है ।

३ पनञ्जलि की दृष्टि में छठी स्यातेषोभा (१ १ ४८) सूत्र व्यय है जिस कि कात्यायन ने उचित ठहराया है ।

इससे अतिरिक्त और भी कई उदाहरण दिये जा सकें हैं, जहाँ कात्यायन औचित्य प्रमाण न रत हैं और पनञ्जलि सूत्रों में मान्यत्व प्रदर्शित कर रहे हैं । इन प्रकार का उल्लेख पाणिनि के औचित्य का स्थापित करने वाला नहीं कहा जा सकता ।

पनञ्जलि मात्र व्याख्याकार या भाष्यकार नहीं रह सके । वे उन व्यक्तियों के अनुयायी या अनुवर्त्ता बन गये जिसकी रचना का वे भाष्य कर रहे थे । इसी कारण उन सूत्रों पर जिन पर कात्यायन ने कोई वार्तिक आदि नहीं दिया था उहाने कात्यायनीय पद्धति से विचार किया और उक्तानुक्तदुस्तर चिन्तन की गली का पूरा अनुगमन किया ।

उपयुक्त विवेचना हम मन्त्र ही इस निष्कर्ष पर पहुँचने की दिशा देती है कि वार्तिककार कात्यायन उक्तदोष के निष्पन्न सूत्र समीक्षक हैं । सूत्रकार का अथवा समर्थन उक्त जितना अव्याजित है उतना ही सूत्रकार में अनावश्यक दोषातिष्करण भी । यह एक अनुपेक्षणीय तथ्य है कि महाभाष्य जसी ललित और तत्कालीन व्याख्या का मूल बीज कात्यायन के वार्तिका में ही निहित है ।

१ मुसनासिकावचनोऽनुनासिक (अ० १ १ ८) म मूल गच्छ अग्नीषमावश्च (अ० १ १ ४०) स्यान्निबदावभोजनद्विषौ (अ० १ १ ४५) प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम् (अ० १ १ ६१) आदि ।

# महाभाष्यकार पतञ्जलि

(व्याकरण सिद्धांत प्रणेता के रूप में)

वात्स्यायन के लगभग २०० वर्षों बाद महर्षि पतञ्जलि ने अष्टाध्यायी पर अपने ग्रंथ महाभाष्य की रचना की। महाभाष्य ग्रंथ का द्योतन से ऐसा प्रतीत होता है कि पतञ्जलि ने अष्टाध्यायी का काम परतु पाणिनीय सूत्रों पर लिखे गये व्याख्या-नामक एवं पूरक वार्त्तिकों का विवेचन अधिक किया है। और इस प्रकार महाभाष्य की रचना एवं उसकी प्रेरणा का प्रमुख स्रोत वार्त्तिककार कात्यायन का वार्त्तिक पाठ ही प्रतीत होता है। महाभाष्यकार ने अपने विवेचन के लिये व सारे सूत्र जिन पर कात्यायन ने वार्त्तिकों की रचना की थी, नहीं लिये हैं। इसके साथ ही अनन्त के सूत्र भी जिन पर कात्यायन ने कुछ विचार नहीं किया था पतञ्जलि के ग्रन्थयन के विषय बन हैं। लेकिन इस प्रकार के विवेचन का अनुपात ३ और १ का है, अतः अधिकांश में वार्त्तिकों का ही पतञ्जलि की महाभाष्य रचना की प्रेरणा का श्रेय प्राप्त होता है।

चौदह प्रत्याहार सूत्रों को मिला कर अष्टाध्यायी के कुल ३६६६ सूत्रों में १६८६ सूत्रों पर पतञ्जलि ने भाष्य लिखा। नेप सूत्रों पर भाष्य न लिखे जाने या न मिलने के कारण विद्वानों का ऐसा विचार है कि उन सूत्रों को पतञ्जलि ने बिना अपनी ओर से कुछ मिलाप परम्परानुसार ग्रहण कर लिया। पतञ्जलि ने इनमें से १२९८ सूत्रों पर केवल कात्यायन के तथा २६ सूत्रों पर शय आचार्यों के भी प्राप्त वार्त्तिकों की समीक्षा की और ४३५ इस प्रकार के सूत्रों पर भाष्य लिखा जिन पर कोई वार्त्तिकोपलब्ध नहीं थे। इन सूत्रों पर भाष्यकार की समीक्षा पूर्णतः मौलिक है। उन्होंने ३६ सूत्रों में वार्त्तिककार के मत की भ्रान्त दृष्टि को दूर करने का समयन किया है। अर्थात्तः से यह सहज ही अनुमेय है कि नेप स्थलों पर पतञ्जलि कात्यायन की समीक्षा से सहमत हैं एवं उसे युक्तियुक्त मानते हैं। जितना ही नहीं १६ सूत्रों को पतञ्जलि ने समीक्षा करते हुए अनावश्यक बताया। शब्द-ान्तर से यह कहा जा सकता है कि पतञ्जलि ने पाणिनीय सूत्रों एवं कात्यायनीय वार्त्तिक—दानों की समीक्षा की।

‘मयोत्तरं मुनानां प्रामाण्यम्’ के अनुसार पाणिनि की अपनी कात्यायन एवं कात्यायन की अपेक्षा पतञ्जलि के वचन अधिक प्रामाणिक मान जाते हैं। इस प्रामाणिकता के पीछे आधार है। समय और क्षेत्र के प्रभाव न उन विद्वानों में अनन्त अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के वाच्यों की समीक्षा की धार अग्रसर किया। इस

समीक्षा के पीछे वाई गणात्मक या द्वेपात्मक प्रवृत्ति नहीं थी। उन्होंने निष्पक्ष भालावक की दृष्टि ही रखी। महर्षि पतञ्जलि ने पाणिनि और वात्स्यायन का स्मरण भगवान् आचार्य, भाषलिक एवं मुहूर्द आदि विशेषणा के साथ किया है<sup>१</sup>। इतना ही नहीं पतञ्जलि द्वारा पाणिनि में थोड़ा और विश्वास का चूड़ान्न निम्नान वह वाक्य है, जहाँ वे कहते हैं—प्रमाणभूत आचार्यों दम्भविश्रपाणि गुचाववराणे प्राट्मुख उपविश्य महता यत्नेन सूत्र प्रणयति स्म, तत्रागम्य बर्णनाप्यनयकेन भवित वि पुनरियता सूत्रेण<sup>२</sup>।

पतञ्जलि के बाल में प्राकृत भाषाभाषा का विकास हो रहा था और जन सामान्य में संस्कृत का प्रचार घटने लगा था। अष्टाध्यायी की रचना के समय भी संस्कृत भाषा सभी वर्णों की भाषा नहीं थी, उसी अष्टाध्यायी के अनन्त सूत्रों के अध्ययन से पता होता है। तब उस समय भी प्राकृत का व्यवहार कम था<sup>३</sup>। प्राग चल कर मिथ्या से भी संस्कृत का व्यवहार उठ गया था। पतञ्जलि के समय तक पात प्राप्ति बढ़ा और क्षत्रियो में भी संस्कृत का प्रचार कम हो चला था। यद्यपि वे जीवन में संस्कृत का प्रचार नहीं करने थे किन्तु वे संस्कृत समझने अच्छी तरह थे। प्राग्गण-समाज में संस्कृत व्यवहार की भाषा हात हुए भी व्याकरणाध्ययन की ओर से उनका ध्यान हट चला था। वे यह सोच कर कि लौकिक सत्ता का पान लोक में और बौद्धिक शक्ति का पान बन से हा जाता है व्याकरण में फिर खपान की क्या अपेक्षा है, व्याकरण से दूर हो रहे थे। प्राचीनकाल में उपनयनापरांत मव प्रथम व्याकरणाध्ययन की जा परम्परा थी, पतञ्जलि के समय में उसके प्रति कुछ विद्रोही वानाकरण मा त्वाद देना था। पतञ्जलिकापीन ब्राह्मण बहु व्याकरण का अध्ययन अनधिक कहने लगे थे<sup>४</sup>।

इस सारे होने पर भी संस्कृत सारे देश के शिष्ट समाज को एक सामूहिक मूत्र में आवद्ध किया हुआ था, हाँ, प्राकृत भाषायें भी साहित्य में स्वीकृत हो चुकी थी। संस्कृत के प्राच्य और उनीच्य स्वरूप से भाषा के प्रयोग में थोड़ा बहुत अंतर यास्क और पाणिनि के काल में ही चलता आ रहा था। अनेकायक बौद्ध धातुया के किसी एक ग्रन्थ का प्रचार एवं प्रदश में था और अन्य का दूसरे प्रदेश में। पाणिनि एवं यास्क के ग्रन्थों के अध्ययन में इसकी पुष्टि के प्रमाण मिलते हैं। यास्क के गति गतिवर्मा कम्वाजेप्तेव भाषिना भवति आदि की पतञ्जलि न भी उद्धृत किया है।

१ 'कय पुनरिदं भगवत पाणिनेरावाधस्य लभल्ल प्रवृत्तम्?' मन्त्र आ १ तथा—'माङ्गलिक आचार्यों वृद्धिगन्धमादित प्रयुङ्क्ते' महामाध्य १ १ १। (वात्स्यायन के लिए)—'न वेदानीमावाया सूत्राणि कृत्वा निवर्तयन्ति', महा० प्रथमाद्वि १।

२ 'अगूद्रस्वसूयकेषु तथा 'भोरात्रयविशा च ('प्रत्यमिवादेऽगूद्रे — ८ २ ८३ पर वातिक)

३ वेदानी बौद्धिका शब्द सिद्धा लोकाज्ज लौकिका, अत्यन्त व्याकरणम्।

पतञ्जलि के समय में आकर यह भेद कुछ और बढ़ गया था। उदाहरणार्थ—पतञ्जलि के समय में 'ज्ञान' के लिये मुराष्ट्रे दग म हम्भु धातु का प्रयोग म रहा था। पतञ्जलि के समय में 'ज्ञान' के लिये मुराष्ट्रे दग म हम्भु धातु का प्रयोग पाया जाता था।<sup>१</sup> अतः 'ज्ञान' का प्रचलन बढ़ हाकर उनके स्थान में तत्पदस्य दूसरे 'ज्ञ' व्यवहार में आ गये थे। जैसे—उप के अर्थ में ऊपित। तब के अर्थ में तीर्थ चर के अर्थ में धृतपत् और पक्ष के अर्थ में पक्षवत् 'ज्ञ' चल पड़े थे। पतञ्जलि के समय तक रामायण, महाभारत काव्यग्रन्थ तथा भाष्यान साहित्य आदि की रचना हो चुकी थी। परिणाम स्वरूप संस्कृत का शब्दापेक्षा पूर्वापेक्षा बहुत बढ़ा हो चुका था। इस अनेक शब्द जिनकी निम्न अष्टाध्यायी से नहीं होती संस्कृत में सम्मिलित हो गये थे।<sup>२</sup> इनके साथ ही साहित्य में प्रयुक्त अनेक अपभ्रंश शब्द स्थिर और भाव्य हो जा रहे थे। ये शब्द सरलता से संस्कृत में मिल जाते थे संस्कृत में जोड़े थे अपभ्रंश अपभ्रंश बहुत अधिक। एक ही शब्द वही गायत्री और वही गाता वही गावी और वही गापोतलिका महाज्ञान लगा था।<sup>३</sup> इस समय में पतञ्जलि ने भाषा के परिमाणन का काम अपने हाथ में लिया। सबसे प्रथम भाषावित्त में रहने वाले शिष्ट ब्राह्मणों को उन्होंने 'याकरण' का अध्ययन आवश्यक बताया और कहा<sup>४</sup> कि ब्राह्मण को पढ़ाई सहित वेदा का अध्ययन निष्कारण भाव से करना चाहिये। पढ़ाई में याकरण मुख्य है। इतना ही नहीं उन्होंने व्याकरण-अध्ययन के प्रयोजन का विस्तार उल्लेख किया और १८ शीपका के अन्तर्गत व्याकरण-अध्ययन की उपायता का सहज स्वीकरीय बताने दिया।

महाभाष्यकार जैसे समर्थ विचारक से संस्कृत की जितनी शक्ति मिली इने कहने की आवश्यकता नहीं है। न केवल इस काल में अनेक अधिपति प्रथा का प्रणयन हुआ बल्कि अगली कई शताब्दियों तक संस्कृत की धारा में अभुण्ण प्रवाह की शक्ति का संचार हुआ। उनके प्रयत्नों से व्याकरण अध्ययन का सबसे प्रमुख अङ्ग तो बन ही गया, साथ ही संस्कृत का जो स्वरूप उन्होंने स्थापित किया वह आज भी वैसा ही बना हुआ है।

महर्षि पतञ्जलि के इस सर्वाङ्गीण प्रभाव में जहाँ महाभाष्य की भाषा एवं

१ 'हम्भति मुराष्ट्रेषु, रहति प्राच्यमध्येषु गमिमेव त्वार्या प्रयुञ्जते'।

महा०, प्रथमाह्निक

२ 'तद्यथा—ऊपेत्यस्य शब्दस्यार्थे क्व युयभूविता' आदि—महा० प्रथमाह्निक।

३ 'प्राप्तिज्ञो वेदानाम्प्रियो न त्विष्टिज्ञ'—महा०, २४५६।

४ एकस्य शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः। तद्यथा गो इत्यस्य गावी, गोणी, गोता, गोपोत सकेत्येवमादयो बहवोऽपभ्रंशाः। आह्निक १।

५ ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः पठन्तो वेदोऽप्येवो ज्ञेयश्च। प्रवानः च पठन्तेषु व्याकरणम्। आह्निक १।

रचनाविधान का सौष्टव्य दशनीय है, वहाँ महाभाष्यकार के अनन्त यावत्तु शास्त्रीय सिद्धांत, जिन्हें महाभाष्यकार की अपनी मौलिक देन कहा जा सकता है नितान्त अनुपक्षणीय हैं। भाष्यकार ने महत्त्वपूर्ण सिद्धांतों की स्थापना करते समय भी इस बात का ध्यान रखा है कि वे सरलता से सुव्याख्या हो सकें। एतदर्थ उन्होंने मन्त्र-लोकविज्ञान या लोकव्यवहार का आश्रय लिया है। कालिदास की हृदयग्राही उपमाओं के समान महाभाष्यकार के निदर्शन पाठक के मन पर अपना अमिट प्रभाव छाड़ते हैं, एवं शास्त्रीय कठिन विषय का भी सहजग्राह्य बना देने हैं।

महाभाष्यकार के द्वारा शुष्क सिद्धांतों को लाकाश्रय लोकविज्ञान या लोक व्यवहार के आधार पर सव्युद्धिगम्य बना देने का श्रेय तो उसे ही, मौलिक विचारों का समावेश करके व्याख्यान का दशन का स्वल्प प्रदान करने का गौरव भी उस प्राप्त है। निदर्शनस्वरूप एक ही प्रसन्न देखे जा सकते हैं।

(१) महाभाष्य के प्रथमाह्निक के प्रारम्भ में ही अथ गौरित्यत्र क शब्द वाक्य के द्वारा महाभाष्यकार ने अत्यंत महत्त्वपूर्ण प्रश्न उपस्थापित किया है। व्यवहार में शब्द तथा उसके अर्थ में अभेद देखा जाता है। जैसे—किसी ममीपस्थ व्यक्ति का उद्देश्य करके—यह देवदत्त है यह गो है—ऐसा व्यवहार होना है। अर्थात् उसके शरीररूप अर्थ में अभेद न देवदत्त एवं गो शब्द की प्रतीति होती है। यही से शब्द और अर्थ के अभेद का सिद्धान्त जन्म लेता है।

केवल यही नहीं जिस प्रकार गो आदि शब्द और उसके अर्थ का अभेद व्यवहार में देखा जाता है उसी प्रकार अर्थ (द्रव्य) और अर्थ में रहने वाली जाति गुण, क्रिया, जो कि मूलतः द्रव्य के आश्रित हैं का भी अभेद स्वयत्तिवत्ता है। इसी आधार पर 'गुणक्रियासमुदायो द्रव्यम्' ऐसा द्रव्यलक्षण किया गया है। समुदाय और समुदाय का बनाने वाली इकाइयाँ में भेद नहीं किया जाता। इसी तथ्य का ध्यान में रखते हुए भाष्यकार ने इस प्रश्न को उठाया है जिसका भाव यह है कि गो ऐसा कहने ही गो यह ध्वनि तथा उससे अभेद पाया गया उसका अर्थ गोव्यक्ति और गोव्यक्ति से भी अभेद रहने वाले तद्गत जात्यानि नामिन् गुणवादि रूप चक्षुष उपवर्णनानि क्रियायः—सभी एक साथ उपस्थित होते हैं। सक्षेप में गो शब्द में अभिन गो व्यक्ति और उससे अभिन तद्गत जात्यानि होते हैं। इस प्रकार तदभिनाभिन्नस्थामिन्नत्व (मूल वस्तु से अभिनना रहने वाली वस्तु से अभिन पण्य स्वभावतः मूलवस्तु से अभिन हो जाता है) 'याय से गच्छ' गच्छाभिन्न व्यक्ति तथा व्यक्ति में अभिन जात्यादि सभी एक दूसरे से अभिन हो जाते हैं। अतः गो कहने पर अभिन रूप से उपस्थित गो ध्वनि गो व्यक्ति तथा तद्गत जात्यादि में शब्द किसे कहा जाये? यह इस प्रश्न का आशय है। प्रश्न का चार खण्डों में विभक्त करके सभी का उत्तर भाष्यकार ने निषेधात्मक रूप से दिया है अर्थात् द्रव्य क्रिया गुण और जाति वाद भी शब्द नहीं है।

भाष्यकार ने शब्द उससे अभेदेन प्रतीयमान द्रव्य तथा तद्गत क्रियादि क





कोई नाम नहीं और जब कोई नाम ही नहीं तो वस्तु का अस्तित्व किस रूप में स्वीकार हो ? अतः सार जगत् का अस्तित्व ही स्फोट पर निभर है। भाष्य के 'धेनो च्चारितेन सात्तालाङ्ग स्रक्कुदधुरविपाणिना सप्रत्ययो भवति स शब्द' <sup>१</sup> आदि अंग में उक्त स्फाटरूप शब्दतत्त्व की ओर ही संकेत किया है। इसका आशय यह है कि ग+ओ+ = गौ, इस यथात्रभिनिर्दिष्ट ध्वनित्रितय से उच्चारित अर्थात् स्फोटित (अभि-यत्त) जिस तात्नत्व से सात्तादिमान् व्यक्ति तथा तद्गत जाति त्रियादि का समग्र-बोध होता है वह शब्द है।

उक्त स्फोटरूप शब्दकारी प्राचिनिक या तात्त्विक वर्तमान नहीं है अपितु ध्वनिक सध्य है। तथापि मानस में स्थित अव्यक्त स्फोट में तो 'आदानुगासन का' व्याकरण नियम नहीं बना सक्ता क्याकि उसकी पृष्ठता केवल स्फोट का व्यक्त करने वाली ध्वनिया में ही हो सकती है। अतः भाष्यकार ने शब्द का दूसरा स्वरूप भी प्रस्तुत किया है। इसके अनुसार जिस ध्वनिसमुदाय से कोई अर्थ प्रतीत होता है, वह शब्द है। यह शब्द की व्याकरणप्रक्रियापयोगी परिभाषा है और साधारण व्यवहार में ध्वनि का ही शब्द कहा जाता है।

(२) एक और स्थल पर <sup>२</sup> महामाध्यकार ने एक शास्त्रीय विषय को उपस्थित किया है। यह ऐसा प्रसंग है, जिसमें भिन्न भिन्न शास्त्रकार भिन्न भिन्न मत रखते हैं। प्रश्न यह है कि सूत्रकार पाणिनि पदा का बोध्याथ (शक्याथ) आकृति (जाति) मानते हैं अथवा व्यक्ति ?

इस प्रश्न के मद्देन में 'आकृति' और 'व्यक्ति' दोनों पदार्थों का स्वरूप जान लेना प्रकरणोपयोगी रहेगा। 'व्यञ्जन व्यक्ति' नाम व्युत्पत्ति से जगत् का जो भी पदार्थ बुद्धिपटल पर 'इदमित्' इत्यादि रूप से व्यक्त हो चुका है वह व्यक्ति है। अथ घट, अथ पट, अथ गुल इन् गोत्वम् आदि व्यवहार में सभी प्रमेय पदार्थ व्यक्ति ही हैं। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से सदा भिन्न होता है क्योंकि सभी 'व्यक्तियों' का अवयवसंस्थान एक दूसरे से भिन्न है। व्यक्तिरूप के दिय गये इन उदाहरणों के व्यवहार में एक सध्य विचारणीय है वह यह है कि अवयवसंस्थान का भेद होना पर भी समान-व्यक्तिसमुदाय में प्रत्येक के लिये एक ही नाम (पद) का प्रयोग करना है जिस सहस्र भी घटव्यक्ति यदि हैं तो प्रत्येक के लिये 'घटाश्रयम्' व्यवहार किया जाता है। अतः इन घटव्यक्तियों में इनके अवयवा कपालादि के भेद होना पर भी कोई न कोई तत्त्व ऐसा अवश्य स्वीकार करना होगा, जो सभी को एक ही नाम प्रदान करता है। स्वाभाविक है कि वह तत्त्व सभी घट व्यक्तियों में समान रूप से

१ पस्पशाह्निक ।

१ अथवा प्रतीतपदार्थकी लोके ध्वनि शब्द इत्युच्यते । तस्माद् ध्वनि शब्द । महा० पस्पशा० ।

२ कि पुनराकृति पदार्थ, आहोस्विद् इत्यम् ? महा० पस्पशा० ।

अनुगत होगा। साथ ही साथ वह एक भी होना चाहिये, अन्यथा अनेकता में समान व्यवहार नहीं हो सकता। व्यक्तियों की भिन्नता हान पर भी सब में अभिन्नरूप से वर्तमान वह तत्त्व होना चाहिये जिसके चल पर अनेक व्यक्तियों को भी एक नाम से पुकारा जा सके। 'सी' आनुमानिक तत्त्व का शास्त्रकारों द्वारा आकृति, जाति, सामान्य आदि नाम दिये हैं। नामों का कारण भी स्पष्ट है। अनेक व्यक्तियों में एकता का साधक यह तत्त्व व्यक्तियों की समानावयवसमस्या से व्यङ्ग्य होता है, अर्थात् व्यक्तियों की आकृति समानता में विदित होता है। अतएव इस तत्त्व को अभिव्यञ्जन आकृति से व्युत्पत्ता करके आकृति नाम दिया गया है। जनेन प्राप्यत इति जाति 'म व्युत्पत्ति से व्यक्ति के अस्तित्ववाचक के साथ ही उनके नामव्यवहार का प्राण प्रद तत्त्व हान से 'सी' को जाति कहा जाता है। समानानाम् एकाकारेण प्रतीयमानाना धम सानामधु'—इस 'युत्पत्ति' से उसे ही सामान्य कहा जाता है। यही सामान्य अनेक द्रव्यों में द्रव्यत्व गुणों में गुणत्व क्रियाओं में क्रियात्व कहा जाता है। इसी प्रकार तत्त्व व्यक्ति या व्यक्ति समुदाय में तत्त्व घटत्व मोलवादि सामान्य रहा करता है।

ऊपर के विवेचन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि व्यक्ति आधार और सामान्य आधेय है व्यक्ति धर्मों और सामान्य धर्म है व्यक्ति विनोय और सामान्य विनोय है, व्यक्ति अनेक और सामान्य (जाति, आकृति) एक है। इन दोनों का सम्बन्ध (नित्य) सम्बन्ध है।

उपयुक्त व्यक्ति और जाति में 'गो' आदि पद का अर्थ किसी एक को माना जाए अथवा दोनों को—इस प्रश्न पर शास्त्र में मतभेद रहता है। व्यक्तिपन्नायता वादी यह व्यक्ति को पद का शक्याय मानता है और जाति को उससे अवच्छेदक (भेदकविनोय) रूप में स्वीकारता है। व्यक्ति को शक्याय मानने में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि व्यक्तियों के नाम होने से नाना अस्तित्वसङ्केत कल्पित करने होंगे। जातिपदायतावादी का कहना है कि शोध में विनोय पहिले और विनोय बाद में भासित होता है अर्थात् विनोय द्वारा विशिष्ट का बोध होता है। अतः प्रथम बोध विषय होने से तथा विनोय बोध का माध्यम होने से जातिरूप विनोय को ही शक्याय मानना सङ्गत है दूसरे नाना व्यक्तिगत जाति एक है। अतः घट आदि कहने से एक बार घटत्व आदि का बोध हो जाना से संसार भर के 'घटत्व' का बोध हो जाता है क्योंकि वह एक है। अतः बार बार अथ घट 'अथ घट' इत्यादि सङ्केता की आवश्यकता नहीं रहती।

वस्तुतः उपयुक्त दोनों पदों में अपने अपने दृष्टिकोण से पूर्ण औचित्य है। तथापि किसी एक पक्ष से न लौकिक व्यवहार सम्भव है और न शास्त्रीय। अतः जाति और व्यक्ति दोनों ही पदों के शक्याय हैं। आचार्य पाणिनि का भी यही अभिमत है। वक्ता पद के द्वारा जब जाति का बोध करना चाहना है तो स्वभावतः एवचन का प्रयोग होना चाहिये क्योंकि जाति एक है परन्तु बहुवचन का भी प्रयोग होता

है, जैसे—गेहूँ पक्क गए, जो पक्क गए ।

अतः पद द्वारा जाति के बोधस्थल में बहुवचन का सावृत्त्वबोध कराने के लिए पाणिनि ने 'जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनमयतरस्याम्' (अष्टा १।२।५८) सूत्र की रचना की है । वस्तुतः पद द्वारा जब व्यक्ति का बोध कराना चाहता है तो स्वभावतः नाना व्यक्तियों के लिये नाना पदों का प्रयोग प्राप्त होता है, अर्थात् सी घटव्यक्तियों का बोध कराने के लिये सी घट शब्द का प्रयोग होना चाहिये । जबकि ऐसा नहीं किया जाता, केवल एक घट शब्द के द्वारा बहुवचन-बोधक विभक्ति का प्रयोग कर दिया जाता है । आचार्य पाणिनि को इसके लिये भी नियम बनाना पड़ा है, 'सहपाठामेकमेव एकविभक्तौ' । दोनों पक्षों के लिये नियम बनाकर आचार्य ने स्पष्ट ही बातों को अपना अभिमत माना है ।

इन दोनों शास्त्रीय विवेचनात्मक निदर्शनों से भाष्यकार पतञ्जलि की व्याकरणशास्त्रीय सिद्धांतों की पुष्ट पकड़ का अच्छा परिचय मिल जाता है । महाभाष्य में इस प्रकार के अनन्य स्थल अपने आप में स्वतन्त्र भाष्य के विषय हैं ।

## आचार्य भर्तृहरि द्वारा वाणी-विभाग-विवेचन

ऋग्वेद कालीन सुदूर अतीत में ही वाणी में देवत्व की कल्पना कर ली गई थी (ऋग्वेद ८।१०।११)। वाणी की स्तुति ऋग्वेद के अनन्त मन्त्रों में बड़े ही भव्य रूप में मिलती है (ऋग्वेद १०।१२५)। ऋग्वेद के 'महो देवो मर्या' आश्रय (ऋग्वेद ४।५।१३) मन्त्रों की व्याख्या में पतञ्जलि ने स्पष्ट कहा है 'महान् देव ऋषि' (महाभाष्य १।१।११) अर्थात् शब्द बहुत बड़ा देव है। ब्राह्मण तथा उपनिषद् में अनेक स्थानों पर वाक् को ब्रह्म तथा प्रजापति इत्यादि कहा गया है।

वाणी या वाक् के विषय में देवत्व की कल्पना क्या की गई इस प्रश्न का उत्तर ढूँढ़ लेना बहुत कठिन नहीं है। वस्तुतः वाणी या भाषा का आविष्कार मानव विकास के इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण घटना है। भाषा की अपूर्वता के कारण ही मानव सृष्टि के अर्थ सभी स्थावर जगत् वगैरे से बहुत ऊपर उठ गया। इस मानवीय वाणी के माध्यम से ही विश्व के सम्पूर्ण ज्ञान विज्ञान कला तथा शिल्प आदि का धारण कर सके—परिवर्धित एवं परिवृद्धित हो सके।

यह ध्यान देने की बात है कि वैदिक साहित्य में वाणी का स्थान ब्रह्म से नीचे ही माना गया है इसीलिए बृहस्पति को ब्रह्म का प्रतिनिधि माना गया था वाणी को शत्रु नहीं। (ऐतरेय ब्रा० १।१६)। वाणी को वेदी तथा ब्राह्मणों में स्थान स्थान पर जो रक्षित कहा गया है उसका भी यही रहस्य है कि राष्ट्र की अधिष्ठा मिका होने हुए भी ब्रह्म के प्रतिनिधि बृहस्पति या पुरोहित से उसका स्थान घटता है।

इति ब्रह्मणी वेदितव्ये ऋषिर्ब्रह्म पर ब्रह्म।

ऋषिर्ब्रह्मणि निष्ठात पर ब्रह्माधिगच्छति ॥ (मन्वायणी उपनिषद् ६।२२)

माण्डूक्योपनिषद् के इस मन्त्र में शब्दब्रह्म तथा परब्रह्म का अन्तर संव्यास्यता है।

वाक् स्वस्वाविगम की दृष्टि से वेदाध्ययन में परमापयोगी एवं मनीषा वश्या में प्रधान व्याकरण में वाक् के देवत्व की कल्पना का स्वभावतः स्वाधिक प्रतिष्ठित होनी ही थी जिसका सिद्धांत महाभाष्य के प्रयोजनाह्निक में मिल जाता है परन्तु इसमें साथ ही वाक् में परब्रह्मत्व की कल्पना भी संहृत व्याकरण अर्थ के मनीषियों के द्वारा साकार हो सकी थी इसके सबेले वाक्सर्वाप्राप्तिनाम्य के 'एते पञ्चवर्षिणो ब्रह्मरक्षितमवाच' (८।२५) तथा महाभाष्य में उद्धृत ब्रह्म ज्ञान वागविययो यत्र च ब्रह्म वक्तते यह कारिका और उसकी व्याख्या के रूप में किमप्यपतञ्जलि के 'सायमभरसमाप्ताथो वाक्समाप्ताथ पुण्यित फनितम्बद'।

तारवन्तु प्रतिमण्डितो येदित्यो बहाराणि' (महाभाष्य १।१।२) इन शब्दों में वेद वित् प्राप्त किया जा सकता है।

पारिणि, वात्स्यायन तथा पतञ्जलि की शास्त्रार्थोपमा में महान् मन्त्रों का व्याख्यान दान के प्रयत्न सम्मिलित आचार्य भट्ट हरि ने तो शास्त्र के पराशरत्व की वृत्ति का प्रयत्न युक्तियाँ एवं शास्त्र प्रवचन के प्रौढ आधार पर प्रतिष्ठित कर दिया। शास्त्र का मन्त्र-वाक्य परम प्रकृति एवं धर्माग्निनिधन बनाते हुए भट्ट हरि ने यह धारणा की कि एक धारण में शास्त्र ब्रह्म में सम्पूर्ण विद्यमान है 'विविक्त' होता है तो दूसरी धार मानवा के धर्माग्नि में विद्यमान उन्नी 'शास्त्र-ब्रह्म' का पराशर में सम्पूर्ण युक्तिगत प्रतीति तथा अभिप्राय का वास्तव प्रकाश या अभिव्यक्ति भी होता है। एक रूप में उस एक शास्त्र ब्रह्म का ही यह सारा विवर्त है चाहे यह पञ्चमय भौतिक समारोह या भावमय भाषामय-वाच्यनिर्गमण। यह 'शास्त्र-ब्रह्म' एक अभिन, निरग एवं अविभाज्य है परन्तु व्याख्यान युक्ति के तोष के लिए—उसमें सम्पूर्ण विश्व के उद्गम की प्रक्रिया का सरलतया समझाने के लिए उस शास्त्र-ब्रह्म का अनन्तात् गतियाँ तथा बलात्ता में समर्थित माना जाता है। ये विभिन्न एवं विविध शक्तियाँ ही विश्व का उपादान कारण बनती हैं और स्वयं शब्द ब्रह्म निमित्त कारण। शास्त्र-ब्रह्म तथा उसका धारित गतियाँ दान। एक दूसरे में सबका अभिन हैं—क्याकि 'गति' तथा 'गतिमान्' में वस्तुतः अन्तर होता है। इसलिए भट्ट हरि ने उस 'भास्व' 'भास्य' एवं 'भा' सत्तु बुद्ध माना है। सत्य में यह शास्त्र ही सर्वत्र पदार्थों के मूल एवं विनाश का व्याख्याता है। हमारे सभी धारित अनुभवों के परदे के पीछे एक वही गतिमान एवं मज्जीव गति के रूप में वाच्यनिष्ठात्वं तत्त्व है, साथ ही वही मन्त्र-बहारा भी है। यह है भट्ट हरि इत्यादि व्याख्यान द्वारा प्रतिपादित एवं प्रतिष्ठापित शास्त्र-ब्रह्म का सक्षिप्त स्वरूप (इ वाक्यदीप ब्रह्मनाम्न की प्रारम्भिक कारिकाएँ)।

सम्पूर्ण मृष्टि के बन्ध में तथा प्रत्यक्ष मानव के अस्तित्व में विद्यमान इस शास्त्र की महान् देव की धार प्रवक्ष्यामी या रूप का निश्चित ज्ञान ऋग्वेद के उम पूष्य ऋषि की हो गुणा था जिसने 'चत्वारि वाक्यनिर्गमना पदार्था' (ऋ० १।१६४। ४५)।—वाक्यों के परिसीमित चार पद होत हैं—वह चार वाणी की अभिव्यक्ति के रहस्यमय स्वरूप का सर्वप्रथम अनावृत्त किया। इस मन्त्र के ऋषि ने यह भी कहा कि वाणी के इन चार पदों को केवल मनीषी ब्राह्मण ही यथाशक्त जान पाते हैं पहले तीन प्रकार के पद या वाणी के रूप तो गुप्त में निहित हैं—व्यवहार्य हैं केवल चौथे प्रकार का प्रयोग मनुष्य किया करते हैं। यहाँ के मनीषी तथा ब्राह्मण पदों से वे विद्वज्जन अभिप्रेत हैं जिनके लिए वेद ने एक दूसरे मन्त्र में कहा है कि वे विद्वान् हैं, जिनके लिए वाणी अपना सम्पूर्ण स्वरूप निरावृत्त कर देती है और दूसरे के लोग हैं, जो वाणी को सुनकर भी नहीं सुनते—देखकर भी नहीं देखते (ऋ १०।७।१।४)। यही ऋग्वेद का वह स्थल भी उपस्थित किया जा सकता है, जहाँ यह कहा गया है कि उस परम पुरुष का चतुर्थ चरण यह सम्पूर्ण विश्व है तथा उसने अमृत तीन पद

द्युलोक या परम योग्य में है (ऋ १०।६०।३)।

वाणी के चार पद रूप, या प्रकार कौन से हैं इस विषय में याज्ञ के समय में भी निम्न अनेक मत विद्यमान थे।

आप—आहार तथा महाव्याहृतिया—भू भुव तथा स्व।

वैयाकरण—नाम आख्यात उपसर्ग तथा निपात।

याज्ञिक—मघ वरुण बाह्यण तथा व्यावहारिकी वाणी।

नरक्त—ऋक् यजु साम तथा व्यवहारिकी वाणी।

कुछ ग्रन्थ—सर्पों पक्षिया तथा छोटे छोटे कीड़ा की वाणी और 'व्यावहारिकी वाणी' (निरुक्त १३।६)

पतञ्जलि। अपने महाभाष्य के प्रयाजनाह्नित में चत्वारि वाक्यरिमिता पदानि की व्याख्या करने हुए नाम आख्यात उपसर्ग तथा निपात का ही उद्देश्य किया है। पर यहाँ यह समझ में नहीं आता है कि इन चार में से पहले तीन क्या गृहाह्ति हैं और चौथा ही किस प्रकार व्यवहाय है। महाभाष्य के टीकाकार कण्ठ ने यह कहा कि इन नाम आख्यात उपसर्ग तथा निपात चारों के पुनः चार चार विभाग अभिमत हैं जिनके तीन तीन भाग अविज्ञेय हैं केवल चौथा भाग ही सामान्य मानव के प्रयोग का विषय बन पाता है। महाभाष्य के परमममन नागेश भट्ट ने यह कहा कि पतञ्जलि के 'नामाख्यातोपसर्गनिपाताच्च' इस वाक्य में विद्यमान 'च' पद वाणी के एक दूसरे विभाग परा पश्यती मध्यमा तथा बह्वरी की सूचना देता है। कण्ठ ने परा इत्यादि का नामालेख किये बिना ही जिस बात का संकेत करना चाहा उस भाग में स्पष्ट नाम लेकर और स्पष्ट कर दिया।

जो भी हा वाणी के चार प्रकारों के विश्लेषण की सूत्र उद्भातना सम्भवतः सवप्रथम संहृति व्याकरण की दार्शनिक पृष्ठ भूमि में ही की जा सरी। महान् राज्ञ मनीषी आचार्य भट्ट हरि ने अपने वाक्यपदीय (१।१४३) में पश्यन्ती, मध्यमा तथा बह्वरी का नामोल्लेख किया है तथा वाक्यपदीय की अपनी स्वापन टीका (चारुण्य मस्वरण पृ० १२६ १२६) में चतुर्विध वाणी के स्वरूप का विवचन किया है। महा भारत (भास्वमधिक पद ब्राह्मणगीता) के कुछ श्लोकों में भी इन चतुर्विध वाणी के स्वरूप का प्रकाशन किया गया था जिसे भट्ट हरि ने यही अपनी टीका में उद्धृत किया है। ये श्लोक आज के महाभारत के विभिन्न स्वरणों में दुर्लभ हो रहे हैं पर अनुमान है कि ये श्लोक अभी महाभारत में अदृश्य रहे होंगे। क्योंकि महा वाणी के विषय में बृहत् ऐमे भी श्लोक उद्धृत मिलते हैं जो पर्याप्त पाठ भूत के साथ आज महाभारत में उपलब्ध हो जाते हैं।

भट्ट हरि के पञ्चात्तु गैवागम के विभिन्न सम्प्रदायों के दार्शनिक आचार्यों तथा उन पर्याप्त प्रौढ व्याकरण नागेश भट्ट ने इस चार प्रकार की वाणी की सूत्र विवचना की है। परन्तु इन सब विद्वानों की भाषणा में मध्यमा साम्यता तथा पश्यन्ती मनभूत हैं। पर उन मनभूतों में पहचान के विचारणाएँ प्रस्तुत मह उपस्थित होती हैं।

वि क्या भट्ट हरि को वाणी का त्रिविध रूप ही अभिमति था या वे वाणी के चारों परा पश्यन्ती मध्यमा वैखरी—रूपा को मानन वास थे ?

यह प्रश्न इस लिये विचारणीय है कि बहुत पहले से विद्वानों की इस प्रकार की धारणा रहती आयी है कि भट्ट हरि आदि व्याकरण शास्त्रिकों की दृष्टि में वाणी के तीन ही प्रकार या रूप अभिमत हैं—पश्यती मध्यमा तथा वैखरी । परा को न मानते हुए पश्यन्ती को ही व्याकरण परा मान लेते हैं ।

सत्रस पहले शैवागम के प्रत्यभिज्ञाशास्त्र के प्रवक्तृ आचार्य सीमानन्दनाथ ने अपनी शिव टि में तथा इनके शिष्य उत्पलदेव ने शिवगण्टि की टीका (शिवदृष्टि पृ० ४०) में तथा शेमेन्द्र ने प्रत्यभिज्ञाहृदय (पृ० १८) में इस बात की घोषणा की कि भट्ट हरि या व्याकरण शास्त्रिकों के केवल तीन प्रकार का मानन वाले हैं । सम्भवतः—हैं आचार्यों की धारणा के आधार पर ही महामहाराष्ट्राय श्री ५० गौरीनाथ कविराज (कल्याण शिवाव पृ० ६४) तथा डा० गौरीनाथ शास्त्री (फिलामफी आफ बड एण्ड मीनिंग पृ० ६८ तथा उसस भाग) ने इस धारणा को सर्वममत्त तथ्य के रूप में प्रस्तुत किया । श्री ५० भूयनारायण शुक्ल ने भी वाक्य पदीय ब्रह्मकाण्ड की अपनी टीका (पृ० १५३) में यही प्रतिपादित किया है कि भट्ट हरि का वाणी की अनुविधता अभिमत नहीं थी ।

इन विद्वानों की इस भावना के लिए आपाततः पर्याप्त कारण यह है कि भट्ट हरि ने वाक्यपदीय के ब्रह्मकाण्ड में केवल पश्य ती मध्यमा तथा वैखरी का ही नाम लिया है तथा वाणी को तथा वाक् कहा है तथा अथ कहती भी परा का उल्लेख नहीं किया है ।

इन विद्वानों की उत्कृष्ट प्रतिभा तथा शास्त्र विषयक व्युत्पत्ति एवं अभ्यास का स्वरूप इन मन्त्रक प्रति सत्यता विनश्वर होने हुए भी मैं यह निवेदन करना चाहता हूँ कि वेद तथा आगम को परम प्रमाण मानने वाले आचार्य भट्ट हरि वाणी की परम्परागत अनुविधता के ही प्रतिपादक, पोषक एवं प्रतिरूपक थे । जिसकी पुष्टि के लिए निम्न हेतु प्रस्तुत हैं

प्रथम—जिस कारिका (वाक्यपदीय १।१।४७) में भट्ट हरि ने वाणी के तीन रूपा की गणना की है तथा वाणी को 'त्रयी' कहा है वह वाक्य सस्कृत व्याकरण शास्त्र के महत्त्व की धारा धर रहे हैं । उस कारिका से पहले की कारिका (१।१।४३) में ही वह कह चुके हैं कि 'गंगा का सायुत्वज्ञान कराने वाली यह व्याकरण स्मृति है जो बिना किसी विच्छेद के शिष्टों के सम्प्रयोग की याद दिला देती है । व्याकरणशास्त्र के महत्त्व की चर्चा करते हुए ही वे पुन कहते हैं 'विविध रूप वाली त्रिविध वाणी वैखरी, मध्यमा तथा पश्य ती का वह व्याकरण अद्भुत परम पद है । स्पष्ट है कि 'भट्ट हरि यहाँ केवल इतना ही कहना चाहते हैं कि 'व्याकरण इन तीन वाणियों की चर्चा का विषय है — परा व्याकरणाध्ययन का विषय बन ही नहीं सकती इसलिये इस प्रमाण' में परा के उल्लेख की कोई आवश्यकता ही नहीं थी । इस तरह केवल



व्याकरण की दृष्टि से यदि वे बाणी का जमी कहते हैं तो उसे इतने ही अंग म  
मत्त मानना चाहिए ।

द्वितीय—अतः हरि का चारों प्रसार की बाणी निश्चित रूप से स्वीकृत हो  
यह तथ्य उनकी स्वोपज्ञ टीका (१।१।४३) से सुस्पष्ट हो जाता है । सबप्रथम—  
वत्सर्ग मध्यमापादश्च पञ्चत्पादश्चतस्रभुतम् । अनेकतोऽभेदायास्तस्या वाक् परपदम् ॥  
‘स कारिका की स्वोपज्ञ टीका की ओर विद्वाना का ध्यान आकृष्ट किया जा सकता  
है । यहाँ ‘स चतुर्विध बाणी के स्वरूप विवचन के पश्चात् अतः हरि ने ‘तथेतिहासेषु  
निदर्शनाद्युपलभ्यते’ (इस प्रकार के उल्लेख इतिहासा में मिलने हैं) कह कर दस-  
पद्वह शब्दों की अपने मत की पुष्टि के लिए प्रस्तुत किया है । वचनपद के कथना  
नुसार ये शब्द महाभारत के हैं । महाभारत आखिरी पर्व आश्वमेधिका गीतान्तगत  
अनुगीता में इनमें से कुछ श्लोक पद्यान् पाठ भेदा के साथ उपलब्ध भी हो जाते हैं  
पर दुर्भाग्यवश सारे शब्दों की मिलावट । इस प्रकार महाभारत में अनुपलब्ध पर  
महाभारत के नाम से उद्धृत इन श्लोकों में बचरी तथा म पमा का बलून करने के  
पश्चात् पदयन्त्री का बलून जिस श्लोक में हुआ है वह यही है—

अविभागा तु पश्यन्ती सबत संहतव्रमा । स्वरूपज्योतिरेवात सूक्ष्मा प्रागनपायिनी ॥

विचार करने पर यह प्रतीत होता है कि इन दो पंक्तियों में दो प्रकार की  
बाणियों का उल्लेख किया गया है । पहली पश्यन्ती बाणी विभागरहित तथा ऐसी है  
जिसे कम सहित या समाविष्ट हुआ रहता है । पर इससे भी सूक्ष्म बाणी वह है  
जो स्वप्रकाशिका होती हुई अविनाशस्वरूपा है । यद्यपि यह भी कहा जा सकता है कि  
‘प्रागनपायिनी’ य पदयन्त्री के ही विशेषण हैं परन्तु ‘सूक्ष्मा’ के स्थान पर मिलने वाला  
दूसरा पाठ ‘म’ परा यहाँ यह निगल दे देता है कि श्लोक के उत्तरार्ध में परा का  
ही बलून है ।

महाभारत के नाम से उद्धृत इस शब्दों के बाद दो शब्दों में बाणी की  
‘स अन्तिम वत्स’ की महत्ता का बलून है जिसमें यह कहा गया है कि यह सूक्ष्म  
बाणी नित्य अविच्छिन्न मला या शेषा से युक्त होती हुई भी, साम की अन्तिम वत्स  
के समान बलून दृष्टि नहीं हो पाती तथा ‘स बाणी का दर्शन कर उन पर दर्शन  
के सभी अंगों में अन्तिम अंग ही जाना है । यहाँ एक महत्वपूर्ण बात बड़ी गई है कि  
पादों वत्स यात्र पुरुष में यह ‘अमृतमया वत्स’ है । पादों वत्स बाल पुरुष में हान  
बाली यह अमृतमयी वत्स भी पादों वत्स ही कही जायगी । तुरीयानिपत् (२) में  
यह स्पष्ट कहा गया है कि पदयन्त्री १५ वत्स वाली तथा परा पादों वत्स वाली  
होती है । इस रूप में तुरीयानिपत् तथा महाभारत के इन दोनों शब्दों की तुलना  
करने से भी यही निश्चय होता है कि महाभारतकार यहाँ परा बाणी का ही बलून  
कर रहे हैं जो पादों वत्स वाली है जिसकी तुलना प्रलय में की जानी है । और  
अब यह निश्चय हो गया कि महाभारतकार यहाँ परा बाणी का बलून कर रहे हैं

तो यह भी निश्चित हो गया कि, अपने मत की पुष्टि में महाभारत के इन श्लोकों के उद्गतां स्वोपज्ञ टीकाकार भृगु हरि भी वाणी की मूल प्रकृति के रूप में परा को मानने ही हैं।

तृतीय—इसके अतिरिक्त यह भी द्रष्टव्य है कि स्वापज्ञ टीकाकार ने 'वैखर्या मध्यामायादच' इस कारिका की टीका के अन्त में यह कहा है कि 'सया त्रयी वाक् तुरीयेण मनुष्येषु प्रत्यवभासते' (यह त्रयी वाक् अपने चतुर्थ रूप से मनुष्या में प्रतिभामित होती है) अब यहाँ यदि यह मान लिया जाए कि भृगु हरि को तीन ही प्रकार की वाणी अभिमत है तो स्पष्ट ही 'बदतो-याघात' दाप उपस्थित होता है। पर यदि यह माना जाता है कि भृगु हरि को चतुर्विध वाणी अभिमत तो है पर व्याकरण शास्त्र के विषय की दृष्टि से व वाणी के तीन ही रूप मानने हैं, तब यहाँ यह अर्थ सुसंगत हो जाएगा कि वाणी, जो व्याकरण की दृष्टि से त्रिविध रूप वाली है परन्तु मूल रूप को ध्यान में रखते हुए जो वस्तुतः चार रूपा वाली है उस का चतुर्थ—वखरी रूप मानने में व्यवहृत होता है।

चतुर्थ—इस कारिका की स्वापज्ञ टीका की समाप्ति पर अपने अभीष्ट मत के प्रतिपादन की पुष्टि के लिए भृगु हरि ने ऋग्वेद व जिस प्रसिद्ध—'चत्वारि वाक् परिमिता पदानि' (१।१६४।४५) मन्त्र का उद्धृत किया है वह इस बात का सबसे बड़ा और सुस्पष्ट प्रमाण है कि भृगु हरि का चतुर्विध वाणी ही अभिमत है न कि त्रिविध वाणी क्योंकि इन मन्त्रों में बड़े स्पष्ट शब्दों में यह उद्घोषणा की गई है कि वाणी के परिनिष्ठित चार पद हैं।

पञ्चम—वाक्यपदीय महाकाण्ड के 'तद्भारमपवगस्य०' (१।१४) इस कारिका की स्वापज्ञ टीका (पृ० २७) में व्याकरणाध्ययन से अवगम की जा प्रक्रिया भृगु हरि ने बताया है उसमें यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि सावन ऋमश वैखरा मध्यमा तथा पश्यन्ती के क्षेत्रों का पार करता हुआ अतः परम मूल-तत्त्व परा वाणी के स्वरूप का दर्शन करता है। यहाँ में भी यह निश्चित हो जाना है कि भृगु हरि का परा वाणी अवश्य अभिमत थी।

षष्ठ—नागभाट्ट ने भृगु हरि की स्थिति के विषय में बहुत स्पष्ट सूचना महाभाष्य के प्रयोजनाह्निक में 'चत्वारि वाक्परिमिता पदानि' मन्त्र का इस की पतञ्जलि-कृत व्याख्या का सगल बनाते हुए, दी है। यहाँ नागभाट्ट ने वखरी तथा मध्यमा का सामान्य-व्यवहार का कारण बताया है तथा यह कहा है कि मध्यमा में वाणी के हृदय देश में रहने के कारण पदा का प्रत्यक्ष नहीं हुआ करता। पश्यन्ती यद्यपि लोक व्यवहारातीत है पर यागिया का पश्यन्ती वाणी में भी प्रकृति प्रत्यय के विभाग का ज्ञान हो जाता है। परन्तु परा वाणी में तो वह भी सम्भव नहीं है। इसलिए वाणी की पश्यन्ती अवस्था तक ही उस व्याकरण का विषय माना जा सकता है। व्याकरण आदि में अप्रत्यक्ष ज्ञान का कारण ही परा का 'स्वरूपज्ञाति' = स्वप्रकाशिता कहा गया है। इस प्रकार व्याकरण का विषय न होने के कारण ही भृगु हरि ने परा वाक्

का नामोल्लेख नहीं करना चाहता।

इस प्रकार इन हेतुओं को देखते हुए भट्ट हरि को यथोक्त का प्रतिपादन मानना या उन्हें परा वाणी का समर्थक न मानना उनके प्रति महान् प्रयाम होगा। इसके अतिरिक्त यदि परा को न माना जाए तो वद के 'चत्वारि वाकपरिमिता पदानि मात्र की कोई सगति नहीं दिखाई देती।

यहाँ यह कहा जा सकता है कि ऊपर जितने भी हेतु प्रस्तुत किये गये हैं उन में से अनेक वाक्यपदीय की तथाकथित स्वोपन टीका पर आधारित हैं जिनकी भत हरिकृतता में पूरा पूरा सन्देह है। व्याकरणद्वयन के भाषिक भ्रम्यता एवं प्रबल व्याख्याता श्री प्रभातचन्द्र भट्टवर्ती तथा डा० गौरीनाथ गान्धी जैसे विद्वानों ने भी इस टीका को पुण्यराज की टीका मान लिया है। डा० गौरीनाथ गान्धी ने इसी आधार पर यह प्रतिपादन किया है कि 'भतहरि को केवल त्रिविध वाणी ही अभिमत है। पुण्यराज आदि टीकाकारों ने तत्रगान्ध की वामना में अभिभूत होकर, वाक्यपदीय की कारिकाओं के व्याख्यान में परा का भी उल्लेख कर दिया है।' (द्र० फिलासफी आफ वड एण्ड मीनिंग, पृ० ७०)।

इसलिए यदि इस टीका का लेखक भट्ट हरि से अन्य कोई विद्वान् है तो भट्ट हरि को वाणी का त्रिविध रूप अभिमत होने पर भी सम्भव है उसने अपनी दृष्टि से वाक्यपदीय की इन कारिकाओं की व्याख्या की हो।

इस विषय में अभी इतना ही निवेदन करना उचित प्रतीत होता है कि पुण्यराज हलाराज तथा वृषभदेव इत्यादि वाक्यपदीय के अन्य व्याख्याताओं ने स्थान स्थान पर भत हरि को टीकाकार जैसे नाम से अभिहित किया है जिससे इतना तो निश्चित ही है कि उसने कोई स्वोपन टीका लिखी थी। अत्र केवल इतना ही विचारणीय है कि आज जो टीका स्वोपन नाम से उपलब्ध है तथा जिसके कुछ अंशों का संपादन श्री प० चारुदेव शास्त्री ने किया है उसे स्वोपन टीका माना जाय या न माना जाय? इस प्रश्न का निराकरण श्री प० चारुदेव जी ने अपने सस्करण की भूमिका में विभिन्न युक्तियों के आधार पर किया है और यह कहा है कि कारिका तथा वृत्ति दोनों का लेखक भट्ट हरि ही है। प्रश्न का निराकरण एक ओर तथा स भी हो सकता है वह यह कि भत हरि ने पतञ्जलि के महाभाष्य पर एक महत्वपूर्ण टीका लिखी थी जिसका नाम था महाभाष्य टीका। इस टीका के अनेक स्थलों पर भतहरि की इस स्वोपन टीका के अनेक स्थलों से अत्यधिक साम्य है जो दोनों की एक कृतता का पोषक है।

इस प्रकार स्वोपन टीका को भत हरिकृत मान लेने पर ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भत हरि को वाणी के चारों भेद अभिमत हैं। यहाँ यह भी स्वीकार कर लेना चाहिए कि भत हरि ने वाणी के चतुर्विध विभाग की जा उद्भावना की है उसका आधार समस्त महाभारत के वे श्लोक हैं जिन्हें भट्ट हरि ने अपनी स्वोपन टीका में उद्धृत किया है। यदि भत हरि का, महाभारत के इन श्लोकों से अतिरिक्त कोई अन्य आधार भी है तो वह आज उपलब्ध नहीं है। यह सचमुच

शास्त्र की बात है कि पतिजलि के संपूर्ण महाभाष्य तथा उसमें पूर्व की उपलब्ध किसी भी पुस्तक या साहित्य में इन चारों विभागों का कहीं भी नामोल्लेख तक नहीं मिलता। तुरीयापनिषद् (२), यागकुण्डल्युपनिषद् (३।१८-१९) तथा नारायणपूर्वतापिष्युपनिषद् (१।८) में इन वाणियों का वर्णन अवश्य है। परन्तु उपनिषद् भट्ट हरि के बाद की हैं ऐसी पूरी सम्भावना है।

जो भी हो उपलब्ध सामग्री को देखते हुए यह स्वीकार करना होगा कि दार्शनिक पृष्ठभूमि में वाणी के उपनिषदिक चार प्रकार तथा उनके आधार पर ऋग्वेद के इस मंत्र की मुख्यवर्धित समिति ज्ञान का ज्ञाय सर्वप्रथम भट्ट हरि न ही किया। नाथ ही यह भी कि भट्ट हरि ही वह प्रथम दार्शनिक है जिसने यह स्पष्ट प्रोपणा की कि परा वाणी ही जिसका पारिभाषिक नाम शास्त्रज्ञ है सम्पूर्ण विश्व का मूल कारण या दूसरा ज्ञानात्मक धर्म शक्ति है।



## स्फोट-वाद का भाषा-दर्शन

स्फोटवाद को सामान्यतः एक व्याकरण या व भाषा दर्शन माना जाता है तथा आधुनिक काल में उसे व्याकरण के शास्त्रों का विषय समझ कर दर्शन शास्त्र के भारतीय विद्वानों द्वारा सामान्यतः उनकी उपेक्षा हुई है। भाषा विज्ञान के विद्वानों ने यद्यपि, प्राचीन भारतीय भाषा वैज्ञानिक चिन्तन का गुणानुवाद तो किया है परन्तु गम्भीरतापूर्वक उसे अध्ययन या शोध के विषय के रूप में सामान्यतः मान्य नहीं किया है। क्योंकि आधुनिक काल में भारत के दार्शनिक विषयों के अध्ययन की दृष्टि मूलतः पाश्चात्य प्रभावित है तथा पश्चिम में आधुनिक काल में पूर्व भाषा दर्शन या भाषिक-तत्त्व दर्शन को दर्शन शास्त्र और भाषा विज्ञान की सीमा में स्वीकृत नहीं किया जा सकता था। अतः स्वाभाविक ही है कि आधुनिक काल में दर्शन एवं भाषा विज्ञान के विद्वानों द्वारा स्फोटवाद की तात्त्विक विवेचना सामान्यतः प्रस्तुत नहीं। परन्तु भारतीय परम्परा में स्फोटवाद न केवल एक व्याकरण या/व भाषा दर्शन के रूप में मान्य है अपितु वह एक तात्त्विक मतवाद भी है। स्फोटवाद मूलतः तत्त्व ज्ञान ही है जो भाषा के रूप में मूर्ति के उभय स्थिति तथा लय की व्याख्या करता है तथा उसी सिद्धांत के अनुसार किसी भी वास्तविक वस्तु के उभय प्रकाश प्रतीति प्राप्त हो ही नहीं, वरन् उनके स्वरूप की भी व्याख्या करता है। परम्परा अनुसार स्फोटवाद एक प्राचीन वैदिक अस्तित्व अद्वैतवादी तत्त्व दर्शन ही है। भट्टोजी दीक्षित ने इसे जहाँ अद्वैतवाद का व्याकरण रूप बना है तथा अद्वैतवाद का सभी भेदभेदों का या अभिमतों को दम पर घटित किया है। वहाँ भाषावाच्य न अपने सब दान-मण्डल में पाणिनि ज्ञान पर उसी प्रकार एक स्वतंत्र अध्याय लिखा है जिस प्रकार अन्य भाषा प्राचीन भारतीय ज्ञानिक सम्प्रदायों या सिद्धान्तों पर लिखे हैं। आगे यह कि भारतीय परम्परा में स्फोटवाद एक तत्त्व दर्शन के रूप में ही स्वीकृत है जिस पर सम्प्रतः में प्रभूत माहिष्य उपनन्द है तथा उनका जो भी व्याकरण या/व भाषा ज्ञान है वह सब कुछ स्फोटवाद के व्यापक तत्त्व-ज्ञान का ही अंग या प्रतिबिम्ब है।

यस्तुतः स्फोटवाद एक ऐसा तात्त्विक दर्शन है जो ज्ञान व्याख्या को प्रपञ्चा करता है क्योंकि एक धारा जहाँ वह भाषा-ज्ञान है वही वह एक भाषिक-तत्त्व-ज्ञान भी है तथा उस पर आधारित एक भाषा-मदति भा है जिसकी चर्चा आधुनिक नव-माहिष्य में विषय रूप में उपलब्ध होती है। दूसरे ज्ञान में स्फोटवाद जहाँ सम्प्रतः-व्याकरण शास्त्र का आधार है सम्प्रतः व्याकरण का भाषिक-तत्त्व दर्शन

है, यहाँ यह एक जीवन-माधना पद्धति भी है। यद्यपि स्फोटवाद के उक्त सभी रूपा या पक्षों की व्याख्या करना बड़ा भारी एक प्रश्न उपलब्ध नहीं है, परन्तु यास्त, पाणिनि शास्त्रायन, पतञ्जलि आदि की रचनाएँ मन्त्रिप्रकार स्फोटवाद की सहायक आधारभूमि दृष्टिपात्र हैं।<sup>३</sup> उन्हीं प्रकार उक्त की भाषा पद्धति व विविध रूप, 'न' शब्द एक बहुरूप भाषा या शब्दों में ही नहीं यद्यपि बौद्ध आदि तथा म भी प्राप्त होते हैं।<sup>४</sup>

उन्हीं प्रकार जगत्समस्त में स्फोटवाद का परिवर्तन सैद्धांतिक विवेचन में 'न' शब्द आदि विचारणा के द्वारा मन्त्रिप्रकार उन्हीं प्रकार उक्त की भाषा पद्धति व विविध रूप, 'न' शब्द एक बहुरूप भाषा या शब्दों में ही नहीं यद्यपि बौद्ध आदि तथा म भी प्राप्त होते हैं।<sup>४</sup> यद्यपि मन्त्रिप्रकार प्राचीन भारतीय भाषाशास्त्रों में 'न' शब्द और उक्त के अर्थों के विषय में विचार किया है। जगत्समस्त के भाषाशास्त्रों का सम्पूर्ण विचार न किन्हीं रूप में सभी भारतीय भाषाओं के साथ माना जा सकता है तथा इसीलिए स्फोटवाद की धारणा व्याख्या की जा सकती है। तथा 'स्फोट' शब्द का पारिभाषिक अर्थ में प्रयोग अथ भारतीय दार्शनिकों में किया भी है। परन्तु यद्यपि स्फोटवाद व्याख्या का ही मित्रान है, जिसके आदि प्रवर्तन नहीं, परन्तु प्रधानतम भाषा के रूप में पाणिनि की स्वीकार किया जा सकता है। इसे चाह पाणिनि की अष्टाध्यायी का चमत्कार कहा जाए या उसके व्याख्याता आचार्यों का विवरण प्रतिभा का परिणाम परन्तु यह सत्य है कि जिन सूत्रों के आधार पर सम्पूर्ण भाषा के रूप प्रयोग आदि के विषय में विचार किया गया है उन्हीं के आधार पर प्रमुख तात्त्विक मित्रानों की उद्भावना भी हुई है, तथा उन्हीं के आधार पर बौद्ध मन्त्रों की व्याख्या तथा मन्त्र माधना का भी विचार किया गया है। इस दृष्टि से बौद्ध मन्त्र-शास्त्र का उल्लेख किया जा सकता है जिसमें वहाँ की आकृति ध्वनि आदि की रहस्यवादी व्याख्या की गई है। पाणिनि की अष्टाध्यायी के प्रारम्भ में प्राप्त होने वाले १४ माहद्वार सूत्रों के वहाँ की दार्शनिक व्याख्या 'नन्विकेश्वर' द्वारा नन्विकेश्वर-भाषिका में हुई है।<sup>५</sup> इसी प्रकार अभिनव गुप्त ने अपने 'तन्त्रान्त' में बौद्ध मन्त्रों की व्याख्या अष्टाध्यायी के सूत्रों के आधार पर की है।<sup>६</sup> आगे यह कि यद्यपि स्फोट या स्फोटवाद शब्द पारिभाषिक अर्थ में पाणिनि की अष्टाध्यायी में प्रयुक्त नहीं मिलता पर उसे स्फोटवाद का मूल अवश्य कहा जा सकता है।

यद्यपि 'स्फोट' शब्द का दार्शनिक अर्थ में सब प्रथम प्रयोग पतञ्जलि के महाभाष्य में मिलता है,<sup>७</sup> परन्तु उससे पूर्व प्रातिशाख्य ग्रन्थों में 'स्फोटण' शब्द पारिभाषिक अर्थ में मिलता है।<sup>८</sup> जिसके स्वरूप और अर्थ के विवक्षित रूप में तो स्फोटवाद को नहीं स्वीकार किया जा सकता परन्तु दार्शनिक विचारधाराओं में कुछ साम्य अवश्य है। प्रातिशाख्य के अनुसार स्फोटण का अर्थ है वचन के अर्थ स्पष्ट व्यञ्जन के साथ सन्निकषण के निष्पन्न उनकी स्फुटोक्ति।<sup>९</sup> अर्थात् वचन में भिन्न उनकी परिवर्तन क्रम बोलों में स्फुटण है। यह उल्लेखनीय है कि

स्फोटन के प्रयोग की सीमा केवल व्यंजन सन्निपात तक ही है जबकि मात्र स्थूल भाषिक अथ म भी स्फोट' का क्षेत्र उक्ति की श्रुति से लेकर सब प्रकार के वर्णों के संयोग सन्निपात से बन पद शब्द, वाक्य के परे उनकी अथ प्रतीति तक है।<sup>११</sup>

विद्वाना की मायता है कि यद्यपि स्फोटवाद' शब्द अप्रथावृत्त नवीन है परन्तु यह सिद्धान्त प्राय है। यास्क और पाणिनि से पूर्व औदुम्बरायण वाप्यगिणि, वार्ताक्षि, स्फोटायन आदि आचार्यों को प्राय स्फोटवादी ही माना जाता है।<sup>१२</sup> मागध भट्ट न धपन अथ स्फोटवाद म स्फोटायन को ही स्फोटवाद का आदि आचार्य माना है।<sup>१३</sup> तथा पाणिनि के सूत्र अवड स्फोटायनय<sup>१४</sup> म उल्लिखित स्फोटायन की ही हरदत्त न 'वाशिष्ठा की अपनी टीका पदमजरी म स्फोटवाद का का प्रवक्तृ आचार्य बताया है।<sup>१५</sup> आशय यह है कि यद्यपि पतञ्जलि से पूर्व स्फोटवाद के अनेक आचार्य मिलते हैं परन्तु सम्प्रति महाभाष्य म ही न केवल सब प्रथम स्फोट 'वाद का एक सिद्धांत एवं तत्त्व व अथ म प्रयोग मिलता है बरन् उमम स्फोटवाद के सार भावी विकास विस्तार की पुष्ट भूमिका भी है। स्फोटवाद के अंतर्गत 'वाद, अथ एवं उनके सबध स्वरूप आदि के विषय म जा कुछ विचार व्याकरणों न विद्या है वह किसी न किसी रूप म पतञ्जलि के महाभाष्य म अवश्य मिल जाता है। इस भी सम्प्रति स्फोटायन आदि के मात्र उल्लिखित होने तथा पाणिनि आदि द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से ही स्फोटवाद की चर्चा किए जाने कारण पतञ्जलि के महाभाष्य को ही स्फोटवाद के मूल आचार्य के रूप म स्वीकार किया जा सकता है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि पतञ्जलि पूर्व साहित्य म स्फोटवाद' के अन्यान्य प्रमाण है। परन्तु उन म स्फोट के स्थान पर वचा या ग' ग' का प्रयोग मिलता है।<sup>१६</sup> कुछ विद्वाना का मायता है कि यास्क के 'इन्द्रियनित्य दधनम् औदुम्बरायण<sup>१७</sup> वाक्य म वाक्य-स्फोटवादिया का अभिमत है जबकि यास्क स्वयं ग' स्फोटवादी थे।<sup>१८</sup> स्फोट के 'न न मतवा' के अनतिरिक्त वर्ण स्फोटवादी एवं पद स्फोटवादी अभिमत भी हैं।<sup>१९</sup> परन्तु मूलत वाक्य स्फोटवाद का ही व्याकरण का मौलिक सिद्धांत माना जाता है जिसने गान्तिक पक्ष का पूर्ण पालन भत हरि के वाक्य पण्य में प्राप्त होता है। वस्तुतः स्फोटवाद' के विषय म परवर्ती व्याकरण जम भट्टाजी शीघ्रित कौण्ड भट्ट नागय आदि न ग' कोस्तुम भूयण', भक्षणा स्फोटवाद आदि प्रथा म जा कुछ लिखा है, वह सब कुछ भत हरि के वाक्यपणीय पर आधारित है। इस प्रकार कुमारिन आदि द्वारा जिस स्फोटवाद' का पण्य तथा गङ्गुराचार्य मण्डनमिथ आदि द्वारा समर्थन दिया है वह भा मन हरि द्वारा प्रतिपादित स्फोटवाद' ही है। स्फोटवाद' के मन्त्र म भू हरि के वाक्य पणीय का इसलिए भी सर्वाधिक महत्त्व है कि उमम स्फोटवाद' के सभी मद्धान्तर पथा की गुपट व्याख्या प्राप्त होता है। परन्तु स्फोटवाद का भावन पण्य तत्रा म ही मुरगित है। स्फोटवाद' का समग्र रूप से समर्थन के लिए उक्त माना आधार का समर्थन मद्धान्तर अध्ययन आवश्यक है।

स्फोटवाद के मात्र 'भाषा दर्शन' को समझने के लिए यद्यपि उसके तत्त्व दर्शन के विवचन को सामान्यतः अनावश्यक समझा जा सकता है परन्तु स्फोटवाद का भाषा दर्शन, क्योंकि एक व्यापक तत्त्व दर्शन का ही अंग है जो सारी सृष्टि का उदय स्थिति तय की अद्वैत शृङ्खला की विवृत 'एक परिणाम' दाना रूपा में व्याख्या भाषा के प्रतीक में माध्यम में करता है। इसलिए स्फोटवाद के तत्त्व दर्शन तथा भाषा दर्शन को विलकुल अलग अलग करने नहीं समझा जा सकता। स्फोटवाद के भाषा दर्शन को समझने के लिए उसके व्यापक तत्त्व दर्शन का साधारण परिचय इसलिए भी आवश्यक है कि उसका तत्त्व दर्शन मूलतः भाषा मूलक होने के कारण भाषिक-तत्त्व दर्शन है। परम्परानुसार भी स्फोटवाद का अद्वैतवाद का ध्वनितवाद ही कहा जाता है।

स्फोटवाद के अनुसार सारी सृष्टि, जिस का कि एक रूप भाषा भी है शब्द ब्रह्म से उत्पन्न है तथा यद्यपि व्यावहारिक स्तर पर भाषा और भाषेतर सृष्टि में समान तथा समानांतर यथाथ के रूप में स्वीकार्य है तथा सृष्टि काल में परस्पर दोना एक दूसरे में प्रतिच्छादित होने हुए भिन्न प्रतीत माने जाते हैं, परन्तु मूलतः दोना यथाथ एक ही परमाथ पर ब्रह्म, प्रणव की अभिव्यक्ति हैं उसी में स्थित रहते हैं तथा उसी में लय प्राप्त करते हैं। आशय यह है कि यद्यपि व्यावहारिक धरातल पर स्फोटवाद भाषा और भाषेतर यथाथ अर्थान् शेष पदार्थ जगत् का द्वैतता स्वीकार करता है परन्तु दोना की उत्पत्ति एक ही यथाथ से माय करता है। अतः स्फोटवाद के अनुसार परमाथतः अद्वैत ही स्वीकार्य है। स्फोटवाद के अनुसार उक्त दोनो यथाथों में परस्पर वाच्य वाचक संबंध है काय कारण संवद नहीं। जगत् और भाषा एक दूसरे में आभासित होते हैं। उक्त दोना यथाथों का काय-कारण संबंध परस्पर न होकर दाना का शब्द ब्रह्म के साथ है। इसलिए पारमार्थिक दृष्टि से स्फोटवाद अद्वैतवादी तत्त्व दर्शन है, जो भाषा को मात्र मानवीय सामाजिक यथाथ न मान कर, उसे एक समूची ब्रह्माण्डीय सृष्टि का सदभ में देखता है। इसलिए उसके अनुसार 'भाषा' एक प्राकृतिक यथाथ है वह मात्र पारंपरिक मातृत्विक पाठ्यचिह्न ध्वनि प्रतीका की व्यवस्था नहीं है। वास्तविक भाषाएँ भी क्योंकि ब्रह्म स्फोट की दृष्टि रूप होती हैं अतः उन्हें भी स्फोटात्मा कहा गया है।

भारतीय व्याकरण के अनुसार स्फोट उपरोक्त दोना भाषा और भाषेतर यथाथों का समोजक तत्त्व ही नहीं बल्कि उनका कारण भी है। वह मात्र भाषा की ही आत्मा नहीं है अपितु समस्त सृष्टि की भी आत्मा है। सृष्टि में जो भी स्पन्द या स्पन्दन है वह सब स्फोट ही है तथा जो कुछ निष्पन्न जापतिक सृष्टि है वह सब उसी स्फोट शब्द का वाच्य है। काश्मीरी शब्द आचार्यों के तांत्रिक ग्रन्थों में इस विचारधारा का विशेष पल्लवन प्राप्त होता है। उसके अनुसार यह सारी सृष्टि परमेशिव की अभिव्यक्ति है। जम विम्बा के मायम से कल्पना का रूप अभिव्यक्त होता है वैसे ही शब्द-ब्रह्म या परम शिव स्फोट के माध्यम से जगत् और वाक् या भाषा के रूपा में व्यक्त होता है।<sup>२१</sup> जैसे उपनिषदों में जगत् को ब्रह्म का निहव



सित कहा गया है उसी प्रकार आभासवादी शैवों ने समस्त सृष्टि को प्रकाशविमलमय परमशिव की अभिव्यक्ति माना है।<sup>२२</sup> व्याकरण के अनुसार भी शब्द ब्रह्म का स्फोट ही समस्त पदार्थ जगत् है।<sup>२३</sup> आभासवादी शैवों के अनुसार सृष्टि में मूलतः दो ही प्रकार के पदार्थ हैं एक प्रकाश के विवर्तित परिणाम रूप स्थूल पदार्थ जगत् तथा दूसरा विमल का स्थूल रूप वाक् या प्रत्यात्मक तथा प्रकाशक यथायत्।<sup>२४</sup> इन्हीं का क्रमशः रूप और नाम भी कहा जा सकता है। जगत् और वाक् में परस्पर वाच्य वाचक सम्बन्ध ही शैवाचार्यों का भी भाव है।<sup>२५</sup> वस्तुतः स्फोटवाद के तत्त्व दर्शन में परम् ब्रह्म या उसके समकक्ष एक परम सत्ता स्वीकृत है जिसकी भाषिक अभिव्यक्ति ही सारी सृष्टि है तथा जिस शैवों और व्याकरण ने प्रतिभा स्फोट या शब्द ब्रह्म आदि शब्दों से अभिहित किया है।<sup>२६</sup> तथा क्याकि परम सत्ता प्रकाश विमलैक्यपरा स्थिति रूप ब्रह्म ही है अतः उसी के दो तत्त्वों की अभिव्यक्ति सृष्टि काल में शब्द पदार्थ या वाच्य वाचक के द्वय के रूप में प्रतीत या आभासित होती है। वाच्य रूप जगत् प्रकाश तत्त्व का घनीभूत स्थूल रूप है तथा वाक् (वास्तविक भाषाएँ नहीं) विमल तत्त्व का घनीभूत स्थूल या भूत रूप है।<sup>२७</sup> अतः हरि भी उसी प्रकार समस्त अनुभूत वास्तविक जगत् का शब्द ब्रह्म के साथ अद्वैत मानते हैं।<sup>२८</sup> जैन अद्वैतवादी ब्रह्म और जगत् में तथा विज्ञानवादी मान और ज्ञेय में अद्वैत मानते हैं।<sup>२९</sup> वस्तुतः सत्ताद्वैत विज्ञानाद्वैत तथा गण्यद्वैत एवं ही सिद्धांत के तीन सम्बन्ध हैं।

स्फोटवाद के अनुसार ब्रह्म ही अनन्त गतिविधियाँ हैं जिन में स्वानन्द गति का प्रधानत्व माना जाता है।<sup>३०</sup> तथा ने इस ही काल गति कहा है।<sup>३१</sup> अतः हरि ने भी गति की काल गति का माना है जिसके परिणाम स्वरूप जन्मादि पञ्चभूतविकार उत्पन्न होते हैं। अतः हरि ने कहा है—

अप्राप्त कलं यस्य, काल गतिमुपाधिता ।

जन्मान्दो विचारा यद्वा माय भेदस्य धोनेय ॥ (वाक्य पदोप १।३)

परन्तु यह जानव्य है कि गण्य-ब्रह्म और उसकी गति की अभिव्यक्ति जब भी होती है वह तब स्फोट के कारण तथा स्फोट के रूप में ही होती है। वस्तुतः व्याकरण का शब्द-ब्रह्म साम्य दर्शन के प्रवृत्ति या द्विष्यकभूत आदि तत्त्व सब तत्त्वसार भूत, त्रिगुणात्मक प्रवृत्ति का प्रतिनिधि है जिसमें समस्त सृष्टि स्फुटित और विवर्तित होती है और जिसमें विलीन होती है। स्फोट के द्वारा आध्यात्मिक रूप को गण्य कहा जाता है। अतः हरि ने अपने वाक्य-पदोप के प्रथम श्लोक में इसी का वर्णन किया है— अनादि निघन ब्रह्म गण्य तत्त्व यदक्षरम् ।

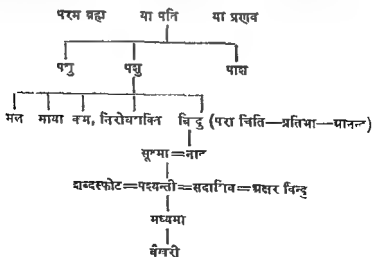
यिक्वततेभ्यमानेन प्रक्रिया जगतो यत् ॥ (वाक्य पदोप १।१)

अप्यत्र अतः हरि ने गण्य का स्फाटारम्भ कहा है तथा उक्त अप्राप्त कलं वाक्य अर्थात् वाक् में दर्शाया माना है।<sup>३२</sup> आगे यह है कि व्याकरण के अनुसार गण्य ब्रह्म वह मौलिक तत्त्व है जिस तत्त्व के कारण और जिस तत्त्व के रूप में समस्त मौलिक सृष्टि है या आभासित होती है तथा क्योंकि यह मौलिक तत्त्व भूतन प्रकाश विमल मय है अतः समस्त सृष्टि में इन प्रतीत होने के वस्तुतः वाक् में अतः

ही है। इसीलिए यद्यपि एक को वाच्य तथा दूसरे को वाचक या एक को रूप तथा दूसरे का नाम कहा गया है। परन्तु क्याकि वाच्य, वाचक और वाचक वाच्य होता है तथा रूप का नाम व नाम का रूप भी होता है इसीलिए स्फोटवाद के अनुसार परमायत अद्वैत ही सिद्ध होता है।

वैयाकरणों के अनुसार स्फोट शब्द ब्रह्म की वस्ती ही आत्मा है जिसे सामान्य भाषिक ग्रन्थ में शब्द की आत्मा ग्रन्थ का माना जाता है। इसी स्फोटारमा शब्द ब्रह्म से जा सृष्टि होती है उसका क्रम वैयाकरणों ने सामान्यतः इस प्रकार माना है प्रणव > शब्द ब्रह्म > परा > पश्यन्ती > मध्यमा > वैखरी।

यहां यह उल्लेखनीय है कि भक्त हरि न परा और शब्द ब्रह्म को एक ही माना है अतः उनके अनुसार सृष्टि क्रम में तीन ही सोपान हैं पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी<sup>३३</sup>। परन्तु नागेश आदि प्रायः सभी परवर्ती आचार्यों ने वाक् सृष्टि के चार ही स्तर माने हैं<sup>३४</sup>। काश्मीरी शैवा के प्रत्यभिज्ञावाद के प्रवर्तक आचार्य सामानन्द ने सर्वप्रथम भक्त हरि द्वारा माया वाक् के उक्त तीन रूपों के सिद्धान्त की आलोचना की है तथा पश्यन्ती को वाक् के परम रूप या स्तर के रूप में स्वीकार न कर, परा वाक् का वाक् का परम रूप माना है तथा वाक् सृष्टि के क्रम के उक्त चार स्तर माने हैं जिसे परवर्ती प्रायः सभी वैयाकरणों ने भी स्वीकार किया है<sup>३५</sup>। परन्तु काश्मीरी शैवों के क्रम सिद्धान्त ने वाक् सृष्टि के पांच रूप माने हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि समूचा क्रम सिद्धान्त क्योंकि पञ्च प्रधान है इसीलिए उसमें वाक् सृष्टि के पांच सोपान या स्तर माय हैं। इसीलिए सम्भवतः क्रम सिद्धान्त के अनुसार परा और पश्यन्ती के बीच में एक सूक्ष्मा वाक् और भी है<sup>३६</sup>। संक्षेप में काश्मीरी शैव आचार्यों के वाक् सृष्टि-क्रम विषयक विविध दृष्टिकोणों को निम्नलिखित तालिका में स्पष्ट किया जा सकता है



यहाँ यह उल्लेखनीय है कि वह वाक सृष्टिक्रम मूलतः किसी विशेष या सामान्य भाषा की अभिव्यक्ति का क्रम नहीं है। अपितु यह समस्त व्यावृत्त, या दृश्य जगत् की सृष्टि का क्रम है जिसके अव्यावृत्त, अनभिव्यक्त, अननुभूत अथ अनेक सूक्ष्म स्तर भी हैं। अर्थात् जो कुछ दृश्य जगत् में विभक्त तत्त्व की अभिव्यक्ति है वह सब बखरी सृष्टि है, जिसके अंतर्गत तथाकथित वास्तविक भाषाएँ भी हैं और उनके तथाकथित बचना और उनकी बोलियाँ आदि भी। परंतु क्योंकि जो कुछ पूर्ण है वह उसके अंश में भी पूर्णतः है, अतः वाकसृष्टिक्रम के उक्त पाँच रूपा या स्तरों के पंचक के अनुसार वास्तविक 'भाषा' के स्वरूप का व्यवहार भी व्याख्या की जा सकती है। क्योंकि वास्तविक भाषाएँ भी व्यापक वाक-तत्त्व की अंश, या विम्ब मात्र हैं। आशय यह है कि जिस तत्त्व दर्शन के आधार पर स्फोटवाद सृष्टि में व्याप्त व्यापक वाक व उसकी अभिव्यक्ति की व्याख्या करता है, उसी के अनुसार वह वास्तविक भाषाभाषा की अभिव्यक्ति, स्वरूप तथा प्रयोग की व्याख्या भी करता है। उक्त तात्त्विक दृष्टि से जो भाषा दर्शन भारतीय वैयाकरणों द्वारा अर्चित हुआ है उसे ही स्फोटवाद का भाषा दर्शन कहा जा सकता है। परंतु यहाँ यह उल्लेखनीय है कि भारतीय वैयाकरणों तथा अन्य भारतीय भाषाविदों में भी सामान्यतः इस प्रकार के दो पक्ष या उपसम्प्रदाय मिलते हैं, जिनमें एक त्रिवक् को लेकर चलता है तथा दूसरा पंचक् को। वेदान्तियों में भी इस प्रकार का भेद मिलता है। पंचक् वादी सिद्धांत सामान्यतः बिभृद्वद्वादवादी है तथा त्रिवक् वादी द्वतवादी या द्वनाद्वतवादी है। यदि यह मायता स्वीकृत की जाय तो भक्त हरि को फिर द्वनाद्वतवादी ही मानना चाहिए क्योंकि वे वाक के तीन ही रूप मानते हैं। अतः उन्हें त्रिवक्वादी ही कहा जाएगा। कुछ विद्वानों ने भक्त हरि को द्वनाद्वतवादी तथा अचित्यभेदाभेदवादी आचार्य माना भी है<sup>३७</sup>। आचार्य के तीन वर्णों द्वारा उच्चरित होने तथा पाँच आवृत्तियों में लिखे जाने में भी पंचाक्षर उक्त नाम। पंचक् और त्रिवक्वादी भाषाविदों का द्वन्द्व ही प्रतिबिम्बित होता प्रतीत होता है।

आशय यह है कि स्फोटवाद की भी उक्त दोनों प्रकार की व्याख्याएँ प्राचीन व्याकरण शास्त्र में मिलती हैं तथा जिसरी परस्पर अत्यंत प्राचीन काल से १८-१९ शताब्दी तक अग्रगण्य चली आ रही है। परंतु सम्प्रति व्याकरण शास्त्र के साहित्य में उक्त दोनों परम्पराओं के अनुसार स्फोटवाद की दुन्नी व्याख्या ऐसी घुनी मिनी मिलती है कि उन दोनों को पृथक् कर सकना इस समय सहज प्रतीत नहीं होता। परन्तु इतना निश्चित है स्फोटवाद व तत्त्वज्ञान की जहाँ भी व्याख्या की जाएगी उस का भाषाज्ञान भी तदनुसार परिवर्तित होगा ही। परन्तु इस समय स्फोटवाद के उक्त भेदों के चर्चा में यह मंगेय में उसके सम्बन्धित भाषा दर्शन के विषय में भी विचार किया जा सकता है।

स्फोटवाद भाषा की एक ही माय एक यथाय और अज्ञान दोनों मान कर चलता है। क्योंकि उसके अनुसार यथाय (या वस्तुतः आभास या अध्यात्म ज्ञान के कारण प्रत्यक्ष ही है) व द्रव्य ही अज्ञान अभिव्यक्त होता है। भाषा व्यक्तियों के वक्ता-व्यापार व माध्यम में अभिव्यक्त होती है। जिन व्यक्तियों का जिनका और

जसा भी समान मस्वार होता है वगा ही उनका परस्पर वाक व्यापार समान होता है। परस्पर व्यक्ति-वाक-व्यापार में अभिव्यक्ति 'एक भाषा' की व्याख्या भी स्फोट या उभो मिश्रित में करता है जिस सिद्धान्त से वह किसी एक व्यक्ति में अभिव्यक्ति 'भाषा' या उसके वाक व्यापार की व्याख्या करता है। साथ ही मानवीय व्यक्ति वाक-व्यापार से भिन्न एक भाषा व उनकी स्वतंत्र भाषिक-संरचना का ही नहीं बरन् सारी सृष्टि के प्रत्येक नाम रूपाधारी पद व पदार्थ का भी एक भाषा या अभिव्यक्ति मानता है जिस में मूलतः कोई भेद नहीं है। क्योंकि स्फोट सब कुछ एक है तथा उसके कारण सब की अर्थवत्ता है। सारी सृष्टि, प्रकाश विमलमय परा के प्रकाश से अनुसजित वाच्य एक विमल से प्रस्फुटित वाचक सृष्टि के रूपा में ही अभिव्यक्ति हुई है। अतः स्फोटवाद के अनुसार वाक या भाषा के व्युत्पत्ति—यथाय तथा समष्टि यथाय के साथ साथ उनकी एक आध्यात्मिक यथाय भी है। आधुनिक पाश्चात्य भाषा विज्ञान अभी तक भाषा का व्यक्ति और समष्टि इन यथायों के रूप में ही देख पाया है। भाषा का समस्त सृष्टि व सद्भ में देखने की कल्पना आधुनिक भाषा विज्ञान नहीं कर सकती क्योंकि वह अभी अथ भाषा विज्ञान की बाटि में बाहर नहीं जाना चाहता। परन्तु स्फोटवादी दृष्टिकोण यही है। भाषा की उत्पत्ति के विषय में भी स्फोटवाद का वही सिद्धान्त है जो उसे अन्य किसी यथाय की उत्पत्ति के विषय में स्वीकृत है। अर्थात् जिस प्रकार स्फोट का आधार पर मानव और उसकी उत्पत्ति या विकास क्रम की व्याख्या होती है, उसी प्रकार भाषा भी एक यथाय है और उसी प्रकार भाषा और उसके व्यक्ति यथाय या समष्टि यथाय दोनों रूपों के विकासक्रम की व्याख्या भी स्फोट के आधार पर की जा सकती है। क्योंकि स्फोट जहाँ समस्त सृष्टि का आत्मतत्त्व है वही वह भाषा और उसके सभी स्तरों व कोशों का भी नहीं बरन् वह उसके सभी स्वाभाविक वा उचित प्रयोग व्यापार का नियामक प्राणतत्त्व भी है। जिस पाश्चात्य प्रतीकवाद समस्त सृष्टि को ही प्रतीक नहीं बरन् उसमें सृष्टि के क्रम तथा उपादान को भी प्रतीक समक मानता है। उभी प्रकार स्फोटवाद भी सारी सृष्टि का स्फोट रूप ही मानता है तथा स्फोट को ही उसका कारण भी मानता है। साथ ही सत्तायवादी होने से काय कारण में अनन्तर स्वीकार करने के कारण सृष्टि के काय व्यापार या उसकी क्रिया समक अभिव्यक्ति में भी स्फोट को ही अनुस्यूत मानता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि प्रतीक के समान स्फोट भी सदा साधक ही होता है चिह्न sign के समान प्रतीक symbol और स्फोट सभी व्यर्थ नहीं हो सकते। इसीलिए स्फोटवाद न तो स्पष्टतः 'अर्थ और अर्थ' को ही नहीं बरन् उनके परस्पर सम्बन्ध का भी नित्य माना है। परन्तु पाश्चात्य प्रतीकवाद के अनुसार प्रतीक में अर्थ सद्भ से ही आता है तथा सहज ऐतिहासिक तथा सामाजिक स्तरों पर निष्पन्न होते हैं साथ ही वह प्रतीक, प्रतीकाय और उनके सम्बन्ध को उस अर्थ में नित्य नहीं मानता जिस अर्थ में स्फोटवादी शब्द, अर्थ और उनके सम्बन्ध को नित्य मानते हैं। आशय यह है कि यद्यपि पाश्चात्य प्रतीकवाद तथा भारतीय स्फोटवाद में क्रमशः प्रतीक तथा स्फोट विषयक

विचारों में कुछ साम्य अवश्य है परन्तु उन्हें एक सा नहीं कहा जा सकता ।

स्फोटवाद के अनुसार पूर्व और वर्तमान जन्मों के सस्कारों के परिपाक के रूप में विवक्षा के तात्कालिक कारण से मानवीय कण्ठ से जो ध्वनि रूप में यथार्थ अभिव्यक्त होता है तथा जो श्रोता द्वारा श्रुतिरूप में गृहीत हो शुध्वा आदि <sup>३५</sup> के क्रम में प्रतीत होता है वही भाषा है जिसका मूल केन्द्र बिन्दु 'वाक्य' माना गया । 'वाक्य' उक्ति का शास्त्रीय पर्याय है । मत हरि न वाक्य को उसी प्रकार उपचार से अनेक म्यानों पर शब्द भी कहा है जिस प्रकार स्फोट और अग्र आदि को शब्द कहा है । परन्तु भाषा की मौलिक इकाई के रूप में वाक्य ही माय है तथा उसकी अभिव्यक्ति उसके अर्थ और रूप के दो तत्त्वा के माध्यम से मानी जाती है । इसी प्रकार, शास्त्र व्यवहार के लिए जब वाक्य का उपखण्डो में विश्लेषण किया जाता है तब भी उक्त अर्थ और रूप का द्वैत बना रहता है तथा पूर्व को पर का मूल या कारण माना जाता है । आशय यह कि स्फोटवाद के अनुसार जब वाक्य का विश्लेषण आदि पदों या वर्णों में किया जाता है तब प्रत्येक पद और वर्ण के रूप और अर्थ के द्वैत को स्वीकार किया जाता है तथा द्वय के उक्त दोनों तत्त्वों में, वाच्य वाचक प्रवाश्य प्रकाशक या प्रतीत प्रत्यायक रूप सम्बन्ध माना जाता है ।

स्फोटवाद के अनुसार भाषा का मौलिक रूप शुद्ध ज्यातिमय प्रतिबिम्बप्राप्ति, आनन्दमय ज्ञानमय बुद्धिमय चतुर रूप स्फोट है जिसकी विवर्तित ग्रहम् या यक्ति चिति रूप वक्ता की बुद्धि, मन और प्राण वायु के माध्यम से ध्वनिरूप में परिणति होती है या ध्वनि के उपलक्षणा के माध्यम से अभिव्यक्ति होती है । आशय यह कि मूलवाक्य या परा वाक्य का ग्रहण तब विवक्षित विवर्त रूप में होता है तथा उस सीमा तक स्फोट अव्यक्त रहता है परन्तु जब यह विवक्षा प्रेरित होकर व्यक्त नाद का रूप लेती है तो बुद्धि से प्रारम्भ होकर मन और प्राण वायु के माध्यम में परिणाम और परिमाण स्वरूप में व्यक्त होता है <sup>३६</sup> । अव्यक्त वाक्य की परिणति और परिमित अभिव्यक्ति रूप भाषा के स्फोट के प्राणवायु के प्रधान और निकटतम होने के कारण उसकी अभिव्यक्ति का बाह्य रूप प्रधानतः ध्वनिक होता है जो श्रोत्रिय का धर्म और आकाश का गुण माना जाता है ।

प्राणवायु का जब द्रव्याभिधात अर्थात् वायु में जब स्थान और करण के मघात से जो विकार होता है उमी में अव्यक्त बौद्ध गन्ध नाद, घोष, श्वास के रूप में परिणत होकर ह्रस्व दीर्घ आदि के रूप में परिमित होकर अर्थ प्रत्यायक स्फोट रूप में व्यक्त होता है, जिसकी आना में विविष्ट कालक्रम में प्रतीति भी व्याकरण न स्फोट रूप में ही मानी है तथा वर्ण पञ्च गण एव वाक्य (भाषिक फोटिया के अर्थ में) आदि के तत्त्व स्तर पर तत्स्फोट माना है तथा उसकी पुरुष प्रतीति उसके अन्तिम तन्त्र की उक्ति के पञ्चात् मानी है ।

मत हरि न कहा है कि

नादराहित्योजानाम् येन ध्वनिना सह ।

आवृत्तिपरिपाकाया बुद्धौ गच्छेन्मघातन ॥ (वाक्यपदीय १।८।)

यहाँ यह उल्लेखनीय है यद्यपि नागेश तथा भट्टोजी दीक्षित ने वरुण पद वाक्य प्रादि व्याकरणिक कोटिया के समानांतर तत्त्व स्फोट माने हैं, परन्तु ये सब भेदोपभेद शास्त्रचर्चा के लिए ही हैं अतः वाक्य तो अखण्ड है और तदनुसार वाक्य स्फोट ही अण्ड और अक्रम रूप में ही व्याकरणों को भाग्य है। अतः हरि ने कहा है पदे भेदेऽपि वर्णानामेकत्वन निवर्तते। वाक्येषु पदमेकं च भिन्नेष्वप्युपलभ्यते ॥ तद्वर्णयतिरेकेण पदमयं न विद्यते। वाक्यं वरणपदाम्ना च व्यतिरिक्तं न किञ्चन ॥ पदे न वर्णा विद्यन्ते वर्णैर्व्यवहारा न च। वाक्यात्पदानामस्य तत्प्रविदेको न वक्ष्यते। वाक्यपदीय १।७१ ७३।

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि वाक् व्यापार के प्रारम्भ से लेकर वक्ता श्रोता में स्वतन्त्र एक भाषा के रूप में प्रयोग की व्याख्या तक में स्फोट तत्त्व अनुस्यूत है। अर्थात् स्फोटवाद में 'स्फोट' शब्द का प्रयोग यद्यपि विविध स्तरों पर विविध अर्थों में हुआ है, परन्तु वह एक ऐसा शब्द है जो अपने एक मौलिक आशय के साथ स्फोटवाद के आध्यात्मिक तत्त्व दर्शन से लेकर सामान्य मानवीय भाषा के विक्षेपण तक में व्याप्त मिलता है। इसीलिए 'स्फोटवाद' शब्द के द्वारा ही प्राचीन भारतीय व्याकरणों के समस्त तत्त्वदर्शन को अभिहित किया जाता है। स्फोटवाद के भाषा दर्शन के अध्ययन के लिए स्फोट शब्द की आधुनिक भाषा विज्ञान की दृष्टि से एक भाषिक परिभाषा प्राचीन साहित्य के अध्ययन के आधार पर दी जा सकती है तथा तदनुसार भाषा विक्षेपण की पद्धति भी खोजी जा सकती है। परन्तु अभी तक स्फोटवाद आधुनिक विचारका की दृष्टि से पर्याप्त दूर ही है तथा उसके विषय में अनेक भ्रामक धारणाएँ भी प्रचलित हैं जिनका निरसन, आधुनिक दृष्टि से प्राचीन साहित्य के गंभीर अध्ययन तथा तात्त्विक गोध के आधार पर ही किया जा सकता है।

### सन्दर्भ

- १ भट्टोजी दीक्षित, शब्दकोस्तुभ पृ० १२।
- २ माधवाचार्य, सप्तदशसमग्र, पृ० १३ स० प्रो० उमाशंकर गर्मा 'ऋषि' चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी १९६४ ई०।
- ३ कपिलदेव द्विवेदी अथर्वविज्ञान और व्याकरण दर्शन पृ० ३५० ४१।
- हिन्दुस्तानी एकेडेमी दलाहाबाद १९५१।
- ४ हरिश्चकर जोशी, प्रतिमान्गन पृ० ४३ चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी १९६४।
- ५ तुलनीय है चौमठ अद्वैतवादी श्वेतत्रय त्रिव दृष्टि पृ० २६ व मालिनी विजय वातिक १३५ तन्त्रालोक १ ५४२ वाश्मीर सस्कृत सोरीज १९२१।
- ६ तुलनीय है भास्करी Vol III P XLIX LI Panday K C Abhinavagupta—An Historical and Philosophical Study, P 652 Chaukhamba, Varanasi, 1963

॥ तत्रालोक, जयरथ की टीका ।

॥ हरिश्चर जोशी प्रतिमादशन पृ० ३१७ ।

६ तुलनीय है काव्यायनप्रातिगार्य ४।१६५, अथवा प्रातिगार्य १।१०३ व २।३२ ।

१० हरिश्चर जोशी प्रतिमादशन पृ० ३१५ ।

११ हरिश्चर जोशी प्रतिमादशन पृ० ३१२ ।

१२ हरिश्चर जोशी प्रतिमादशन पृ० ३०२ ३०५ ।

१३ नागेन भट्ट स्फोटवाद पृ० १०२ (मध्यपरलाहरी सीरीज न० ५५१)

१४ पाणिनि अष्टाध्यायी ६।१।१२३ ।

१५ हरदत्त पदमजरा भाषिणी टीका ६।१।१२३ ।

१६ हरिश्चर जोशी प्रतिमादशन पृ० ३१५ ।

१७ मास्क निरवत १।१।४ ।

१८ हरिश्चर जोशी प्रतिमादशन पृ० ३०५ ।

१९ हरिश्चर जोशी प्रतिमादशन पृ० ३०५ ।

२० कपिलदेव द्विवेदी अथविज्ञान और व्याकरण दशन पृ० ३५८ ।

२१ K C Panday Abhinavagupta, An Historical and Philosophical Study P 47

२२ K C Panday Abhinavagupta—An Historical and Philosophical Study P 47

२३ भत हरि वाक्यपदीय १।१ ।

२४ ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी १ २०० २०५ काश्मीर संस्कृत सीरीज १६३८ ।

२५ K C Panday Abhinava Gupta an Historical and Philosophical Study P 48

२६ K C Panday Abhinava Gupta An Historical and Philosophical Study P 731 732

२७ K C Panday Abhinava Gupta, An Historical and Philosophical Study P 731 732

२८ भत हरि वाक्यपदीय १।११ ।

२९ कपिलदेव द्विवेदी अथविज्ञान और व्याकरण दशन पृ० ६६ ।

३० तुलनीय है

(१) भत हरि वाक्यपदीय ।

(२) स्वतन्त्र कर्ता पाणिनि अष्टाध्यायी १।४।५४ ।

(३) चित्ति स्वतन्त्रा विश्वमिद्विहनु । प्रत्यभिज्ञाहृदय । काश्मीर संस्कृत सीरीज ।

३१ K C Panday Abhinavagupta An Historical and Philosophical study P 628

३० मनु हरि वाक्यपदीय १ ३ ।

३३ K. C Panday Abhinavagupta, An Historical and Philosophical study P 499

३४ तुलनीय है परा वाड मूलचक्रम्भा, पश्यन्ती नाभिसंस्थिता हृदिस्था मय्यमा ज्ञेया, वक्षरी वण्डदेवता ॥ नागेनामदृ परमलघुमञ्जूषा पृ० ११ ।

३५ K C Panday, Abhinavagupta, An Historical and Philosophical Study P 497

३६ K C Panday Abhinavagupta An Historical and Philosophical Study P 497

३७ विद्यानिवास मिश्र

३८ तुलनीय है पुष्पूषा श्रवण चक्र ग्रहण धारण तथा । ब्रह्मापहोत्र विज्ञान, तत्त्वज्ञान च धी गुणा ॥ महाभारत वनपर्व २।१६ ।

३९ हरिसंकर जाति प्रतिमान्धन पृ० ३०८ ३३६ ।



## प्राचीन भारत में अर्थविचार

प्रस्तावना भारत साहित्य, कला, गान और विज्ञान के क्षेत्र में सब देशों का अग्रणी रहा है। भारतीय दक्षिण और गणित, ज्योतिष चिकित्सा आदि विज्ञान इस देश से भरवा के माध्यम से यूनायन पहुँचे और वहाँ से सब पाश्चात्य देशों में उन का प्रचार हुआ। वह शास्त्र, जिस की इस देश में सब से अधिक उत्पत्ति हुई, और जिस का सिक्का आज भी समस्त ससार मानता है याकरण शास्त्र है। प्राचीन भारत में याकरण के अतमग्न ध्वनि विज्ञान का विकास सस्कृत के शिक्षा गौर प्राति गान्य ग्रन्थों के रूप में हुआ। भगवान् पाणिनि की अष्टाध्यायी में पद विज्ञान उत्कृष्ट की उस धरम सीमा पर पहुँच गया जो पाश्चात्य भाषा विज्ञान को आज तक प्राप्त नहीं हो सकी। सस्रभर के मूल्य भाषाविदों ने पाणिनि और उस के व्याकरण की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। आधुनिक भाषाविज्ञान के जनक प्रो० ब्लूमफील्ड ने पाणिनि के शब्दानुशासन को 'मानवीय प्रतिभा का एक सर्वश्रेष्ठ स्मारक' कह कर उस महान् भाषाविद् के प्रति अपना आभार प्रदर्शित किया है<sup>१</sup>। आर० एच० रोबिंसन ने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि रूपग्राम (morpheme) की वह खोज जिसे पाश्चात्य विद्वानों ने युग युगान्तर के निरन्तर परिश्रम के पश्चात् केवल निष्कट भूत में पूरा किया है उस पाणिनिप्रमुख भारतीय भाषावैज्ञानिकों ने अत्यन्त प्राचीन काल में ही पा लिया था, और इस के लिये पश्चिम के विद्वान् पाणिनि की कृति के हमेशा ऋणी रहेंगे<sup>२</sup>। उक्त विद्वान् के अनुसार शून्य रूपग्राम (zero allomorph) का ध्येय भी पाणिनि को ही जाता है<sup>३</sup>। अथ तत्त्व की गवेषणा में भी भारत का स्थान सबमें ऊँचा है। प्रो० M B Emeneau स्वीकार करते हैं— यह निश्चित है कि शन शन जायत होने वाली और अथ तत्त्व से सम्बन्ध रखने वाली भाषा विज्ञान की एक अथ शाखा में पश्चिम को भारत से अभी कुछ सीखना है। उस देश के व्याकरण साहित्य शास्त्री और दाशनिक सब के सब अथ चिन्तन की गुत्तियों को सुलझाने में लगे रहें और इस विषय पर बहुत कुछ विचारों और लिखा गया। भाषा विज्ञान के इस क्रियात्मक क्षेत्र में पश्चिम अभी अवोध बालक के समान है। भारतीय ग्रन्थ दुर्लभ शाली में लिखे गये हैं और पश्चिम में थोड़ा ही व्यक्ति है जो सस्कृतना दाशनिकों और भाषाविदों के रूप में इन को समझने की योग्यता रखते हैं। तकिन अगर परिश्रम किया जाये तो अनुरूप फल प्राप्ति की पूर्ण सम्भावना है। जिज्ञासु व्यक्ति इस क्षेत्र को अपनी गवेषणा का विषय बना सकते हैं<sup>४</sup>। जिस अथ-तत्त्व के चिन्तन के लिये भारत इतना गौरवान्वित हुआ है प्रस्तुत लेख का उद्देश्य उसी के विभिन्न पहलुओं पर विहङ्गम दृष्टिपात करना है।

निरुक्त भारत में अथ विचार का आरम्भ वैदिक शब्दों के निवचन के साथ हुआ। ब्राह्मण काल में ही यह प्रक्रिया पर्याप्त ऊँचाई पर पहुँच चुकी थी<sup>५</sup>। निवचन की पराकाष्ठा के दृग्गण हमें यास्क के 'निरुक्त' में होते हैं। निवचन और निरुक्त-शास्त्र की आवश्यकता तब महसूस हुई जब कालक्रम से भाषा और अथ के परिवर्तन के कारण मन्त्रों के अर्थ न केवल दुर्बल प्रतीत होने लगे, प्रत्युत यह भी गंभीरता की जान लगी कि वैदिक मन्त्र मायिक भी हैं या नहीं<sup>६</sup>। यास्क ने निवचन की जिस सुनियोजित पद्धति का आश्रय अपने ग्रन्थों में लिया उस की प्रशंसा भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों ने मुक्त कण्ठ से की है। फिर भी यास्क की कमी यह रही कि स्थान भेद में अर्थ भेद की धारा मकेत करते हुए भी उन्होंने इस पद्धति का अपनी कृति में विकास नहीं किया और काल भेद से अर्थ भेद की प्रक्रिया को तो बिल्कुल उपभूत ही छोड़ दिया<sup>७</sup>। आरम्भ में भाषाओं का ध्यान प्रायः सकलित अर्थ की ओर ही रहा। इस लिये यास्क ने बहुधा प्रकरण आदि के कारण एक ही शब्द के अनेक अर्थों का अनेक प्रकार से निवचन किया है और संक्षेप आदि की भी उपयोगिता की है। निवचन की प्रवृत्ति के दृग्गण यद्यपि संस्कृत साहित्य में सर्वत्र होते हैं परन्तु अथ सत्त्व की इस शाखा में यास्क के निरुक्त के अतिरिक्त किसी अथ मन्त्र ग्रन्थ की रचना उपलब्ध नहीं है।

शब्द-कोष अथविज्ञान के क्षेत्र में दूसरा काय शब्द-कोष निमाण का है। संस्कृत वाङ्मय में इस प्रकार की प्रथम कृति निघण्टु है जिस में वैदिक शब्दों और धातुओं का संकलन किया गया है। निरुक्त में इसे समान्ताय के नाम से पुकारा गया है और यास्क ने प्रायः निघण्टु में संकलित शब्दों का ही निवचन किया है। निघण्टु में शब्दों को एक सुनियोजित और व्यवस्थित ढंग से संकलित किया गया है। इस में कुल मिला कर पैंसठ अध्याय हैं जिन का तीन भाग—नैघण्टुक, नैगम अथवा ऐक पत्निक और द्रवत में विभक्त किया गया है। नैघण्टुक के अंतर्गत प्रथम तीन अध्याय हैं जिन में प्रायः पर्यायवाची शब्दों को संकलित किया गया है। प्रथम अध्याय में नम शोक और अथ लोक में ध्यान और समय से सम्बन्धित पदार्थों का रखा गया है। दूसरे अध्याय में मनुष्य के शरीर और काय आदि से सम्बन्धित रखने वाले और तीसरे अध्याय में पहले दोनो अध्यायों में वर्णित पदार्थों के ह्रस्व महत् आदि गुण वाचक शब्द संगृहीत हैं। हमारे काण्ड के अन्तर्गत चतुर्थ अध्याय में प्रायः दुर्बल और अनेकायक वैदिक शब्दों का संकलन है। पाचवें अध्याय में तो कि द्रवत काण्ड के अंतर्गत आता है वैदिक देवताओं के नामों की सूची है। भारतवर्ष में मान विज्ञान के अनेक विभागों में निघण्टु की पद्धति पर अमूल्य योगदान मिले गये जो निघण्टु या शब्द-कोष नाम से प्रसिद्ध है। शब्द-कोष इस में उन लोगों का नामों का उल्लेख है परन्तु लौकिक सम्बन्ध का भाग प्रसिद्ध योग अमरसिंह द्वारा रचित नामनिर्णयानुशासन या अमरकोश है। तीन भागों में विभक्त इस ग्रन्थ में निघण्टु वाली प्राचीन पद्धति अपनाई गई है अर्थात् समस्त पदार्थ जगत् को सम्पर्क-क्षेत्र (Associative fields) में विभक्त किया गया है जिन्हें षण्ण की मना भी कहते हैं।

वग भी एक सुनियोजित क्रम में रखे गए हैं। उदाहरण के लिये द्वितीय भाग में दस वर्गों का क्रम इस प्रकार है—भूमि पुर, सप्त यन्त्रोपधि, सिंहादि, मनुष्य, वृद्ध, दानिय, वैश्य और शूद्र। आधुनिक युग में गण-भाषा में शब्दों की वर्गीकरण से रचना की परिपाटी है, जो कि एक दृष्टि से सुविधाजनक भी है। परन्तु सम्भव-क्षेत्र के अनुसार रचित सप्त वर्गों का महत्त्व अथ भाषा विज्ञानिका की समझ में आने लगा है<sup>६</sup>। इस शब्दों के गण-भाषा का (conceptual dictionaries) के नाम से पुकारा जाता है। पाश्चात्य संसार में इस प्रकार का प्रथम शब्द-कोश Roget कृत 'Thesaurus' है जो लगभग सौ वर्ष पूर्व लिखा गया था। शब्द-कोश निर्माण की इस नई पद्धति का महत्त्व की गरिमा का अनुमान इस बात से भी लगाया जा सकता है कि सप्तम अंतर्राष्ट्रीय भाषा विज्ञान कांग्रेस में यह पद्धति विस्तृत चर्चा का विषय रही। इस पद्धति के आधार पर पश्चिमी देशों में अनेक शब्द-कोशों की रचना हुई चुकी है और हो रही है। भारत गौरव के साथ अपने अस्तित्व की ऊँचाई पर के वह सतता है कि जिस पद्धति का पश्चिम के देशों में आज स्वीकार किया जा रहा है वह उस हजारों वर्षों पहले ही अपना चुका था।

अथसम्प्रत्यय के साधन प्राचीन भारतीय भाषाचार्यों ने अथसम्प्रत्यय अथवा नाति ग्रह के आठ साधन स्वीकार किये हैं<sup>१०</sup>।

(१) लोक-व्यवहार या वृद्ध व्यवहार यह अथ सम्प्रत्यय का मुख्य साधन है। जब एक वृद्ध दूसरे वृद्ध को आदेश देता है—गो ल आ (गामानय) गो बाँध दे (गा बधान), घोड़ा ले आ (अश्वमानय) इत्यादि तो बालक आवाप (assimilation) उच्चारण (dissimilation) और अवयव्यतिरेक के द्वारा वृद्धों के व्यवहार से अर्थ की समझता है। कुमारिल के अनुसार इस पद्धति में तीन अवस्थाएँ स्पष्ट रूप से लक्षित होती हैं (क) प्रत्यक्ष (direct perception) (ख) अनुमान (inference) और (ग) अर्थपिति (postulation)। प्रभावकर निष्कर्ष-परम्परा का भीमासक इन अर्थबोध का एक मात्र साधन मानते हैं। कात्यायन ने अपने प्रथम नातिक में ही इस बात को स्वीकार किया है कि गण और अर्थ के सम्बन्ध की प्राप्ति लोकव्यवहार या समाज से होती है (सिद्धे शब्दायसम्बन्धे लोकेत )।

(२) आप्तवाक्य लोक व्यवहार से अथसम्प्रत्यय में जहाँ समाज का योग स्वीकार किया गया है वहाँ आप्तवाक्य में माना, पिता गुरु आदि आप्त जनों की औपचारिक शिक्षा (formal education) अभिप्रेत है।

(३) व्याकरण वाक्यार्थ का सम्प्रत्यय लोकव्यवहार और आप्तवाक्य अर्थात् समाज और घर से हो जाता है। इस के विपरीत पदार्थ का ज्ञान गुरुचरणा में बैठ कर अपाङ्कार अर्थान् प्रकृति प्रत्यय आगम आदि के विभाजन के द्वारा व्याकरण के अध्ययन से होता है। व्याकरण शोधबोध और शुद्धज्ञान का विनिष्ट साधन है।

(४) उपमान अर्थात् सादृश्य (Analogy) गो का ज्ञान होने पर गौ के सादृश्य में गवय का ज्ञान भी हो जाता है, यदि यह बना दिया जाय कि गवय गौ के

सदृश होता है। जड़ी बूटी आदि अप्रत्यक्ष वस्तु के बोध के लिये यह सर्वोत्तम साधन है। मोमासक और नैयायिक अर्थप्रत्यय के इस साधन को प्रमाण नाम से पुकारते हैं और इस प्रत्यय और अनुमान से भिन्न स्वीकार करते हैं।

(५) कोश (lexicon) शब्द को भी वाच्य और लाक्षणिक अर्थों के बोध का उत्तम साधन है।

(६) वाक्यगोच्य अर्थात् वाक्य का शेष अर्थ अथवा प्रवरण किसी पद के अर्थ सम्प्रत्यय के लिये अर्थात् साधन है। शब्द की अनन्तता के कारण जहाँ अर्थ सदिग्ध होता है वहाँ वाक्यगोच्य अर्थात् वाक्यगत चिह्न या प्रवरण द्वारा अर्थ का ज्ञान प्राप्त किया जाता है।

(७) विवृति ((Explanation) अर्थ सम्प्रत्यय भाष्या और टीकाभा के अन्तर्गत की गई अर्थ की व्याख्याओं द्वारा भी होता है। पतञ्जलि का कथन है कि मन्देह की अवस्था में व्याख्यान के द्वारा अर्थनिश्चय करना चाहिए (व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्हि सदेहादनलणम्)।

(८) सिद्धपदसामिप्य विदिताय पद की समिपि स तत्सम्बद्ध अर्थ पद के अर्थ का प्रत्यय सम्भव हो जाता है। इस ग्राम के वक्ष पर पिक मीठे सुर से गा रहा है' वाक्य में ग्राम के वक्ष और मीठे सुर से गाना आदि शब्दों की समिपि के कारण पिक का अर्थ कोयल ही लिया जायेगा।

अर्थनिश्चय के साधन अति प्राचीन काल से ही भारतवर्ष में अर्थनिश्चय के हेतुओं पर चर्चा होती रही है। बृहदेवता के अनुसार वैदिक मन्त्रा और लौकिक भाषा में अर्थ (प्रयोजन), प्रवरण, लिङ्ग, औचित्य, देश और काल ये छ अर्थनिश्चय के हेतु माने गये हैं।<sup>११</sup> भट्ट हरि ने सदेहास्पद पदों के अर्थनिश्चय के हेतुओं का सत्रह निम्नलिखित कारिकाओं में किया है। परवर्ती व्याकरण और साहित्य शास्त्रियों ने इन पर विस्तार से चर्चा की है

ससर्गो विप्रयोगश्च साहचर्य विरोधिता ।

अर्थ प्रवरण लिङ्ग शब्दस्यायस्य समिपि ॥

सामर्थ्यमौचित्यो देश कालो व्यक्ति स्वरादयः ।

शब्दायस्थानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः ॥ वा० प० २।३१७-१८ ॥

(१) ससर्ग या सयोग (association) 'सवत्सा गौ' में वत्स (बछड़े) के समर्थ में गौ शब्द का अर्थ गाय ही लिया जायेगा पृथिवी आदि नहीं। (२) विप्रयोग (dissociation) 'अवत्सा गौ' में वत्स के विप्रयोग के कारण गौ से गाय का ही ग्रहण होगा। (३) साहचर्य (companionship) रामकृष्णों में साहचर्य के कारण दशरथ पुत्र राम का ही ग्रहण होगा, वनराम या परशुराम का नहीं। (४) विरोधिता (opposition) 'कर्णाजुगौ' में विरोधिता के कारण पाण्डुपुत्र अर्जुन का ग्रहण होगा, वातवीर्य अर्जुन का नहीं। (५) अर्थ या प्रयोजन (purpose) व्यास ने वाक्य में वत्स के प्रयोजन के कारण व्यासगुरु का अर्थ भगवान्

गिय ही लिया जाएगा, स्तम्भ या टूट नहीं। (६) प्रारण (context of situation) 'संघटनमानय' वाक्य में 'संघटन शब्द' का अर्थविनिश्चय प्रारण के आधार पर ही होगा। यदि भोजन के समय यह वाक्य कहा जाये तो 'संघटन' का अर्थ होगा 'नमन', और यदि यात्रा के समय बोला जाये तो अर्थ होगा 'घोडा'। (७) लिङ्ग (indication from another place or word) अर्थात् 'उनका उपस्थिति' गीली राइफों को स्थापित करता है' वाक्य में यह पता नहीं चलता कि गीलापन पानी से है या किसी अन्य तरल पदार्थ से। परन्तु अन्य स्थान पर इसी प्रसंग में उल्लिखित 'तेजो बँधूत' में निश्चय हो जाता है कि 'रोडिया' का घी में गीला करता है। 'बुपितो मन्तरध्वज' में मन्तरध्वज शब्द का अर्थ बुपित शब्द के लिङ्ग के कारण कामदय लिया जायगा समुद्र नहीं। (८) अन्य शब्द का सानिध्य (vicinity of another word) कर' और 'नाग' शब्द अनेकावयव होते हुए भी 'करेण राजते नाग' वाक्य में क्रमण सूड और 'हामी अर्थ का ही ग्रहण कराते हैं। एवं दूसरे के सानिध्य के कारण ही ऐसा होता है। प्र० पर्थ न इसी आधार पर अर्थविनिश्चय के सिद्धान्त की स्थापना की है।

(९) सामर्थ्य (capacity) 'मधुना भक्त पिक्' वाक्य में मधु का अर्थ मधु मास ही लिया जायेगा 'शहद नहीं, क्योंकि कायल का भक्त करने का सामर्थ्य मधु मास में है शहद में नहीं।

(१०) औचित्य (propriety or congruity) 'पातु शो दयितामुल्लस' वाक्य में 'मुल' शब्द का अर्थ साम्मुख्य लिया जायेगा मुह नहीं क्योंकि यहाँ साम्मुख्य का ही औचित्य है मुख का नहीं। (११) देश (place) विभाति गगन चन्द्र वाक्य में 'चन्द्र' शब्द का अर्थ चाँद ही लिया जायगा कपूर' नहीं क्योंकि गगन में चाँद ही चमकता है कपूर नहीं। (१२) काल (Time) विभाति निगि चित्रभानु में 'चित्र भानु' का अर्थ अग्नि है, और 'विभाति दिवा चित्रभानु' में सूर्य क्या कि रात को अग्नि ही प्रकाशित होती है और अग्नि में सूर्य। (१३) यक्ति (grammatical gender) मित्र (पु०) गच्छ' का अर्थ सूर्य है और मित्र (नप०) का 'सखा। गौरव का अर्थ है यह बल है और गौरव का अर्थ है 'यह शक्ति है। (१४) स्वर (accent) इन्द्रशत्रु आदि समस्त पद अन्तोदात्त हों पर तत्पुरुष समास हों और आद्युदात्त होने पर बहुव्रीहि।

अर्थ का स्वरूप अर्थ का स्वरूप क्या है इस विषय पर विभिन्न सम्प्रदायों के भिन्न भिन्न मत हैं। नीचे इन मतों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है

(क) आकृतिवाद ज्ञानदाशनिकों का मत है कि 'ग' का साकेतिक अर्थ आकृति है। ग' शब्द से किसी विशेष गो का बोध नहीं होता अपितु गो की आकृति वाले सभी पशुओं का बोध होता है। यह मत पशुसत्तार और वनस्पति-जगत् के विषय में तो बहुत हद तक उचित है परन्तु अनेक भौतिक पदार्थों के विषय में, जिन का आकार निश्चित नहीं है, यह ठीक नहीं बैठता। निराकार विचार (abstract ideas) के विषय में तो इस सिद्धान्त का बिल्कुल भी औचित्य नहीं है। इस सिद्धान्त

की आलोचना इस आधार पर भी की जाती है कि आन्तर की समानता होने पर भी कई बार अथर्व की समानता नहीं होती। किञ्च आन्तरभेद होने पर भी सुवर्ण आदि पदार्थ एक समान ही रहते हैं।

(२) व्यक्तिवाद सांख्य और कुछ नव्य-नैयायिका के मत में अथर्व का स्वयं व्यक्ति है। नैयायिका के अनुसार सुषुप्त प्रत्यक्ष कारण लिङ्ग और वचन के वाचक हैं। चूँकि कारण, लिङ्ग और वचन केवल व्यक्ति की ही विशेषता को प्रकट करते हैं इस लिए प्रातिपदिक यन्त्र का बाध करता है। जब यह कहा जाये कि गाय का 'गाया' तो व्यक्ति गाय को ही साया जाता है भूत वतमान और भविष्यत् की सम्मत् गायों की जाति को नहीं। प्रत्यक्ष ज्ञान और व्यावहारिकता का विषय भी व्यक्ति है जाति नहीं। वात्स्यायन का कथन है कि विशेषता का सम्बन्ध व्यक्ति के साथ ही हो सकता है जाति के साथ नहीं।<sup>१३</sup> इस के अतिरिक्त सूय चद्रमा आदि ऐसे पदार्थ भी हैं जिन की जाति की कल्पना नहीं की जा सकती। किञ्च जाति का अथर्व मानन पर भी व्यक्ति ज्ञान की परिणामना में आयेगा ही क्योंकि व्यक्ति जाति का अंग है।

(३) जातिवाद भीमासक जाति का अथर्व स्वीकार करते हैं। उन का मत है कि व्यक्ति अनेक हैं और भिन्न रूप हैं। अनेक व्यक्ति अनेक नामों में ही पुकारे जा सकते हैं एक में नहीं। यदि किसी बालक को घोड़ा दिखा कर बताया जाये कि 'यह घोड़ा है', तो वह दूसरे वैसे ही पशु को देख कर उसे भी घोड़ा ही बतायेगा। जाति का अथर्व स्वीकार करने पर ही ऐसा हो सकता है। व्यक्ति का ग्रहण भी जाति के द्वारा अविनाभाव सम्बन्ध के कारण लक्षणा आदि के द्वारा होता है। अद्वैत वेदांनी यद्यपि व्यक्ति और जाति के भेद को वास्तविक नहीं मानते, तथापि व्यावहारिकता की दृष्टि में वे भीमासको के इस मत से सहमत हैं कि शब्द का अथर्व जाति है व्यक्ति नहीं। भीमासक और वेदान्तियों के अनुसार व्यक्तिवाचक नाम भी जाति का बाध कराने हैं। गिटरस्टार्डन आदि आधुनिक दार्शनिक भी इस विचार से सहमत हैं।<sup>१४</sup>

(४) जात्याकृतिव्यक्तिवाद प्राचीन नैयायिका के मत में व्यक्ति आकृति और जाति तीनों ही पदों के अथर्व हैं।<sup>१५</sup> वाचस्पतिमिश्र अपनी तात्पर्य टीका में कहते हैं कि गो शब्द का उच्चारण होने पर किसी भी पुरुष का जिस गा शब्द से कहे जान वाले पशु का ज्ञान है गुणवत् ही गो व्यक्ति, गोत्व और गवाकृति का बाध हो जायेगा। किसी भी शब्द के अर्थ में व्यक्ति जाति और आकृति इन तीनों की ही उपस्थिति रहती है परन्तु किसी विशेष प्रकरण में तीनों में से किसी एक की प्रधानता होती है और शेष दो की गणना।

(५) जात्याकृतिविनिष्ट व्यक्तिवाद नव्य नैयायिका में संकुच का मत है कि शब्द की गति जाति और आकृति से विनिष्ट व्यक्ति ही है। वास्तव में यह मत प्राचीन मत का ही सुधरा हुआ रूप है।

(६) जातिविनिष्ट व्यक्तिवाद दूसरा का विचार है कि चूँकि आकृति

जाति का ही अर्थ है, इस लिये इतना कहना ही पर्याप्त है कि शब्द का अर्थ जाति विशिष्ट व्यक्ति ही है ।

(७) वैयाकरणों का मत व्याडि के अनुसार शब्द का अर्थ द्रव्य अर्थात् व्यक्ति है<sup>१६</sup> । जाति गुण होने के कारण शब्द का अर्थ नहीं हो सकती । इस के विपरीत वाजप्यायन का मत है कि शब्द का अर्थ जाति है जो कि शब्द का शाश्वत और अनिवाय गुण है । पतञ्जलि ने व्याडि के मत को निम्नलिखित आधारों पर नाश्य माना है—(क) लिङ्ग और वचन की सङ्गति द्रव्य का अर्थ मान कर ही हो सकती है (तथा च लिङ्गवचनसिद्धिः) (ख) स्त्रियाधा का एक मात्र स्वभाविक और अभ्यन्तर सम्बन्ध द्रव्य के साथ होना है (चोदनासु च तत्पारम्भात्) (ग) जिस प्रकार देवदत्त एक ही समय पर मृद्ध और मयूरा में उपस्थित नहीं हो सकता उसी प्रकार एक ही पदार्थ की एक ही समय पर अनेक आध्या (अधिकरणा) में वत्माना नहीं की जा सकती । अर्थात् एक ही जाति एक ही समय पर अनेक द्रव्यों या व्यक्तियों में प्राप्त नहीं हो सकती (न चक्रमेकाधिकरणस्य युगपत्) यदि व्यक्ति का अर्थ न मान कर जाति को अर्थ माना जाय तो किसी वस्तु में नष्ट होने या उत्पन्न होने पर समस्त जाति के विनाश या उत्पत्ति की प्रतीति होगी । यदि यह कहा जाये कि 'कुत्ता मर गया तो लोक में कोई भी कुत्ता शेष न रहेगा और यह कहने पर कि 'गौ उत्पन्न हुई सारा ही जगत् गायों से भर जायेगा । वाजप्यायन द्वारा अभिमत जातिवाद की पुष्टि में भी अनेक तथ्य प्रस्तुत किये गये हैं—शब्द का अर्थ जाति है क्योंकि (क) गौ शब्द का उच्चारण होने पर सामान्य गौ का ही बोध होता है, सुक्ला नीला कपिला कपोतिका आदि विशेष गौ का नहीं (प्रत्याविशेषात्) । (ख) जब एक शब्द किसी बालक को यह बता दिया जाये कि यह पशु 'गौ' नाम से पुकारा जाता है तो तत्पश्चात् किसी भी समय किसी भी स्थान पर किसी भी अवस्था में स्थित गौ को देख कर वह यही कहेगा कि यह गौ है (ज्ञायते चैकोपदिष्टम्) । (ग) धर्म शास्त्र में कहा गया है ब्राह्मणो न हतव्यः सुरा न पेया । यहाँ ब्राह्मण और सुरा का एकवचन में प्रयोग होने पर भी ब्राह्मण और सुरा का समस्त जाति का निषेध अभिहित है (धर्मशास्त्रे च तथा) । (घ) एक ही पदार्थ का एक ही समय पर अनेक स्थानों पर ग्रहण हो सकता है । जैसे सूर्य कहने पर एक ही समय पर अनेक स्थानों पर एक ही सूर्य का ग्रहण होता है (अस्ति चक्रमेकाधिकरणस्य युगपत्) । यदि कोई शब्द करे कि एक पुरुष सूर्य को एक समय में एक ही स्थान पर देख सकता है अनेक स्थानों पर नहीं तो कहा जा सकता है कि जिस प्रकार सबड़ा यन्त्र में आहत इन्द्र युगपत् ही सब जगह उपस्थित हो जाता है उसी प्रकार आकृति अर्थात् जाति का भी युगपत् ही सबत्र ग्रहण हो सकता है (इतोऽद्वयद्विषयः) ।

वास्तव में व्यक्तिवाद और जातिवाद इन दोनों सिद्धान्तों में से कोई सा भी अपन में पूर्ण नहीं है । व्यक्तिवादी के लिये द्रव्य या व्यक्ति शब्द का मुख्य अर्थ है और जाति गौण । इस के विपरीत जातिवादी के लिये जाति शब्द का मुख्य अभिप्रेय है और व्यक्ति गौण । इस लिये दोनों वाद एक दूसरे के विरोधी न हो कर एक दूसरे

के सहायक हैं। कात्यायन और पतञ्जलि ने व्यक्ति और जाति इन दोनों का ही शब्द में बोध स्वीकार किया है। महाभाष्यकार का मत है कि पाणिनि ने भी जाति और व्यक्ति दोनों को ही शब्द का अर्थ स्वीकार किया है। पाणिनि का सूत्र 'जात्या ख्यायामेकस्मिन् बहुवचनमयतरस्याम्' (१ २ ५८) इस तथ्य पर आधारित है कि शब्द का अर्थ जाति है। इस के विपरीत सूत्र सख्याणाम् एकशेष एवविभक्तौ (१ २ ६४) इस बात का सिद्ध करता है कि शब्द का अर्थ व्यक्ति है<sup>१७</sup>।

भत हरि का मत है कि ससार की प्रत्येक वस्तु में दो तत्त्व हैं—सत्य और असत्य। जो सत्य है वह जाति है और जो असत्य है वह व्यक्ति है<sup>१८</sup>। व्यक्ति परिधतनशील और नश्वर है जाति नित्य है। जाति सार है और व्यक्ति बाह्य अथि व्यक्ति। प्रत्येक गण पहले अपनी जाति या आकृति का बोध कराता है तत्पश्चात् इस का आरोप पदार्थ की जाति या आकृति पर कर लिया जाता है। इस मत के अनुसार व्यक्तिवाचक सनाथा में भी जाति को स्वीकार किया गया है। किन्तु जाति में भी जाति की मत्ता मानी गई है। द्रव्य या व्यक्ति को अर्थ स्वीकार करने वाला के अनुसार भी द्रव्य में तात्पर्य बाह्य स्थूल रूप में नहीं है, अपितु वस्तु के मानसिक प्रतिबिम्ब में है। यह भी आवश्यक नहीं कि मानसिक प्रतिबिम्ब का शारीरिक प्रति रूप ससार में विद्यमान हो। इस से सिद्ध होता है कि जातिवादी और व्यक्तिवादी एक ही तथ्य को भिन्न भिन्न प्रकार से प्रस्तुत करते हैं।

**बौद्धों का अपोह सिद्धान्त** बौद्ध के अनुसार शब्द और उसके अर्थ में कोई सीधा सम्बन्ध स्वीकार नहीं किया जा सकता। शब्द का अर्थ वास्तव में साक्षात् साङ्गल आदि से युक्त पशु नहीं है अपितु शब्द इतर की व्याकृति या प्रतिपक्ष ही शब्द का अर्थ है। 'नील कमल' कहने पर नील शब्द से उन सब वस्तुओं का प्रतिपक्ष हो जाता है जो नील नहीं हैं और कमल शब्द के उच्चारण से उन सब पदार्थों का प्रतिपक्ष हो जाता है जो कमल नहीं हैं। इस प्रकार 'नील कमल' से 'नील इतर' और 'कमल इतर' सब का प्रतिपक्ष हो जाता है। बौद्ध ने शून्यवाद या अनिश्चयवाद के समर्थन के लिए आकृति या जाति जैसे पदार्थ का भी मानने से इकार कर दिया। परन्तु जाति का सङ्केत करने पर मनुष्य जाति शब्द जाति आदि में जो अनेक में एकता दिखाई देती है उस का उत्तर देने के लिए अपोह सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया। अपोह सिद्धान्त के विकास में तीन अवस्थाएँ स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती हैं। श्व प्रथम दिङ्नाग ने अपने ग्रन्थ 'प्रमाण समुच्चय' में जिस अपोह सिद्धान्त का प्रतिपादन किया उस के अनुसार पूरा प्रतिपक्ष ही 'यथ्य' है। दिङ्नाग के इस अपोह सिद्धान्त का उद्योतक, कुमारिन भट्ट भामह और उदयन जैसे दाश निका ने बड़े शब्दों में सङ्केत किया है। इन दाशनिका के आनेप को दृष्टि में रखते हुये बौद्ध दार्शनिक शान्तशित ने इस सिद्धान्त में कुछ सन्तोषन किया। उस का वचन है कि अन्वय (affirmation) व्यतिरेक (negative) के बिना नहीं होता। पहले सकारात्मक अर्थ का सीधे रूप में बोध होता है और फिर अर्थोपपत्ति के द्वारा नकारात्मकता या अन्वय के प्रतिषेध का बोध होता है। रत्न कीर्ति ने अपने ग्रन्थ



अपोहसिद्धि में विशिष्टापोहवाद की स्थापना की। उन्होंने गानरहित के सिद्धान्त में सशोधन करते हुए लिखा है कि अथ वस्तुभा के प्रतिषेध से विशिष्ट मकारात्मकता ही अथ है। अथतन्त्र की सकारात्मकता और नकारात्मकता का अनुभव युगपत् ही होता है। न्यायिक और व्याकरण इन्हीं की स्वीकार नहीं करते।

वण सायक है या निरथक अति प्राचीन काल में ही भारतीय व्याकरण में निगम पर पहुँच गया था कि वण निरथक है। वणों का अथ के विषय में पतञ्जलि के महाभाष्य में एक विस्तृत चर्चा उपलब्ध होती है। पतञ्जलि ने प्रथम वह पक्ष प्रस्तुत किया जिस के अनुसार वण सायक कहे गए हैं। इस पक्ष की पुष्टि में चार युक्तियाँ प्रस्तुत की गई हैं—(१) चूँकि एकवचन धातु प्रातिपदिक प्रत्यय और निपात अथवान् इन्द्रिय वण सायक हैं। (२) रूप रूप रूप आदि शब्दों में वणों के व्यत्यय से अथ परिवर्तन हो जाता है इस लिये वण सायक है। (३) एक वण की अप्राप्ति के कारण उस अथ की प्राप्ति नहीं होती। (४) चूँकि वणों का समूह अर्थात् पद सायक है इस लिये अवयव अर्थान् अकेले वण भी सायक है<sup>१६</sup>। दूसरे पक्ष में वण को निरथक माना गया है। इस के दो हेतु दिये गये हैं—(१) पतञ्जलि प्रत्येक वण में अथ की उपलब्धि नहीं होती। (२) वण का व्यत्यय लाप प्रागम और प्रादग होने पर भी कोई वाक्य अथ में परिवर्तन नहीं होता। इस लिये वण अनथक है<sup>१७</sup>। इस प्रकार तत्स्थ रूप से दोनों पक्षों का प्रस्तुत करने के पश्चात् पतञ्जलि पूर्वपक्ष की निरथकता सिद्ध करते हैं। उन का कथन है कि यदि वण को सायक मान कर रूप, रूप रूप आदि शब्दों में क स य आदि वण व्यत्यय का अथ भिन्नता का कारण मान लिया जाय तो जो ऊप वणसंघात शेष रह जाता है वह तीनों शब्दों में समान का वाचक होना चाहिये। परन्तु ऐसा नहीं होता। इस लिये हम मानना पड़ेगा कि वण अनथक है और विभिन्न वण समूहों के रूप में ही विशिष्ट अर्थों के वाचक हैं<sup>१८</sup>। यदि यह मान लिया जाय कि रूप में क रूप में स और रूप में य समस्त अथ का वाचक है, तो शेष 'ऊप वणसंघात निरथक' हो जाता है। ऐसा मानने से स्वयं ही वणों की निरथकता सिद्ध हो जाती है<sup>१९</sup>। इस प्रकार पतञ्जलि पूर्व पक्ष की प्रथम तीन युक्तियों का निराकरण कर देते हैं। चौथी युक्ति का निराकरण पाणिनि के सूत्र अथवदधातुरप्रत्यय प्रातिपदिकम् (१।२।४५) के भाष्य में यह कह कर कर देते हैं कि 'अथ सूत्र में 'अथवत्' कहने का यह प्रयोजन है कि वण का ग्रहण न किया जाय'<sup>२०</sup>।

वणों की निरथकता का यह सिद्धांत आधुनिक भाषा विज्ञान की भावना के विलुप्त अनुरूप है। प्रा. जवहरमल का कथन है—वण शब्द की अथवत्ता में भागीदार होता है परन्तु उस का अपना कोई अर्थ नहीं होता<sup>२१</sup>। लाम्बेला प्रस्ताव निम्न है—'यदि वण सायक है तो किसी विज्ञानी भाषा का सीखना संसार में सब से सरल काम होता। हम केवल किसी विज्ञानी भाषा में प्रयुक्त होने वाले चालीस से लेकर साठ तक की सख्या वाले वणों का अर्थ याद कर लेने पड़ते और फिर उन के अर्थों का जान कर उन से बनने वाले शब्दों का और उस भाषा का ज्ञान हो जाता'<sup>२२</sup>।

शब्द और अर्थ का सम्बन्ध—नित्य या अनित्य मीमांसका का मत है कि 'अ' का अर्थ के साथ औत्पत्तिक सम्बन्ध है<sup>२५</sup>। व शब्द और अर्थ की प्रवाह नित्यता में विश्वास रखते हैं। 'अ' और अर्थ का सम्बन्ध जब और कैम स्थापित हुआ और किसने स्थापित किया, इस विषय में व चुप हैं। इस सिद्धान्त पर वया करण और तात्त्विक भी मीमांसका सहमत हैं। कात्यायन ने 'अ' अर्थ और इन दोनों के सम्बन्ध को नित्य माना है और पतञ्जलि ने महाभाष्य में इस पर विस्तृत चर्चा की है<sup>२६</sup>। चर्चा का उपसंहार करते हुए पतञ्जलि लिखते हैं— लोक में ऐसी परम्परा है कि प्रत्येक भाव की अभिव्यक्ति के लिये साक्ष प्रचलित शब्द का प्रयोग किया जाता है। जो वस्तुओं निर्मय होती है उन्हीं के निर्माण के लिये प्रयत्न किया जाता है। जैसे घड़े की आवश्यकता होने पर कोई पुरुष कुम्हार का जा कर कह सकता है— मेरे लिये घड़ा बना दे। परन्तु इसी प्रकार भावा की अभिव्यक्ति के लिये शब्द की आवश्यकता होने पर वयाकरण के पास जा कर नहीं कह सकता— मेरे लिये 'अ' उना 'अ' मुझे प्रयोग करने हैं'। 'अ' और अर्थ के मध्य स्वाभाविक सम्बन्ध ही योग्यता का नाम भी दिया गया है। जिस प्रकार ज्ञान ज्ञानद्विषा का स्वाभाविक धर्म है उसी प्रकार अभिव्यक्ति अथवा अर्थ शब्द की स्वाभाविक शक्ति है। व्यक्ति और उस के नाम के नित्य सम्बन्ध की ध्याना भी इसी आधार पर की जा सकती है।

नैयायिक और वशेषिक शब्द और अर्थ के नित्य सम्बन्ध को स्वीकार नहीं करते। उन का मत है कि 'अ' और अर्थ का सम्बन्ध नित्य नहीं बल्कि सामयिक या सांकेतिक (conventional) है<sup>२७</sup>। उन का तर्क है—यदि 'अ' का सम्बन्ध अर्थ के साथ नित्य होता तो 'अ' शब्द और अर्थ का अग्नि और ज्वलन की तरह मह अस्तित्व होता। परन्तु ऐसा 'अ' नहीं होता। अग्नि 'अ' का उच्चारण करने से मुह नहीं जल जाता धुएँ 'अ' के उच्चारण से जिह्वा नहीं बल जाती और मधु 'अ' के उच्चारण से मुह माठा नहीं हो जाता<sup>२८</sup>। दूसरा मुद्दा यह कि नैयायिक और वशेषिक प्रस्तुत करते हैं वह यह है कि यदि 'अ' और अर्थ में नित्य सम्बन्ध होता तो एक 'अ' सब स्थानों पर एक ही अर्थ का बोध कराता<sup>२९</sup>। 'अ' के अर्थ में की व्याख्या शब्द और अर्थ के नित्य सम्बन्ध के आधार पर नहीं की जा सकती। इस के प्रतिरिक्त एक ही अर्थ के लिये भिन्न भिन्न शब्दों का प्रयोग नहीं किया जाता चाहिये। नैयायिक और वशेषिक के अनुसार 'अ' और अर्थ का सम्बन्ध सामयिक है और ईश्वरच्छा पर आधारित है। अर्थात् 'अ' और अर्थ का सम्बन्ध ईश्वर द्वारा स्थापित किया गया है। नव-नैयायिकों को मन इस में कुछ भिन्न है। उन के अनुसार शब्द और अर्थ का सम्बन्ध केवल ईश्वरच्छा पर आधारित नहीं बल्कि मनुष्य की इच्छा पर भी निर्भर है। जब संकेत अथवा सामयिक सम्बन्ध ईश्वरच्छा पर ही आधारित हो तो यह नित्य होता है और अभिधा या शक्ति के नाम में पुकारा जाता है। जब सम्बन्ध मनुष्यकृत हो जैसे पारिभाषिक शब्दावलि तो यह अनित्य होता है और इसे परिभाषा कहा जाता है। अतृहरि ने इस को क्रमशः आज्ञानिक और

प्राधुनिक सनायें दी है।

भट्ट हरि ग्रन्थ व्याकरण की तरह शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को सामयिक न मानकर स्थायी अर्थात् नित्य ही स्वीकार करते हैं। उन के अनुसार सब शब्दों में सब अर्थों की अभिव्यक्ति की शक्ति सदा विद्यमान रहती है। परन्तु हम शब्दों के अर्थों के क्षेत्र का सीमित कर लेते हैं। इसी लिये किसी शब्द के अर्थ का ज्ञान बदल उठने की होता है जो शब्द के इस अर्थ क्षेत्र से परिचित होते हैं। शब्दों के अर्थों के क्षेत्र का सीमित करने में हम अवश्य समय (convention) का सहारा लेना पड़ता है। इस प्रकार भट्ट हरि ने नित्यतावाद और सामायिकतावाद इन दोनों का ही समुचित समन्वय स्थापित कर दिया है।

शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य ही नहीं अपितु अविच्छेद्य भी माना गया है। किसी भी शब्द के उच्चारण के तत्काल ही उसके वाच्य पदार्थ का बोध हो जाता है और किसी भी भाव के मन में आते ही उस के वाचक शब्द की प्रतीति हो जाती है। इसी लिये महाकवि कालिदास ने भी शब्द और अर्थ को सम्पृक्त माना है<sup>३१</sup>। केवल यही नहीं अगर कहा जाये कि शब्द और अर्थ एक ही वस्तु के दो पक्ष हैं तो अशुक्ति नष्ट होगी। जब हम सोचते हैं तो माना और धीरे धीरे रह हैं और जब जोतते हैं तो माना ऊँच रूप से साच रहे हात हैं। कुछ विद्वानों को शब्द और अर्थ के इस परस्पर सम्बन्ध को समझने में भ्रम हुआ है। डा. प्रभाकर चन्द्र चटर्जी का विचार है कि धाम्न और रिचर्ड्स ने अपने ग्रन्थ *The Meaning of Meaning* में पृष्ठ ११ पर जो धारणा कि सोनेर के significant और signific के सम्बन्ध पर लगाए हैं वे भारतीय आचार्यों के शब्द और अर्थ के सम्बन्ध पर भी लागू हान हैं<sup>३२</sup>। धाम्न और रिचर्ड्स ने अपना सिद्धान्त निम्नांकित त्रिभुज के द्वारा व्यक्त किया है —

1—Thought or reference

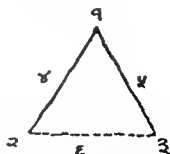
2—Symbol

3—Referent

4—Symbolises (causal relation)

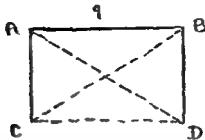
5—Refers to (other causal relation)

6—Stands for an imputed relation



धाम्न और रिचर्ड्स का मत है कि शब्दाच्चारण के तत्काल वाच्य वस्तु का बोध होकर वाच्य वस्तु का मनोमय चट्टन का बोध होता है। इस लिये शब्द और मनोमय चट्टन में भाषा सम्बन्ध है। शब्द और वाच्य वस्तु में नहीं। मानव में मनोमय चट्टन (Thought or reference) ही अर्थ है वाच्य वस्तु (referent) नहीं। वे कुछकुना सत्य न स्पष्ट किया है कि कि भाषा और भाषाई आचार्यों का भी यही मत है। उनमें हम निम्नांकित त्रिभुज के द्वारा

समझाया है<sup>३३</sup> —



1—Direct Relation A—The psychical permanent word or the word class स्फोट revealed by प्राकृत ध्वनि B—Meaning thought mental content object class C—Word sound physical phonetic word वद्वत ध्वनि D—Thing meant referent internal object

ही सोझार का सिद्धान्त जो कि ओग्डन और रिचर्ड स के त्रिभुज के वाम पक्ष से समना रहता है चतुर्भुज की रेखा A B से व्यक्त है। ओग्डन और रिचर्ड स का त्रिभुज चतुर्भुज के त्रिभुज A B C के सर्वांगसम है। यहाँ यह नातथ्य है कि ओग्डन और रिचर्ड स ने अर्थ (reference) और वाच्य वस्तु (referent) में तो भेद स्पष्ट किया परंतु अनित्य शब्द अर्थात् वद्वत ध्वनि और नित्य शब्द अर्थात् प्राकृत ध्वनि में कोई भेद स्थापित नहीं किया। इसके विपरीत भारतीय आचार्यों ने शब्द में वद्वत और प्राकृत का भेद स्थापित कर के शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को और ब्रह्मानन्दक पृष्ठ भूमि पर ला कर खड़ा किया है।

खण्डपक्ष और अखण्डपक्ष प्राचीन भारत में अर्थ की इकाई की समस्या पर जो पहलुओं से विचार किया गया है। एक पक्ष के अनुसार पद को अर्थ की स्वतन्त्र इकाई मानकर इस के आधार पर अर्थ का अध्ययन किया गया है और वाक्य को पद समूह स्वीकार किया गया है। अर्थ अध्ययन की इस विद्वत्परायण प्रणाली को खण्डपक्ष के नाम से पुकारा जा सकता है और यह आधुनिक मनोविज्ञान की Associative Theory से बिल्कुल मेल खाता है। भारतवर्ष में प्राचीन काल में प्रचलित सभी दार्शनिक विचारधाराओं में सर्वप्रथम पद का ही आधार मान कर अर्थ का विचार आरम्भ हुआ और इसी लिये अभिधेय या वाच्य का पदार्थ (=पद का अर्थ) कहा गया है। हम देखते हैं कि यास्क, पाणिनि, पतञ्जलि आदि व्याकरणों ने सर्वप्रथम पद को ही अपने अध्ययन का आधार बनाया। व्याससूत्र में भी सर्व प्रथम शब्द पर चर्चा की गई और केवल कालान्तर में ही न्याय विशेषिक ग्रन्थों में वाक्य का आधार मान कर चर्चा की गई है। केवल भोगासा दर्शन में ही सब से पहल वाक्य के अर्थ पर विचार आरम्भ हुआ। परन्तु वहाँ भी पदों और उनके अर्थों को आधार माना गया है। तत्पश्चात् इसी के परिणामस्वरूप पद और वाक्य के सम्बन्ध और पदार्थ और वाक्यार्थ के सम्बन्ध पर चर्चा शुरू हुई।

खण्डपक्ष को स्वीकार करने वाला भी वाक्यार्थ के ग्रहण के विषय में दो



नित्यता और एकात्मकता पर आधारित है।

भट्ट हरि का मत है वाक्याथ पदार्थ पर आधारित नहीं है। वाक्य भाषा की ईकाई है। वाक्याथ अक्षर, कालरहित और क्रमरहित है। जिस प्रकार पदों में वर्णों के अर्थों की कोई सत्ता नहीं। इसी प्रकार वाक्याथ में पदों के अर्थों की खोजना सम्भव नहीं। जब शब्द का ही विभाग नहीं हो सकता तो अर्थ का विभाग कैसे हो सकता है<sup>३६</sup>।

भट्ट हरि ने खण्ड पक्ष और अक्षर पक्ष पर चर्चा करते हुए तत्काल प्रचलित अनन्त मतों को आठ मतों में सीमित कर दिया है<sup>३७</sup>। प्रथम मत के अनुसार आत्मान शब्द अर्थान् क्रिया को ही वाक्य कहा गया है। वह अकली सम्पूर्ण वाक्य के अर्थ को वहन कर सकती है। द्वितीय मत अनन्त पदों के सघात को वाक्य स्वीकार करता है। तृतीय मत वाक्यगत पद समूह में वर्तमान ज्ञान अर्थान् पद समूह में उत्पन्न होने वाली एकात्मक और समग्र प्रतीति को वाक्य स्वीकार करता है। चतुर्थ मत के अनुसार अर्थवहीन अर्थान् अक्षर और एकात्मक अभिव्यक्ति को वाक्य कहा गया है पञ्चम मत में क्रमशः उठने वाली ध्वनियों और पदों से उपचीयमान अर्थ को वाक्य कहा गया है। प्रत्येक पद का एक अपना अर्थ होता है और एक विनिर्दिष्ट। पदों का यह विशेष अर्थ उन के क्रमपूर्वक विन्यास की दशा में ही व्यक्त होता है। षष्ठ मत में बुद्धिगत एकाग्रता को वाक्य को उत्पन्न करने वाली और ग्रहण करने वाली माना गया है। सप्तम मत के अनुसार वाक्य का प्रथम पद ही उच्चारण सम काल सम्पूर्ण वाक्याथ की प्रतीति करने में समर्थ होता है। अष्टम मत के अनुसार वाक्यगत प्रत्येक पद अपनी पृथक् अभिसत्ता भी रखता है परन्तु वाक्य के अन्तर वह पद आकाशित अर्थ पदों की सहायता से वाक्याथ का बोध करने में भी समर्थ होता है। अथात् प्रत्येक पद साक्षात् भी रहता है और स्वतन्त्र भी।

प्रथम, द्वितीय, पञ्चम सप्तम और अष्टम में पाँचों मत खण्ड पक्ष या पदवाद पर आधारित हैं, और तृतीय चतुर्थ और षष्ठ में तीनों अक्षर पक्ष पर। खण्ड पक्ष के अनुसार वाक्य अपने अर्थ की एकता के कारण है तो एक ही परन्तु यदि उस का पद विभाग कर लिया जाये तो उस का प्रत्येक विभाग साक्षात् प्रतीत होगा। इस मत के अनुसार पद अपने आप में पूर्ण वाक्याथ की अभिव्यक्ति में असमर्थ होगा है पर वाक्यगत पदसमूह के साथ मिल कर ही पूर्ण अर्थ का बोध कराता है। साक्षात् और अपूर्ण होते हुए भी पद विभाग सम्भव है और व्यक्तिगत भी। सात्यापन का मत भी मीमांसकों के मत से मिलता जुलता है। उस के अनुसार वाक्य का मूलाधार आत्मा या क्रिया है, परन्तु अव्यय, कारक विशेषण आदि उस की पूरणा में सहायक होते हैं<sup>३८</sup>। इस मत के अनुसार भी वाक्य की एकात्मकता और निराकाशता और पदों की स्वतन्त्र सत्ता और भावात्मता सिद्ध होती है। मीमांसकों के द्वारा इस मत के विवेचन में कालान्तर में दो शाखाएँ हो गईं। एक शाखा में अर्थैक्य पर बल दिया गया और दूसरी में विभागजन्य साक्षात्ता पर। अर्थैक्य पर आधारित मत अन्विताभिधानवाद के नाम से पुकारा गया और विभागजन्य

सावाधता वाला मत अभिहितावयवाद के नाम से प्रसिद्ध हुआ। पहले मत के अनुसार पदा के अर्थ स्वाय के प्रकाशक न हो कर किसी समन्वित अर्थ के प्रकाशक माने गये हैं। और दूसरे मत के अनुसार प्रत्येक पद का स्वतन्त्र अर्थ का वाहक समझा गया है। वस्तुतः खण्ड पक्ष अर्थवा पद को मायता देने वाल पांचा मत उपरोक्त दो मतों के अन्तर ही वर्गीकृत हो जाते हैं। उनमें आख्यात पद आदिपद एवं माकाक्ष पद सम्बन्धी मत वाक्याय की एकता को ले कर चलने हैं। अतः उन्हें स्थूल रूप में अविताभिधान में समवेत किया जा सकता है। दूसरी ओर सघात और क्रम मत में पदों की पृथग्व्यता पर अधिक बल दिया गया है। अतः उन्हें अभिहितावयवाद के अंतर्गत रखना अधिक उचित है। ये पांचों मत पहले से ही चल रहे थे किन्तु इन दोनों बातों में इन के आपसी भेदों को कम कर के इन सभी को दो वर्गों में सीमित कर दिया <sup>४३</sup>।

तृतीय चतुर्थ और पष्ठ मत अखण्ड पक्ष को ले कर चलते हैं। इन तीनों मतों में अतः हरि के मन्तव्य का प्रतिपादन हुआ है। अतः हरि के मत के विषय में पीछे कुछ संक्षेप से कहा जा चुका है। इस की विशेष व्याख्या स्फोट सिद्धान्त के अन्तर्गत की जायेगी।

अर्थ विकास प्राचीन भारत में भाषा शास्त्रियों ने अर्थ विकास अर्थवा अर्थ परिवर्तन की ओर भी ध्यान दिया है। परन्तु भारत में इस विज्ञान में जितना भी कार्य हुआ वह समकालिक (synchronic) दृष्टिकोण से ही हुआ। ऐतिहासिक दृष्टिकोण को विपुल अछूना छोड़ दिया गया। इसके विपरीत संसार में ऐतिहासिक दृष्टिकोण से भी बहुत महत्वपूर्ण कार्य हुआ है। साहित्य शास्त्र में अन्तर्गत निम्नलिखित नक्षत्रों में एक विषय है जिसमें ऐतिहासिक दृष्टिकोण का दर्शन हो सकते हैं <sup>४४</sup>। समकालिक दृष्टिकोण में हम लक्ष्य और योग्य अर्थ की चर्चा कर सकते हैं। मुख्य अर्थ का बोध होने पर जब मुख्य अर्थ में ही सम्बद्ध शब्द अर्थवा प्रयोजन के आधार पर किसी अर्थ अर्थ का ग्रहण हो तो उसे लक्ष्य या योग्य अर्थ कहा जाता है <sup>४५</sup>। लक्ष्य के अनेक भेद और उपभेद हैं जिनकी संख्या साहित्य शास्त्रियों ने अनुगार धर्मी तक पहुँच जाती हैं। पञ्जलि के अनुसार अर्थ में अर्थ का ज्ञान अर्थों में लक्षणा चार प्रकार में होती है—(१) तत्त्वता, (२) तद्व्यवस्था (३) तत्त्वमीपता और तत्त्वान्वय <sup>४६</sup>। लक्षणा के अतिरिक्त व्यञ्जना के द्वारा भी अर्थभेद हो जाता है। लक्ष्य व्यञ्जनाय अर्थवा ध्वनि के नाम से पुकारा जाता है। ध्वनि का अध्ययन भी लक्षणा की तरह लक्ष्य साहित्य शास्त्र में ही हुआ है। अन्तर्व्यवस्थावाच्य में इस की परिभाषा लक्ष्य प्रकार की है—एसा वाक्य जिस में लक्ष्य और लक्ष्य के सांकेतिक अर्थ होने का कारण सिद्ध अर्थ ही साव्यमय अर्थ का व्यक्त करने में उन ध्वनि करने हैं <sup>४७</sup>। लक्षणा में सांकेतिक अर्थ का पूरा ज्ञान हो जाता है। लक्ष्यवाच्य वाक्य जिस अर्थ की समानता या मानिध्य पर आधारित होता है। यह साव्य रूप में दृष्ट अर्थ की प्रतीति नहीं कर सकता। इस में विपरीत व्यञ्जनाय के लिये मान्यता या लक्ष्य अर्थ के बोध का अभाव नहीं होता। यही ज्ञान ही अर्थ विद्यमान रहने है।

व्यङ्ग्य या ध्वनि मुख्याय के अतिरिक्त होती है। मुख्याय से सम्बद्ध और असम्बद्ध प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध सभी प्रकार का अर्थ इस का विषय है। आनन्दवदन का ध्वनि सिद्धान्त भन हरि के एवात्मक अन्वण्ड और नित्य वाक्य के सिद्धान्त पर आधारित है।

भारतीय भाषाविद् अर्थ परिवर्तन की प्रक्रिया में अति प्राचीन काल से ही परिचित थे। इस का संकेत हमें महाभाष्य में मिलता है। पतञ्जलि ने धातु की है— 'अन्यायक गन् अयायक' हा जाता है, जस धातु को सीचने के लिए जो कुल्पायें बनाई जाती हैं उह पानी पीने और आचमन आदि करने के लिए भी प्रयोग में लाया जाता है<sup>५०</sup>। कथन न इस में अर्थ के गतिवर्धन को ही कारण माना है<sup>५१</sup>। एक अर्थ स्थान पर पतञ्जलि कहते हैं— यह उचित ही है कि एक शब्द के द्वारा अनेक अर्थों का बोध होना है<sup>५२</sup>।

भन हरि न अर्थविकार चार प्रकार में माना है—(१) गौर और प्रधान का विषय (२) पदार्थ के एक देश की अविवक्षा (३) समस्त पदार्थ की अविवक्षा और (४) उपात्त अर्थ का परित्याग नित्य जिना ही अर्थ अर्थ का ग्रहण। इन में से (१) और (३) अर्थविज्ञान का कारण बनता है और (२) और (४) अर्थविस्तार का<sup>५०</sup>।

अर्थ विकास या अर्थ परिवर्तन के सिद्धान्तों की मुख्यवस्तु और क्रमबद्ध चर्चा भारतीय साहित्य में वही भी उपलब्ध नहीं। तथापि महाभाष्य और वाक्यपदीय आदि ग्रन्थों में प्रसंग वश इस विषय पर प्रकाश डाला गया है, उसका संक्षिप्त परिचय नीचे दिया गया कुछ सिद्धान्तों में हा सकता है।

(१) विशेष की अविवक्षा और सामान्य की विवक्षा से शब्द के अर्थ का विस्तार आ जाता है। जस गाण्ड (गाया कर रहने का स्थान) में गो गण्ड का अर्थ अविवक्षित हान से और सामान्य अर्थ (रहने का स्थान) विवक्षित होने में गोण्ड शब्द का अर्थ विस्तार हो गया<sup>५१</sup>।

(२) जानि धात्री और गुणवाची गन् स्पष्ट अर्थ का बोध नहीं कराने जा वस्तु जितनी और जनी हाती है य उतने और वम ही अर्थ का बोध कराते हैं। गो गण्ड सप्त वण और आकार प्रकार की गायों का बोध कराता है। गुल नील आदि वण भी अनेक प्रकार के हाते हैं<sup>५२</sup>।

(३) स्थूल तत्त्वा के अनुमान का आरोप सूक्ष्म तत्त्वा पर भी कर लिया जाता है। जैसे तीक्ष्ण बुद्धि, उच्च विचार आदि<sup>५३</sup>।

(४) विशेषण शब्द सत्ता गण्ड बन जाते हैं। जस धुवन गुण गुल कृष्ण गुण कृष्ण<sup>५४</sup>।

(५) स्वर भेद में अर्थ भेद हा जाता है। जमे इन्द्रागु आदि समस्त शब्दों में<sup>५५</sup>।

(६) कभी कभी प्रकृति ही प्रत्यय के जिना ही प्रत्यय युक्त गन् का बोध कराती है। जम वायव्य भाण्डव्य और तामकायन आदि गण्डों के लिए वधु मण्डु लमक आदि गण्ड ही प्रयुक्त हा जाते हैं<sup>५६</sup>।

(७) कई बार वाक्यान्त और पदान्त हा सम्पूर्ण वाक्य और पद के अर्थ की



अभिव्यक्ति के लिये पर्याप्त होने है<sup>४७</sup> ।

स्फोट प्रत्यक दार्शनिक चिन्तन स्थूल विषयो की व्याख्या से प्रारम्भ होता है, परन्तु वह धीरे धीरे सूक्ष्मता की परासृष्टा का पहुँच जाता है। वैयाकरणों ने भाषा की व्याख्या उस क बाह्य शरीर अर्थात् शब्दों की प्रकृति और प्रत्यय के विस्तार के साथ प्रारम्भ की परन्तु 'नैनं शन उहं शन' के शरीर के अन्तर आत्मा का आभास होने लगा और अन्ततः उहो ने उस आत्मतत्त्व का पता लगा लिया जिसे स्फोट की संज्ञा दी गई। यह स्फोट भाषा के विषय पर भारतीय चिन्तन का नितान्त सार है<sup>४८</sup>। इसमें भारतीय वैयाकरणों की जागरूक प्रतिभा और सूक्ष्मदर्शिता का साक्षात्कार हुआ है। इस चिन्तन की परिणति स्फोट और ब्रह्म की समता अर्थात् शब्द तत्त्व और ब्रह्म तत्त्व की एवात्मकता के साथ हुई। यह स्वीकार किया गया कि शब्द तत्त्व और ब्रह्म-तत्त्व नाम मात्र से ही भिन्न हैं अर्थात् एक ही वस्तु के दो नाम हैं<sup>४९</sup>।

स्फोट की 'सुत्पत्ति स्फुट घातु स निष्पन्न होती है। स्फुट का अर्थ है स्फुटित होना प्रकाशित होना'। स्फोट शब्द का निबचन करते हुये नागेश भट्ट शब्द कौस्तुभ में कहते हैं—'स्फुटति प्रकाशतेऽगोस्मादिति स्फोट' अर्थात्—चूँकि इस में अर्थ स्फुटित या प्रकाशित होता है इस लिये इस स्फोट कहते हैं। स्फोट की मूल धारणा भारतीय चिन्तन के उस क्रियाशील समय में हुई जिसे बौद्ध काल कहा जाता है। बाक्य अथवा शब्दों की महिमा सहित काल में ही स्थापित हुआ। कुकी की और उपनिषद् काल में शब्द शब्दों की उपाधि की प्राप्ति हो गया था। परन्तु उपनिषद् के शब्द ब्रह्म और कालांतर के शब्द ब्रह्म में यह अन्तर है कि उपनिषद् के शब्द ब्रह्म को ब्रह्म की प्राप्ति का साधन माना गया है परन्तु कालान्तर का शब्द ब्रह्म ब्रह्म का ही पर्यायवाची है।

भारतीय परम्परा के अनुसार स्फोट सिद्धान्त का प्रवर्तक स्फोटायन ऋषि का माना गया है। पाणिनि ने अपने 'शब्दानुशासन' में स्फोटायन का उल्लेख तो किया है<sup>५०</sup>। परन्तु पाणिनि के मूत्रा में स्फोट सिद्धान्त का कोई संकेत नहीं मिलता<sup>५१</sup>। पाणिनि से काफी समय पूर्व धाम्य ने ओदुम्बरायण का मत उद्धृत करते हुए लिखा है कि शब्द इन्द्रिया मा उनके स्वामी मन में अक्षण्ड रूप में निवास करता है। नाम धाम्यात आत्मा में उस का विभाग नहीं हो सकता। भनृहरि न वाक्य पत्नीय मे लिखा है कि वातायन का भी यही मन था<sup>५२</sup>। स्फोट सिद्धान्त के बीज ओदुम्बरायण द्वारा प्रतिपादित इस विचार में निहित है। पाणिनि के पश्चात् और वात्स्यायन और पतञ्जलि में पूर्व व्याधि नामक एक महान् व्याकरण ने व्याकरण दर्शन ग्रन्थ की रचना की थी। कहा जाता है कि इस में एक लाख श्लोक थे। यह ग्रन्थ अब उपलब्ध नहीं परन्तु इस में से कुछ श्लोक वाक्यपत्नीय में उद्धृत माने गये हैं जिन के आधार पर यह अनुमान किया जाता है कि व्याधि में ध्वनि ग्रन्थ में स्फोट सिद्धान्त का विषय में अवश्य वर्णन की थी।

स्फोट शब्द का स्पष्ट उद्गम सवप्रथम पतञ्जलि के महाभाष्य में हुआ है।

पाणिनि के सूत्र 'तपरस्मत्कालस्य' (१।१।७०) पर भाष्य करने हुए तपर सज्ञा वाले वण की स्फोट के साथ समानता स्थापित करते हुये भगवान् पतञ्जलि कहते हैं—  
 'त' स्फोट है और 'त' का गुण ध्वनि है। जब दोन पर उबे की चाट पड़ती है तो कोई ध्वनि बीस कदम जाती है, काँ तीस और कोई चालीस। परन्तु स्फोट समान रहता है। घट व ध्वनि में होती है<sup>६३</sup>। इसी मत की पुष्टि के लिये एक कारिका प्रस्तुत करने हैं जिस का तात्पर्य है—'त' व दोपक्ष हैं ध्वनि और स्फोट। ध्वनि ही अल्प और मग्न रूप में लक्षित होता रहती है। ध्वनि और स्फोट में दाना ही स्वभाव निम्न है<sup>६४</sup>। एक अन्य स्थान पर कहा गया है—'त' के दो भग हैं नित्य और वाय (ही 'त' आत्मानौ नित्य वायश्च)।

बुद्ध विद्वानों का मत है कि 'त' के नित्य और वाय इन दो भग का भेद 'मग्रह' के रचयिता व्यासि को भी अभिमत था<sup>६५</sup>। उन का यह कथन हम बात पर आधारित है कि वे वाक्य पदीय के हलाक १।७७<sup>६६</sup> को सग्रह से उद्धृत मानते हैं। इस हलाक में दो प्रकार की ध्वनि बताई गई है—एक प्राकृत और दूसरी वृत्त। प्राकृत ध्वनि से वग के वास्तविक रूप का ग्रहण होता है और वृत्त ध्वनि वृत्ति भेद का निमित्त है, अर्थात् विभिन्न वक्तव्यों की द्रुत मध्यम और विलम्बित प्राप्ति अथवा उच्चारणों वाली ध्वनियाँ की परिचायक हैं। इन बातों का भी प्रमाण मिलता है कि वार्तिककार कात्यायन भी 'त' के इन नित्य और परिवर्तनशील भेदों से अनभिज्ञ नहीं थे। पाणिनि सूत्र १।१।७० पर वार्तिक संख्या ५ में उन्होंने स्पष्ट किया है—  
 'यह निर्विवाद सत्य है कि वण निश्चित है परन्तु वृत्तियाँ वक्तव्यों के गीघ्र और मन्द उच्चारणों के गुणों वाली हैं'<sup>६७</sup>।

महाभाष्यकार पतञ्जलि और उन के पूर्ववर्ती आचार्यों ने जिन्हें स्फोट की कल्पना का थी वह उस के परिवर्ती आचार्यों के स्फोट से विलुप्त भिन्न है। इस तथ्य का पुष्टि पाणिनि के सूत्र 'इषो रो ल' (८।१।१८) इष धातु के 'र' का 'ल' आग हो जाता है पर पतञ्जलि के भाष्य से होती है। वे कहते हैं—'दाना धातु स्फोट मात्र का निर्माण हुआ है अर्थात् 'र' ध्वनि के स्थान पर 'ल' ध्वनि हो जाती है'<sup>६८</sup>। इस में निम्न होता है कि पतञ्जलि के मत में स्फोट एक अक्षर मात्रक इकाई नहीं था। इस के विपरीत वे स्फोट को एक अपरिवर्तनीय अथवा नित्य ध्वनि या ध्वनि समूह की इकाई मात्र मानते थे, जब कि परिवर्ती आचार्यों के मत में स्फोट एक आत्मक अक्षर और मात्रक इकाई है<sup>६९</sup>। वहाँ की नित्यता के विषय में पतञ्जलि भीमात्मक विचारों से बहुत प्रभावित प्रतीत होते हैं। वे वणों की नित्य और अनित्य ध्वनियों में विश्वास रखते थे और अनित्य ध्वनि को नित्य ध्वनि की ही बहुविध अभिव्यक्ति मानते थे। भीमात्मक और पतञ्जलि की यह ध्वनि की नित्यता और ध्वनियों का वास्तविक उच्चारण हि माँगर के क्रमों ला रेन्वा (la langue) और ला पेरोना (la parola) की समता रहती है। आधुनिक भाषा विज्ञान के अनुसार इन ध्वनि धाम (phoneme) और मध्वनि (allophone) की मना भी दी जा सकती है।

यद्यपि पतञ्जलि ने नित्य ध्वनि का ही स्फोट माना है तथापि यह नहीं

कहा जा सकता कि व 'ग' के अथ पन के महत्त्व का स्वीकार नहीं करते थे। जहाँ भीमासक वर्यों के समुच्चय मात्र को 'ग' मानते हैं<sup>१</sup>, वहाँ पतञ्जलि के मत में 'ग' वह है जिस के उच्चारण से साम्ना लान्गूल आदि अवयवों में युक्त अवयवों का बोध होता है<sup>२</sup>। काल के व्यवधान से रहित वर्यों के पौर्याय का प्रभाव जिन पर भी पतञ्जलि ने अथ के आधार पर शब्द में वर्यों की सहिता का स्वाकार किया है। पाणिनि के सूत्र—पर सनिवप सहिता (१।४।१०८) में काल के व्यवधान से रहित वर्यों के पोषापय को सहिता मान लेने पर यह आपत्ति उपस्थित हुई कि शब्द में वर्यों का काल के व्यवधान से रहित पौर्याय स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि वाली एक समय में एक वर्य में ही वतमान रहती है और जो जा वर्य उच्चारण किया जा चुकते हैं, वे वे प्रध्वस्त होन जात हैं। इस लिये वर्य सहिता निर्माण में एक दूसरे के सहायक नहीं हो सकते<sup>३</sup>। इस का समाधान प्रस्तुत करते हुये पतञ्जलि लिखते हैं कि 'ग' के द्वारा वाच्य अर्थों का बुद्धि में निश्चय कर के वर्यों का पूर्वापर क्रम निश्चित करना चाहिये<sup>४</sup>। इस में यह प्रमाण होता है कि पतञ्जलि ने समस्या का समाधान स्फोट के आधार पर दूढ़न का प्रयत्न न कर के अथ को वर्यों की सहिता का आधार माना है<sup>५</sup>।

पतञ्जलि और भत हरि के काल में सात आठ सौ वर्षों का अन्तर है। इस लम्बे समय में स्फोट सिद्धान्त के विषय में क्या प्रगति हुई इस का किसी अर्थ में विशेष बलान नहीं मिलता। किन्तु भत हरि के वाक्यपदीय में वर्णित स्फोट सिद्धान्त को अपने उत्पन्न पर देख कर यह अनुमान किया जा सकता है कि इस बीच में इस दिशा में भारतीय विचारका का चिन्तन निरन्तर आगे बढ़ता गया और उसकी परिणति भत हरि द्वारा प्रतिपादित स्फोट सिद्धान्त में हुई।

भत हरि के पूर्ववर्ती आचार्यों के स्फोट के विषय में भिन्न भिन्न मत थे इस का बलान स्वयं भत हरि ने अपने अथ वाक्यपदीय में किया है। एक मत के अनुसार स्फोट विभिन्न उच्चारणावयवों (वरणा) द्वारा विभिन्न उच्चारण स्थानों पर उत्पन्न होता है<sup>६</sup>। ये ध्वनियाँ उत्पन्न होते ही नष्ट हो जाती हैं, परन्तु ऐसी ध्वनियाँ जो जन्म दे देती हैं, जो मौलिक ध्वनियाँ के प्रतिबिम्ब के समान लहरा की तरह दशा दिशाओं में फल जाती हैं। ये स्फोट द्वारा उत्पन्न ध्वनियाँ कहलाती हैं। ये लहरा की तरह चलती हैं और ज्या ज्या स्फोट से दूर होती जाती हैं क्षीण से क्षीणतर होती जाती हैं। उम्माई और व्यक्तिगत विशेषताय स्फोट के गुण न होकर ध्वनियों के गुण हैं। यह मत पतञ्जलि के मत से बहुत मिलता जुलता है।

एक दूसरे मत के अनुसार ध्वनियाँ और स्फोट दोनों एक साथ ही उत्पन्न होते हैं। यहाँ स्फोट और ध्वनि की उपमा दीप और उस के प्रकाश के साथ दी गई है। जिस प्रकार दीप को देखे बिना भी प्रकाश का ज्ञान हो जाता है इसी प्रकार कई बार स्फोट का ज्ञान न होने पर भी हम ध्वनियाँ सुनाई देती हैं<sup>७</sup>। उपयुक्त दोनों मतों के अनुसार स्फोट मानव प्रयत्न से उत्पन्न होता है और अनिश्चय है।

तीसरे मत के अनुसार स्फोट जाति है और ध्वनियाँ व्यक्ति हैं। अनेक व्य

कियों से अभिव्यक्त्यर्थ जाति स्फोट कही गई है<sup>२०</sup> ।

भक्त हरि का स्फोट सिद्धान्त इन तथ्य पर आधारित है कि शब्द-तत्त्व ध्वनि प्रकृति और अनन्त ब्रह्म ही है, और यह दृश्यमान जगत् और उन के वायु वलाप शब्द-तत्त्व का बाह्यरूप है । समार का प्रथम पञ्चम पद और अथ अथात् नाम और रूप इन दो पञ्चा वाचा है और शब्द तत्त्व ही उत्पन्न होता है । यह शब्द-तत्त्व एक है अथात् है और नित्य है परन्तु तीन ध्वनि ध्वनियों विभिन्न शक्तिया के कारण जो वास्तव में इन का ही अर्थ है परिवर्तनशील और बहुरूप प्रतीत होता है<sup>२१</sup> । भक्त हरि के अनुसार शब्द-तत्त्व की अभिव्यक्ति की तीन अवस्थाएँ हैं—पश्यन्ती मध्यमा और वक्त्री<sup>२२</sup> । पश्यन्ती बहूत ही सूक्ष्म है और इन्द्रिया द्वारा ग्रहण है । यही शब्द-ब्रह्म है । इस ही प्रतिमा की समता दी गई है । इस अवस्था में शब्द और अथ में भेद नहीं किया जा सकता । मध्यमा अवस्था पश्यन्ती और वक्त्री के बीच की अवस्था है । वक्ता में स्फोट की अभिव्यक्ति की यही वास्तविक अवस्था है । इस अवस्था में शब्द प्राकृत अथात् सूक्ष्म अवस्था में रहता है और बुद्धिग्राह्य होता है । इस अवस्था में स्थित शब्द की स्थिति का कुछ परिपक्व हम जब के समय या कान बन्द कर लेने पर होता है । शब्द और अथ की एकारमकता की अवस्था यही है । अन्तिम अवस्था वक्त्री कहनाती है और बहूत ध्वनि में समता रखती है । इस अवस्था में वक्ताओं के उच्चारण की व्यक्तिगत विशेषताएँ और विभिन्नताएँ शब्द के सूक्ष्म तत्त्व सहित विद्यमान रहती हैं ।

अथात् पद में स्फोट की अभिव्यक्ति ध्वनिया द्वारा अभ्यष्टता की ओर गति रखती है । यह पूर्ण अर्थान में आरम्भ होती है और क्रमशः ध्वनिक पान से गुजरती हुई पूर्ण ज्ञान तक पहुँच जाती है । भक्त हरि का कथन है कि ध्वनियों के नाद आवृत्तियाँ के द्वारा परिपक्वता को प्राप्त श्रोता की बुद्धि में बीजारोपण करते हैं । अन्तिम ध्वनि का नाद पूर्व की ध्वनिया के नादों की सहायता में शब्द का पान कराता है अर्थात् स्फोट का जन्म होता है<sup>२३</sup> । यह स्फोट एक है और अक्षर है । इस स्फोट की अभिव्यक्ति में उच्चरित ध्वनिया की भी शब्द-तत्त्व अर्थात् स्फोट के भाग नहीं माना जा सकता । वास्तव में वे एक चिह्न या संकेत हैं जिन से अक्षर शब्द या स्फोट की अभिव्यक्ति होती है । भक्त हरि ने स्फोट की अभिव्यक्ति की तुलना श्लोक या अनुवाद के नाम से की है । विद्यार्थी श्लोक का अर्थ समझने के लिये उस ओर धार पड़ता है । अन्तिम आवृत्ति पूर्व आवृत्तियों की सहायता से श्लोक का सम्यक् पान कर्मान में समय होती है<sup>२४</sup> । कुछ आचार्यों ने स्फोट की अभिव्यक्ति की तुलना बाहरी द्वारा रत्न की परीक्षा से की है ।

यद्यपि अक्षर अथात् पूर्ण के ज्ञान का ही महत्त्व है परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि अक्षर स्फोट का पान करने वाली ध्वनिया का कोई महत्त्व नहीं है । इस में सन्देह नहीं कि स्फोट ही साध्य है परन्तु ध्वनियाँ ही इस की साधक हैं । निरन्तर की हुई गलतियाँ मनुष्य को सच्चाई की ओर ले जाती हैं । अक्षर पान मनुष्य को सत्य की ओर ले जाता है । तब के लिये माना —

सत्यता तथा पहुँचन में सहायक होता है। कई बार दूर से देखने पर वृक्ष हाथी दिखाई देता है और अंधेरे में रस्सी को देस कर सप का मिथ्याभास होता है। परन्तु निकट से ध्यानपूर्वक देखने पर वास्तविक रूप का बोध हो जाता है। अन्तिम बाध में ज्ञेय (object) और रूप (form) एक हो जाते हैं। ध्वनियाँ नायक हैं और स्फोट नेय। स्फोट के ज्ञान में प्रत्येक ध्वनि का योगदान समान है।

मीमांसकों के मत में प्रत्येक ध्वनि केवल नित्य ध्वनि अर्थात् प्राधुनिक भाषा-विज्ञान के अनुसार ध्वनिग्राम का बाध करती है और यही ध्वनिग्राम अथ बोध में सहायक होते हैं। इस के विपरीत व्याकरणियों के मत में ध्वनियाँ ध्वनि ग्रामों का बोध न करा कर सीधे एकात्मक और अस्पष्ट स्फोट का बोध करती हैं। ध्वनिया का अपना कोई अर्थ नहीं होता परन्तु शब्द में प्रयुक्त होने वाली क्रमिक ध्वनियाँ दूसरे शब्दों के अर्थों का निराकरण के द्वारा अन्तिम ध्वनि की सहायता से अभीष्ट अर्थ के बाध में सहायक होती हैं। व्याकरण ने अपने स्फोट तत्त्वनिष्कर्षों में इस तथ्य को स्वीकारण द्वारा समझाया है। उन का कथन है कि कमनम् पद में तीन अक्षर हैं क म और लम्। जब क का उच्चारण होता है तो उन सब शब्दों का निराकरण हो जाता है जो 'क' से आरम्भ नहीं होते। म का उच्चारण होने पर शब्द का क्षेत्र और सीमित हो जाता है और उन सब शब्दों का निराकरण हो जाता है जो 'कम' से आरम्भ नहीं होते। तथापि शब्द अभी तक संदेह के आवरण में डरा हुआ है यद्यपि हम नहीं कह सकते कि वक्ता को कमनम् रहना अभीष्ट है या कमनम्। जब अन्तिम अक्षर लम् का उच्चारण हो जाता है तो पूर्ण और स्पष्ट रूप से शब्द का ज्ञान हो जाता है। स्फोट की यह व्याख्या बौद्धों के अपोह सिद्धान्त से मिलान में आती है। इस की तुलना प्राधुनिक भाषावैज्ञानिकों के 'म' चिह्न से की जा सकती है कि ध्वनिग्राम की महत्ता हमें ज्ञात में है कि उस का उत्पन्न अर्थ भिन्नता का कारण है<sup>५३</sup>।

स्फोट सिद्धान्त की आलोचना व्याकरणियों ने स्फोट सिद्धान्त की दोष सय सम्प्रदायों के विचारकों ने उठा आलोचना की है। केवल याग दान की परम्परा में ही स्फोट का कुछ मायना प्राप्त है। मध्व बूद्धों जैसे तो याग मूर्खों में भी स्फोट का उद्भव नहीं। केवल ध्याम का भाष्य और बाबम्पनि की टिप्पणी में ही स्फोट का प्रश्न पर कुछ प्रकाश डाला गया है। माय्य दान के प्रवर्तक बर्षिन की जो धारणा ईश्वर की सत्ता का प्रति है। वही स्फोट का प्रति भी है। उन का कथन है कि जिस प्रकार अक्षरों की सत्ता का प्रमाणित नहीं किया जा सकता उसी प्रकार स्फोट की सत्ता का प्रमाण भी नहीं दिया जा सकता। यदि पद का निर्माण करने वाला वक्ता ही स्फोट का बाध कराने है तो माध्व यह कहें क्या नहीं मान लिया जाता कि पद बाध का बाध कराने है। ऐसा किमी अन्तु का आविष्कार की क्या आवश्यकता ॥ जिस का उद्भव नहीं हो गया और जिस का मना वहाँ में भिन्न जगत्ता है। अतः ही वृत्ता में भिन्न जगत् की।

बदन्त के प्रतिनिधि शान्तिनिक गुरु न मन्वान् उपवन का इस मन का उद्भव

कहते हुये कि 'वर्णा एव तु गण' वरुण ही शब्द है स्फोट सिद्धान्त के विरुद्ध अपने विचार व्यक्त किये हैं। उस के मत में ध्वनियाँ का उत्पन्न होना नष्ट होना उचित नहीं कहा जा सकता क्योंकि प्रत्यभिज्ञान से वही ध्वनियाँ मानी जाती हैं। यदि गण का दो बार उच्चारण किया जाये तो यह नहीं माना जाता कि दो गणों का उच्चारण हुआ है यद्यपि यह माना जायगा कि एक ही शब्द का दो बार उच्चारण हुआ है। यद्यपि दो व्यक्ति एक ही वरुण का भिन्न भिन्न प्रकार से उच्चारण करते हैं पर इस प्रकार के भेद उच्चारणावयवों के कारण है, वर्णों के आभ्यन्तर गुणों के कारण नहीं। स्फोटवादियों का यह जो मत है कि शब्द में वरुण अनेक होने के कारण उन में एकबुद्धिविषयता उचित नहीं। उस का उत्तर यह है कि अनेक के विषय में भी एकबुद्धिविषयता सम्भव है, जैसे पत्ति, वन, सेना, दल, गत सहस्र आदि के विषय में। यदि कोई प्रश्न करे कि वर्णों का एक ही समूह एकबुद्धिविषयता के कारण गणा जारा कपि, पिक आदि भिन्न भिन्न पक्षों का बोध क्या करता है तो उस का उत्तर यह है कि जिस प्रकार क्रम विशेष में स्थित होने पर ही पिपीलिका में पक्षि का बोध कराती है उस क्रम का भग होने पर नहीं उसी प्रकार क्रम विशेष में स्थित वरुण ही पद विशेष का बोध कराता है। उस से भिन्न क्रम में स्थित होने पर नहीं। वरुणादी की कल्पना सीधी है। उस के मत में क्रमविशेष में स्थित वरुण बिना किसी मध्यस्थ के अथर्वविशेष की अभिव्यक्ति कराते हैं। इस के विपरीत स्फोटवादी की कल्पना टेढ़ी है। उस के मत में ध्वनियाँ से स्फोट की अभिव्यक्ति होती है और स्फोट से अर्थ की। उस प्रकार शब्द के मत में शब्द की टेढ़ा पकड़ने की अपेक्षा सीधे पकड़ना अधिक उचित है<sup>६३</sup>। यद्यपि वेदान्तिशा ने स्फोट को स्वीकृति प्रदान नहीं की, तथापि गण की नित्यता को स्वीकार किया है क्योंकि वे शब्द और ब्रह्म की समानता में विश्वास रखते हैं और नित्य शब्दों से ही ब्रह्म के द्वारा सृष्टि की रचना मानते हैं।

मीमांसकों का मत है कि शब्द की एकता अर्थ की एकता पर आधारित है, अर्थ लिये इस एकता की व्याख्या के लिये एक नष्ट इवादी अर्थान् स्फोट की कोई आवश्यकता नहीं। इस के उत्तर में वेदाङ्गणा का कथन है कि यदि शब्द को अर्थ पर आधारित मानेंगे तो परस्परश्रयप्रसक्ति दोष में नहीं बचा जा सकता क्योंकि अर्थ स्वयं शब्द पर आधारित है। मीमांसक इस तर्क का निराकरण यह कह कर करते हैं कि शब्द ही अर्थ पर आधारित है अर्थ शब्द पर नहीं, इस लिये परस्परश्रयप्रसक्ति दोष उत्पन्न नहीं होता। इस शब्दों के अर्थ दैनिक व्यवहार में सीपने हैं और जितना ध्वनिसमूह जिस विशेष क्रम में जिनने अर्थ को बहने के लिये प्रयुक्त होता है उसे उस अर्थ से कहने वाला शब्द कहा जाता है<sup>६४</sup>। इस लिये स्फोट की कल्पना की आवश्यकता नहीं। इस के उत्तर में वेदाङ्गणा का कथन है कि यद्यपि अर्थ का ज्ञान गणों से दैनिक व्यवहार से होता है तथापि हमें शब्दों की एकता या अलक्ष्यता का अनुभव होता है उन के अन्तर्गत अनेक ध्वनियों के समूह का नहीं। इस लिये स्फोट के अनुभव को असत्य नहीं कहा जा सकता।

उपयुक्त चर्चा से पता चलता है कि यद्यपि वेदान्ति और मीमांसक गण

की एकता को स्वीकार करते हैं तथापि वे ध्रुवमय म उग की ध्याय्या करते हैं। शब्द और भीमासव इस बात को समझन में ध्रुवमय रहें कि वहाँ के क्रिया उच्चारण और स्फोट का युग्मपद व्युत्पत्ति की गगन कम है। नयापि भी जिन के मत में वहाँ का सन्तपण स्मृति पर ध्रुवमय है इस समझ का हटन नहीं हो सके। उन व सामन मय में बड़ी कठिनाई यह है कि वे अनमान को धर्मात्मक मानते हैं। अब आधुनिक मनोविज्ञानियों ने भी यह गिद्ध कर लिया है कि वतमान धर्मात्मक नहीं है अपितु सावधिक है और भूत और भविष्यत् में लगे विषय सीमा तक विस्तृत है। इसी लिये यद्यपि धर्म में धर्मिया का धर्म कर्मिक होना है परन्तु गम्भीर धर्मों में उन का बोध एक दम होना है। धर्मो प्रकार हमारी दृष्टि भी वस्तुधरा की अखण्ड रूप में ग्रहण करती है। धर्म मिथ्या आधुनिक मनोविज्ञान की इस प्रक्रिया से बिल्कुल भल खाना है जो धर्म को अखण्ड मान कर चनती है और वाक्य पर और वण को धर्म रूप में स्वीकार करती है<sup>८५</sup>।

स्फोट के विभाग धर्म के वाच्यत्व धर्मों के साधारण के आधार पर भट्टो जिदीक्षित धर्म परवर्ती धर्मधर्मों में स्फोट की धर्म भाषा में विभक्त किया है। वण पद और वाक्य को साधक मान कर वण स्फोट पद स्फोट और वाक्य स्फोट की प्राप्ति होती है। धर्म को अनित्य या वाक्य मान कर जाति को धर्म स्वीकार करन पर वण जातिस्फोट, पदजातिस्फोट और वाक्यजातिस्फोट की स्वीकार करना पड़ता है। धर्म को नित्य मान कर धर्म को धर्म स्वीकार करन पर वण धर्म स्फोट, धर्मधर्मस्फोट और वाक्यधर्मस्फोट का ग्रहण होना है। वणस्फोट धर्म और वण धर्मस्फोट धर्म को धर्मधर्म माना गया है। धर्म और वाक्य को अखण्ड मानने पर अखण्डपदस्फोट और अखण्डवाक्य स्फोट की प्राप्ति होती है। वण पहन ही अखण्ड होने के कारण अखण्डवणस्फोट वण स्फोट का धर्म है। इस प्रकार स्फोट के धर्म विभाग है—(१) वणस्फोट (२) पदस्फोट (३) वाक्यस्फोट (४) अखण्डपदस्फोट (५) अखण्डवाक्यस्फोट (६) वणजातिस्फोट (७) पद जाति स्फोट (८) वाक्य जाति स्फोट। मत धर्म के मत में अखण्डवाक्यस्फोट ही वास्तविक स्फोट है।

अपसहार उपयुक्त धर्मों में हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि प्राचीन काल में भारत में धर्म और उस के धर्म के विभिन्न पहलुओं पर विचार किया गया। इस विषय पर जितनी गहराई से इस देश में चिन्तन हुआ वह सम्भवतः ससार के किसी देश में नहीं हुआ<sup>८६</sup>। आधुनिक अथर्वतत्त्व की देश के लिये भारत के पास अभी बहुत कुछ है। इस के लिये आवश्यक है कि पतञ्जलि और मत धर्म जस महान् भाषाविदा की वृत्तियों का गम्भीर अनुशीलन किया जाय। मत हा प्राचीन धर्मधर्मों की गली दुर्लभ है, विज्ञान में धर्म का मिश्रण है और विषय को भी मुख्यवस्थित देश से प्रस्तुत नहीं किया गया है परन्तु फिर भी सतत प्रयास करने पर धर्म फल प्राप्ति की पूरी सम्भावना है।

## टिप्पणियाँ

1 Language P 11

2 'General Linguistics', P 202

३ वही पृष्ठ २०४ १ और ३७८ ।

4 Certainly in one other slowly awakening department of linguistics that is concerned with meaning the west still has some thing to learn from India. There grammarians literary theoreticians and philosophers were all concerned with problems of meaning and much was thought and written on the subject. Of this the west is for all practical linguistic purposes innocent. The Hindu treatises are in a difficult style and few in the West will be qualified to deal with them as Sanskritists philosophers and linguistic scholars. Yet the results are likely to be worth the effort it is a subject that can be recommended to aspirants.

— India and Linguistics JAOS 75 1955, P 151

5 द्रष्टव्य—(1) Gatah Singh, Vedic Etymology

(ii) J. Gonda 'The Etymologies in the ancient Indian Brahmanas' Lingua Vol 5 1955 56 P 61 86

6 उपदेशाय ग्लान्ताप्रवरे वित्प्रवृत्तायेन शब्द समान्तासिपु । वद च वद ज्ञानि च । निम्न 1 20

7 To Yaska's credit it must be stated that his is the first systematic treatise on the etymology of an ancient language — r Siddheshwar Varma, The Etymologies of Yaska P 3

8 From the modern point of view his great draw back was the absence of a dominating historico geographical outlook in his age. Though he had a glimpse of linguistic geography (सर्वनिगतिवर्मा कम्बोजेवैव भाष्यत etc N II 2) it was not developed as a principle in his treatise. As regards the historical side of etymology he had no idea of time as a determining factor in words and meanings — वही

9 The outstanding importance of dictionaries in the modern world explains why some lexicographers are dissatisfied with the mechanical method of arranging words in alphabetical order and would prefer to classify them according to the concepts which they express — S Ullmann, Semantics P 254-55 Cf O Jespersen 'The Philosophy of Grammar', P 33-34

१० 'किं प्रह व्याकरणीयमानकोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च ।

वाक्यस्य शेषाद् विवृण्वदन्ति मानिष्यन् सिद्धपन्थ वृद्धा ॥

तत्त्वचिन्तामणि पर मधुरानाथ पृष्ठ ४८१

११ 'मर्मात् प्रसरणात् निष्पत्तिवित्याद देशकाल ।

मन्त्रेष्वपि विवेक स्याद् इतरपि च न्यति ॥ वृद्धदेवता II ११८



तुलना कीजिय — वाक्यात्म्यकरणार्थादौचित्याद्देवनागरी ।

शब्दार्था प्रविभज्यन्ते न रूपादेव केवलम् ॥ वा० प० II ३१६

श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यायाः समवाय

पारदोषत्वम् अथ विप्रकर्षात् । मी० सू० III ३ १४

12 The Modes of Meaning Essays and Studies \*

१३ 'वायमूत्र II २ ५६ पर भाष्य

14 k. Kunjunn Raja Indian Theories of Meaning \* P 75

१५ व्यक्ताकृतिजातयस्तु पदार्थ — वायमूत्र II २ ६५

१६ द्रव्याभिधान व्याडिराचार्यो व्याख्य मन्वने द्रव्यमभिधीयत इति ।

—पा० I २ ६४ पर महाभाष्य ।

१७ किं पुनराकृति पदार्थ आह्लास्विद् द्रव्यम् । उभयमित्याह । उभयथा ह्याचार्येण सूत्राणि पठितानि । म० भा० पम्पगा० ।

१८ सत्य यत् तत्र सा जातिर असत्या व्यक्तय स्मृता । वा० प० III १ ३२

१९ अथवन्तो वर्णा धातुप्रानिगदिकप्रत्ययनिपातानामकवर्णानामथदशनाद् वणव्यत्यये धर्मान्तरगमनात् वर्णानुपलब्धौ चानयगते, सघातायवत्वाच्च । —पा० हयवट्ट पर म० भा० ।

२० अनयकास्तु प्रतिवणम् धर्मानुपलब्धे, वणव्यत्ययापायोपजन विकार व्यवदशनात् । —वही ।

२१ सघान्तराण्येवतान्येवजातीयकानि धर्मान्तरेषु वतन्ते—कूप सूप सूप इति । —वही ।

२२ भवता वर्णानामथवत्ता कुवता साधोयोजनयवत्त्व धातिनम् । या हि मयते—य कूपे कूपाथ स कवारम्य य सूप सूपाथ स मवारम्य, या कूपे कूपाथ स मवारम्येति, ऊपगदस्त्वनयक स्यात् । —वही ।

२३ अथवद् इति व्यवदशाय । वर्णाना मा भूद् इति ।

24 'The phoneme participates in the signification yet having no meaning of its own —Proceedings of the Sixth International Congress of Linguistics Paris 1949 P 8

25 If the phoneme had a meaning then the learning of a foreign language would be the easiest job in the world We should only have to remember what the forty to sixty phonemes of each language mean and then we would immediately be able to understand any language having nothing else to do but to add up the partial meanings of the phonemes which constitute the morphemes

— The Questions of Meaning P 71

२६ श्रुतिव्यतिरस्तु गल्स्यायेन सम्बन्ध—मी० सूत्र I १ ५

२७ मिद्ध गल्पायसम्बन्धे जातत म० भा० पम्पगा० ।

२८ 'वायमूत्र II १ ५५

सामयिकदण्डाद् अथप्रत्यय—वनेपिक सूत्र—VII २ २०

२९ पूरुषप्रदाहपाटनानुपलब्देश्च सम्बन्धाभावः ।—न्यायसूत्र II १ ५३

३० जातिविशेषे चानियमात् । न्यायसूत्र II १ ५६

३१ रघुवश I १

32 'The Linguistic Speculations of Hindus', P 392

33 Indian Theories of Meaning, P 12 15

३४ आवाक्षायाम्यतासनिधिवशात् पदार्थानां समन्वये तात्पर्यार्थो विशेषपदपदार्थोऽपि समुल्लसतीत्यभिहितान्वयवादिना मतम् ।—वाक्यप्रकाशः ।

३५ पदार्थ एव वाक्याय । वा० प० II ४४ पर पुण्यराजः ।

३६ विस्तृत व्याख्या के लिये द्रष्टव्य—Ramchandra Pandeya, 'The problem of meaning in Indian philosophy' P 149-156

३७ न हि ससर्गोऽभिधीयते प्रतीयते च वाक्यात् । न्यायमञ्जरी ६

३८ ईन्द्रियान्त्य वचनम् औदुम्बरायणः । तत्र चतुष्टयं नोपपद्यते । नि० I १

३९ शब्दस्य न विभागोऽस्ति कुतोऽयस्य भविष्यति । वा० प० II १३

४० आख्यातशब्दः, सघातो, जातिः सघातवर्तिनी ।

एकोऽनवयवः शब्दः, प्रभो, बुद्धयनुसंहतिः ॥

पदमाद्यः, पृथक्संबन्धः साक्षात्प्रतिपत्तिः ।

वाक्यं प्रति मतिभिन्ना बहुधा न्यायवादिनाम् ॥ वा० प० II १ २

४१ आख्यातः भाव्यकारकविशेषणः वाक्यमकतिङ् इति । पा० VIII २

२८ पर महाभाष्यः ।

४२ डा० सत्यकाम वर्मा—'आपातत्वं और वाक्यपदीय', पृष्ठ ८६

43 But the conditions for a metaphorical transfer of meaning are discussed there mainly from a synchronic point unlike the study of the change of meaning in the West. It is only in the discussion of faded metaphors (Nirūdhā lakṣaṇa) that a historical approach can be seen. —K. Kuojunni Raja, 'Indian Theories of Meaning' P 10

४४ मुख्यार्थवाधे तद्योगोऽन्तितोऽयं प्रयोजनान् ।

अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत् सा लक्ष्यारोपिता क्रिया ॥ वाक्यप्रकाशः II ६

४५ चतुर्भिः प्रकारैरतस्मिन् न इत्येतद् भवति तात्पर्यान् तादृश्यात् तस्मात्तस्मात् तत्साहचर्यादिति । म० भा० IV १ ४८

४६ यत्रायं गच्छे वा तमयमुपसृजनीकृतस्वार्थो ।

व्यङ्ग्येन वाक्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः वक्षितः ॥

ध्वयालोकः I १३

४७ अन्यायमपि प्रकृतमन्यायः भवति । तद्वशा—शाल्यस्य कुल्या प्रणीयन्ते ताभ्यश्च पानीयं पीयते, उपसृज्यते च, शाल्यश्च भाव्यन्ते । पा० I २ २३ पर महाभाष्यः ।

४८ पदार्थानां गतिर्वचिभ्यात् ।—मही ।

५६ एषोपि यास्य एव यस्यनेतानाम्याभिधानं भवति ।

—म० भा० पा० I २ ६८ पर

५० वा० प० II ३२६ ७, इस पर पुण्यराज की टीका भी ।

५१ विगणम्याविगणित्वान् मामाद्यस्य च त्रियगितरान् मिदम् ।

—म० भा० पा० I २ ६८ पर

५२ केचिद् याजदेव तद् भवति सायने तन्मृ य एनं ज्ञातिगणं गुणं गणाद्वच ।—म० भा० पा० I १ ७१ पर

५३ वा० प० II १४४

५४ यथ नु पुनरय गुणवचनं ननु द्वयवचनं मण्ययनं । गुणवचनम्या मनुष्या लुगिनि । तद्यथा गुणवचनं गुणं कृष्णगुणं कृष्ण ।

—म० भा० पा० II १ ३० पर

५५ दुष्टं गच्छ स्वर्गता वगता वा मिष्याप्रयुतो न तमय माह ।

स वाग्व्या यजमानं हिनस्ति यथद्वातु स्वर्गतोपरापाद् ॥

—म० भा० पस्पता० ।

५६ प्रकृतिरर्थाभिधानं अत्रत्ययिवा नश्यते ।—म० भा० पा० III १ २ पर

५७ मैक्समूलर के इस मन से हम सहमत नहीं हो सकते जिस के अनुसार

'The Science of language in the only two countries where we can watch its origin and history—in India and Greece—rushes at once into theories about the mysterious nature of speech and cares as little for facts as the man who wrote an account of the camel without ever having seen the animal or the desert —The Science of Language P 82

५८ दृश्यन्ते हि वाक्येषु वाक्यैकदेशान् प्रयुञ्जाना, येषु पञ्चदेशान् ।

—म० भा० पा० I १ ४५ पर

59 Dr Prabhatacandra Cakravarti Philosophy of Sanskrit Grammar, II 84

६० पा० VI I १३२

स्फोटोऽयं पारायणस्य स स्फोटयिनः स्फोटप्रतिपादनपरो वपाकर एवायं —पदमञ्जरी, वाशिका VI I १२३ पर ।

६१ आचार्य कपिलदेव द्विवेदी ने पाणिनि सूत्र 'अवङ् स्फोटायनस्य' आदि में स्फोट सिद्धांत को जने का प्रयास किया है—अथ विज्ञान और व्याकरणदर्शन, —पृष्ठ ३५० ५१

६२ वा० प ३४७

६३ 'स्फोट शब्द' । ध्वनि शब्दगुण । भेरीमाहृत्य कश्चिद् विशति पानि गच्छति, कश्चित्पुनश्च कश्चिच्चत्वारिणाम् । स्फोटस्तावानेव भवति । ध्वनि कृता वृद्धि । —पा० I १ ७० पर महाभाष्य ।

६४ ध्वनि स्फोटश्च शब्दानां ध्वनिस्तु खलु सत्यतः ।

65 K. Kunjunni Raja— Indian Theories of Meaning ■ 101

६६ वणस्य ग्रहणे हेतु प्राकृतो ध्वनिरिष्यते ।

वृत्तिभेदे निमित्तत्वं वृत्तं प्रतिपद्यते ॥

६७ सिद्ध स्वस्मिता वणा वक्तुश्चिराच्चिरवचनाद् वृत्तयो विगिष्यन्ते ।

६८ उभयतस्फोटमात्रं निर्दिश्यते । रश्रुतनश्रुतिमवतीति—K. Kunjunni

Raja द्वारा 'Indian Theories of Meaning' में पृष्ठ १०२ पर पादटिप्पणी नं० ६ में उद्धृत ।

69 'To him (Patañjali) the sphota is not a single indivisible symbol considered as the meaning bearer but only the anchoring sound unit or a time series pattern of such units

—K. Kunjunni Raja Indian Theories of Meaning P 103

७० गौरित्यत्र कं शब्द ? गकारोकारविसर्जनीया इति भगवान् उपवच ।

मी० सूत्र I १५ पर शाबर भाष्य ।

७१ गौरित्यत्र कं शब्द ? येनोच्चारितेन सास्नासाङ्गलक्षकद्वयविवर्तिना सम्प्रत्ययो भवति स शब्दः । म० भा०, पृष्ठा १० ।

७२ पूर्वोपपन्नकालव्यवेतं सहिता चत् पूर्वोपपन्नभावाद् सहितासना न प्राप्ता नि । एकवचनत्वाद् वाचः, उच्चारितप्रवसित्वाच्च वार्तानाम् ।—बही

७३ गन्धेनार्थान्वाच्यान् दृष्ट्वा बुद्धौ कुर्यात्पूर्वोपपन्नम् ।—बही

74 K. Kunjunni Raja Indian Theories of Meaning P 107

७५ यं सत्याविभागाभ्यां वर्णयज्यते । स स्फोटः ॥ वा० प० I १०३

७६ दूराद् प्रभेदो दीपस्य ध्वनिमात्रं तु लभ्यते । वा० प० I १०५

७७ अनन्तव्यवस्थेऽभिव्यक्त्या जातिस्फोट इति स्मृता ।

कैश्चिद् व्यक्तय एवास्या ध्वनित्वेन प्रकल्पिता ॥ वा० प० I १४

७८ वा० प० I १-२

७९ परवर्ती वैमाकरणा न प्रत्यभिज्ञा की विचारधारा से प्रभावित हो कर 'पर्यन्ती' के अन्तगत ही एक चौथी अवस्था 'परा' को भी मायता दी है । See K. K. Raja, Indian Theories of Meaning, P 147 also Gaurinath Shastri 'The Philosophy of Word and Meaning' chs I V डा० सत्य काम वन्मा के अनुसार मत हरि न परा की स्थिति को भी स्वीकार किया है । दृष्ट-  
व्य—भाषातत्त्व और वाक्यपदीय पृष्ठ ४५

८० नात्राहितव्योजायामर्थेन ध्वनिना सह ।

भावृत्तिपरिष्काराया बुद्धौ शब्दावधारयते ॥ वा० प० I ८५

८१ वा० प० I ८३

82 Bhartrihari's statement that the individual letters in a word or sentence have no direct connection with the meaning but are merely concerned with the manifestation of the linguistic sign or the sphota which is the meaning bearer is quite in keeping with

४९ एपोऽपि याम्य एव यदप्येनानवस्याभिधानं भवति ।

—म० भा० पा० I २ ६४ पर

५० वा० प० II ३२६ ७, इस पर पुण्यराज की टीका भी ।

५१ विनेपस्याविवक्षितत्वात् सामान्यस्य च विवक्षितत्वात् सिद्धम् ।

—म० भा० पा० I २ ६८ पर

५२ केचिद् यावदेव तद् भवति तावदेव तदाहु य एते जातिशब्दा गुण

गदाश्च ।—म० भा० पा० I १ ७१ पर

५३ वा० प० II १४४

५४ क्य नु पुनरय गुणवचनं सन् द्वयवचनं सम्बन्धनं । गुणवचनभ्यां

मनुषा लुगिति । तद्यथा गुणवचनं गुणं कृष्णगुणं कृष्णम् ।

—म० भा० पा० II १ ३० पर

५५ दुष्टं गन्धं स्वरतो वसुतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमयमाह ।

स वाग्वच्चा यजमानं हिनस्ति यद्विज्ञानं स्वरतोऽपराधात् ॥

—म० भा० पस्पशा० ।

५६ प्रकृतिरर्याभिधानं अप्रत्ययिका नश्यत ।—म० भा० पा० III १ २ पर

५७ मैकमूलर के इस मत से हम सहमत नहीं हो सकते जिस के अनुसार

'The Science of language in the only two countries where we can watch its origin and history—in India and Greece—rushes at once into theories about the mysterious nature of speech, and cares as little for facts as the man who wrote an account of the camel without ever having seen the animal or the desert —The Science of Language P 82

५८ दृश्यन्ते हि वाक्येषु वाक्यैकदेशान् प्रयुज्जानां, पठेयुः पठकदेशान् ।

—म० भा० पा० I १ ४४ पर

59 Dr Prabhatacandra Cakravarti: Philosophy of Sanskrit Grammar, P 84

६० पा० VI I १३२,

स्फोटोऽयं पारायणस्य स स्फोटायनं स्फोटप्रतिपादनपरो वयाकर

शाचाय —पद्मञ्जरी वाङ्मिता VI I १२३ पर ।

६१ भाचाय वपिसदेव द्विवेदी ने पाणिनि मूत्र 'भवद् स्फोटापनस्य' आदि

में स्फोट सिद्धान्त खोजने का प्रयास किया है—अथ विज्ञानं धीर ध्यानरक्षणम्,

—पृष्ठ ३५० ५१

६२ वा० प ३४७

६३ 'स्फा' गन्धः । ध्वनिः गन्धगुणः । भेरीमाहृत्य कश्चिद् विनि

पन्नति गच्छति कश्चिद् विनिपन्नः, कश्चिच्चत्वारिणः । स्फास्नावानव भवति । ध्वनि

कृता वृद्धिः ।—पा० I १ ७० पर मन्त्रभाष्य ।

६४ ध्वनिः स्फोदन् गन्धानां ध्वनिस्तु मनु सत्यम् ।

अस्या महाद्वयं कपाचिद् उभयं तत्सम्भावत ॥—व्या ।

65 K. Kunjunni Raja— Indian Theories of Meaning P 101

६६ वणस्य ग्रहणे हेतु प्राकृता ध्वनिरिष्यते ।

वृत्तिभेदे निमित्तत्व बहूत प्रतिपद्यत ॥

६७ सिद्ध त्ववस्थिता वर्णा वक्तुश्चिराच्चिरवचनाद् वृत्तयो विशिष्यन्ते ।

६८ उभयतस्फोटमान निर्दिश्यते । श्रुतलश्रुतिभक्त्यति—K. Kunjunni

Raja द्वारा Indian Theories of Meaning में पृष्ठ १०२ पर पादटिप्पणी न० ५ में उद्धृत ।

69 'To him (Patañjali) the sphota is not a single indivisible symbol considered as the meaning bearer but only the anchoring sound unit or a time series pattern of such units

—K. Kunjunni Raja Indian Theories of Meaning P 103

७० गौरित्यत्र क शब्द ? मकारोकारविसृजनीया इति भगवान् उपपद्य ।

मौ० सूत्र I १ ५ पर शाबर भाष्य ।

७१ गौरित्यत्र क शब्द ? येनोच्चारितेन सास्नालाङ्गुलकुन्दलुरविषाणिना सम्प्रत्ययो भवति स शब्द । म० भा०, पस्पशा० ।

७२ पूर्वोपपन्नकालव्यवेत सहिता चेत् पूर्वोपपन्नात्वात् सहितासना न प्राप्ता ति । एकवर्णवर्णित्वाद् वाच, उच्चरितप्रवृत्तिवाच्च वर्णानाम् ।—वही

७३ शब्देनार्थान्वाच्यान् दृष्ट्वा बुद्धौ कुर्यात्पूर्वोपपन्नम् ।—वही

74 K. Kunjunni Raja 'Indian Theories of Meaning P 107

७५ य सयोगविभागाभ्या वर्णैरुपजयते । सस्फोट ॥ वा० प० I १०३

७६ दूरात् प्रभेद दीपस्य ध्वनिमात्र तु लक्ष्यत । वा० प० I १०५

७७ श्राव्यव्यक्त्यभिव्यक्त्या जातिस्फोट इति स्मृता ।

कैश्चिद् व्यक्तय एवास्या ध्वनित्वेन प्रकल्पिता ॥ वा० पा० I ६४

७८ वा० प० I १-२

७९ परवर्ती वैयाकरणानां प्रत्ययिना की विचारधारा से प्रभावित हो कर 'पश्यन्ती' के अन्तर्गत ही एक चौथी अवस्था 'परा' की भी भावना दी है । See K. K. Raja 'Indian Theories of Meaning', P 147, also Gaurinath Shastri 'The Philosophy of Word and Meaning' Chs I-V डा० सत्य काम वर्मा के अनुसार मत हरि न 'परा' की स्थिति का भी स्वीकार किया है । द्रष्टव्य—भाषातत्त्व और वाक्यपदीय, पृष्ठ ४५

८० नास्तिराहितबीजायामत्यन ध्वनिना मह ।

मावृत्तिपरिपाकाया बुद्धौ शब्दाज्जघायत ॥ वा० प० I ८५

८१ वा० प० I ८३

82 Bhartṛhari's statement that the individual letters in a word or sentence have no direct connection with the meaning but are merely concerned with the manifestation of the linguistic sign or the sphota which is the meaning bearer is quite in keeping with

the claim of modern linguists that the basic assumptions that underlie phonemics can be stated without any mention of mind and meaning and that the structural analysis of a language does not necessarily involve considerations of meaning

—K. Kunjunn Raja 'Indian Theories of Meaning' P 130

८३ ब्रह्मसूत्र १ ३ २८ पर शास्त्रमाप्य ।

८४ यावन्ता यावन्ता य च यदयप्रतिपादन ।

वर्ण प्रानतामप्यस्ति तथैवाववाधवा ।

—कुमारिन 'लोकवातिव' V ६६

83 The Sphota theory is quite in keeping with the modern Gestalt psychology which believes in the primacy of Gestalten. The earlier methods proceeded from elements to the whole from the sounds to words from words to sentences and finally to the meaning of discourse as a whole but the present tendency among psychologists is the exact opposite namely from meaning as Gestalt to the sentence and words as elements. The Sphota is the sentence or word considered as a linguistic sign and perceived as a Gestalt ab initio' —K. Kunjunn Raja, 'Indian Theories of Meaning' P 134-35

86 Indian grammarians produced not only a most scientific system on etymology and semantics but also a remarkable philosophy of word and meaning —Gauri Nath Sāstri 'The Philosophy of Word and Meaning' P 23

## वाक्यपदीय—वस्तुविषय और महत्त्व

भत हरि का वाक्यपदीय<sup>१</sup> भाषा तत्त्व के विषय में लगभग बारह शताब्दी तक भारतीयों के लिए ज्योतिस्तम्भ रहा है। भत हरि (हरि अथवा हरिवर्धन) का व्यक्तित्व के विषय में कोई जानकारी उपलब्ध नहीं है। केवल इतना पता है कि महामहोपाध्याय भत हरि ने न केवल व्याकरणशास्त्र के स्वतंत्र ग्रन्थ वाक्य० की रचना की अपितु पतञ्जलि के महाभाष्य पर भी टीका लिखी थी, जो महाभाष्यदीपिका नाम में प्रसिद्ध हुई। यह टीका अब केवल पा० १ १ ५५ तक ही उपलब्ध है। उत्तरवर्ती व्याकरणग्रन्थों में अनेक कारिकाएँ उद्धृत हैं जो वाक्य० में नहीं मिलती। सम्भवतः भत हरि की और रचनाएँ लुप्त हो गई हैं। वर्तमान में वाक्य० और प्रकीर्णक का उनका अलग अलग किया है। वाक्य० का तृतीय काण्ड प्रकीर्णक नाम में भी जाना जाता है। शायद भत हरि ने इसकी स्वतंत्र रचना की थी परन्तु कालक्रम में इसे वाक्य० में ही सम्मिलित कर लिया गया।<sup>२</sup> किसी निश्चित प्रमाण के अभाव में यह कहना है कि मुक्तक वाक्यरत्न नीतिगतक आदि तीन वाक्या का कर्ता भत हरि यही है या कोई और। भत हरि ने अपने गुरु का उल्लेख नामनिर्देशक बिना ही किया है। टीकाकार पुष्कराज के अनुसार भत हरि के गुरु वसुराज थे।

वाक्य० नाम उपजीव्य विषय का सन्नेत करता है। काणिकाकार ने अधि कृत्य कृत ग्रन्थे (पा० ४ ३ ८७) की व्याख्या में इस नाम का उदाहरण दिया है। वस्तुसार इसका व्युत्पत्तिपरक अर्थ है—वाक्य च पात्रं च वाक्यपदे। वाक्यपदे अधि कृत्य कृतो ग्रन्थो वाक्यपदीयम्। तीन काण्डों में विभक्त सम्पूर्ण वाक्य० पद्यबद्ध है जिसमें कारिकाओं की कुल संख्या १६६६ है।<sup>३</sup> नीचे काण्डक्रम से वस्तु विषय का परिचय दिया है। कोष्ठक में कारिकाओं की संख्या का निर्देश किया है।—

प्रथम काण्ड (१५६) का नाम ब्रह्मकाण्ड है। काण्ड का आरम्भ शब्द के ब्रह्मरूप में उल्लेख के साथ किया गया है। शब्द अक्षरतत्त्व है जिसका विवृत जगत की प्रक्रिया में अर्थ रूप में होना है। स्फोटदशान के सिद्धान्त का केन्द्र बिन्दु यही शब्दस्वरूप है। शब्द आपन साथ अर्थ की भी अभिव्यक्ति उन्नी प्रकार करता है त्रिम प्रकार तज स्वयं प्रकार स्वयं स्वरूप होना हुआ अर्थ पदार्थों को भी प्रकट करता है

आहृत्य आहृत्य च द्वे गवनी तेजमो यया ।

तथैव सर्वशब्दानामेत पथगवस्थिते ॥ १ ५७

शब्द के इसी एकत्व अक्षरत्व और नित्यत्व गुणविशिष्ट स्वरूप को ही स्फोट मणा में अभिहित किया गया है। वाक के चार रूपों यथा परा, पश्यन्ती मध्यमा और वचरी में से वस्तुतः अन्तिम दो की सहायता से स्फोट का सांसारिक रूप प्र-





काई सक्षण पर्याप्त प्रतीत नहीं होता उनके विचार में वाक्याथ तो अत्रिभाज्य है। व्यवहार के लिए उनकी जो आगिक प्रतीति हानी है वह प्रतिभा है। मन्त्र व्याप्त महासत्ता ही वाच्य-वाचक व्यवहार में प्रतिभा है उसी का दूसरा नाम सत्ता है। लौकिक पदार्थों का बोध कराने के लिये सामान्य विनियम तत्त्व इसी अत्रिप्राय का जाति भी बढ़ते हैं। भाषा में इसको प्रकट करने के लिए प्रतीक रूप तद्धित प्रत्यय एवं और तत्त्व का व्यवहार करने हैं।<sup>१५</sup>

वाक्य स्वरूप के अतिरिक्त भूत हरि न नाम, आभ्यास उपसर्ग निपात के अर्थ और व्यवहार पर भी प्रकाश डाला है। नाम के अर्थ वाच्य में अन्वय अनिरेक का उपयोग (२ १६६) प्रकृति के प्रत्यय के अर्थतत्त्व की अनिद्वयता (२ २२६) भाषा में परिवर्तन की अनवविधता (२ २३१ इत्यादि) का उद्देश्य उल्लेख किया है। वातु और उपसर्ग के सम्बन्ध पर भी उन्होंने सविस्तर विचार किया है। उपसर्ग के तीन वाच्य सम्भव हैं—वह विरोध अर्थों का वाचक है भिन्न अर्थ या द्योतक होता है और वातु के अर्थ में दासपादान करता है।<sup>१६</sup> निपातो को भूत हरि न पयक अर्थ का द्योतक माना है।<sup>१७</sup> इस वाण्ड के अन्त में भूत हरि न इस शास्त्र के प्राचीन विचारका का उल्लेख किया है। उपयुक्त विषयों के विस्तृत विवेचना के लिये सग्रहग्रन्थ का सन्नाप नाम लिपा है। सर्वविध यापवीजा के निबन्धन के लिये पनञ्जलि के महाभाष्य की भी प्रशंसा की है। बाद में इस शास्त्र का आगम की चत्वारि आचार्यों द्वारा अनन्त गाथाओं पल्लविन की गयी। भूत हरि न गुरु ने उन सब आगमयोगों का अभ्यास कर स्वयं दक्षता का प्रणयन किया (२ ४७८ इत्यादि)

तृतीय वाण्ड (१३२३) सबसे बड़ा है। द्वितीय वाण्ड के अन्त में की गई प्रतिज्ञा के अनुसार इसमें विभिन्न विषयों पर आगम भेदों का सग्रह है। इस उद्देश्य से भूत हरि न इस १४ समुद्देशों में विभक्त किया है। इनमें अन्तिम चत्तिममुद्देश सबसे बड़ा है। इन समुद्देशों का क्रम और इनके विषय इस प्रकार हैं—

(१) जानि समुद्देश (१०६)—पन्नाथ वाचक सकल एक मन्त्र की सामान्य विशेषता जाति है। (महाभाष्य में जाति का सक्षण किया है—आह्वनिग्रहणा जाति। पा० ४ १६३)

(२) द्रव्य समुद्देश (१८) द्रव्य पारम्परिक वस्तु है। इदं तत् इत्यादि द्वारा द्रव्य का बोध होता है।

(३) सम्बन्ध समुद्देश (८८) पदों का परस्पर सम्बन्ध। सम्बन्ध दो प्रकार का माना गया है—क्रिया कारक सम्बन्ध और शेष सक्षण सामान्य सम्बन्ध।

(४) स्यां द्रव्य समुद्देश (३) द्रव्य की इनाई का रूप।

(५) गुण समुद्देश (८) जाति में भेदों के लिये गुण है। द्रव्य की विशेषतायें।

(६) स्थिति समुद्देश (२८) स्थान स्थिति का अवधिभूत विशेष।

(७) साधन समुद्देश (१६७) कारक। कारक भूत यथा—यम हेतु मन्त्रान्त मन्त्रान्त प्रविशरण धारण। इनके सक्षण और क्रिया सम्बन्ध पर विचार।

(८) शिष्या समुद्देश (६४) वाक्यव्यापार। वातु द्वारा अभिव्यक्ति।



हम (Convventional theory) अथवा सांकेतिक सिद्धान्त कहते हैं और जिम पर यदा आक्षेप प्रधान रूप से किये जाते हैं—इस अनुबन्ध से पूर्व किस प्रकार ताक व्यवहार होता होगा, और यह अनुबन्ध किस भाषा के माध्यम से किया गया होगा। इनके अनिश्चित कुछ एक गोण आक्षेप और भी हो सकते हैं कि अनुबन्ध से पूर्व यदि लोक व्यवहार चल रहा था, तो फिर, अनायास इस अनुबन्ध की आवश्यकता क्या आ पड़ी और फिर यदि अनुबन्ध कर भी लिया गया तो फिर वही भाषा टिकी क्या न रही—पुन किन अनुबन्धों से निरन्तर बदलती रही? और यदि इस परिवर्तन को किसी अनुबन्ध के बिना स्वतः स्वीकार किया जाएता फिर भाषा का आरम्भिक रूप भी स्वतः निम्न हो जाने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए—विकासवाद का यह सिद्धान्त ही वस्तुतः भाषा की उत्पत्ति का एकमात्र कारण माना जा सकता है तथा अथ तथाकथित कारण इस कारण के महायक कारण हैं, न कि भाषा की उत्पत्ति के कारण। जो हो इस समस्या का समाधान न तो प्राचीन व्याकरणों के पास है, और न ही काव्य शास्त्रियों के पास। आधुनिक भाषावैज्ञानिकों ने यद्यपि इस सम्बन्ध में अनेक मतस्थितियाँ स्थापित की हैं परन्तु अपने इसी प्रयासों के सम्बन्ध में किसी भाषावैज्ञानिक ने यह चुटकी भी काट दी कि यदि सभी भाषावैज्ञानिक किसी एक मत पर सहमत हैं तो वह यह है कि भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कोई भी मत स्थिर नहीं किया जा सकता। किन्तु ज्ञानदार तरीका है समस्या से पलायन का? अस्तु।

[ ३ ]

उक्त समस्या में ही मिलता जुलता प्रश्न है कि भाषा का चरम अवयव किम माना जाए—एक वाक्य या वाक्य को। आधुनिक भाषावैज्ञानिक तो वाक्य को भाषा का चरम अवयव मानते हैं और भारतीय व्याकरणों में भी इसी तथ्य का अनेक रूपों में और स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है—

पदे न वरुणं विद्यन्ते वरुणेष्ववयवा न च ।

वाक्यान् पदानामत्यन्तं प्रविवक्षा न कश्चन ॥ तथा—

तद्वद्वच-बोधनाय पदविभागः कल्पितः ।

किन्तु इधर, वाक्यान्वयियों ने भी इसी सम्बन्ध में पर्याप्त प्रकाश डाला है। मम्मट विश्वनाथ आदि के अथ में शब्द की चौथी शक्ति तात्पर्या वृत्ति के प्रसङ्ग में प्रकारान्तर से इसी विवाद की ओर संकेत किया गया है। किसी वाक्य का अर्थ ही हम अभीष्ट रहता है—यह एक सर्वांशतः स्वीकृत तथ्य है। पर क्या (१) वाक्य के प्रत्येक पद का अर्थ समन्वित होकर हमें अभीष्ट होता है अथवा (२) समग्र वाक्य का समन्वित अर्थ। दूसरे शब्दों में—विभिन्न पदार्थों का समन्वय वाक्यार्थ है अथवा समग्र वाक्य का वाक्यार्थ ही वाक्यार्थ है। प्रथम मत का अभिहितान्वयवादी स्वीकार करते हैं और दूसरे का अन्वितान्वयवादी—

(क) अभिहितानां स्वस्ववृत्त्या पदैरपस्थापितानामर्थानामवयव इति दान्ति अभिहितान्वयवादिनः ।

(ख) अन्वितानामेवाभिधानं शब्दबोधित्वम् तद्वान्वितान्वयवादिनाभिधानवा

(बौद्ध), (५) कमलगीन (बौद्ध) (६) गरुडाय, (७) महातिथि, (८) जयनभट्ट, (९) अभिनव गुप्त, (१०) रामचण्ड, (११) क्षीरस्वामी (१२) पायशारधिमिश्र (१३) महेश्वर, (१४) दुर्गासिंह (१५) त्रिनोबन दास, (१६) रायस्वमि मिश्र, (१७) श्री सोमानन्द नाथ (१८) उत्पलदेव (१९) गोत्रुल नाथ ।

यह खेद रा विषय है कि आधुनिक युग में वाक्य० का अभाव अग्रणी महत्त्व नहीं मिला है। भाषा विज्ञान के विद्याधिया को पुण्यराज और हनाराज की टीकाभा के साथ वाक्य० का अध्ययन करने से ध्वनि अथ रूप वाक्यरचना आदि विषयों में न केवल प्राचीन भारतीय मन का समझन में सहायता मिलेगी बल्कि अनुनातन ज्ञान का भी नये आयाम देना सम्भव होगा ।

### सन्दर्भ

(१) वाक्यपदीय—वाग्भटाय बामुदेव अम्बुदूर एव विष्णुप्रभाकर त्रिमये ।  
पूना यूनिवर्सिटी सस्कृत और प्राकृत सिरीज (१९६५) । प्रस्तुत रचना में सभी सन्दर्भों में सस्वरण के दिये गये हैं ।

(२) 'भत हरि वाक्यपदीयप्रकीर्णकयो कर्ता महाभाष्यत्रिपाद्या व्याख्याता च ।'—गणारत्नमहोदधि ।

(३) इतिहास के उल्लेख से प्रतीत होता है कि भत हरि ने वाक्य० (प्रथम दो काण्डों) पर स्वोपज्ञवृत्ति टीका भी लिखी थी जिसमें ७००० श्लोक थे । प्रथम काण्ड की यह वृत्ति चारुदेव आश्रमी के सम्स्करण में पूरी प्रकाशित हुई है । द्वितीय काण्ड की वृत्ति पूर्ण उपलब्ध नहीं है । उक्त वृत्ति के बहद और लघु दो रूप प्रचलित हैं ।  
दे० Bhartrhari: A critical Study with Special References to the Vakyapadiya and its Commentaries —Charudeva Shastri, Proceedings Cf AIOC V Part I (P 630 ff) 1930 तथा वाक्य० Introduction P X

(४) इतिहास ने वाक्य० के श्लोका की संख्या ७०० लिखी है । चारुदेव के विचार में यह संख्या केवल प्रथम दो काण्डों की है क्योंकि उनकी वर्तमान श्लोक संख्या ६४३ है । सम्भवतः इतिहास के समय तृतीय काण्ड स्वतंत्र माना जाता हो ।  
दे० चारुदेव—वही ।

(५) एवं च निरवयववृत्ति वक्षुपदवाक्येषु मात्राविभागा वृत्तिविभाग पदविभागश्च काल्पनिका मिथ्यति भावः । पुण्य० १ ६३

(६) आख्यातशब्द सघातो जाति सघातवृत्तिर्ना ।

एकोऽनवयव शब्द क्रमो बुद्धयनुसंहति ॥

पदमात्र पथक सवपद साकाक्षमित्यपि ।

वाक्य प्रति मतिभिना बहुधा यायवादिनाम् ॥ २ १ २

वाक्य लक्षण सम्बन्धी इस अर्थ को लेकर प्रचलित पाठभेद और मतभेद उल्लेखनीय हैं । श्रीमासक कुमारिकादि 'क्रमो बुद्धयनुसंहति' को एक लक्षण मानते हैं और 'पदमत्यम्' नामक एक और लक्षण भी जोड़ते हैं, जो वाक्य० के

पाठ में नहीं है। प्रभावकर के अनुयायी भी ऐसे पाठ की गणना करते हैं। प्रमेय कमलमातृण्ड द्वारा निर्दिष्ट जैनी परम्परा भत हरि की वाक्यसूची में दस लक्षणों को गिनती है। 'प्रमो बुदध्यनुसहृती' 'किया है, और व्याख्या में इन शब्दों में तीन वाक्यलक्षणा का निहित होना बताया गया है। उसी ग्रंथ में इसका भी भवेत् है कि पदमाद्य इत्यादि पक्ति का पाठ भी भिन्न प्रकार में है यथा—पदमाद्य पद चार्य पद सापेक्षमित्यपि। दे० Bhṛtrhari's first of Sentence Definitions—K. Kunjunni Raja Brahmayādyā (The Adyar Library Bulletin) XXVI (1962) p. 206 ff

(७) दानानिव मत्तभेद के बाहर साहित्यरूपणकार का यह लक्षण वाच्य में अधिक व्यवहार सम्मत सिद्ध हुआ है—वाक्य स्याद्याग्यनाकाशासत्तियुक्त पदोच्चय।

(८) मम्बघिभेदात् मत्तव भिद्यमाना गवादिषु।

जानिरित्युच्यते तस्या मर्बे शब्दा व्यवस्थिता ॥

ता प्रातिपदिकायञ्च चात्वर्ये च प्रवक्षते।

सा नित्या सा महानात्मा तामादृस्त्वत्तान्य ॥ ३ ३३ ३४

(९) स वाचको विशेषाणा समवाद घानकाऽपि वा।

गत्वयाधानाय चातोवा महकारी प्रयुज्यन्ते ॥ २ १८८

(१०) 'निपाता घानका केचित पथगथाभिधायिन।

आगमा इव केऽपि स्युः सभूमायस्य चाचना ॥' २ १९२

(११) धारदेव—वही पं० ६४६

(१२) चान्दव—वही पं० ६५०

(१३) इत्यन्तमिथ न पदमञ्जरी में १० कारिकाएँ उद्धृत की हैं।

### सहायक ग्रंथ

(१) The Philosophy of Sanskrit Grammar P. C. Chakravarti, University of Calcutta (1930)

(२) अथर्विज्ञान और व्याकरण दत्तन कपिनदेव द्विवेदी, त्रिदुस्तानी मनेडमी, दसाहाबाद। (१९५१)

दिन । (वा० प्र०—शालाग्रहिनी टीका, पृष्ठ २६ २७)

शास्त्रीय तब वितक स एक क्षण के लिए चलन हटकर गें तो हमारे निगार म ये दोनो पक्ष अपनी अपनी स्थिति म बसाध हैं—एक पूर्णत और दूसरा कुछ सन्निहित रूप म । उदाहरणार्थ प्रारम्भ म हम किसी अनान भाषा क वाक्याथ स हा किसी-न किसी प्रकार स वक्ता का आशय समझ लेते हैं—तब मग्न वाक्याथ ही वाक्याथ होता है । अविताभिधानवादिया का यह बध्य इस स्थिति म पूर्णत स्वीकार्य है । किन्तु बाद मे वाक्य म प्रयुक्त प्रत्येक पद का अर्थ जान नेन पर हम उनक भाष्यम स वाक्य का अर्थ समझने लगते हैं । सिद्धांतत हम अत्र भी भले ही यह कहत रह कि वाक्य म प्रत्येक पद तब तब परस्पर असम्बद्ध अतएव निरर्थक रहता है जब तक कि हम पूरा वाक्य पत्र अर्थवा सुन नहीं लेन—मग्न वाक्य पूरा न जान पर ही ये पद आकाशा वाग्यता और सन्निधि के बल पर परस्पर सम्बद्ध नाकर साधक बन जात हैं और अब समग्र वाक्य अपना आशय देन लगता है जसा कि अविताभिधानवादी स्वीकार करते हैं किन्तु यह बध्य किंचित् सन्निधान की अपेक्षा रखता है । वस्तुतः अब प्रत्येक पद का अपना अपना अर्थ हमारी बुद्धि म परस्पर-सम्बद्ध जोड़ता चला जाता है और वाक्य के पूर्ण होने ही समग्र वाक्याथ वाधगम्य हा जाता है । सत्य तो यह है कि प्रत्येक पद के अर्थ को भूत न सवने के कारण, वाक्य के पूरा न होने तक हम इन्हें परस्पर नितान्त असम्बद्ध भी नहीं मान सकते ।

वस्तुतः इस समस्या के उत्पन्न होने का मूल कारण है कि जब व्याकरण क अनुसार पदो मे प्रकृति और प्रत्यय का अलग अलग निश्चित किया जान लगा तो वाक्य म पदों का अन्तिम भी इन्हीं के अनुरूप ही स्वीकृत करने पर बल दिया गया कि पद यदि प्रकृति प्रत्यय म निमित्त है तो वाक्य पदों स । इसी तथ्य की ओर आचार्य कुतक न भी प्रसंगवत् संकेत किया है—दृश्यते च समुदायात् पातिनाम मस्यभूतानामपि व्युत्पत्तिनिमित्तमपोढस्य विवेचनम्—यथा पदान्तभूतयो प्रकृति प्रत्यययो वाक्यात्भूताना पदाना चेति । (व० जी० १६ वृत्ति) । और यही बध्य कभी-कभी इस रूप म भी प्रस्तुत किया जाता है कि जिस प्रकार कमल पद म क म ल य तीनो वण निरर्थक हैं और न ही क बालने से कमल की एक तिहाई का तथा कम बोनन स कमल की दो तिहाई का बोध होता है उस प्रकार यह गच्छामि म प्रथम दाना पदों के उच्चारण द्वारा भी क्रमशः एक तिहाई और दो तिहाई वाक्याथ के वाच्य की अस्वीकृति समझनी चाहिए और फलत निष्पद्य यह निकाला गया कि वाक्य की समाप्ति-मयत्त सभी पद निरर्थक समझे जान चाहिए । किन्तु यह साम्प्रदायिकी भी रूप म सुघटित प्रतीत नहीं होता । पद म प्रयुक्त वग उदाहरणार्थ क म अथवा ल, तो नितान्त निरर्थक हैं किन्तु वाक्य म प्रयुक्त पदों का अर्थ एक बार जात हा जान पर अपना प्रभाव छान बिना नहीं रह सकता । वण पद क अनिवार्य अर्थ है, और पद वाक्य के किन्तु इस साम्य के हात नए भी वाक्य गत पत्र, पदगत वणों क समान नितान्त निरर्थक नहीं हात । माना

कि 'अहं गृहं गच्छामि' के 'अहं' से वाक्य के एक तिहाई वाक्याव का बोध नहीं होता, पर थाता वाक्याव के माग पर अग्रसर अवश्य हो जाता है—यदि इस तथ्य को थोड़ा और दूर तक खींच ले जाए तो 'इस सगेवर में सुंदर कम इनना मुनते ही प्राय कमल' का अर्थ तो समझ आ सकता है पर केवल 'कम' दो तिहाई 'मन' का नहीं। अस्तु।

इन सभी समस्याओं के समाधान के लिए पहले पद स्फोट द्वार अन्त वाक्य स्फोट की धारणा स्वीकृत की गई। शब्द को ब्रह्म के स्वर पर कल्पित करके अथ व माय गद का नित्य सम्बन्ध स्थापित किया। महाभाष्यकार का प्रसिद्ध कथन सिद्धे गायत्रिसम्बन्धे और इसी के अनुरूप भारतीय काव्य शास्त्र का प्रसिद्ध कथन ननु गायत्री वाक्यम् प्रवारान्तर से इसी धारणा की आरम्भ करता है। गद वस्तु साधारणता का ही धातक है केवल नाट्य का नहीं। किन्तु गद ब्रह्म के रूपक द्वारा एक द्वार यह कल्पना हास्यास्पद प्रतीत होती है कि वभिन्न अवस्तु मृदोक् जैम शब्दा में जा कि आज लुप्त हो गये हैं 'क्रमशः य अथ द्विप पठे हैं—भरणा-वर्ता रक्षक और मुख और दूसरी ओर गवेषणा जैसे गदों के विषय में यह कल्पना भी हास्यास्पद ही है कि अथ भी इनमें गो-एषणा' (गाय की खोज) जैसे अथ द्विप पठे हैं और य सब अथ कभी भी प्रकट हो सकते हैं। उक्त हास्यास्पद भी धारणाएं हम किसी-न किसी प्रकार से स्वीकार कर भी दें किन्तु शब्द ब्रह्मत्व के आधार पर यह भाव्यता तो किसी भी तरह स्वीकृत नहीं हो सकती कि प्रत्येक गद में प्रत्येक अथ निहित है और जब भी कभी वह स्फुटित हो सकती है। फिर भी, स्फोट सिद्धान्त में यह तथ्य तो स्पष्ट निहित है ही कि प्रत्येक साधक गद तब तक स्फोट कहान का अधिकारी है जब तक कि वह अपने नियत अर्थ का प्रकट करता है। अस्तु।

[ ४ ]

वस्तुतः भारतीय काव्यशास्त्र का समग्र कलेवर गद और अर्थ के उक्त नित्य सम्बन्ध पर ही अवस्थित है। इसी नित्य सम्बन्ध की व्याख्या कुन्तक के गदों में इस प्रकार है कि काव्य में शब्द और अर्थ का मिश्रण के समान एक-दूसरे की भाँति बढ़ते हुए परस्पर मलग रहते हैं<sup>४</sup>। अस्तु। गद्यगति प्रकरण तो इसी पर आधारित है ही ध्वनि के भेद भी गद्य और अर्थ में सम्बन्ध स्थापित हैं तथा गुण भेद और यहाँ तक कि आप प्रसंग का विभाजन भी मध्य व्यंग्य के आधार पर गद्यगत, अर्थगत और गद्यार्थगत रूप में किया गया है। यहाँ यह उल्लेख्य है कि जिस काव्य-तन्त्र का गद्यगत कहा जाता है उसमें केवल यह अभिप्राय लिया जाता है कि इसमें गद की प्रधानता है और अर्थ की गौणता और जिस अर्थगत कहा जाता है उसमें अर्थ की प्रधानता है और गद्य की गौणता। इस प्रकार नामकरण प्रधानता के आधार पर किया जाना है—'प्राधान्येन व्यपदेशा भवति।' वस्तुतः शब्द और अर्थ का परस्पर एक-दूसरे की सहायता करते हुए चलते हैं<sup>५</sup>। अस्तु। उपर्युक्त वर्गीकरण में भी बढ़कर स्वयं काव्य का समग्र भी गद्याव के समवित रूप पर आधारित किया गया है। अर्थ ने अनुसार गद्य और अर्थ के महत्त्व



काव्य की मना ली गई है और एन्ट न गन्धाय वा । इसी प्रकार कुत्तर न भी गन्धायी सहितो काव्यम् के ही आधार पर काव्य नगण प्रस्तुत किया है<sup>६</sup> । मम्मट ने अवसम्मत काव्य लक्षण में काव्य का स्वरूप गन्धाय पर आधारित किया है<sup>७</sup> और राजयोग्यर विश्वनाथ आदि ने काव्यपुरुष रूप में गन्धाय का ही काव्य का गौरव बताया है<sup>८</sup> । इसी और जगन्नाथ न काव्य लक्षणा में गन्धाय और अथ ता यन्ति पृथक्-पृथक् निर्दिष्ट किया है तो सग्रहनाथ व्याडि व अनुमात्र सम्भवत इसका यह समाधान किया जा सकता है कि शब्द प्राग् अथ अभिन हात प्राग् भा यन्ति पृथक् पृथक् निर्दिष्ट किए जाते हैं तो इसका कारण लोभित ध्ययनाम ही<sup>९</sup> पर यन्तु न अभिन और एन्हात में ही अवस्थित हैं—

शब्दाद्योगसम्भवाच्च ध्यवहारे पथक् क्रिया ।

यत्त शब्दाद्योगस्तत्त्वमेव तत् समवस्थितम् ॥

—वा० प० (१२६) की वृत्ति में उद्धृत

काव्यशास्त्र में प्रतिपादित भाषाशास्त्र सम्बन्धी एक अथ महत्त्वपूर्ण विषय है वाचक शब्द जिसके व्याकरण सम्मत चार भेद हैं—द्रव्य जाति गुण और क्रिया । वाचक शब्द साक्षात् सकेति अथ का बताना है न कि परम्परा सम्बद्ध अथ है । इसी विषय का एक महत्त्वपूर्ण स्थल है कि यह सबेन ग्रहण जाति का हाता अथवा व्यक्ति का । इस सम्बन्ध में पाच सिद्धान्त प्रस्तुत किये गये हैं—(१) जातिवाद (२) व्यक्तिवाद (३) जानिविनिष्ठ व्यक्तिवाद (४) अवाहवात्, (५) जात्यान्विवाद<sup>१०</sup> ।

### [ ५ ]

काव्यशास्त्रीय ग्रन्था में अलंकार गुण रीति और आप विषयक प्रकरणा में भी भाषा विषयक विवेचन उपलब्ध हो जाता है । स्वयं इनके लक्षण ही अन्न भाषा के प्राण भूत तत्त्व शब्द और अर्थ से सम्बन्धित कर लिये गये हैं । अन्तर्गत का शब्दार्थ का अस्तिर घम माना गया है गुण को शब्दार्थ का घम गौण रूप से स्वीकार किया गया है और गुण के इसी रूप के साथ ही रीति को सम्बन्धित किया गया है<sup>११</sup> । अस्तु ।

भाषाविज्ञान की मनोवैज्ञानिक भीमासा करने वाले विद्वान् सभी सभी यह भी स्वीकार करने उद्युक्त हैं कि विभिन्न वर्णों के नामों का और यहाँ तक कि उनके लेखन की वनावट को देखकर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि य धूलत जिन गन्धाय से घिसते घिसते अपने वर्तमान रूप पर पहुँच हैं वे गन्ध कठार कोमल ममृण, मजुल, श्रुति बटु श्रुति पेगल आदि रहे होंगे । यदि इन भीमामा का अर्थ वनानिब भी मान लें, तो भी भारतीय काव्यशास्त्र की गुण आर रीति विवेचन का मधुरता आनन्दिता और प्रसन्नता इसी भाषा नत्व की आर ही स्पष्ट मनेत करती है ।

अलंकार प्रकरण के अंतर्गत गन्ध श्लेष अन्तर्कार के आठ भेद निम्नात आठ भाषा-नत्वा पर आधारित हैं—वर्ण प्रत्यय लिंग प्रकृति पञ्च विभक्ति वचन और भाषा । उपमा का अयानकार का जननी माना गया है । इसके श्रीनी और आर्थी

नामन दा भेद भाषा तत्त्व पर ही आधारित हैं तथा फिर ये दोनों तद्धित समास और वाक्यगत स्वीकार निये गये हैं<sup>११</sup> । विराध अलकार के भेद भी वाचक शब्द के उक्त चार रूपा—जाति, गुण क्रिया और द्रव्य पर आधारित है । इसी प्रकार विषम अलकार के भेद भी गुण और क्रिया से सम्बन्धित हैं<sup>१२</sup> ।

इसी प्रकार वक्राति मिथ्यान्त का ममग्र भेद प्रस्तार ही भाषा-तत्त्वा को लक्ष्य में रखकर किया गया है । वक्राति के प्रमुख छ भेदा म से प्रथम चार नाम लीजिए—वर्ण वक्रता, पदपूर्वाद्ध वक्रता पदपराध वक्रता, और वाक्य वक्रता । तथा वक्रोक्ति के कतिपय उपभेदा के नाम लीजिए—उपसर्ग, निपात, वृत्ति (समास, तद्धित और कृदन्त), लिंग, कारक, सख्या (वचन) पुंस्त्र उग्रह (आत्मनपद और परस्मैपद) प्राति । इस प्रकार कुन्तक न भाषा और वाक्यशास्त्र मे अनिवार्य सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास किया है किन्तु इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि कुन्तक किसी विशिष्ट भाषा तत्त्व पर ही वाक्यान्त के केन्द्रित करने के पक्ष में हैं । वस्तुतः यह स्थिति भी 'प्राधान्यन व्यपदेशा भवन्ति के आधार पर स्वीकृत करनी चाहिए । उदाहरणार्थ, यदि किसी एक विशिष्ट स्थल म पद के पूर्वाद्ध (प्रातिपादिक) के कारण वाक्यमोदय है तो दूसरे स्थल म पद के उत्तराद्ध (प्रत्यय) के कारण अथवा किसी अन्य स्थल में वाक्य के कारण तो इसी प्रमुखता के आधार पर ही वक्रोक्ति भेदा का नामकरण किया गया है । किन्तु इससे वाक्य चमत्कार का किसी एक भाषा तत्त्व पर केन्द्रित नहीं माना जा सकता—यह तो उक्त पदपूर्वाद्ध वक्रता प्रादि की वक्रता म जय परवर्ती क्षण होता है जो कि—उक्त आधार एवं साधनभूत वक्रताओं का आधेय अथवा साध्य होता है । स्वयं भाषा मे भी किसी एक वाक्य के पदों के अर्थों का अवबोध वाक्य के समस्त तात्पर्य के लिए साधन ही होता है साध्य तो वाक्याय—वाक्य का तात्पर्य—ही होता है । अस्तु ।

अब दोष प्रकरण लीजिए । भारतीय वाक्यशास्त्री व्याकरण द्वारा असम्मत प्रयोगा म च्युत सस्कृति दोष स्वीकार करता है । अजुन शंकरस्थ वसस्थलम् आजघ्ने' यहा आजघ्ने इस आत्मनेपदी प्रयोग म च्युतसस्कृति दोष है क्योंकि 'आङो यमहन (और उसकी अनुवृत्ति-परक 'स्वागकमकाच्च ) सूत्र द्वारा हन् धातु मे आत्मनपद का प्रयोग तभी सगत है जब कम स्वयं कर्ता का अपना अंग हा न कि किसी अन्य का अंग । यहा परस्मैपद प्रयोग' आजघान ही होना चाहिए था । किन्तु फिर भी, वाक्यशास्त्र इस सम्बन्ध म व्याकरण के नियमों का पालन कठोरतापूर्वक नहीं करता । 'पद्य ग' व्याकरणानुसार पुलिग है किन्तु इसका प्रयोग नपुंसक लिंग म प्रचलित है अन मानि पद्य सरोवरे' जस प्रयोगा म अप्रयुक्त दोष माना गया है । हन् धातु गत्ययक भी है—हन् हिंसागत्या किन्तु इस अर्थ म इसका प्रयोग प्रचलित न होने के कारण कुन हन्ति (गच्छति) वाला ऐसे स्थलो म अममयता दोष माना गया है । 'वन्द्याम् प' वद्या' शब्द की द्वितीया विभक्ति का एकवचनान्त रूप है, तथा वदी' (वदी ववयागभद') गब्द की सप्तमी का एकवचनान्त रूप भी । स्पष्टतः, ये दोनों रूप व्याकरण के अनुसार शुद्ध हैं परन्तु वाक्यशास्त्री को इस पद के प्रयोग म बर्हा आपत्ति

है जहाँ यह सारेह उल्टा करता है। जमे—भाषी परम्परा बली बलें ह्या ह्या  
 कुद ।' इस पद्या का प्रस्तुत अर्थिप्राय तो यह है कि इस काव्यीय भाषा परम्परा  
 का सुनकर हे राजन् कृपा करो किन्तु भाष ही निम्नोक्त अर्थ का भी मन्त्र होता  
 है—इस भाषी परम्परा को सुनकर हे राजन् इस भाषा (मन्त्रिणा) का कृपा करो ।  
 अतः ऐसे प्रयोग व्याप्य हैं। एत उपास्यग्य और सीरित्रा—'प्राप्तमुद्रातिगीतानाम्'  
 (समुद्र पर्यन्त पथीपतिप्राया का) इस पद में यद्यपि प्रागमुद्रा का विरिण क भाष  
 ममस्त प्रयोग व्याप्यग्य मग्य है किन्तु प्रागमुद्रम् कहन में भाषा में जा घन प्राग  
 है वह समाम करो स नष्ट हो जाता है। अतः काव्यशास्त्र तत्र मयना में परिमृष्ट  
 विधेयाग दाप स्वीकार करता है। यदी म्यनि अत्र से पनति शुभ्रु बटाय पठ्यग्य  
 इव पठ्यग्यस्य' में भी है। पठ्यग्य प्रयाग व्याप्यग्य-मयन है किन्तु प्राग प्राग  
 प्रयाग में ही बही अधिा घन है। मयि नियमा क अनुगार निम्नात् मयन में विगर्गों  
 का लोप सग्य है—'गता निग्य इमा मयने', और निम्नात् मयन में विगर्गों का मा  
 हो जाना—'वीरो वरो नरा याति' किन्तु काव्यशास्त्री का यह म्यनि मय नहीं  
 है। वह इनम काव्य ग्य स्वीकार करता है। और फिर, वह सयि भी क्या का  
 व्याकरण-सग्य तो है पर जिसस जुगुप्ता-म्यजक अस्तीलता की दुग्य उठने लगे—  
 'अलपडाभरवेष्टित' अथवा जो अत्यन्त विष्ट बत जाए—'उप्यसावत्र सवर्गो मवन्ते  
 चाववस्थिति'। इस प्रकार हमन दता कि काव्यदोषों के निर्धारण में काव्यशास्त्र में  
 व्याकरण के नियमों के परिपालन पर घन तो दिया है पर वही तब जहाँ तब व  
 सहृदय के रसास्वाद में बाध नहीं बनते।

X

X

X

इस प्रकार हम देखते हैं कि काव्यशास्त्र के प्रायः सभी प्रमया में भाषा क  
 घनक सत्य भरे पडे हैं—कही अनुस्यूत रूप में बही समन्वित रूप में और कही आनु  
 पयिक अथवा काव्य कमलार के उपकारक रूप में। वस्तुतः स्वयं काव्य का गरीर  
 ही भाषा अर्थात् शब्दाव्य का समन्वित रूप है—काव्य मौल्य (अनकार) का भाषा  
 से हम ठीक उसी प्रकार अलग नहीं कर सकते जिस प्रकार स्वचा के रंग को उससे  
 अलग नहीं कर सकते अथवा पुष्प के रंग को उसकी पखुडिया से अलग नहीं कर  
 सकते। इसी भाव्य को कुन्तक ने इन शब्दों में प्रकट किया था—'या तो समभन  
 समभाने के लिए अलकार (काव्य सौन्दर्य) को अनकाव्य (सौन्दर्य) से अलग करक  
 विवचन, किया जाता है किन्तु सत्य तो यह है कि काव्यता तो सालवार की ही  
 हानी है'<sup>३</sup>। अर्थात् काव्य में सौन्दर्य भाषा (गव्याय) का अविभाज्य अंग बनकर  
 ही रहता है उस पक्ष नहीं कर सकते।

सदम

१ वाचामेव प्रसादनं लाजयात्रा प्रवर्तते ।

इदमजतमं वृत्तं जायते भुवनत्रयम् ।

यदि शब्दादयः ज्योतिराससारं न दीप्यते ॥

गौगौ, कामदुषा सम्भव प्रयुक्त स्मयते बुधै ।

दुष्प्रयुक्ता पुनर्गोत्व प्रयोक्तु सैव क्षति ॥

२ तदल्पमपि नोपेक्ष्य काव्ये दुष्ट वचना ।

स्याद् वपु सुदरमपि शिवत्रेणुकेन दुभगम् ॥ का० आ० १७

३ काव्यशास्त्रीय ग्रन्थो ये वाक्य वा संक्षेप है—

(क) वाक्य तत्राभिमत परस्पर सव्यपक्षवृत्तीनाम् ।

समुदायः दानानामेकपराणामनाक्ष ॥ का० अ० (रुद्रट) २७

(ख) वाक्य स्याद् योग्यताऽऽकाक्षाऽऽमत्तियुक्त पदोच्चय । सा० द० २१

४ समसवगुणौ सन्तौ मुहुदाविव सगतौ ।

परस्परस्य शोभायै शब्दार्थो भवता यथा ॥ व० जी० १७ (१८)

५ शब्दबोध्यो ध्वनत्तथैव शब्दोऽप्यर्थान्तराश्रय ।

एकस्य ध्वजकत्वे तदन्यस्य सहकारिणा ॥ सा० द० २१८

६ (क) शब्दार्थो सहितौ वाक्यम् । काव्यालंकार (भामह) ११६

(ख) ननु शब्दार्थो वाक्यम् । काव्यालंकार (रुद्रट) २६

(ग) शब्दार्थो सहितौ वक्त्रकविव्यापारशक्तिनि ।

वक्त्रे व्यवस्थितौ काव्य तद्विना द्वादशारिणि ॥ व० जी० १७

७ तदन्वेषी शब्दार्थो समुणावनतवृत्ती पुन क्वापि । का० प्रकाश प्रथम उ० ।

८ काव्यस्य शब्दार्थो दारीरम् । सा० द० प्रथम परिच्छेद तथा का०

मी० प्रथम अध्याय ।

९ यह विवाद पर्याप्त विस्तृत है अतः इस लघु लेख में इस पर प्रकाश नहीं डाला जा रहा ।

१० (क) शब्दाद्यधोरस्थिरा ये धर्मा अलंकारास्ते ॥ सा० द० अष्टम उ० ।

(ख) गुणवृत्त्या पुनस्तेषा वृत्ति शब्दापयोग्यता । का० अ० अष्टम उ० ।

(ग) गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती रीति । सा० द० अष्टम उ० ।

११ (क) श्रीनी मयेववाशदा इवार्थो वा वक्तिमदि ।

धार्थी तुल्यममानायास्तुल्यार्था यथा वा वनि ॥ सा० द० १० १६

(ख) सा० द० १० १७ १८ ।

१२ सा० द० १० ६८

१३ अलङ्कारितलवाममपादृत्य विवक्ष्यत ।

तदुपायतया तत्त्व मालंकारस्य वाच्यता ॥ व० जी० १६

[ अलंकारम् वाचकत्वं वाच्यरूपम् ॥ ]

## पालि व्याकरणों तथा कोशों की परंपरा

पालि भाषा के लिखन में एक समय के लिए एक ही रूप में व्यवस्था पाया। बुद्ध, बुद्धोप, धीरे धीरे समय के साथ-साथ इस व्यवस्था में परिवर्तन हुआ। उस समय का वह रूप जिसमें लिखा गया था, उसका नाम पुरातन पालि कहा जाता है। यह एक बुद्धोप के द्वारा लिखा गया था। पालि भाषा के लिखन में एक ही रूप में व्यवस्था पाया। बुद्ध, बुद्धोप, धीरे धीरे समय के साथ-साथ इस व्यवस्था में परिवर्तन हुआ। उस समय का वह रूप जिसमें लिखा गया था, उसका नाम पुरातन पालि कहा जाता है। यह एक बुद्धोप के द्वारा लिखा गया था। पालि भाषा के लिखन में एक ही रूप में व्यवस्था पाया। बुद्ध, बुद्धोप, धीरे धीरे समय के साथ-साथ इस व्यवस्था में परिवर्तन हुआ। उस समय का वह रूप जिसमें लिखा गया था, उसका नाम पुरातन पालि कहा जाता है। यह एक बुद्धोप के द्वारा लिखा गया था।

१ विमुद्धिमग १६।४ (धम्मपिट्ट कागय्या द्वारा सम्पादित नागरी सत्तरण)।

२ जिन् पट्टी पृष्ठ २३ (पालि टाइट मागापटी सत्तरण) इसी प्रकार विमुद्धिमग ७।५८ (वाग्ग्यो जी के सत्तरण) में वण्णायमा वण्णविपरिचया अक्षरों कागिका का उद्धरण है जिस बुद्धोप ने प्राचीन सत्तृन्-व्याकरण का परंपरा स लिया है। कागिका कति का समय सातवां शताब्दी ईसवी है बुद्धोप के ११ शताब्दी बाद।

३ इस मत की स्थापना बड़ी योग्यता के साथ डा० विमलाचरण ताहा ने की है। दलिय उनका 'दि लाइफ एंड वर बाव बुद्धोप' पृ० १०४ १०५ हिस्ट्री बाव पालि लिखरवर जिस्ट दूसरी पृष्ठ ६३२ ३३ मिनाइय १११ बाव पालि लिख मोमापटी १००६ ०७ पृष्ठ १३७ ३३।

४ दि लाइफ एंड वर बाव बुद्धोप, पृष्ठ १०५ हिस्ट्री बाव पालि लिख

रण के प्रभावस्वर उतना नहीं माना जा सकता, क्योंकि पालि तिपिटक के मध्य सात आपत्ति शब्द में यह प्रयोग रक्खा हुआ है। यह समभव है कि पालि और मसूतन का विकास समकालिक होन के कारण पाणिनीय व्याकरण में कुछ ऐसे प्रयोग भी दृष्टिगोचर होने लगे हों। उस समय की साहित्यिक भाषा (संस्कृत) और लाव भाषा (पालि) में समान रूप से प्रतिष्ठित हो। अतः बुद्धधर्म ने ऐसे प्रयोगों का पाणिनीय व्याकरण से न लेकर समकालीन पालि तिपिटक से ही लिया हो ऐसा मानना भी अधिक समीचीन जान पड़ता है।<sup>१</sup> यहाँ तक भी कहा जा सकता है कि उनकी प्रत्येक निरुक्ति या तिपिटक और विगणित अभिधम्म पिटक के एतत्संबंधी विंगल भाषा पर ही आधिन है। यद्यपि बुद्धधर्म से पहले पारिभाषिक ग्रंथों में पालि में व्याकरण या निरुक्ति शास्त्र (पालि निरुक्ति—पालि तिपिटक के शब्दों की व्याकरण सम्बन्ध व्याख्या) न भी रहा हो किंतु तिपिटक के शब्दों की व्याख्या (व्याकरण) के लिए कुछ नियम तो अवश्य ही रहें होंगे। सुत्त पिटक के प्राचीनतम अंश में भी ब्राह्मण धर्म, 'मिथु', 'तथागत' आदि शब्दों की जो निरुक्ति और व्युत्पत्ति लब्ध ग्रंथ किये गये हैं उनमें यह बात आसानी से समझ में आ सकती है। धम्मपद में महाप्रज्ञ मिथु के लिए यह आवश्यक माना गया है कि वह निरुक्ति और पदों का पाता (निरुक्ति-पदकोविदों) हो और 'अक्षरा के मतिपात' (अक्षरान् सतिपात) अर्थात् शब्द-आजना से परिचित हो<sup>२</sup>। इससे भी यही प्रकट होता है कि शब्दों की निरुक्ति और व्याकरण संबंधी साधारण नियमों की कोई परम्परा पालि साहित्य के प्राचीनतम युग में भी अवश्य रही होगी। संभवतः इसी परम्परा का प्रवर्तन हमें नत्तिपकरण और पटकोपदेस में मिलता है। फिर भी बौद्ध अनुश्रुति का यह सामान्य विश्वास कि भगवान् बुद्ध के प्रधान शिष्य महाकच्चान (महाकाल्यायन) ने भी एक पालि व्याकरण की रचना की थी, तत्संबंधी साहित्य के अभाव में ठीक नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार बोधिसत्त और सब्बगुणाकार नामक दो प्राचीन व्याकरण भी, जिनका नाम बौद्ध परम्परा में सुना जाता है आज उपलब्ध नहीं हैं। आज जो व्याकरण-साहित्य पालि का हम उपलब्ध है, तीन भागों में विभक्त है (१) कच्चान-व्याकरण और उसका उपकारी व्याकरण-साहित्य (२) मागलान व्याकरण और उसका उपकारी व्याकरण-साहित्य (३) अंगवस-कृत सद्धनीनी और उसका उपकारी व्याकरण-साहित्य। सका और वरमा में ही हम प्रभूत पालि व्याकरण-संग्रही साहित्य का प्रणयन सातवीं शताब्दी ई. पू. में हुआ है। अब हम उपर्युक्त तीनों संप्रदायों की परम्परा का अलग-अलग विवरण करेंगे।

चेचर जिल्ह दूमरी, पृष्ठ ६३३।

१ यह इससे भी प्रकट होता है कि बुद्धधर्म ने शब्द निरुक्ति करने वाले तिपिटक के अंशों, विगणित अभिधम्म पिटक का व्याकरण कहा है दत्तिय सब्ब पि अभिधम्म पिटक त व्याकरण नि वदितव्व।' अट्ठमातिनी की विंगल-कथा।

२ धम्मपद २४।१६।



और महत्त्वपूर्ण भाष्य 'याम' है। इसी का दूसरा नाम 'मुख्यमत्तदीपनी' भी है। यह आचार्य विमलवुद्धि की रचना है जिनका काल म्याग्खी शताब्दी में पहले और कच्चान-व्याकरण की रचना (मातवी शताब्दी) के बाद था। (२) यास की टीका स्वरूप 'यास प्रदीप वारहवीं शताब्दी के अंतिम भाग में लिखा गया। इसके रचयिता छपद' नामक आचार्य थे<sup>१</sup>। यह प्रथमी भिक्षु थे किन्तु इनकी गिणा लवा में हुई थी। यह सिन्धी भिक्षु सारिपुत्र के गिण्या में से थे। इनकी अन्य रचनाओं का परिचय हम पहले देख चुके हैं। 'याम' पर अन्य साहित्य भी उत्तरकाशीन शताब्दियों में बहुत लिखा जाना रहा<sup>२</sup>। छपद ने कच्चान व्याकरण साहित्य को एक ग्रंथ और भी दिया। (३) मुत्त निद्वेय—छपद-कृत कच्चान व्याकरण की टीका-स्वरूप ग्रंथ लिखा गया है। इसका निदिचन रचना-काल ११७१ ई० (बुद्धाब्द १७१५) है<sup>३</sup>। (४) स्यविर मघ रक्खित (मघरखित) द्वारा रचित 'सवघ चिन्ता'। यह ग्रंथ कच्चान-व्याकरण के आधार पर पालि पद याजना या गच्छ सवघ का विवेचन करता है। पालि क्रियाओं और वाक्यों में उनका प्रयोग का विवेचन है और कारका का भी। स्यविर मघरखित सिंहली भिक्षु सारिपुत्र के गिण्या में से थे अतः निदिचन रूप से इनका काल १२ वीं शताब्दी का अंतिम भाग ही है। इस प्रकार यह छपद के समकालिक थे। उन्होंने अनेक साहित्य पर भी खूब लिखा (मुख्य गिणा रचयिता भिक्षु घममारी—घम्मसिरि) के टीका स्वरूप खूब लिखा टीका लिखी थी। मघरचिन्ता पर एक टीका भी पाई जाती है किन्तु उसके लेखक के नाम और काल का पता नहीं है। कुछ के मतानुसार सवघ चिन्ता टीका के लेखक सिंहली भिक्षु सारिपुत्र के ही गिण्य वाचिस्सर हैं। पगान के अग्रय नामक स्यविर ने सवघ चिन्ता पर एक टीका लिखी। (५) स्यविर सद्धमथी (मद्धम्ममिरि) विरचित 'महत्त्वमेवचिन्ता (गच्छाद्यमेवचिन्ता)। यह ग्रंथ वरमा में १२ वीं शताब्दी के अंतिम भाग में लिखा गया। इस पर भी एक अनात लेखक की टीका मिलती है। (६) स्यविर बुद्धप्रिय (नीपन) विरचित रूप सिद्धि या पण मिद्धि। स्यविर बुद्धप्रिय दीपकर ने इस ग्रंथ के अंत में अपना परिचय देते हुये अपने का अनाद स्यविर का गिण्य कहा है। 'पञ्चमधु के रचयिता स्यविर बुद्धप्रिय से, जो आचार्य दीपकर भी कहलाते थे और सिंहली स्यविर अनाद के शिष्य थे यह सम्भवतः धर्मित है। इनका काल इस प्रकार तरहवीं शताब्दी का अंतिम भाग ही है<sup>४</sup>। 'रूपमिद्धि' मान

१ गच्छवम, पृष्ठ ६० मुमुत्ति नामपाला पृष्ठ ६ (भूमिका)।

२ मघरहवीं शताब्दी के मध्य में बर्मी भिक्षु दाठानाग द्वारा रचित निरुत्त मार मज्झा नामक व्यास की टीका प्रसिद्ध है। देखिये मरिन बोड नि पाणि लिटरेचर ग्रंथ वरमा पृष्ठ ५५ मुमुत्ति नामपाला पृष्ठ १० (भूमिका)।

३ मुमुत्ति नामपाला पृष्ठ १५ (भूमिका) मरिन बोड नि पाणि लिटरेचर ग्रंथ वरमा पृष्ठ १० १८।

४ परंतु श्रीमती मरिन बोड ने रूप मिद्धि की वारहवीं शताब्दी की रचना



परिच्छेदों में विभक्त है और कुछ अल्प परिवर्तनों के साथ कच्चा व्याकरण का ही रूपान्तर मात्र है या उस पर आधारित है। रूप सिद्धि पर बुद्धिप्रिय स्थविर न ही एक टीका लिखी और सिंहली भाषा में उसका रूपांतर भी किया गया। (७) वाला वतार व्याकरण—यह व्याकरण विशेषतः बरमा और म्याम में बड़ा लोकप्रिय है। नका में इसके कई संस्करण निकले हैं।<sup>१</sup> यह भी कच्चा व्याकरण के आधार पर ही लिखा गया है। यह ग्रंथ धम्मवित्ति (धम्मकीर्ति) की रचना मानी जाती है। यह धम्मकीर्ति (धम्मकीर्ति) डा मायगर के मतानुसार मद्धम्मसंगह के रचयिता धम्मवित्ति महासामि (धम्मकीर्ति महास्वामी) ही हैं जिनका जीवन काल चौदहवीं शताब्दी का उत्तर भाग है।<sup>२</sup> य धवत्त के वर्णनानुसार यह वाचिस्सर (वागीश्वर) की रचना है।<sup>३</sup> वाचिस्सर सिंहली भिक्षु सारिपुत्त के शिष्यों में से थे। उनका जीवन-काल निश्चित रूप से बारहवीं शताब्दी का उत्तर भाग और सरहवीं शताब्दी का प्रारम्भिक भाग है। इस प्रकार उनकी रचना मानने पर बानावतार का रचना काल भी उसी समय मानना पड़ेगा। परन्तु जमा हम 'सद्धम्मसंगह' के प्रकरण में स्पष्ट कर चुके हैं 'बालावतार' व्याकरण के रचयिता सिंहली भिक्षु धम्मवित्ति महाशेखर हैं जिन्होंने सिंहली भाषा में 'निकाम संग्रह' और 'मद्धर्मालंकार' आदि ग्रंथ भी लिखे और जिनका समय चौदहवीं शताब्दी ही है। ये सद्धम्म संग्रह के रचयिता धम्मवित्ति महासामि से भिन्न थे। बालावतार व्याकरण पर लिखी हुई एक टीका भी मिलती है किन्तु उसके 'नक्क' का नाम और काल आदि सब अज्ञात हैं। (८) पया (बरमा) के भिक्षु कण्ठकविरत्ति नागि (या कण्ठकविरत्ति नागित्त) या वेदल नागित्त विरचित 'सहस्राक्ष्य जालिनी' नामक कच्चा व्याकरण की टीका १३५६ ई० (बुद्धाब्द १६००) में लिखी गई। (९) कच्चायन भेत्त नामक कच्चा व्याकरण की टीका जिसकी रचना चौदहवीं शताब्दी के उत्तर भाग में धातान (बर्मा) के स्थविर महायस ने की। इसी स्थविर की एक और व्याकरण सम्बन्धी रचना 'कच्चायन-सार' है।<sup>४</sup> 'धवत्त' के वर्णनानुसार 'कच्चायन भेत्त' और 'कच्चायन सार' पर टीकाएँ भी लिखी गईं। 'कच्चायन भेत्त' की दो टीकाएँ प्रतिप्रसिद्ध हैं।<sup>५</sup> (१) 'सारत्थविद्वानिनी' जिसकी रचना १६०८ ई० (बुद्धाब्द २१५२) के लगभग अरियानन्तर नामक बर्मी भिक्षु

माना है। दत्तिय उन्नी दि पात्ति तिट्ठचर आन वरमा पृष्ठ ३७।

१ विगपन श्री धर्मागम द्वारा सम्पादित पत्रियमाट १६०० बालावतार का मन्त्रि मुनगन महास्थविर द्वारा सम्पादित बानम्मा १८८३।

२ पात्ति तिट्ठचर तट्ट सम्पत्त पृ० ४१ ५१।

३ पृष्ठ ६८ ७१ (जनन धाव पात्ति टक्कट मामादयी १८८६ में सम्पादित मन्वराग)।

४ मुभूति नाम्मात्रा पृष्ठ ८३ (भूमिका) मविन वात्त नि पात्ति तिट्ठ चर वरमा पृष्ठ ३६।

५ पृष्ठ ७६ (जनन धाव पात्ति टक्कट मामादयी १८८६ मन्वराग)।

ने की, जो आवा के निवासी थे। (२) 'कच्चायनभेद महाटीका' जिसके रचयिता उत्तममिक्ख (उत्तमशिक्ष) माने जाते हैं जिनके काल का कुछ निश्चित पता नहीं। 'कच्चायन सार' पर स्वयं इसके रचयिता महायम ने एक टीका लिखी थी। गायगर क मतानुसार यह 'कच्चायनमार पुराणनीका'<sup>१</sup> थी जो आज उपलब्ध है। मिहली विद्वान् सुभूति ने इसे किमी अज्ञात लेखक की रचना माना है<sup>२</sup>। 'कच्चायन सार' की एक और टीका 'कच्चायनसार अभिनव टीका' या 'सम्मोहविनासिनी' पद्मान के भिषु सद्धम्मविलास के द्वारा लिखी गई।<sup>३</sup> (१०) पद्महवी गताङ्गी के मध्य भाग में 'कच्चायन-व्याकरण' पर 'सहविदु' (सह विदु) नामक महायक ग्रन्थ लिखा गया। 'नामनवस' के वल्लभानुसार अरिमहन (अरिमन् पद्मान—वरमा) का राजा कच्चायन इसका रचयिता था।<sup>४</sup> सुभूति ने इस ग्रन्थ का निश्चित रचना काल १४८१ ई० (सुब्बाद २०२५) बताया है।<sup>५</sup> 'सहविदु' पर 'नीलतय विमाधनी'<sup>६</sup> नामक टीका 'माराविलास' (पान विलास) नामक वरमो भिषु द्वारा १६ वीं शताब्दी के अंतिम भाग में लिखी गई। (११) 'सोलहवीं गताङ्गी' के मध्य भाग में 'शालप्पवोदन' (वाल प्रवोदन) नामक व्याकरण लिखा गया। इसके रचयिता का टीका नाम पता नहीं है। (१२) 'अभिनव बुल्लनिरत्ति' नामक व्याकरण में जिसके रचयिता या रचना काल के विषय में कुछ निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता 'कच्चायन व्याकरण' के नियमों के अपवादों के विवरण हैं। (१३) 'मत्रहवी गताङ्गी' के अंतिम भाग में वरमो भिषु मन् विजितावी या विजितावी ने 'कच्चायन-वर्णना' नामक व्याकरण ग्रन्थ की रचना की। 'कच्चायन व्याकरण' के मन्त्रिक्य (मन्त्रिक्य) का यह विवेचन है। 'कच्चायन वर्णना' नामक एक प्राचीन ग्रन्थ भी है जिससे इस प्राचीन रचना को भिन्न समझना चाहिए। महाविजितावी ने 'वाचरोपदेश' नामक एक और व्याकरण ग्रन्थ की रचना की है जिसमें उन्होंने व्याकरण शास्त्र का न्यायिक दृष्टि में विवेचन किया है। इस ग्रन्थ का आज भी महत्त्व माना जाता है। (१४) धातुमङ्गला—'कच्चायन-व्याकरण' के अनुसार धातुओं की सूची इस ग्रन्थ में संपूर्ण की गई है। इस

१ पालि लिटरेचर एंड लैंग्वेज पृष्ठ ५२।

२ नाममाला पृष्ठ ८४ ८५ (भूमिका)।

३ बाड दि पालि लिटरेचर आव वर्मा पृष्ठ ३६ ३७।

४ पृष्ठ ७६ (पालि टैक्स्ट सोसायटी का मेविल बोड द्वारा सम्पादित संस्करण), दक्खि बोड दि पालि लिटरेचर आव वर्मा पृष्ठ २५ भी।

५ नाममाला पृष्ठ ११-१२ (भूमिका)। मिनाइये बोड दि पालि लिटरेचर आव वर्मा पृष्ठ पद संकेत ४।

६ श्रीमती मविन रा ने इसका यही नाम लिया है। रेविन उनका दि पालि लिटरेचर आव वर्मा पृष्ठ ७४ पद संकेत ४। परन्तु गायगर ने 'नील तयमूदनी' नाम से पुकारा है। पालि लिटरेचर एंड लैंग्वेज पृष्ठ ७४ गायगर का यह पद क्या है?

ग्रन्थ के अन्त में लेखक ने अपना नाम 'म्यत्रिर मीनयम' (मीनयम) बताया है। यह एक पद्यबद्ध रचना है। सुभूति ने कहा है कि भाषा के प्रति कलात्मक सद्गम ग्रन्थ में काफी सहायता ली गई है।<sup>१</sup> फ्रांसीसी पाणिनीय धातुपाठ का भी इस ग्रन्थ पर पर्याप्त प्रभाव दिखाया है<sup>२</sup>।

वञ्चानव्याकरण के समान भोग्गल्लान या भोग्गल्लायन<sup>३</sup> व्याकरण पर भी प्रभूत सहायक साहित्य की रचना हुई है। मवप्रथम भोग्गल्लायन व्याकरण<sup>४</sup> का भी लेखक है। इस व्याकरण का सत्ता और वरमा में उल्टा आकर है। पाणि-व्याकरण में निश्चय ही इसका एक ऊँचा स्थान है। वञ्चान व्याकरण के समान प्राचीन न होने पर भी यह उससे अधिक पूर्ण है और भाषा उपपन्नता का समान अधिा विस्तृत रूप से सर्वांगीत और व्यवस्थित किया है। जसा भिन्नु जगदीश काश्यप ने कहा है पालि व्याकरण में 'भोग्गल्लान व्याकरण' पूर्णता तथा गभीरता में ध्येष्ठ है<sup>५</sup>। मागल्लान व्याकरण में ८१७ सूत्र हैं, जिनमें सूत्र-पाठ धातु पाठ ष्यादि पाठ आदि सभी व्याकरण के विषया का सर्वांगपूर्ण निवेचन किया गया है। मागल्लान व्याकरण की विषय वस्तु को समझने के लिए भिन्नु जगदीश काश्यप कृत 'महापाली व्याकरण' द्रष्टव्य है। यह स्वयं हिन्दी में पालि व्याकरण पर प्रथम और अपनी शैली की उच्चदोटी की रचना है एक भोग्गल्लान व्याकरण पर आधारित है। भोग्गल्लान-व्याकरण का दूसरा नाम 'मागध सहलक्खण' भी है। ग्रन्थ के आदि में ही व्याकरणकार ने कहा है 'सिद्धमिद्धगुणं साधु नमस्सित्वा तथागतं। सयम्मसथं भासिस्स मागध सहलक्खण ॥ पाणिनि (४५० ई० पूर्व), वातत्र व्याकरण (चौथी शताब्दी ईसवी) और अन्य प्राचीन पालि व्याकरणों का आधार लेने के प्रतिरित्त भोग्गल्लान व्याकरण पर चन्द्रमोहिन् के चाद्र-व्याकरण (सातवी शताब्दी ईसवी) का भी पर्याप्त प्रभाव उपलब्ध होता है। भोग्गल्लान व्याकरण लिखने के प्रतिरित्त भोग्गल्लान महापर ने उसकी वृत्ति (वृत्ति) भी लिखी और फिर उस वृत्ति पर पञ्चिका या पञ्जिका नामक पांडित्यपूर्ण टीका भी। भोग्गल्लान-पञ्चिका अभी तक अनुपलब्ध थी। किन्तु जसा भिन्नु जगदीश काश्यप ने हम सूचना दी है परमपूज्य विद्वद्भार श्री धर्मानन्द नायक महास्वविर को ताल पत्र पर लिखी 'पञ्चिका' की एक गुगनी पुस्तक लका के किमी विहार में मिल गई। उन्होंने उसे संपादित कर विद्या नगर परिवर्ण लका से प्रकाशित करवाया<sup>५</sup>। निश्चय ही भोग्गल्लान व्याकरण और मागल्लान पञ्चिका पालि व्याकरण का शास्त्रीय अध्ययन करने के लिए आज

<sup>१</sup> देखिये नाममाला, पृष्ठ ८५ (भूमिका)।

<sup>२</sup> देखिये नायगर पालि लिटरेचर एंड लंग्वेज, पृष्ठ ५६।

<sup>३</sup> पालि व्याकरण की दृष्टि से वञ्चान, भोग्गल्लान और भोग्गल्लायन, इन गणों के ये दोनों रूप ही गुड हैं।

<sup>४</sup> पालि महाव्याकरण, पृष्ठ पचास (वस्तुकथा)।

<sup>५</sup> पालि महाव्याकरण पृष्ठ इक्यावन (वस्तुकथा)।

भी बड़े आवश्यक ग्रंथ हैं। मोग्गल्लान-व्याकरण की वृत्ति (वृत्ति) के अंत में व्याकरणकार ने अपना परिचय दिया है, जिससे हमें मालूम होता कि मोग्गल्लान महाधेर अनुगघपुर (लका) के शूपाराम नामक विहार में निवास करते थे और उन्होंने अपने व्याकरण की रचना परक्कममुज (परक्रमवाहु) के शासन-काल में की थी। विद्वानों का अनुमान है कि परक्कममुज से तात्पर्य परक्रमवाहु प्रथम (११४३-११८६ ई०) से है जिनके शासन काल में लका में पालि साहित्य की बड़ी समृद्धि हुई। अंत मोग्गल्लान महाधेर का काल चारुहवीं शताब्दी का अंतिम भाग ही मानना चाहिए।<sup>१</sup> मोग्गल्लान व्याकरण के आधार पर बाद में बनकर अन्य व्याकरण साहित्य की रचना हुई, जिसके अन्तर्गत मुख्य ग्रंथ ये हैं। (१) पद माघन जिसकी रचना मोग्गल्लायन के शिष्य पियदस्सी ने की। पियदस्सी मोग्गल्लायन के समकालिक ही थे। पद साघन' एक प्रकार से मोग्गल्लायन के व्याकरण का ही संक्षिप्त रूप है। प्रसिद्ध सिद्धली विद्वान् ड जायसा का कथन है कि पियदस्सी के 'पद साघन' का मोग्गल्लायन व्याकरण के साथ बड़ी सम्वन्ध है, जो बालावतार का कच्चान व्याकरण के साथ।<sup>२</sup> १४७२ ई० में लिख्यगाम (लका) के निवामी स्थविर श्री राहुल ने जिनकी उपाधि 'वाचिस्सर' (वागीश्वर) थी पद माघन पर पद माघन टीका या 'बुद्धिप्पसादिनी' नाम की टीका लिखी। (२) वनरत्न मेघकर विरचित 'प्रयोग सिद्धि' (प्रयोग सिद्धि)—मोग्गल्लायन व्याकरण संप्रदाय पर लिखा गया यह संभवतः सर्वोत्तम ग्रंथ है। डे जायसा ने मोग्गल्लायन व्याकरण के साथ इसका बड़ी सम्वन्ध दिखाया है जो रूपसिद्धि का कच्चान व्याकरण के साथ है।<sup>३</sup> वनरत्न मेघकर तरहवीं शताब्दी में हुए। जिन 'चरित' के रचयिता के रूप में हम उनके काल का पहले विवेचन कर चुके हैं। वे भुवनकवाहु प्रथम (१२७७-१२८८) के समकालिक थे। अंत उनका जीवन काल तरहवीं शताब्दी है। यहाँ यह ध्यान में अवश्य रखना चाहिये कि 'प्रयोग सिद्धि' का और जिन 'चरित' का रचयिता इसी नाम के लोकप्पदीपसार के कवि से भिन्न है। पहले रचयिता (या वनरत्न मेघकर) भिन्न मिहली थे और दूसरे मेघकर वग्गी जैसा हम पहले भी दिखा चुके हैं। गायगर प्रयोग सिद्धि के रचयिता वनरत्न मेघकर को जिन रचयिता के इसी नाम के लेखक से भिन्न समझना है<sup>४</sup> जिसे हम पहले ही श्रमवीचार कर चुके हैं। हमने दाता का एक ही व्यक्ति मानना उचित समझा है। (३) मोग्गल्लान पचिसा प्रणीप' (या मोग्गल्लान-पचिसा प्रदीप)—'मोग्गल्लान पचिसा' की व्याख्या है। पदसाघन-टीका

१ मोग्गल्लान-व्याकरण का देवमित्त द्वारा सम्पादित संस्करण बालम्बा १८६०, प्रसिद्ध है। अंत भी वरपी और मिहली संस्करण उपलब्ध हैं।

२ केटनाग पृष्ठ २४।

३ केटनाग, पृष्ठ २७ मित्राक्षरे मतलसवर नि पाणि निटरेवर धाव मित्राग पृष्ठ २३१।

४ पाणि निटरेवर गड सखत्र पृष्ठ १४।



मक्षिप्त है। उसकी तरह पद्यवद्ध न होकर यह गद्य में है। सम्भवतः काल-क्रम में यह उससे प्राचीन है, क्योंकि 'धातु मञ्जूषा' में इसी का आश्रय लिया गया है।<sup>१</sup> धातु पाठ के रचयिता के नाम या काल के विषय में अभी कुछ बात तो नहीं हो सका है।<sup>२</sup>

पालि व्याकरण का तीसरा सम्प्रदाय 'सद्दीप्ति' का है। यह बरमा में रचित पालि व्याकरण है। बरमा में भी सिंहल की ही तरह और उसी से प्रेरणा लेकर पालि व्याकरण के अध्ययन की महती परम्परा चली जिसने पूर्ण विकास को हम 'सद्दीप्ति' में देखने हैं। कहा जाता है कि 'सद्दीप्ति' की प्रति जब श्री लामा के महा विहार में उत्तरजीव (छपद के गुरु) उसके लिये ज्ञान के कुछ ही समय पश्चात् ले गये, तो वहाँ के भिक्षुओं ने इसकी भूमि भूरि प्रशंसा की और स्वीकार किया कि निश्चय ही इसके समान विद्वत्तापूर्ण रचना उनके यहां कोई नहीं है।<sup>३</sup> इसकी रचना सन् ११५४ ई० में हुई। इसके रचयिता पगान के निवासी बरमी भिक्षु भगवत्स थे जो 'भगवत्पठित तर्तीय' भी कहलाते थे। भगवत्पठित द्वितीय उनके यहाँ कोई नहीं है।<sup>४</sup> इसकी रचना के रचयिता थे। भगवत्स बरमी राजा नरपति मिथु (११६७-१२०२) के गुरु थे। भगवत्स के 'सद्दीप्ति' एक प्रकार में कच्चा व्याकरण पर ही आधारित है।<sup>५</sup> मोगल्लान-व्याकरण से सम्भवतः उमर बाद की ही रचना है। संस्कृत व्याकरण का ही भगवत्स ने पर्याप्त आश्रय लिया है। उन्होंने अपने ग्रन्थ के अन्त में स्वयं कहा है कि पूर्व आचार्यों (आचार्या) और तिपिटक साहित्य से आश्रय लेकर उन्होंने 'सद्दीप्ति' की रचना की है। निश्चय ही 'सद्दीप्ति' एक पांडित्यपूर्ण ग्रन्थ है। बरमा में वह शास्त्र की तरह पूजित है। इस ग्रन्थ में सत्ताईस अध्याय हैं। प्रथम १८ अध्याय 'महा सद्दीप्ति' और शेष ६ अध्याय 'बुल-सद्दीप्ति' कहलाते हैं। 'पन्नाला', 'धातुमाला' और 'सुत्तमाला', इन ३ भागों में सम्पूर्ण 'सद्दीप्ति-व्याकरण' विभक्त है। 'धातुमाला' में लेखक ने पालि रूपों के सम्बन्ध प्रतीक भी दिये हैं।

धात्वत्पत्नी नाम की पद्यवद्ध धातु सूची में 'सद्दीप्ति' व्याकरण के अनुसार धातुओं का सङ्कलन किया गया है। कच्चा व्याकरण की धातुसूची 'धातु मञ्जूषा' और मोगल्लान-व्याकरण की धातुसूची 'धातुपाठ' के समान इसमें भी पालिनीय धातुपाठ का पर्याप्त आधार लिया गया है। इसके लेखक और उसके काल का ठीक पता नहीं है। इसके अतिरिक्त 'सद्दीप्ति' पर और कोई विशेष साहित्य

१ गायगर 'पालि लिटरेचर एंड जर्नल' पृष्ठ १६।

२ 'मोगल्लान पत्रिका' (मोगल्लान पत्रिका) पर 'सारत्यविलासिनी' या 'मुमदसिद्धि' नामक टीका सिंहनी भिक्षु सचरकिन्धन ने लिखी उसी सूचना मालसेकर ने दी है। देखिए उनकी 'पालि लिटरेचर ग्राम मिलोन' पृष्ठ २००-२०४।

३ मन्डिल बांड 'दि पालि लिटरेचर ग्राम बरमा' पृष्ठ १६-१७।

४ यह फल का मत है जिसे गायगर ने 'पालि' में जर्नल, पृ० ५५ में उद्धृत किया है।

नहीं है।

उपयुक्त तीन सम्प्रदायों के व्याकरण साहित्य के अतिरिक्त ग्रन्थ भी बहुत व्याकरण साहित्य उत्पन्न है जो यद्यपि इनमें से किसी विधि पर सम्प्रदाय में नहीं रचना जा सकता किन्तु जो पाणिनीय व्याकरण के पूर्ण सामर्थ्य के अन्वय में लिखे गये हैं। यह साहित्य भी परिभाषा में इतना अधिक है कि इसकी पूरी सूची ना आचार्य सुभूति द्वारा सन्निहित नाममात्र (पाणिनीय व्याकरण पर सिद्धी भाषा में निमित्त ग्रन्थ) या ७ जायता के केन्द्राग्र (१० केन्द्राग्र ग्रन्थ में लिखित नाट्यगीत भाव मिलान) में ही दी जा सकती है। यहाँ हम केवल कुछ महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का ही उल्लेख करेंगे —

(१) पद्मा (वरमा) के निवामी भिक्षु सामगार चम्पूस्ती का दृक्वाचक या वाक्वाचक की हरी गताब्दी के अन्तिम भाग में रचना है। इसकी टीका १७६८ ई० में बरमी भिक्षु गङ्गम्पनी ने की।<sup>१</sup>

(२) मंगल वन गण्डविठ निम्ब का विषय उपसर्गों का विवेचन करना है यह चौदहवीं शताब्दी की रचना है। इसकी रचना भी पद्मान में हुई।<sup>२</sup> इन वर्गों में भिक्षु मंगल को उन महापद्म नामक सिन्धु की पथ पर मगधना चाहिए जा बुद्धासुत्पत्ति के रक्षिता थे, यद्यपि दोनों का एक ही समय है।

(३) अरिमन्त्र कृत गद्याभरण (गद्याभरण या गण्डाभरण भी) उपसर्गों का विवेचनात्मक ग्रन्थ है। इसकी रचना १५३४ ई० में हुई।<sup>३</sup> मोलहरी सप्तहवीं शताब्दी में इस पर वर्गी विद्वानों द्वारा टीकाएँ लिखी गईं।

(४) विभक्त्यर्थप्रकरण—२७ श्लोकों की यह पुस्तिका विभक्तियों के प्रयोग का विवेचन करती है। सुभूति ने सासनवस का अनुसरण कर माना है कि इसकी रचना बरमी राजा वयस्का की पुत्रा ने १४८१ ई० में की। इस पर बाद में विभक्त्यर्थ टाका या विभक्त्यर्थनीपनी के नाम से एक टीका लिखी गई। सम्भवतः ये दो अलग अलग टीकाएँ भी हों। एक और टीका विभक्तिकथा रणना के नाम से इस रचना पर लिखी गई। विभक्त्यर्थ नाम से एक रचना चौदहवीं शताब्दी के पद्मान के प्रसिद्ध भिक्षु सद्धर्मज्ञान की भाँति बताई जाती है। उन्होंने कान्त व्याकरण को पाणिनि में अनुवाद भी किया।

(५) सवर्णानयदीपनी—इस ग्रन्थ की रचना जम्बुवज्र (जम्बुवज्र) के द्वारा १६५१ ई० में की गई। इसी लेखक के दो अन्य ग्रन्थ निरुक्ति सप्रह और सवर्णानयदीपनी भी प्रसिद्ध हैं।<sup>४</sup>

१ मैक्स वॉड दि पाणिनि लिटरेचर गाव बरमा पृष्ठ २०।

२ वही पृ० २६।

३ वही पृ० ४३।

४ दक्षिण गायगर पाणिनि लिटरेचर एंड नैग्वज पृष्ठ ५७। मिनाइय पाणिनि लिटरेचर गाव बरमा पृष्ठ २५।

५ मैक्स वॉड दि पाणिनि लिटरेचर गाव बरमा पृष्ठ ५५।

(६) सद्बुत्ति (शब्दवृत्ति), जिसकी रचना चौदहवीं शताब्दी में सद्धम्मपाल नामक पणान (वर्मा) के भिक्षु ने या इसी शताब्दी के सद्धम्मगुरु नामक पणान (वर्मा) के निवासी भिक्षु ने की।<sup>१</sup> डे जायसा ने इस ग्रन्थ का रचनाकाल १६५६ ई० माना है।<sup>२</sup>

(७) कारकपुष्पमजरी—पालि शब्द योजना पर लिखित यह रचना काडी (नका) के अन्तरगम बडार राजगुरु नामक लेखक की है जो सरणकर सधराज के गिण्य थे। लका के राजा कीर्ति श्रीराजसिंह के शासन-काल (१७४७ ई०) में यह रचना लिखी गई।<sup>३</sup>

(८) सुधीरमुखमडन—यह रचना पालि समास पर है।<sup>४</sup> इसके लेखक कारकपुष्पमजरी के समान ही हैं।

(९) नयनवक्षणविभावनी—वरमी भिक्षु विचित्राचार (विचित्राचार) ने १८वीं शताब्दी के उत्तर भाग में इस ग्रन्थ की रचना की।<sup>५</sup>

(१०-१२) सद्बिन्दु (नारद धेर), सद्बलिका सद्बिनिचन्द्र्य आदि अनेक ग्रन्थ पालि व्याकरण पर लिखे गये हैं जिनका पूरा विवरण यहाँ नहीं दिया जा सकता।

लका और वरमा में छठी या सातवीं शताब्दी से लेकर ठीक उन्नीसवीं शताब्दी तक पालि-व्याकरण सवधी जो गहरी तत्परता और उसके परिणाम स्वरूप उत्पन्न महान् ग्रन्थ राशि हम देखते हैं जिसका किञ्चित् दिग्दर्शन ऊपर किया जा सका है। उसका वास्तविक महत्त्वाकन क्या है? निश्चय ही पालि व्याकरण का अध्ययन इन देशों में उस समय किया गया जब पालि जीवित भाषा नहीं रही थी। अतः पिटक और अनुपिटक साहित्य एवं सम्बन्ध-व्याकरण ही इनके प्रधान आधार रहे। स्वभावतः इनमें वह भाषावैज्ञानिक तत्त्व नहीं मिल सकता जो आधुनिक भाषाविज्ञान के विद्यार्थी को तत्पत् कर सके। किन्तु 'याय', 'रूप सिद्धि' सद्बुत्ति और बालावतार जले व्याकरण पाण्डित्य की दृष्टि से किसी भी देश या साहित्य में रचित व्याकरण ग्रन्थों से टक्कर ले सकते हैं। निश्चय ही, जहाँ भिक्षु जयसीन काश्यप ने कहा है भाग्यलान् व्याकरण की गिनती पाणिनि चाण्ड काश्यायन आदि महान् व्याकरणों में करनी होगी।<sup>६</sup> भारतीय मूल स्नातक इनमें अलग गहक भी इन वरमी और सिंहली आचार्यों ने सम्बन्ध में समकालिक पालि भाषा का कितना मुन्नर और

१ मेविल वाड दि पालि लिटरेचर आन ग्रन्था पृष्ठ २८ ६६।

२ डेटेलाग पृष्ठ २७।

३ जायसा डेटेलाग पृष्ठ २४ न्निण भललमक्क न्नि पालि लिटरेचर ग्रन्थ मिलान पृष्ठ २८३ भी।

४ जायसा डेटेलाग पृष्ठ २८।

५ जायसा डेटेलाग पृष्ठ २५ दक्खिण गायगन् पालि लिटरेचर एड जेम्बेज, पृष्ठ ५८ भी।

६ पालि महाव्याकरण पृष्ठ पंचम (वस्तुक्था)।



मनायोगपूर्वक अध्ययन किया है इसे देख कर आश्चर्यावित रह जाना पड़ता है। सांस्कृतिक एरता की इससे अधिक गहरी बुनियाद कभी डाली गई हो इसका साक्ष्य इतिहास नहीं देता। यह एकना राजाघा के दरबारा में न डाली जाकर भिक्षु परिवर्णा में डाली गई और इसकी मूल प्रेरणा थी अपने शास्ता के धम्म को 'मात्थ सव्यजन' समझने की गहरी जिज्ञासा। इमीलिए वह इतनी स्थायी भी हुई है। यह किननी विदम्बना की बात है कि जिस पालि भाषा को हमारे प्रचीन व्याकरण न नाम से भी नहीं जाना उसी का इतना गहन अनुगोलन दूसरे देशों में हुआ। एक ही प्रथम (मागल्लानपचिना प्रदीप) का अक्षत पालि और अक्षत सिंहली में लिखा जाना भारत और सिंहल के उस गौरवमय मंत्र का सूचक है जिसकी नींव बौद्धधर्म न डाली थी और जिस उमके साहित्य ने दर्ज किया है। भारत और स्वयं मध्य मंडल (गाल्ता की विचरण भूमि) में पालि अध्ययन के प्रति गहरी उदासीनता को देखकर न्त दूरस्थित बौद्ध बंधुओं के प्रति थड़ा में मस्तक झुक जाता है।<sup>१</sup> कारण इहाने श्री धम्म की ज्योति का प्रकाशित रक्खा है इहाने ही ज्ञान के दीपक का हम तक पहुँचाया है। उनका पालि व्याकरण सबकी प्रभूत काय इसका एक बाह्य साध्य मात्र है।

पालि साहित्य में केवल दो प्रसिद्ध कोण हैं, मागल्लान कृत अभिधानप्य नीपिना<sup>२</sup> और वरमो भिक्षु मट्ठम्मकित्ति (सट्ठम्मकीर्त्ति) कृत एकवल्लरकास।<sup>३</sup> अभिधानप्यदीपिना (अभिधानप्रणीति) तीन भागा या कांडों में विभक्त है (१) मग्गवड (स्वर्ग-काण्ड) जिसमें देवता बुद्ध शाक्यमुनि दव-योनि इन्द्र, निर्वाण आदि के पर्यायवाची शब्दों का सवलन है। (२) भूवड (भू-काण्ड) जिसमें पृथ्वी आदि सबकी शब्दों के पर्यायवाची शब्दों का सवलन है। (३) सामन्त्रवड (श्रामण्य काण्ड) जिसमें प्रपञ्चया मंत्रकी आदि शब्दों के पर्यायवाची शब्दों का सवलन है।

१ वस्तुतः हमारे अधिन पालि भाषा और उसके व्याकरण का अध्ययन ता उन पाश्चात्य विद्वानों ने ही किया है जो बौद्ध धर्म में प्रभावित हुए हैं। उनके इस सबकी काय और उनकी व्याकरण मंत्रकी रचनाओं का परिचय के लिए इंग्लिश भाषा में पालि डिक्शनरी एण्ड सग्रज पृष्ठ ५६६० तथा हिन्दी भाषा में पालि डिक्शनरी, त्रिभुवन पृष्ठ ६३६-६४०, साक्षात् पाश्चात्य विद्वानों के साथ साथ भारतीय विद्वानों का भी हम सबकी काय का विवरण दिया है। बाप का प्रकाशन हान के कारण सम्भव है पालि व्याकरण (मिना जगन्नीय पाठ्यपुस्तक) का उल्लेख नहीं करा गया हो। पालि व्याकरण साहित्य पर भिक्षु जी की यह टिप्पणी का महत्त्वपूर्ण दल है।

२ मुमुक्षु द्वारा मण्डित द्वितीय सम्करण काव्या १८८२ नागरी लिपि में मुनि त्रिनिद्विज द्वारा मण्डित मुद्रारात पुरातत्त्वमन्त्रि सम्प्रदाय २०१८८०।

३ मुनि त्रिनिद्विज द्वारा मण्डित उद्युक्त अभिधानप्यनीपिना के सम्करण पुरातत्त्व काय भा मण्डित ३ अभिधानप्यनीपिना पृष्ठ ११३ १३०।

यह कोश पर्यायवाची शब्दों का मन्तवन ही है। ग्रन्थ के अन्तिम भाग में ऐसे शब्दों की सूची है जो सदृश रूप वाली किन्तु भिन्नाधिक्य हैं। साथ ही अविभक्तिक उपसर्गों की सूची भी है। वरमा और सिंहली में इस ग्रन्थ की रचना संस्कृत के अमर कोश के आधार पर हुई है। शैली और प्रक्रिया बिलकुल वही है।<sup>१</sup> जसा अभी कहा जा चुका है अभिधानपदीपिका भोगल्लान्तेर की रचना है। यह स्थविर लवानिवामी भिन्नु थे। अभिधानपदीपिका में इन्होंने कहा है कि लकाचिपति परक्कम भुज नामक भूपाल के शासन काल में इन्होंने इस ग्रन्थ की रचना की।<sup>२</sup> वही इन्होंने अपना निवास स्थान पुलप्पिपुर (पोलोन्नरवा) में 'महाजैतवन' नामक विहार बताया है।<sup>३</sup> जिस परक्कमभुज नामक भूपाल के शासन काल में मांगल्लान स्थविर ने अभिधानपदीपिका की रचना की वह विद्वान्ता के निश्चिन मतानुसार पराक्रमाहु प्रथम ही है, जिसका शासन-काल ११५३-११८३ ई० है और जिसके समय पालि के टीका साहित्य की प्रदभूत समृद्धि हुई। अतः मांगल्लान्तेर का भी यही समय है। अभिधानपदीपिका के लेखक से भिन्न समझना चाहिए। व्याकरण मांगल्लान्तेर जैसा हम पहले देख चुके हैं अनुराधपुर के भूपराम नामक विहार में रहते थे, जब कि कोशकार मांगल्लान्तेर ने अपना निवास स्थान पुनत्थिपुर या पानानरवा का महाजैतवन विहार बताया है। गंधर्वस में कोशकार मांगल्लान्तेर को नवमोमल्लान्तेर कहा गया है<sup>४</sup> और वह निश्चयतः व्याकरण मांगल्लान्तेर से उसकी भिन्नता दिखाने के लिए ही। चौदहवीं शताब्दी के मध्य भाग में बर्मी राजा कित्तिमीहसूर (कीर्तिसिंह सूर) के शासन-काल में एक उच्च राजकीय पदाधिकारी द्वारा अभिधानपदीपिका पर 'सवप्पाना' नामक टीका लिखी गयी। अठारहवीं शताब्दी में बर्मी आणवर ने अभिधानपदीपिका का बर्मी भाषा में अनुवाद किया। सिंहल में भी अभिधानपदीपिका पर सन और 'टीका' लिखे गये जिनमें सन अधिक प्राचीन और महत्वपूर्ण माना जाता है। 'एक्कवरकोस' बर्मी भिक्षु सदम्मवित्ति (सदमकीर्ति) की रचना है। यह अरियवस के शिष्य थे। १४६५ ई० में इस कोश की रचना की गई। यह कोश एकाक्षररामक शब्दों की पद्यबद्ध सूची है। सङ्घन भाषा के एकाक्षरी कोष का यह पालि रूपान्तर मात्र ही कहा जा सकता है। इसमें अन्त में आता है—इति सदम्मवित्तिना महायेरेन सक्कनभामासो परिवसेत्वा विरचित्ता एक्कवरकोस भास महत्परण परिसमत्त। (सदमकीर्ति नामक महाम्मविर द्वारा सङ्घत भाषा से रूपान्तरित करके विरचित एकाक्षरकोश नामक ग्रन्थ प्रकरण समाप्त)।

१ देखिए मन्तलसेकर दि पालि लिटरेचर आव मिनीन पृष्ठ १८८-१८९।

२ परक्कमभुजो नाम भूपानो गुणभूसणो। लकायमासि तेजस्वी जयी केसरी विक्कमो ॥ पृष्ठ १५६ (मुनि जिनविजय द्वारा संपादित नागरी संस्करण)।

३ सुभूति के संस्करण के अनुसार। परन्तु देवनागरी संस्करण में पाठ है—महाजैतवनाह्मि विहारे मायेसम्मत्त। सरोयामसमूहमि वसता सन्तवुत्तिना ॥ सदम्मटिठित्वामेन भोगल्लानेन धोमता। येरेन रचित्ता एसा अभिधानपदीपिका ॥ पृष्ठ १५६। यही लत्थिपुर का उल्लेख नहीं है। ४ पृष्ठ ६२।



का प्राकृतलक्षण है, जिसमें ६६ सूत्रों में प्राकृत का विवेचन है। ये सूत्र तीन अध्यायों में विभक्त हैं। स्पष्ट ही यह विवेचन उद्धृत सम्पिप्त है। मागधी तथा पंजाबी पर तो केवल एक-एक सूत्र ही हैं। कुछ लोगों की यह भी मान्यता है कि इस व्याकरण का प्राप्त रूप बहुत पुराना नहीं है।

प्राकृत का सबसे अच्छा और लाभप्रिय व्याकरण वररुचि (छठी सदी) का प्राकृतप्रकाश है, जिसमें कुल लगभग ५०० सूत्र हैं। ग्रंथ १२ परिच्छेदों में विभक्त है। प्रथम ६ परिच्छेदों में परिनिष्ठित साहित्यिक प्राकृत (महागण्ठी) १०वें में पंजाबी ११वें में मागधी तथा १२वें में गौरसंज्ञी प्राकृत का विवेचन है। कुछ लोग प्राकृत प्रकाश का प्राचीनतम प्राकृतव्याकरण मानते हैं। प्राकृतप्रकाश पर कई टीकाएँ लिखी गईं जिनमें वात्स्यायन कृत प्राकृतमञ्जरी (सातवीं सदी) भामहकृत मनोरमा (आठवीं सदी), वसन्तगणकृत प्राकृतमञ्जरी (१४वीं सदी) सप्तमद्वय मदानदा तथा नारायणविद्याविनोद कृत प्राकृतपाद मुख्य हैं। रामपण्डित ने कन्नूर मञ्जरी गाहासत्तमई तथा कसबहो आदि से उद्धरण प्रस्तुत करते हुए इस पर टीका लिखी है। अंग्रेजी (दिनगच्छर सरदार) गुजराती (के पी० त्रिवेदी) तथा हिन्दी (मधुगणप्रसाद दीक्षित) आदि में इसके अनुवाद भी हो चुके हैं। इसके नियमों के स्पष्टीकरण के लिए चिन्मय नामक काव्य (केरल निवासी कृष्णलीलांगुल द्वारा) लिखा गया। प्राकृतप्रकाश के १०वें ११वें अध्याय भामह या अथ किसी टीकाकार के माने जाते हैं। १७वां भी कदाचित् वाद का है।

लक्ष्मणेश्वर का २४ सूत्रों का एक छोटा सा प्राकृत व्याकरण प्राकृतकामजनु प्राज्ञ उपलब्ध है जिसके समलक्षण से संकेत मिलता है कि लक्ष्मणेश्वर के किसी विस्तृत प्राकृत व्याकरण का यह सम्पिप्त रूप है।

हमचन्द्र (१०८८-११७२ ई०) के प्रसिद्ध व्याकरण सिद्धहन्तगणानुशासन का आठवां अध्याय प्राकृतों पर है। इस पर हमचन्द्र (मूल लेखक), उदयसोभाग्य गणि नरचन्द्रसूरि आदि का वृत्तिया तथा टीकाएँ हैं। पहल तीन तथा आश्रित रूप में चौथे पाद में प्राय प्राकृत तथा चाय के शेष भाग में शौरसेनी मागधी अथ मागधी पंजाबी झूलिका पंजाबी तथा अपभ्रंश का विवेचन है।

रामदीश्वर (१२वीं १३वीं सदी) ने सक्षिप्तसार नामक एक संस्कृत प्राकृत व्याकरण लिखा जिसमें आठवें अध्याय प्राकृतपाद में प्राकृत का विवेचन है। वररुचि के प्राकृतप्रकाश पर आधारित इस प्राकृत पाद पर रामदीश्वर (मूल लेखक) तथा चण्डीदेवशर्मा की टीकाएँ मिलती हैं।

पुरुषात्तम (१२वीं सदी) ने प्राकृतानुशासन नामक प्राकृत व्याकरण २० अध्यायों में लिखा था जिसके प्रथम दो अध्याय अनुपलब्ध हैं तथा तीसरे का भी प्राग्भिक अंश अप्राप्य है। प्राप्त ५८७ सूत्रों के आधार पर अनुमान लगता है कि पूरा व्याकरण लगभग ७०० सूत्रों का रहा होगा। प्राग्भ में आठ अध्याय परिनिष्ठित साहित्यिक प्राकृत के हैं तथा १६वें से १६वें तक क्रमशः गौरसंज्ञी प्राच्या, आवन्ती मागधी शायरी चाडाली शायरी टक्की के हैं। १६वें २०वें में क्रमशः

पताही के दो भाग—बनेय तथा गोरमनी—का किया गया है।

त्रिविधम् (१३वीं सदी) का प्राकृत व्याकरण प्राकृतभाषानुशासन है। यह हमेशा पर मुख्यतः आधारित है। इसके मूल में रामायण का रचयिता वाल्मीकि द्वारा रचित प्राकृत व्याकरण (जिसका नाम प्राकृत मूल या वाल्मीकि मूल या) के मूल मान जाते हैं। स्वयं त्रिविधम् न मूल पर ही (प्राकृतमूल) विन्नी है। पर्यन्त तीन अध्याय तथा बारह (१२ अध्याय में बारह) पाद हैं। पहले दूसरे तथा तीसरे (बड़े प्रथम पाद) अध्याय में प्राकृत के परिनिष्ठित मांश शिष्य का विवरण है और उमरे शां गोरमनी भाषाया पताही तथा पतिता पताधी का किया गया है।

मिहिराज (१५वीं सदी) का प्राकृत व्याकरण प्राकृतभाषानुशासन है। यह भी वाल्मीकि द्वारा रचित भाषा जाना रहा है। ६ भागों में इस व्याकरण में २० अध्याय हैं। प्रथम १७ में परिनिष्ठित प्राकृत १८वें में गोरमनी १९वें में मागधी, २०वें में पताधी २१वें में पतिता पताधी तथा २२वें में अरभण है। इस व्याकरण का आधार त्रिविधम् का प्राकृतभाषानुशासन है।

रामभर्मा (१७वीं सदी) ने प्राकृतवल्गुनद नामक प्राकृत व्याकरण तूबरी की कई व्याकरणां (मुख्यतः प्राकृतानुशासन) के आधार पर लिखा। इसमें तीन भागों हैं। पहली में इस स्वरूप में महाराष्ट्री का विवेचन है। दूसरी भागों तीन स्वरूपों की है जिसमें गोरमनी प्राच्या भाषाओं बाह्लीवी, मागधी अपभ्रंश भाषा तथा विभाषाया (गावारी चाडानी गावरी याड़ी भाभीरिटा टकरी) का मक्षिप्त विवेचन है। तीसरी में अरभण के कुछ सूत्रों (नागर वाचक) के अनिर्दिष्ट पंथाओं का ग्रहण है।

माकडेय (१७वीं सदी) ने गोकुल नाहन बरगवि (महाराष्ट्री वाला भाग) पर आधारित है। भागह आदि के आधार पर प्राकृतमवलोकन की रचना की। इस में २० पाद हैं। प्रथम भाग में महाराष्ट्री ११वें में गोरमनी १०वें में प्राच्या ११वें में भावन्ती और बाह्लीवी १२वें में मागधी अपभ्रंश भाषा १३वें में १६वें तक विभाषाया (गावारी चाडानी गावरी याड़ी भाभीरिटा टकरी) १७ १८वें अरभण तथा १९-२०वें में पंथाओं के तीन रूप (बनेय, गोरमनी, पाचाल) विवेचित हैं।

लक्ष्मीधर (१६वीं सदी मध्य) की पञ्चभाषाचन्द्रिका में महाराष्ट्री, गोरमनी मागधी, पंथाधी, वृत्तिकापंथाधी, और अपभ्रंश का विस्तृत विवेचन है। यह त्रिविधम् तथा हेमचन्द्र पर मुख्यतः आधारित है।

अप्ययदीप्ति (१५५३ १६३६ ई०) न त्रिविधम् हेमचन्द्र लक्ष्मीधर के आधार पर प्राकृतमणिदीप नामक प्राकृत व्याकरण लिखा जिस पर श्रीनिवास गोपालाचार्य ने संस्कृत में टीका लिखी।

रघुनाथ (१८वीं सदी) के प्राकृतानन्द में ४१६ सूत्र हैं जो मूल प्राकृत प्रकाश पर आधारित हैं।

विष्णुधर्मोत्तर में भावण्डय उवाच करके ११ श्लोकों में प्राकृत लक्षण दिए गए हैं।

इनके अतिरिक्त वसंतराज की प्राकृतसजीवनी भामहवि की षडभाषाचन्द्रिका दुर्गाधाय की षडभाषारूपमालिका तथा षडभाषामञ्जरी, हूपीकेर का प्राकृत व्याकरण गुणचन्द्र (१६वीं सदी) का गणचिन्तामणि, श्रुतभागर (१६वीं सदी) का श्रुतार्थचिन्तामणि, समतभद्र का प्राकृत व्याकरण स्वमुत्तर की प्राकृतयुक्ति नरसिंह की प्राकृतशब्द प्रदीपिका, शेषनाग का प्राकृतव्याकरणमून कृष्ण पंडित की प्राकृत चन्द्रिका वामनाधाय की प्राकृतचन्द्रिका षडभाषासुवतादत्त प्राकृतकौमुदी, भाषा कवि षडभाषाविचार आदि अनेक ग्रन्थों में भी प्राकृतों का विवेचन है। कहा जाता है कि पाणिनि ने भी प्राकृतलक्षण नामक एक व्याकरण रिया था।

प्राचीन भारतीय परम्परा में ममवेनत लगभग चालीस प्राकृत व्याकरण ३री ४वीं सदी से १८वीं सदी तक लिखे गए। ये सार-के सारे व्याकरण प्रायः संहृत व्याकरणों की सूत्र शाली पर हैं। संहृत के इस अनुगमन के तीन कारण हैं (क) प्राकृत के व्याकरणों में पाणिनि पतञ्जलि जसा कोई प्रतिभाशाली व्याकरण नहीं हुआ जो व्याकरणलेखन की किसी नई पद्धति की खोज करता। (ख) संहृत की वह प्रौढ़ परम्परा विद्वत्समाज के अन्तिम में पतनी छा गई थी कि उससे हटकर साधना प्रायः संभव नहीं था। (ग) सत्य बड़ी बात यह है कि वह जानी परखा संहृत परम्परा भाषा विश्लेषण के लिए इतनी कारगर सिद्ध हुई थी कि उसे छोड़ने का कोई कारण या आवश्यकता भी नहीं थी।

प्राकृत व्याकरणों ने संहृत की परंपरा अपनाई तो किन्तु संहृत व्याकरणों की भाँति वे बहुत व्यापक नहीं बन पाए। उदाहरण के लिए पाणिनि की षट्ठाध्यायी पूरा नौकिक संहृत साहित्यिक पर लागू होती है किन्तु प्राकृत का कोई भी ऐसा व्याकरण नहीं है जिसने सभी प्राकृतों के पूरे आग्राम को समेट लिया हो। प्राकृत व्याकरणों में मुख्य वररचि हेमचन्द्र तथा पुरपोत्तम हैं किन्तु किसी ने भी सभी प्राकृतों की पूरी संरचना का विश्लेषण नहीं किया है। सबसे प्रामाणिक माना जाने वाला वररचि का प्राकृतप्रकाश भी अश्वघोष के नाटका की प्राकृत की तथा अश्वमेधिका में रचित जैन भागमो आदि की नहीं समेटता। इस कमी के मुख्य कारण निम्नांकित हैं (क) संहृत के अध्ययन विश्लेषण की प्रौढ़ परम्परा प्राकृत के लिए नहीं थी। जब प्राकृत पर अध्ययन को बढ़ावा देने की आवश्यकता थी तब भी योग संहृत के ही व्याकरण लिखने में लगे रहे। (ख) व्याकरणों में संहृत व्याकरण लिखना ही क्या चिन्तित विद्वत्ता का लक्षण माना जाता था इसीलिए हेमचन्द्र आदि कवियों ने संहृत पर लिखने लिखने प्राकृत पर भी विचार कर दिया। (ग) प्राकृतों के इतने अधिक क्षेत्रीय रूप विकसित हो गए थे कि सभी को समेटना बड़ा कठिन काम था। उसके लिए आधुनिक शब्दों में व्यवस्थित भाषा-सर्वेक्षण की आवश्यकता थी जिसका प्रारम्भ उस काल तक नहीं हुआ था। (घ) प्राकृत भाषा अपने अन्त तक विकसित होती रही और साहित्य में भी उमक नवविकसित रूपों का प्रयोग होता रहा इस कारण भी, कम से कम उसके प्रयोग काल के व्याकरण उसे पूरी तरह समेटने में असमर्थ थे। (ङ) प्राकृत के प्राच्य व्याकरणों में केवल चन्द्र और वररचि के ही ऐसे हैं जो उस

समय लिखे गए जब प्राकृत बोलचाल की भाषा थी दोष सारे बाद में बोलचाल में इसका प्रयोग समाप्त हो जाने पर लिखे गए । और इन्हें सम्पूर्ण प्राकृत बाङ्गमय का भाषिक विक्षेपण करने का अवसर नहीं मिला न तो इस विक्षेपण के प्रति कोई विरोध व्यक्त करने का कारण ही था । राज दरबार में सङ्कृत को जो सम्मान प्राप्त था वह प्राकृत को ऊँची नहीं मिला । गण्डपुराण (६८:१७) में तो प्राकृत पदों में नून का निषेध दिया गया है

नोरायत न नूनकम च प्राकृत स्तोत्रभाषितम् ।

श्लोकव्य द्विजेनतद् यथा नयति तद् द्विजम् ॥

प्राकृत व्याकरणों की दो चारों (schools) मिलती हैं (१) पूर्वी (२) पश्चिमी । पूर्वी का चरित्र धारा भी वह सक्ते हैं क्योंकि इस धारा के प्रमुख व्याकरण यही हैं । पूर्वी में अथ व्याकरण सर्वेश्वर क्षमदीश्वर वसंतराज पुराणालम् रामगर्भा, भावशब्द आदि हैं । पश्चिमी धारा में प्राचीनतम व्याकरण रामायणार वाचोवि माने जाते हैं किन्तु उनका व्याकरण (जिसका नाम प्राकृत सूत्र या वाल्मीकि सूत्र था) अपने मूल रूप में आज प्राप्त नहीं है । कुछ लोग ने इस धारा का वाल्मीकि धारा कहा है । मेरे विचार में इस धारा का हमेशा धारा रहना चाहिए समीचीन है क्योंकि यही इस धारा के सारे बड़े तथा (शायद) गुरु पुराण व्यास हैं । मिश्रम वामीधर मिहिराज तथा अन्य दो तीन इस धारा के अन्य व्याकरण हैं ।

एक बात धारणा में मुख्य धारा गंगा का है । अर्थात् पश्चिमी और भी धारा है । उदाहरण के लिए पश्चिमी धारा के व्याकरणों में जिस गंगा की कहा है वह पूर्वी धारा की गंगा की मूल है । पश्चिमी धारा में गंगा की कई उपधातियों का वर्णन है तथा पूर्वी धारा का गंगा की को प्रमाणपूर्ण मानते हुए उग गंगा की गंगा नाम में अभिहित किया गया है । पूर्वी धारा में गंगा की ही मान उपधातियों मिलती हैं । एता धारणा की गंगा की उपधातियों में समानता है ।

प्राकृत व्याकरणों के नाम में एक बात यह भी उदात्तनीय है कि प्राकृत के नाम व्याकरणों में प्राकृत में जिस नाम के प्राकृत भाषा में नया । प्राकृत धारणा में गुरु ने प्राकृत का नाम व्याकरणों प्राकृत भाषा में दिया था किन्तु वह अर्थ उदात्तनीय नहीं है ।

## अपभ्रंश के अध्ययन की प्राचीन सामग्री

भाषा की प्राचीन भाषाशास्त्र में अपभ्रंश की ओर प्राचीन व्याकरणों का सबसे कम ध्यान गया है। यही कारण है कि संस्कृत पालि, प्राकृत व म्वतत्र व्याकरणों तो कई लिखे गए किंतु अपभ्रंश का कोई भी पुरानी परम्परा का म्वतत्र व्याकरण नहीं लिखा गया। अपभ्रंश के जायारे-युद्ध व्याकरणिक विन्नेपण हुए न कवन प्राकृत के व्याकरणों में। इस दृष्टि में सबसे पहला नाम चंद्र का आता है। चंद्र (३री ४वीं सदी) ने अपभ्रंश प्राकृतलक्षण में एक सूत्र अपभ्रंश पर भी लिखा। श्री प्रसार लक्ष्मण के प्राशनकामेनु में भी अपभ्रंश पर एक ही सूत्र है। अपभ्रंश का सबसे विस्तृत विश्लेषण हम्बन्त (१२वीं सदी) ने अपभ्रंश सिद्धमगलानुशासन के आठवें अध्याय में किया है। इसके चौथे पाद में एक सौ अष्टाश्रु (२२८ से ४४७) सूत्रों में अपभ्रंश का विन्नेपण है। पुण्यात्तम (१२वीं सदी) ने अपभ्रंश प्राकृतानुशासन के १७वें अध्याय में ६० सूत्रों में नागर अपभ्रंश का तथा १८वें अध्याय में २३ सूत्रों में ब्राह्म अपभ्रंश का वर्णन किया है। त्रिविक्रम (१३वीं सदी) के प्राकृतगलानुशासन के तीसरे अध्याय के ३४ पादों में अपभ्रंश का विवेचन है। मिहिराज (१४वीं सदी) के प्राकृतस्पावतार के २२वें अध्याय में भी अपभ्रंश से सम्बद्ध सूत्र हैं। रामगमा (१७वीं सदी) ने प्राकृतकल्पतरु की तीसरी गाथा के प्रथम स्तंभ में नागर अपभ्रंश तथा द्वितीय में ब्राह्म अपभ्रंश का विश्लेषण किया है। माकण्ठ्य (१७वीं सदी) के प्राकृतसम्बन्ध के १७वें १८वें पाद में नागर ब्राह्म तथा उपनागर अपभ्रंशों का विवेचन है। इनके अनतिरिक्त लक्ष्मीधर तथा भाम कवि की पञ्चाभाषाचन्द्रिका और दुर्गाचाराय की पञ्चाभाषाप्रमातिका तथा पञ्चाभाषामञ्जरी आदि में भी अपभ्रंश पर विचार किया गया है।



## हेमचन्द्र और उनका शब्दानुशासन

आचार्य हेमचन्द्रसूरि (१०८८-११७२ ई०) सस्कृत प्राकृत और अपभ्रंश का महान वैयाकरण हुए हैं। इनका जन्म गुजरात के प्रमुख नगर अहमदाबाद में हुआ था। इनका जन्म नाम चांगदेव था। हेम के समान वाणि तथा चन्द्र के समान धातुओं पारी होने के कारण इन्हें हेमचन्द्र नाम से अभिहित किया गया था। हेमचन्द्र जनमत के स्वताम्बर संप्रदाय के आचार्य थे। जैन ग्रन्थों में इन्हें बलिकालतन्त्र कहा गया है। उन्होंने व्याकरण 'याप छ', काव्य धर्म आदि कई विषयों पर अपनी लेखनी उठाई है। अभिधान चिंतामणि काव्यानुशासन, छन्दोनुशासन, देगी-नाम माला इत्यादि काय निपटिशलाकापुरुषचरित 'ग' अनुशासन आदि उनके मुख्य ग्रन्थ हैं।

व्याकरण के क्षेत्र में हेमचन्द्र ने पाणिनि वररुचि भट्टोजिदीक्षित और भट्टिका का कार्य अकेले ही किया है। उनका ग्रन्थ 'सिद्धहेमशब्दानुशासन' सस्कृत प्राकृत और अपभ्रंश तीनों भाषाओं का व्याकरण है। उनके इस व्याकरण पर महाभाष्य राशिना कातत्र शास्त्रायन, भास्कराचार्य आदि का प्रभाव है। इन ग्रन्थों के माध्यम से उन्होंने पाणिनि की अष्टाध्यायी वररुचि के प्राकृत प्रयोग तथा अपन बाल तक प्राप्त ग्रन्थों से भी सहायता ली है। हेमचन्द्र का जब अपन ही व्याकरण पर सतोष नहीं हुआ तो उन्होंने प्राकृत अपभ्रंश में प्रयुक्त देशी शब्दों का परिचय देने के लिए दशी नाम माला ग्रन्थ की रचना की। इसकी रचना का उद्देश्य बताते हुए उन्होंने कहा कि जो लक्षण सिद्धहेमशब्दानुशासन में प्रकृति प्रत्यय विवचन द्वारा सिद्ध नहीं किये गये हैं अथवा सस्कृत के शब्दों में प्रसिद्ध नहीं हैं या गौणी लक्षणा में सिद्ध नहीं हो सकते इस सम्प्रदाय में उन्हें शब्दों को स्थान दिया गया है।

हेमचन्द्र का यह व्याकरण भारतीय व्याकरण साहित्य में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। हम के पूर्ववर्ती व्याकरणों में विस्तार, बाधित तथा क्रमभंग के अनेक दोष मिलते हैं। हेमचन्द्र ने इन व्याकरणों के सूत्रों का सूक्ष्म अध्ययन कर उन्हें पचा कर उनके शब्दों को बड़ी निपुणता से अपन सूत्रों एवं वक्तियों में इस प्रकार समाविष्ट किया है कि उन्हें समझने में कोई विघ्न प्रयास नहीं करना पड़ता। शब्दानुशासन की गली इतनी सरल स्पष्ट एवं सक्षिप्त है कि व्याकरण की साधारण जानकारी रखने वाला व्यक्ति इस भली भाँति समझ सकता है।

सिद्धहेमशब्दानुशासन में प्रारम्भिक सात अध्यायों में सस्कृत भाषा का तथा आठवें में प्राकृत और अपभ्रंश का अनुशासन है। इसका क्रम प्राचीन शब्दा

नुशासना के समान नहीं है, अपितु प्रवरणानुसार है। इसमें सूत्र, वृत्ति के साथ प्रक्रिया तथा उदाहरण भी दिये गये हैं जो अन्य व्याकरणों में प्रायः नहीं मिलते।

संस्कृत व्याकरण से सबद्ध भात अध्याय और २८ पाद हैं। इसे हेमचन्द्र ने अपने विशेषण को पाणिनि की अपेक्षा सरल बनाने का सफल प्रयत्न किया है। इसमें उनकी दृष्टि पूर्णतया व्यावहारिक रही है। इसमें पाणिनि की अपेक्षा कम सनामा का प्रयोग किया गया है हेमचन्द्र ने स्वरा का ह्रस्व, दीर्घ प्लुत नामी, समान और सध्यक्षर रूप में वर्गीकरण किया है<sup>१</sup>। और इसी प्रकार व्यंजना का विभाजन घुट वग धापवान्, अघोष, अतस्थ और शिट में। विसर्ग सधि को उहाने व्यंजन सधि में रखा है।

हेम ने विभक्ति पद नाम और वाक्य का जो धातुविभक्ति विवरण किया है वह पाणिनि की अपेक्षा अधिक नहीं मिलता। उन्होंने एक शब्द की सभी विभक्तियों के समस्त रूपों की सिद्धि पूर्णतया न बता कर विशेष भाग में सूत्रों का निबधन किया है। इस प्रक्रिया से स्वरात शब्दों के साथ व्यंजनात शब्दों का भी नियमन होता है। जैसे सत्या मायव रहस्याहन् छी वा<sup>२</sup> सूत्र स्वरात शब्दों के मध्य में व्यंजनात शब्दों का भी नियमन करता है। नाम प्रकरण में वातप्रकार ने वातु विभक्ति वज्रमथबल्लिङ्गम<sup>३</sup> द्वारा लिंग बना का निर्देश किया है। हम न इसी अर्थ को लेकर एणेत पदातेऽयम् लुक्<sup>४</sup> सूत्र में नाम सज्ञा का वर्णन किया है। पाणिनि की अपेक्षा अधिक में वाक्य की परिभाषा ही नहीं मिलती और बाद के पावरणाचार्य इसकी पूरी व्याख्या नहीं दे पाये किन्तु हेम ने सविशेषणमात्वात् वाक्यम्<sup>५</sup> सूत्र द्वारा विशेषणयुक्त वाक्यान्त को वाक्य से कहा है। यहाँ आख्यात के विशेषण का अर्थ है अव्यय, कारक कारक विशेषण और क्रिया विशेषण। हम अव्यय सज्ञा का निरूपण करते हुए निपात सज्ञा को अव्यय सज्ञा में अन्तर्भूत कर देते हैं। उन्होंने 'वादि को निपात न मानकर सीधा अव्यय स्वीकार किया है और यह उनके सक्षिप्तीकरण की दिशा में सुन्दर प्रयास है। कारक के प्रकरण में पाणिनि ने क्तु रीप्तिनम कम 'क्तु क्रियया आप्तुमिष्टतम कारक कमसन स्यात्<sup>६</sup> प्रयात् क्रिया के द्वारा कर्ता जिस इष्टतम का प्राप्त करना चाहता है उसकी कम सज्ञा को कारक कहा है। हेम ने कम कारक की परिभाषा में 'क्तुर्व्याप्य कम 'कर्ता क्रियया यदि शेषेणाप्तुमिष्टते तत्कारक व्याप्य कम च स्यात्। तत्रेषा निवर्त्य विकाय व्याप्य च<sup>७</sup> प्रयात् निवर्त्य, विकाय और व्याप्य इन तीनों अर्थों में कमकारक स्वीकार किया है। इस प्रकार हेम ने पाणिनि के इष्टतम को व्याप्य में समाहित कर दिया है। इसके अतिरिक्त पाणिनि ने इस प्रकरण में कारक और विभक्ति को अलग अलग माना

१ शब्दानुशासन १।१।४ ३६। २ शब्दानुशासन १।४।२०।

३ वही १।२।२७।

४ वही १।१।२३।

५ अपेक्षाध्यायी १।४।४६।

६ शब्दानुशासन २।२।३।

अर्थात् विभक्ति अथ की अप्रकाश रगनी है और प्राग्वह्य-भाषण है। हेम न भा उसी प्रकार क्रियाविपणन<sup>१</sup> तथा प्राग्वह्यभाषणी<sup>२</sup> का कर उनका समयन किया है।

समास के प्रकरण में संहृत व्याकरण में प्रमाण आदि की जा नृत्तिया या हम उसमें सक्षिप्तीकरण और सरलता से आए। वद ममामा में हम न पाणिनि में कुछ भिन्नता भी नित्या है। वगा कनि ण्डा ण्डि आदि णा का जनी प णिनि न बहुव्रीहि समास णा है वहाँ हम न उह अव्ययीभाव माना है। पाणिनि न जातिवाचक णा का बहुवचन या विधान कारण व अन्तर्गत नही किया है और उहान जात्यान्वयाद्यमकामि बहुवचनमयतरस्याम<sup>३</sup> सूत्र द्वारा प्रिला से जानि वाचक णा में एव में बहुत्व या विधान कर उस तत्पुरुष समास में स्थान दिया। हम न इस आशय जान सूत्र जात्यान्वयाया न वराज्मन्या गृह्यते<sup>४</sup> का पारव व अतगत रगा है। इसमें यह स्पष्ट होता है कि हम एकवचनात् या बहुवचनात् प्रयोग का नियमन भी कारण प्रकरण में करना उचित समझन है।

हम का क्रिया प्रकरण पाणिनि की नी पर आधारित नहीं है अपितु बलाप या कातत्र की शाली पर आवन है। कातत्र के ममान ही इसमें क्रिया की दस अवस्थाएँ मानी गई है—वतमाना, सप्तमी पचमी ह्यस्तनी अद्यतनी पराक्षा आणी इवस्तनी भविष्यती तथा क्रियातिपत्ति। सकारा का विधान हम न पाणिनि के समान नहीं किया है।

पाणिनि न वदन प्रत्यया व वणन में उणादि प्रत्यया के लिए एक अलग प्रकरण लिखा है और उनका नियमन के लिए सामान्य सूत्र जगाण्यो बहुलम्<sup>५</sup> की रचना की है जबकि हम न उणादि प्रत्यया को अलग स्थान नहीं दिया वरन उह सम्मिलित कर प्रत्यया के एवं ही प्रकरण में उह मिला दिया है। भाजराज न स्त्री प्रत्यय का विवचन गहन ही पनी ग्य में किया है किंतु हम न उस एक सूत्र में बाध कर सुगम बना दिया है। इन सब के अतिरिक्त हम न भविष्यती विभक्ति के प्रयोग की व्यवस्था पर उन सभी अर्थों में प्रकाश डाला है जिन जिन अर्थों में वह जिन जिन प्रत्यया में सम्भव हो सकती है। हम प्रकार हम ने विंग विक्षप अर्थों का विधान करने के लिए समस्त प्रत्यया का विधान विशिष्ट परिस्थितिया में किया है। अत हम की प्रत्यय प्रक्रिया पाणिनि की अपेक्षा स्पष्ट एवं सुगम है। पाणिनि न कुछ णा के आगे टव आदि प्रत्यय लगाव है तथा ठ का इव करन के लिए ठस्यक<sup>६</sup> सूत्र लिखा है, किंतु हम न सीध ही इव कर दिया है। इतना सब होत हुए भी हम के अविकतर मत्र पाणिनि के सूत्रों के साथ भाव या णा में वद स्थाना पर मन खा जाते हैं।

१ वही २।२।४१।

२ वही २।२।४२।

३ अष्टाध्यायी १।२।५८।

४ णानुगासन २।२।१२१।

५ वही ३।३।१।

६ अष्टाध्यायी ७।३।५०।

मना विशेषण के प्रकरण में जहाँ भूषा से काम नहीं चल सका वहाँ हम न वृत्ति के आदेशों से काम चला लिया है। पाणिनि ने जहाँ समासात् प्रत्ययों को तद्धित मानते हुए भी उन्हें ममासात् प्रकरण में रखा है हम ने उन्हें तद्धित प्रकरण में रख कर ही उन्हें तद्धित माना है। द्विरूप प्रक्रिया में प्लुत द्वित्व का ह्रस्व न वगणन किया है जब कि पाणिनीय परंपरा में इसका अभाव है। वस्तुतः उक्त समय प्लुता व प्रयोग के बढ़ जाने के कारण ही हम ने इसे रखा है और यह उनकी भाषाशास्त्रीय प्रतिभा का परिचायक है।

संस्कृत साधनशासन के पश्चात् प्राकृत के व्याकरण का विवेचन आना है। वस्तुतः हम का यह व्याकरण अपने ही ढंग का है जो मसृष्ट और प्राकृत दोनों भाषाओं का पूरणतया ज्ञान कराने में समर्थ है। साधनशासन के आठवें अध्याय में महाराष्ट्री प्राकृत गौरसनी, मागधी पेंशाची, चूलिका पेंशाची और अनभ्रग के साथ साथ और प्राकृत का भी विश्लेषण किया गया है। वहाँ वर्णचिह्न में अपने वर्ण परिच्छेदों के प्राकृत प्रकाश में जहाँ भी परिच्छेदों में प्राकृत से अनुशासन किया है वहाँ हमचन्द्र ने आठवें अध्याय में तीन पाठों और चौथे पाठ के कुछ सूत्रों में प्राकृत व्याकरण का विवेचन किया है। अथ वाना के अनिश्चित स्वर विकार और व्यंजन विकार का जो नियमन हम ने किया है वह प्राकृत के अथ व्याकरणों से नवीन एवं विस्तृत है। इसमें लोप आगम विकार और आदेश आदि भी सम्मिलित हैं।

प्राकृत में विजातीय संयुक्त प्रयोजनों के प्रयोग का विषय है। प्राकृत व्याकरणों का यों के मतानुसार ल, घ, ष, ण, फ और भ जैसे व्यंजन क + ह, ग + ह, त + ह, न + ह, प + ह और ब + ह में वन हैं और इनके स्थान पर हकार का आदेश होता है। मुख > मुँह गाथा > गाहा, शोभते साहड। इसी तरह संयुक्त ट, ठ, ड, न, प, फ और ब, क स्थान पर क्रमशः ण, ड, ल, ण, व, भ और व, का आदेश है। उदाहरणार्थ घट > घड, पीठ > पीड, गमन > गमण आदि।

संयुक्त व्यंजनों के आदेशों के नियमन में संयुक्त व्यंजनों में म, भ्रांति, मध्य और घट के किसी व्यंजन के साथ का विधान किया गया है और विषय परिस्थितियों में वहाँ के द्वित्व का निर्देश किया गया है। इस प्रकरण में यह भी बताया गया है कि प्रत्येक व्यक्ति अपना गौरीय विनिष्ठता के कारण उच्चारण में अपनी निजी विशेषता रखता है। हमचन्द्र ने अपभ्रंश भाषा का व्याकरण १२० सूत्रों में (चतुर्थ पाठ में ३२६ से ४४८ सूत्र तक) विस्तार के साथ लिखा है और उक्त समझने के लिए तो उदाहरण लिये हैं व जिन साहित्य से लिये गये हैं। हम के अपभ्रंश सूत्र विशेष महत्व के हैं। क्योंकि उदाहरण समसामयिक साहित्य से लिये गये हैं। हमचन्द्र तक अपभ्रंश किम रूप विकसित हुआ था, इसकी जानकारी इन उदाहरणों से मिल जाती है। हम ने सूत्र स्वयं लिखे हैं किन्तु उदाहरण दूसरों के लिये हैं। उनका यह विवेचन भाषा विज्ञान साहित्य और लिहाज तीनों दृष्टियों में महत्वपूर्ण है। वास्तव में हम ही ऐसे पहले व्याकरणाचार्य हुए हैं जिन्हें अपभ्रंश भाषा के संबंध में विस्तृत ज्ञान था। उन्होंने भाषा की समस्त नई प्रवृत्तियों का नियमन प्रणाली तब विवक्षित

बड़े ही सुष्ठु ढंग से किया है। उससे उनके व्याकरण में विस्तार और गाम्भीर्य दोनों का स्थान होते हैं।

हेमचन्द्र ने संस्कृत प्राकृत और अपभ्रंश के अतिरिक्त विभिन्न प्रयोगों में प्रचलित उपभाषाओं को रसनी, मागधी, पगाची, तथा कुलिनापगाची आदि की कुछ विशेषताएँ भी बताई हैं जो इनमें अन्तर की अच्छी जानकारी देती हैं। जम गोरमनी में यन् आदि में लघु न होता बड़ा था और हम बड़ा जानते हैं जम महन्त — महन्दी यथा > जथा नाथ > एथा राह आदि। मागधी में प और म का स्थान पर ग होता है जैसे पुरुष—पुलिने एष—एण। पगाची में वग व ततीय धनुष वग सम्बन्धित न हो और पदांश आदि में न होता उनका स्थान पर वगों का प्रथम और द्वितीय अक्षर होते हैं जैसे राजा—राचा भय—मयो।

इस प्रकार हम दलते हैं कि आचार्य हेमचन्द्र का सिद्धहेमचन्द्रानुगामन भारतीय व्याकरण साहित्य में अपना विशेष स्थान रखता है। वास्तव में आचार्य हेमचन्द्र का पश्चात् व्याकरण के उत्कृष्ट मौलिक ग्रन्थों का रचनाकाल समाप्त हो जाता है। उनके बाद उस काटि का कोई व्याकरण अभी आज तक नहीं हुआ।

# हिन्दी-व्याकरण की परम्परा

(प्रारम्भ से १६१० ई० तक)

हिन्दी-व्याकरण रचना का इतिहास १८ वीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही माना जा सकता है यद्यपि हमें पूर्व सन् १६७४ ई० से पूर्व ही मीरजा खां न 'तुहफत उन हिंद शीपक मे फारसी मे 'ब्रज भाषा' का व्याकरण प्रस्तुत किया था। व्याकरण के रूप में यह 'भारतवर्ष का उपहास' था। तत्कालीन परिस्थितियों में ब्रज का विशेष महत्त्व था। फिर भी हिंदुस्तान की भाषा 'हिन्दी' हिंदुस्तानी की उद्भाषनी तथा व्याकरण की व्यवस्थित रूपरेखा सन् १७०४ ई० में प्रारम्भ होती है जबकि इस सम्बन्ध में सर्वप्रथम प्रथम तुराननमिस नामक कपूचिन सत (Fr n cisquo M Turonensis) ने सूरत में 'Lexicon Linguae Indostanicae' की पाण्डुलिपि दो भागों में तैयार की। अनुदुर्गजी के समय में यह पाण्डुलिपि रोम के पुस्तकालय में सुरक्षित थी पर १८६० ई० में जब प्रियसन ने रूसकी राज की तो उसे प्राप्त नहीं हुई थी।

यह प्रथम तो गंगावली की दिशा में था पर व्याकरण के क्षेत्र में प्रथम नाम उभर कर आता है जान जाजुसा केटलर (Johannes Josus Kate laer)। यद्यपि मूलरन य और केटलर केसलर तथा केटलर के रूप में विख्यात एशिया के एलरिजेन नामक स्थान पर पैदा हुए थे। वह १८ वीं शताब्दी के प्रारम्भ में भारत आया था और डच राजदूत के रूप में भुगत दरबार में सन् १७११ ई० में प्रस्तुत हुआ। इस रूप में यह गहादालम बहादुरगहाह (१७०८-१७१२) जहादार गहाह (१७१२) के दरबार में डच प्रतिनिधि के रूप में रहा। इससे पूर्व सन् १७११ तक वह सूरत में डच ईस्ट इण्डिया कंपनी के व्यापार निदेशक थे। १० नवम्बर १७११ का लाहौर के निशट पहुँचे जहादारगहाह के साथ दिल्ली लौटे और अतः १४ अक्टूबर १७१२ का बहा म चलकर २० अक्टूबर का आगरा पहुँचे। आगरा में मूरत गये।

इस बीच ही उसने भारत की भाषा का अध्ययन किया और जन प्रचलित हिन्दोस्तानी भाषा का एक व्याकरण तथा गंगावली की रचना सन् १७१४ में Lingua Hindustanica शीपक से डच में की। इस ग्रन्थ का प्रकाशन सन् १७४३

१ केटलर के सम्बन्ध में सूचनाएँ प्रियसन द्वारा प्रस्तुत 'भारत का भाषा सर्वेक्षण' में ली गई है। केटलर का व्याकरण प्रस्तुत करने का श्रेय डा सुनीति कुमारचाटुर्ज्या को है जिन्होंने अपने लंदनप्रवास में इस महत्त्वपूर्ण व्याकरण की एक प्रति एक कबाड़ी के यहाँ से ढूँढ निवाली थी। महावीरप्रसाद अभिनन्दनग्रन्थ में आपने एक खोजपूर्ण निबन्ध प्रस्तुत किया था जो अब जनम्भग में संकलित है।

ई० में दावीद मिल या मिल्लिम (Daud Mill) नामक एक पंडित ने अपनी *Miscellanea Orientalia* में लिखा। इसको ही डा० प्रियसन ने डेविड मिल (David Mill) कहा है। डा० चटर्जी इसके विषय में लिखते हैं— पुस्तक लैटिन में है और इसमें इस्लाम तथा यहूदी धर्मों के विषय में कई शब्दों के साथ साथ लैटिन में बेटलर का हिंदुस्तानी व्याकरण<sup>१</sup> फारसी व्याकरण लैटिन हिंदुस्तानी फारसी धानु पाठ चर्चि हिंदुस्तानी फारसी अरबी शब्द रोप तथा हिंदुस्तानी के मसाब्यकरण-युक्त कुछ शब्दों का संग्रह आदि है। मिल ने अपनी भूमिका में लिखा है कि बेटलर की पुस्तक हासड की भाषा डच में थी जिनका उन्होंने लैटिन में अनुवाद किया। मिल<sup>२</sup> ने स्वयं इस ग्रंथ में कुछ वृद्धि भी कर ली थी।

व्याकरण अत्यन्त छोटा है (पृष्ठ ४८६ ५०३) अर्थात् केवल १६ मुद्रित पृष्ठ हैं। अम १४० त्रियाण (लटि हिंदुस्तानी फारसी) ६५० शब्द (लैटिन हिंदुस्तानी फारसी और अरबी) और उल्लिखित भाषाओं में पर्यायवाची शब्द लिखे गये हैं। अथनागरी लिपि में भी बलमाना है जिसका रामन लिपि में उच्चारणानुसार किया गया है व ग ग घ ङ का उच्चारण या लिखा गया है k ḳ gha dgja nia। हिंदुस्तानी व्याकरण के उदाहरणार्थ प्रभु की प्रायना और नम आनाएँ दी गई हैं। लिपि रामन है। शब्द में कनू शब्द तथा अथ कागवा के प्रातिपदिक में पाषवय नहीं है। मवमान के रूप अथय या प्रयाग<sup>३</sup> लटिन के मयोग में लिखिए शब्द लिखे गये हैं भाषाशास्त्र के ज्ञान के अन्तर्गत विद्यमान है। डा० चटर्जी के मतानुसार

विवरण अकादमिगियन त० अ० वाउएर के निबंध भूमिलता है। वह उस के पहले प्राच्यविद् थे जिन्होंने भारत की आधुनिक भाषाओं के अध्ययन का सूत्रपात किया। इसके आसपास ही अकादमिगियन प० स० पल्लाम अस्त्रखान में रहनेवाले भारतीय व्यापारियों से हिंदी शब्दा का संगृहीत कर रहे थे।

सन् १७४५ ई० में प्रसिद्ध मिन्नरी गुट्टज (Schullzius) की पुस्तक प्रकाशित हुई। इसी समय आपने Grammatica Hindustanica शीपक हिन्दोस्तानी की व्याकरण लैटिन में प्रस्तुत की। इसमें हिंदोस्तानी शब्द फारसी अरबी लिपि में दिये गये हैं साथ में अनुवाद भी दिया गया है। नागरी लिपि की भी व्याख्या की गई है। वे सूत्रवाचकों की ध्वनिया का और महाप्राणों को छोड़ दत्त थे। ग्रियसन का मत है कि वे पुस्तकवाचक सबनामा के एकवचन एवं बहुवचन रूपा में परिचित हैं किन्तु स्वभाव गियात्रा के भूतकालों के साथ प्रयुक्त होने वाले न के प्रयोग से अनभिज्ञ हैं।

इस व्याकरण के सम्बन्ध में प्रायः राय अच्छी मिलती है

‘Unquestionable proof of author's knowledge of the general structure of language nevertheless extremely deficient and very inadequate to the liberal purposes for which it was designed of furnishing all European who might go to India with the means of acquiring the Hindustani Dialect’

सन् १७५७ ई० में कंपनी के एक नवयुवक आफीसर न हिंदुस्तानी भाषा की व्याकरण पर एक सक्षिप्त निबंध लिखा था। इसके लेखक गुलस्ता की मृत्यु हो जाने के कारण प्रकाशित न हो सका। हैडले (George Hadley) ने सन् १७६५ ई० में हिंदुस्तानी की भाषा हिंदुस्तानी की व्याकरण तथा गंगावली पर काम किया जो सन् १७७२ ई० में लन्दन के वेडेल द्वारा Grammatical Remarkon the Practical and Vulgar Dialect of Indostana शीपक से प्रकाशित हुआ। इस पुस्तक में कष्टन जाज हैडले ने स्वीकार किया है यह भाषा सावजनिक रूप से ‘भूर’ कही जाती है। इस पुस्तक में अंग्रेजी भूर गंगावली भी दी गई है। फारसी लिपि में गंगा को लिखा गया है जिनको बाद में समझाया गया है। भाषा का मुहावरा समझाने के लिए प्रयत्न किया गया है।

सन् १७७३ ई० में लन्दन से प्रकाशित फर्गुसन महोदय (Ferguson) के

१ इसी पुस्तक में आगे यह विवरण दिया है

Commonly called Moors with a vocabulary English and Moors The spelling according to the Persian orthography wherein are references between words resembling each other in sound and different in significations with literal translations and Explanations of the compounded words and circumlocutory Expressions, for the more easy attaining the idiom of the Language



कोश में 'हिन्दुस्तानी भाषा का व्याकरण' भी दिया गया है।

इसके पाँच वर्ष बाद हैडले से मच्छा व्याकरण सन् १७७८ ई० में लिम्बन से Grammatica Indostana शीपक ने प्रकाशित हुआ। इसके साथ ही हैडले का व्याकरण पुनः संक्षिप्त रूप में लन्दन में प्रकाशित हुआ।

इन व्याकरणा के प्रकाशित होने के ४ वर्ष बाद जॉन बर्थविक्स गिल्क्रिस्ट (John Borthwick Gilchrist) सन् १७८२ ई० में भारत में आये और वही वर्ष में हिन्दुस्तानी भाषा का अध्ययन आचरण प्रारम्भ करना किया। सन् १७८५ ई० की २ जनवरी का आचरण हिन्दुस्तानी भाषा की व्याकरण तैयार करने हेतु मामूली ढंग करने के लिए एक वर्ष के अवकाश का आचरण पथ प्रस्तुत किया और देश के हिन्दुस्तानी बोले जाने वाले पैत्रा-फज्जाबाद इलाहाबाद जौनपुर आदि स्थानों का भ्रमण किया और अन्त में डिक्शनरी की तैयारी हेतु बनारस चले गये जहाँ में सन् १७८६ ई० में अंग्रेजी तथा हिन्दुस्तानी कोश प्रकाशित हुआ। पुनः १७८७ ई० में आप उत्तर प्रदेश में स्थित गाजीपुर आकर रहे और वही हिन्दुस्तानी भाषा की व्याकरण की रूपरेखा तैयार की। सन् १७९५ में कलकत्ता लौट गये और वही में सन् १७९६ ई० में हिन्दी की व्याकरण *A Grammar of the Hindoostanee Language*<sup>३</sup> प्रकाशित किया जिसका परिशिष्ट सन् १७९८ ई० में प्रकाशित हुआ। डिक्शनरी के परिशिष्ट के रूप में भी व्याकरण प्रस्तुत किया गया। सन् १८०४ में वह भारत से चले गये और इस बीच सन् १८०० में फाट जिलियम ब्राउन कलकत्ता की स्थापना होने पर वहाँ हिन्दुस्तानी के प्रोफेसर पद पर कार्य किया। आप ही कामराल में नन्दलाल तथा सदाश मिश्र को नियुक्ति हुई और पड़ी बोली तथा की पुस्तक का निर्माण किया गया। हिन्दी भाषा भाषा-शास्त्र तथा व्याकरण के क्षेत्र में गिल्क्रिस्ट का नाम विशेष उल्लेखनीय है। फोर्स न गिल्क्रिस्ट का फादर था वह हिन्दुस्तानी ग्रामर नाम से सदाचित्त किया है।

१ From Surat to Futtehghur I had innumerable instances in every town, and village we visited of the universal currency of the language I had been learning, which served to stimulate me the more, to complete the performance from which I expected so much public and private advantage

२ इस पुस्तक का शीपक इस प्रकार दिया गया है

A  
Grammar  
of the  
Hindoostanee Language  
or part third  
of  
Volume first of a System of  
Hindustani Philology

सन् १८०१ से १८१० रूमी विद्वान् गगनसिम लेविदफ<sup>१</sup> भारतीय सस्कृति तथा कला के बड़े उपासक थे और भारतवर्ष में काफी समय तक रहकर आपन जीवन भाषाओं का अध्ययन किया था। सन् १७८७ ई० में आप बलकत्ता में रहते हुए अथ भाषाओं के साथ हिन्दी का भी विविधत्व अध्ययन करते रहे। पयटन में इन्हें विशेष प्रेम था जिसके बलस्वरूप आप बडमास्टर के रूप में सन् १७८५ में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के जहाज पर सवार होकर भारत आये। पहले मद्रास में रह और बाद में बलकत्ता। यहीं पर आपने एक सिएट्रिकल कम्पनी की स्थापना की। यहीं रहकर जो ज्ञान प्राप्त किया उसका फलस्वरूप आपने लंदन नौटिकर सन् १८०१ ई० में हिन्दुस्तानी भाषा का व्याकरण प्रकाशित कराया। मुखपृष्ठ पर काफी विस्तार में पुस्तक का नाम दिया गया है जिसके कुछ अंश इस प्रकार हैं A Grammar of the Pure and mixed east Indian dialects with dialogues affixed spoken in all the eastern countries methodically arranged at Calcutta

पुस्तक के दो खण्ड हैं (१) व्याकरण और (२) वातचीत में व्यवहार वाक्यांश आदि का संग्रह।

व्याकरण खण्ड में कुल १८ छोटे छोटे अध्याय हैं। प्रथम में उपपद और परमग दूसरे में अनियमित संज्ञाएँ तीसरे में मना की परिभाषा व्यक्तिवाचक, जानि वाचक का भेद है। कुछ मनाओं के कारकीय रूप भी हैं। चौथे अध्याय में वचन की प्रक्रिया समझाते हुए लिया है कि 'मैं' और 'तुम' लगाकर बहुवचन बनाते हैं

एकवचन	बहुवचन
एक जहाज	मैं जहाज (जहाज लाग नहीं)
बाप	बाप लाग (बाप मैं नहीं)

पाचवें अध्याय में विवेच्य विषय वाक्य है। यही लिंग पर विचार किया गया है। छठवें अध्याय सवनाम का है। सातवें अध्याय का शीपक लिंग है। व्यक्तिवाचक सवनाम के भी लिंग की दृष्टि से भेद करना है पु० उ० स्त्री० उ०, नपु० ए० अथ इ०।

पुरुषवाचक सवनामों के तीन वर्ग किये गये हैं

१ मिश्रित शब्द बोली २ नियमित मिश्र शब्दी ३ शिष्ट मिश्रित बोली।

१	शब्द	एकवचन	बहुवचन
	वर्ता	मैं भय	मैं सब भयें सब
२	नियमित	मा मैं	मा सब
	शिष्ट	हम	हम लाग या नाक

इस प्रकार शब्दप्रचलित सवनामों के सभी रूपांतरों का नेविनेफ ने बड़े परिश्रम

१ डा० भोलानाथ तिवारी नेविनेफ, सम्मेलन पत्रिका, खण्ड ५०, संख्या २३ पर प्रकाशित।

में इकट्ठा किया था।

११ वें अध्याय में बहुत सन्धेय में विशेषण का विवरण है। १२वां अध्याय क्रिया से सम्बन्धित है। क्रिया के माय क्रियाय तथा सहायक क्रियाया का विवेचन भी मिलता है।

अन्तिम अध्याय क्रिया विशेषण पूर्व सग वृद्धन्त विस्मयादिवोधन तथा "युत्पत्ति पर है। ये सभी पारिभाषिक शब्द आज सभिन ग्रन्थ में प्रयुक्त हैं और लेखक के निजी हैं। अन्त में समुच्चयवाचक तथा वाक्या पर विवरण दिया गया है। डा० निवारी के मत से इस व्याकरण की सबसे विशेषता यह है कि भाषा के स्तरीय रूप पर लेखक का ध्यान गया है। वस्तुतः इस प्रकार का अध्ययन बहुत रोचक है किन्तु अभी तक किसी भी भारतीय भाषा या बोली पर इस प्रकार का कार्य नहीं हुआ है। इसको कलकत्ता हिन्दी कहा जाना उचित होगा।

सन् १८०८ ई० में चार्ल्स स्टुमट का व्याकरण *An Introduction to the study of Hindustani Language* दक्षिण से प्रकाशित हुआ। कलकत्ते में प्रकाशित अमानुल्ला की कविता सवधो पुस्तक में हिन्दुस्तानी भाषा का व्याकरण भी सलग्न है। सन् १८१० ई० में रोएबक (Thomas Roebuck) का अंग्रेजी हिन्दुस्तानी कोश *The English and Hindustani Dictionary* छापक से प्रकाशित हुआ जिसमें हिन्दुस्तानी भाषा का व्याकरण भी सलग्न किया गया है।

सन् १८११ १८३० फाट विलियम कालेज के अधिकाग्निया ने हिन्दी तथा उसकी बोलिया की ओर विशेष ध्यान दिया। हिन्दी उर्दू के पृथक्-पृथक् मुन्शी रखे गये और गिनफाइस्ट के निर्देशन में पुस्तक का लेखन किया गया। हिन्दी के लिये नियुक्त लल्लूलाल ने हिन्दी तथा ब्रजभाषा की व्याकरण भी तैयार की। काफी दिन तक कोई व्याकरण नहीं मिलता था पर इधर काफी प्रयत्न से ब्रजभाषा का व्याकरण प्राप्त किया गया और व० मु० हिन्दी तथा भाषाविज्ञान विद्यापीठ आगरा विश्वविद्यालय में पुनः प्रकाशित किया गया है। इस व्याकरण के मुखपृष्ठ पर इस प्रकार उल्लेख मिलता है

**General Principles  
of  
Inflection and Conjugation  
in the  
Braj Bhakha  
or**

**The Language spoken by the Hindoos in the Country of Braj in the District of Golasgur in the Dominions of the Raja of Bharat poor as also in the extensive countries of Bueswarā Bulundasaṭur Untur and Boondelkhund Calcutta 1811**

यह यह उल्लेखनीय है कि इस समय तक हिन्दुस्तानी भाषा के प्राप्तेमर कप्टन जॉन टॉर (Captain John Taylor) फोट विनियम कानून में ध और

ही के निर्देशन में यह तैयार किया गया।

इस व्याकरण का माध्यम अंग्रेजी है और पारिभाषिक शब्दावली अरबी-फारसी की ली गई है। एक नमूना दिया जा रहा है

भाषाभारतीय बर्ड

प्रारंभ

मुत्कल्लिम	हौं में गयी होनी	हम गय होते
मुखानब	तू तें गयी होतो	तुम गय हाते
गाइब	वह सा गयी होनी	व त गय होन

सन् १८१३ ई० में जॉन गैक्सपियर का 'A Grammar of Hindustani Language' सन्दर्भ में प्रकाशित हुआ। सन् १८२३ ई० में कैप्टन डब्ल्यू. ब्राह्म का हिन्दुस्तानी व्याकरण प्रकाशित हुआ जिसके साथ अरबी और फारसी का व्याकरण भी था। इस वर्ष बर्ड में मुहम्मद इब्राहीम मुशी ने 'तुहाफ़ाए एलफ़िन्स्टन' गीपक में हिन्दुस्तानी का व्याकरण प्रकाशित किया।

सन् १८२४ ई० में विलियम (William Yates) का हिन्दुस्तानी ग्रामर प्रकाशित हुआ। कलकत्ते में प्रकाशित इस पुस्तक के तीन भाग हैं। प्रथम और तृतीय में क्रमशः व्याकरण और शब्दसमूह दिया गया है। व्याकरण ७६ पृष्ठों का है तथा अन्त में ११ पृष्ठों में परिशिष्ट है। ध्वनि, मन्त्र, विभक्ति, सवनाम, क्रिया, अव्यय तथा संयुक्त शब्दों का विवेचन किया गया है। प्रथम परिशिष्ट में पञ्च परिचय तथा दूसरे में वाक्य सम्बन्धी कुछ विषयों पर दी गई हैं। पुस्तक में विवेचन व्याकरणिक पद्धति में किया गया है। पहले रूप प्रस्तुत किए गए हैं तदुपरान्त उनकी विषयनामा पर प्रकाश डाला गया है।

सन् १८२७ ई० में एम० टी० आदम का हिन्दी भाषा का व्याकरण कलकत्ते में प्रकाशित हुआ। फादर एडम (आदम) एक ईसाई प्रचारक थे जिन्होंने एक छोटा-सा व्याकरण ग्रंथ लिखा पर हिन्दी में अंग्रेजी के ढंग की यह प्रथम रचना थी। और उसने पारिभाषिक शब्द सम्बन्ध बगला में लिया गया था। मध्ययुग की भाषा का प्रयोग ही इस ग्रंथ में किया गया था जिसमें स्थान स्थान पर वाक्य रचना की भूलें थी। इस समय ही विलियम ब्राह्म ने स्वतंत्र रूप में ग्रन्थ में 'A New Grammar of Hindustani Language' प्रकाशित की।

सन् १८२६ में हर्लिमोडोर वॉ साय परिस में गार्मी व तामो न 'Rudiments de La Langue Hindustani' गीपक पुस्तक में हिन्दुस्तानी भाषा की आधारभूत बातों पर प्रकाश डाला। ग्रामर चर कर स्वतंत्र रूप में तामो का (De Tassy) का 'Grammaire de la Langue Hindoua' गीपक में व्याकरण भी प्रकाशित हुआ। इस समय ही ड० एनडू की व्याकरण भी नन्दन में प्रकाशित हुई। इसी वर्ष व्याकरण शब्द चन्द्रिका भाग १ भी हागनावा में प्रकाशित हुई। मि. चिचेली (Chichely Plowden) के कार्यकाल में भी एक मुन्गी न हिन्दुस्तानी ग्रामर तैयार की जिस पर कोई नाम न दिया नही दी गई है।

सन् १८३१ १८३० सन् १८३१ ई म साइपाह घरेनाट का सन्म में 'हिंदुस्तानी भाषा का नया व्याकरण' प्रकाशित हुआ। सन् १८३८ ३६ म जे घार एनष्टाइन का सदन स हिंदुस्तानी भाषा का व्याकरण प्रकाशित हुआ। एर दूसरे ग्रंथ म ग्रंथ तथा नबिना की व्याकरण भी प्रस्तुत की गई।

इस बीच कई छोटी छोटी व्याकरण प्रकाशित हुई जिनम म सन् १८६७ म प्रकाशित ईस्टविन की 'हिंदुस्तानी भाषा का गणिता व्याकरण' उल्लेखनीय है। इस समय की सर्वाधिक महत्वपूर्ण व्याकरण डान फॉर्ब्स (Duncan Forbes) की *A Grammar of the Hindustani Language in the Oriental and Roman character* (1855 ई०) है। इसमें पूर्व भाषा की हिंदुस्तानी मंगुल भी प्रकाशित हो चुकी थी जिनमें दो भाग हैं एर म भाषा का संप्रति व्याकरण तथा दूसरे म अंग्रेजी हिंदुस्तानी के सावधान गणना की सूची दी गई है। एर प्रकार म नया सत्करण इसका भी परिवर्द्धित रूप है जिसकी सहायता म हिंदुस्तानी बड़ी सरलता स सीखी जा सकती है।<sup>१</sup>

साथ साथ ही रोमन उच्चारण भी दिया गया है। मंगुल पुस्तक एर प्रकार म उद्ग के रूप की ही प्रस्तुत करनी है नागरी लिपि पर केवल ४५ पृष्ठ १३६ १४० तक हैं। इस व्याकरण का उल्लेखनीय भाग है सड ५ जिसमें वाक्य रचना का विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। पीछे १४ घरकी लिपि की प्ठें हैं। स्थान स्थान पर अपने पूर्ववर्ती व्याकरणों की छालोचना<sup>२</sup> भी प्रस्तुत की गई है।

सन् १८५३ में स्कूल बुक सोसायटी बलकत्ता स हिंदी भाषा का व्याकरण प्रकाशित हुआ। सन् १८५६ म श्री लाल कृत भाषा चन्द्रोन्म का पर्याप्त उल्लेख मिलता है। श्री अम्बिका प्रसाद वाजपेयी ने अपनी व्याकरण की भूमिका म इसका उल्लेख किया है। इधर यह पुस्तक अप्राप्य की घर जान म ही म० म० हरप्रसाद शास्त्री के पुस्तकालय स अलीगढ़ मु० विश्वविद्यालय के मस्किन विभागाध्यक्ष डा०

1 the Subject is now so simplified that a learner of ordinary capacity will have no difficulty in making some progress in this elementary part even if he should not have the aid of a teacher

१८६१ के स० की भूमिका' स

२ 'ने के प्रयोग पर टिप्पणी दृष्टव्य है

Our great grammarians have succeeded wonderfully well in mystifying the very simple (though Singular) use and application of this particle ne Dr Gilchrist, in the first edition of his grammar, seems to have felt greatly embarrassed by it without exactly knowing what to make of it Those who have merely followed the learned doctor, with very few ideas of their own have contended themselves by calling it an *expletive* which luminous explanation has stood for years in one of the books पृष्ठ १०८, १८६२ ई० सम्बरण।

राममुरेश त्रिपाठी को प्राप्त हुई है। यह व्याकरण सिकंदरा से प्रकाशित हुई थी और उसकी पद्धति प्राचीन है।

जब हिंदी का प्रसार होने लगा तो भारतीय भी हिंदी के व्याकरण की ओर उन्मुख हुए। इस दिशा में सन १८५८ ई० में प्रकाशित 'भाषा तत्त्वबोधिनी' (बनारस) उल्लेखनीय है जिसके लेखक श्री रामजसराज नाम के व्यक्ति थे। इसी वर्ष सर विलियम मोनियर की चलनहूय में Rudiments of Hindustani Grammar शीघ्र व्याकरण प्रकाशित हुई। विलियम मोनियर ने इसके दो वर्ष बाद 'हिंदुस्तानी प्रीमियर' प्रकाशित की जिसका व्याकरण भाग नव विद्यार्थियों के लिए परम उपयोगी था। आपने ही एक व्यावहारिक हिंदुस्तानी व्याकरण भी प्रस्तुत किया।

इस गताती के मानवें दशक में नवीन चंद्र राय का हिंदी व्याकरण विद्या उद्भवनीय था जो नवीन चंद्रोदय शीघ्र से सन् १८६८ ई० में प्रकाशित हुआ। आप पञ्जाब प्रांत में शिक्षाविभाग में उच्च अधिकारी थे। इस व्याकरण में संस्कृत की व्याकरण पद्धति का अनुसरण भी किया गया था। आप बंगाली सज्जन थे। इस व्याकरण का 'घातिविक' शीघ्र ग्रन्थ (पृष्ठ १८४-१८९) विशेष महत्त्वपूर्ण है जिसमें यह बताया गया है कि किस प्रकार धातुओं से शब्द निष्पन्न होते हैं

धातु	अनुप्रत्यय	अर्थ	धातुनिष्पन्न शब्द
अक	इ	बिह्व करना	अक, अकुर, अकुरा पयक
अन	ओ	भक्षण	अदन अन अदि
अन	औ	भक्षणच्छा	अन्य अन्य अमित

अनुप्रत्यय अनुप्रत्यय-२ जिस धातु के पीछे है उसके उपधा में न का आगम होता है फेर वही न का पर धरण के वर्णानुसार इ अ ए में हो जाता है।

कप+इ = कम्पन

तय+इ = तत्र

सन १८७० में ही अनाम में गीतलप्रसाद गुप्त ने 'शब्दप्रकाशिका' शीघ्र व्याकरण लिखी जिसका प्रकाशन संपन्न में हुआ। सन् १८७३ में ही प्रकाशित भाषापालधु व्याकरण 'शीघ्र' पुस्तक मुझे आगरा व० मु० हिंदी विद्या पीठ के श्री उद्धारगुरु गान्धी के भोजन से प्राप्त हुई है जिसमें लेखक के नाम का अक्षर कुछ पट गया है। नेप इस प्रकार है व० म० त्रिपाठी पण्डित (भरव) प्रसाद माह्वि डिप्टी इन्स्पेक्टर मन्तरिस जिला उन्नाव नरिमापट्ट कवापट उद्ग के माराग में त्वनागरी भाषा में रचना किया। वस्तुतः यह वर्ष २५ पृष्ठ का व्याकरण है और उद्ग पर आधारित है जमे अक्षर भेद (अक्षरमहत्त्व) अक्षर का विभक्त्यादि काय नहीं होना इसलिए उस अक्षरमहत्त्व अक्षर का अर्थ कहते हैं—उनके चार भेद हैं

क्रियाविपण (हफ सिफ्ट) शब्द योनी (हफ जर) उभयावयवी (हफ वस्त) केवल प्रयोगी (हफ निदा)।

इस वर्ष ही त्रिगोपाल पाध्ये की भाषातत्त्वबोधिनी प्रकाश में आई। पाध्ये जी महात्माजी थे इसलिये उन्होंने सराठी व्याकरण के पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग

रिया है।

१८७२-१८८० इसी वर्ष पादरी एथरिंगटन का बनाया धीरे-सन्ध में The Students Grammar of the Hindi Language गीर्ष व्याकरण अंग्रेजी में प्रकाशित हुआ जिस पर उम्ह ५०० रुपया का पुरस्कार प्रदान रिया गया और इससे प्रेरित होकर ही आपने अपना हिंदी में भाषा भास्तर गीर्ष में मने १८७१ के अक्टूबर मास में प्रकाशित कराया। हिन्दी में प्रकाशित व्याकरण मून कृति का अनुवाक मात्र नहीं है बरन रिष्णदत्त जी की मद्रासता से पर्यन्ति दत्ता हुआ है। व्याकरण की यह पुस्तक इतनी अधिा तारप्रिय हुई कि इसका पत्राग मन्दरण अनेक स्थानों से हुए। इस व्याकरण की लोकप्रियता का स्मनी उत्तमना का प्रमाण है। हिन्दी शब्दानुशासन क प्रकाशीय यत्न्य म डा० श्री कृष्णानन्द ने इस पर निम्न टिप्पणी की है

यह व्याकरण की पुराना पुन दिा। सब छात्राशयाणी व्याकरणा में सबसे अधिक प्रामाणिक मानी जाती रहा।

मूढय व्याकरण कामताप्रमाद जी गुरु की टिप्पणी

'पादरी एथरिंगटन साहित्य का प्रसिद्ध व्याकरण भाषाभास्तर प्रकाशित हुआ जिसकी सत्ता ४० वर्ष से आज तक एक सी अटन बनी हुई है। यह पुस्तक अंग्रेजी ढग पर लिखी गई है और जिन पुस्तकों में इसका आधार पाया जाता है उनमें भी इसका ढग लिखा गया है।

संपूर्ण व्याकरण तीन भागा में विभक्त है

१ वणविचार, २ गणसाधन, ३ वाक्यरियास।

वण विचार के अन्तगत वणमाला के अनिरित हिन्दी ध्वनिविज्ञान की कुछ ऐसी बातों की ओर भी मकेत है जा उन युग की दष्टि से काफी मार्क की जान कही जा सकती है जने

१५ अनुस्वार और विसर्ग भी एक प्रकार के व्यवन हैं

अनुस्वार हल नकार

विसर्ग ह्वार

१६ जितका उच्चारण मुख और नासिका से होना है उह सानुनासिक कहन है और जो केवल मुख से बाले जाते हैं व निरनुनासिक कहात है।

४१ ङ ढ के मवध में टिप्पणी है चेन रखना चाहिए कि ङ और ढ के दो ग उच्चारण होन हैं एक तो जब इन असरा के नीचे बिन्दु नहीं रहता तो जीभ का अग्र तानु पर लगाते हैं, डरना डाकू, डाल ढोल। दूसरा—जीभ का अग्र उसटा करके मूर्द्धा से लगाया जाता है, जैसे बडा थोला पढना।

अगे नियम १०६ में हिन्दी की प्रवृत्ति पर बहुत महत्त्वपूर्ण टिप्पणी है चेन रखना चाहिए कि हिन्दी भाषा में अनारान्त गण प्राय हुन के समान उच्चारित हान है।

गण साधन के अन्तगत अथवाधन गण तीन प्रकार के स्वीकार किए गए हैं।

सज्ञा, क्रिया, अव्यय ।

‘सज्ञा’ को नामीनल के अर्थ में विस्तृत परिवेग में ग्रहण किया गया है और इस मदभ में ही इसके भेदों में गुणावाचक विभेत्त्व (विभरण) तथा सवनाम का सम्मिलित किया गया है । सवनाम सज्ञा के नौ घम स्वीकार किये गए हैं

पुरुषवाचक जैसे मैं, तू बहानीभूत जैसे कौन—काई आन—अर्थ ।

अव्यय के छह भेद किये गए हैं त्रियाविभरण मन्त्रवाचक उपमग याज्ञन विभाजक रिम्मयादिमोचन ।

संस्कृत पद्धति को भी स्थान दिया गया है जम आचार अधिकरण तीन प्रकार के माने गए हैं

‘प्रौपश्लेषिक’—बिस्ती अवयव स मयाग हो चर्चा पर रहता है ।

वैपयिक—विषय का बोध भाग में उसकी “रक्षा ।

अभिध्यापक—जिसमें आचय सपूर्ण रूप में व्याप्त है आत्मा मन्त्र “गान् हैं ।

जहाँ विष्णुदत्त जी ने संस्कृत की आधारभूमि तर्थागतन सहक का सहन हो प्राप्त हो गई वहाँ अंग्रेजी के व्याकरण शास्त्र का ज्ञान उन्हें स्वयं ही था । यद्यपि मम अंग्रेजी की गली का अनुकरण था पर पहली बार स्वयं क्रांति करी जाना का उल्लेख मिलता है ।

इसके बाद ही प्लेट्स (John T Platts) का A Grammar of the Hindustani or Urdu Language गीर्ण में हिंदुस्तानी या उर्दू भाषा का व्याकरण सन १८७४ ई० में प्रकाशित हुआ । इसका ही परिवर्द्धित संस्करण सन १९२० ई० में प्रकाशित हुआ । सम्पूर्ण पुस्तक १२ अध्यायों में विभाजित है । वाक्य रचना में लेखक ने अपने का बाय आ बहार तक सीमित नहीं रखा है । लेखक का मुख्य लक्ष्य रहा है

Writers are guided by usage rather than by rule and test the accuracy of a passage by the ear rather than by the recognized law

सन १८७४ ई० में ही दामोदर शास्त्री वन ‘भाषादान’ आजिमगज से प्रकाशित हुई । इस वर्ष ही पंजाबी मानसिगनार की ‘Grammaticae Italianae Indostana’ प्रकाशित हुई ।

इसके दूसरे वर्ष सन् १८७५ ई० में राजा गिबप्रसाद सिताहिन्द कत हिन्दी व्याकरण सखनऊस मुन्शी नवलकिशोर ने प्रकाशित की जा उस समय की सर्वाधिक प्रगतनीय व्याकरण समझी गई । सन १८७३ ७४ में उत्तरीपश्चिमी सीमान्त प्रदेश के गवर्नर ने यह मुझाव दिया था कि उर्दू हिंदी की एक ही व्याकरण का निमाण किया जाए और उसके अनुसार ही राजा गिबप्रसाद ने इस व्याकरण का बनाया है । म पुस्तक का भूमिका में यह स्पष्ट किया गया है कि किम प्रकार गिलक्राइस्ट के समय से हिन्दी उर्दू में मन् स्थापित किया गया और वह कानांतर में बढ़ता गया है । इस पुस्तक के परिशिष्ट में संधि तथा वदन्ता का विवरण है । पहली बार व्याकरण की पुस्तक में छान्दास्त्र को पथक किया गया है । यह पहला प्रयास है



जिसमें सम्बत के साथ साथ धरवी का भी वर्णन महत्त्व दिया है। उदाहरणार्थ अध्याय २ में मरीची लिता का लिए उत्तम पुष्प की जगह नाम मरीचिका, पिन्दी, समतरीन गुनाम वगैरा नामों के गुणगान गुणगान धारित धानी निपाजमन् धारि लिये जा सकते हैं।

क्रियाया का प्रकरण बड़े विस्तार से दिया गया है जब सामान्य भूत ४८ रूप दिए गये हैं।

४८ अथपुष्प बहुवचन स्त्रीनिग सामान्यभूत—ये सभी समझी गई। धरवी पारवाचक कमप्रधान।

अध्याय में १२३ गणों के सम्बन्ध रूप प्रस्तुत किए हैं। यहाँ पर हिन्दी का प्राक्क हिन्दी कहा गया है जैसे ऊष्म—उमम गाल्मली—ममल।

इसी प्रकार अग्रेजी फारसी धरवी-तुर्की गणों की सूची भी दी गई है।

राजा साहू की दृष्टि में हिन्दी में मनसब हिन्दी या हिन्दीना की उस दमी वाली में है जो अब यहाँ के सर्कार द्वार और हाट राजार में बोली जाती है, लखन के बाजार का तुर्की में उद्गू कहते हैं उद्गू इ मुघल्ला। पावरण में माधव गण तीन मान गये हैं—मना, क्रिया तथा उपमन। सना की तीन हिम्मे हैं

१ धातु—जिससे क्रिया और धातुज बनाये जाय

२ धातुज—धातुज वह है जो किसी ठहराये हुए नापदे के साथ धातु में निकल और क्रिया में हो और उनमें धातु का चिह्न दूर रहने धातु के अधर जिसमें वह कुछ बदला कर धावी रहे धार अब भी बिल्कुल में बने रहेंगे।

हडि { जानिवाचक

{ व्यस्तिवाचक इसके अतगत नाम मवनाम मकेतवाचक मापेक्षक सबधवान सबोच्य रहे हैं।

हिन्दी उद्गू की पारिभाषिक शादावली को भी साथ के साथ रखा गया है जम अब्जम—लाजिम, अबत्रिम धातु—मस्दरि वजर्द

दूस प्रकार यह व्याकरण बिल्कुल नवीन दृष्टिकोण से लिखा गया है और व्याकरण की परम्परा में अपना पथक स्थान रखता है।

इसी समय भारतेन्दु की 'हिन्दी व्याकरण' नीपक की एक छोटी सी पुस्तिका प्रकाशित हुई। यह बाकीपुर पटना में स० १८८४ में पुनः प्रकाशित हुई और उसमें केवल २० पृष्ठ हैं।

सन १८७५ ई० में कैलोग (Rev S H Kellogg) की हिन्दी व्याकरण A Grammar of the Hindi Language प्रकाशित हुई जिसमें हिन्दी की विभिन्न बोलियों के रूप भी दिये गये हैं। यह पुस्तक बहुत महत्त्वपूर्ण है। यह अब भी अग्रेजी व्याकरण की पद्धति पर लिखा गया है। इसमें विभिन्न शब्द भेदा के विवरण के अतिरिक्त वाक्य विन्यास पर पहली बार इतने विस्तार से लिखा गया है। अन्त में छन्दशास्त्र पर विस्तार से लिखा गया है। यह व्याकरण इतनी पसंद की गई कि कैलोग महोदय को सन १८९२ ई० में इसका द्वितीय परिवर्धित संस्करण

प्रस्तुत करना पड़ा। इस संस्करण में तो पुस्तक की कायापलट<sup>१</sup> ही हो गई है।  
वर्तमान संस्करण में हिन्दी उच्चारण पर ग्राहम वेली के नोट्स प्रारम्भ में दिये गये हैं।

हिन्दी की सभी बोनिया ने रूपा की तुलनात्मक तालिकाएँ प्रस्तुत की गई हैं । उदाहरणार्थ

हार्द हिन्दी	क नौजी	ब्रज	मारवाडी	मेवाडी	गढवाली
को तई	को	को कू कु	ने	ते	सरिण
कुमाउनी	नेपाली	बसवाडी	अवधी	रवाई	भोजपुरी
कणि, क	साई	बह बह	क	बह	बे को, लाग ला ले
इणि	साई	बाहु कु			ग्यातिर
	मगही			भयिली	
	बे लागी लेल ला ले		बे क क क रौ	नागी लेल ल ल	
	खातिर		खातिर		

सन १८७७ में अध्याप्यप्रसाद खत्री का हिंदी व्याकरण विहार बंधु प्रेस बांकीपुर, पटना से प्रकाशित हुआ। इस व्याकरण की विशेषता यह है कि इसमें एक साथ हिंदी और अंग्रेजी में पाणिनिपिक गद्य दिया गया है।

स्वर    ह्रस्व    इच्छत    स्वर    Vowel

स्वर वह है जो व्यंजन का सहायता द और जिसका उच्चारण आप ही हा मक। इसका एकमात्र कारण यही था कि खत्री जी की यह मान्यता थी कि हिन्दी और उर्दू में भिन्नतर केवल लिपि के कारण है और यदि फारसी लिपि में न लिखी जाय तो उर्दू हिन्दी ही है। इस सिद्धान्त के अनुरूप ही उन्होंने हिन्दी व्याकरण की भी रचना की थी। यही कारण है कि समस्त पुस्तक में यही पद्धति अपनायी गई है। यह पुस्तक केवल ३६ पृष्ठों की है और इसमें ही चौथे भाग में व्याकरण के ही अंग के रूप में विराम चिन्हा पर भी संक्षेप में विचार किया गया है।

व्याकरण के पहले खंड में उच्चारण पर विचार किया गया है। इस भाग में व्यंजन तथा स्वर के वर्णन जाने में अक्षरभेद की चर्चा करते हुए लघुनाम शुद्ध लिखे गये हैं जैसे,

व्यंजन    सवर्ग    सब    शवर्ग    चमड़ा    धम    वधा    श्रग    खद  
स्वर    निन    वासग    दीन    इलिया

दूसरे छंद में 'ज्ञान विचार' के अन्तर्गत 'गन्तव्य' व 'भेद' माना जा रहा है।  
जिसे हमें है। वास्तविकता में 'ज्ञान' तथा 'गन्तव्य' के रूप में स्वतंत्र की प्रकृति

I The brief section in the 1st edition on Dialectic peculiarities has been enlarged to a full chapter The philological notes have been thoroughly revised, and to a considerable extent rewritten page V

पर आठा बारवा म लिय है । सबनाम के पाँच भेज स्वीकारलिय गये हैं । पुरुषवाचक, दशक, सबधी प्रदनायक सामान्य । प्रदनायक के अन्तगत स्वीकारवाचक तथा मुधि बोधक की चर्चा है ।

कुछ बातें बाकी भ्रामक भी हैं । जम अव्यय का पाठ्यभाजीन' कहा गया है जिसकी परिभाषा दी गई है, अव्यय वह है जो बिना सहायता दूसरे गण के अपना अर्थ न बतावे—पटन स बनारस तर' । यहाँ में का अर्थ प्रारम्भ और तर का अर्थ समाप्त (अन्त) है । अव्यय के अन्तगत क्रियाविशेषण विभक्ति समुच्चय बोधक विस्मयादिबोधक निम्न गये हैं । तीसर गण में वाक्यविचार की चर्चा है । वाक्य बनाने की १६ रीतियाँ दी गई हैं । इस प्रकार कुछ स्पष्टता आ छोड़कर इस व्याकरण का कोई विशेष महत्त्व नहीं है फिर भी व्याकरण के अध्ययन का इसका अवलोकन करना चाहिए ।

सन् १८७६ ई० में गोविन्द देव शास्त्री का बालबोध मिर्जापुर से प्रकाशित हुआ ।

१८८१ १८८० सन् १८८१ ई० में नेवी प्रसाद कृत भाषा तत्त्व नीपिका शीपक पुस्तक प्रकाशित हुई ।

सन् १८८२ ई० में लदन से पामर कृत हिन्दुस्तानी के साथ फारसी अरबी का सरल व्याकरण Simplified Grammar Hindustani Persian Arabic शीपक में प्रकाशित हुआ । सन् १८८२ ई० में ही पितामह जो लदन से हिन्दी में युवन प्रकाशित किया उसमें व्याकरण पर भी विचार किया गया है ।

सन् १८८२ में ही सागर के श्री विनायक राव ने व्याख्याविधि शीपक में गणपतिलाल चौधे इन्स्पेक्टर के आदेश से चन्द्रप्रभा प्रेस बनारस से प्रकाशित कराई । इसका दूसरा संस्करण सन् १८८७ में निकला । प्रस्तुत पुस्तक के प्रारम्भ में १८ पृष्ठों की व्याकरण की संक्षिप्त रूपरेखा देकर पृष्ठ १६ से व्याख्याविधि दी गई है । गण-भक्त के अन्तगत सना सबनाम विशेषण क्रिया, क्रियाविशेषण शब्दयोगी, उभयावयी विस्मयादिबोधक अव्यय का विवरण दिया गया है ।

समुच्चयबोधक को उभयावयी कहा गया है जिसके दो भेज किये गए हैं मिलान—और तो फिर अर्थ, कि एव यदि यथा, जो भी पुन, अलगाने—पर परन्तु वा, किन्तु चाहे जा क्या, अथवा ।

सन् १८८३ में सूर्य प्रसाद मिश्र का भाषाकुमुदवाचक प्रकाशित हुआ । यद्यपि यह संस्कृत पद्धति पर है फिर भी अंग्रेजी का प्रभाव पड़ा है । इसके दूसरे अर्थ ही गभूलाल कालूराम गुल का भाषाचन्द्रिका शीपक में व्याकरण इलाहाबाद से प्रकाशित हुआ । इसका द्वितीय संस्करण सन् १८८८ में पुन प्रकाशित हुआ । यह व्याकरण पद्य में है गणन के सबध को शब्दयोगी दर्शाया ।

पास, साथ, ऊपर चले, बाहिर, भीतर जाय ।

सन् १८८५ ई० में बिहारीलाल चौधे कृत पदवाक्यबोध शीपक से एक लघु व्याकरण (पृष्ठ सं० ६२) बिहार बहु प्रेस, बाकीपुर पटना, से प्रकाशित हुई । यह

वैज्ञानिक रीति से लिखी गई है।

सन् १८८६ ई० में मुस्तानपुर में माहन्साल बत 'वैयाकरणरत्न' प्रकाशित हुआ। सन् १८८६ ई० में बनारस में दीनानाथ दत्त का 'हिन्दुस्तानी व्याकरण' प्रकाशित हुआ।

सन् १८८७ ई० में रामचरणमिश्र बत भाषाप्रभाकर 'गीष्म' में व्याकरण बाकीपुर, पटना, में प्रकाशित हुई। व्याकरण १७६ पृष्ठा में है। इसका नया सम्पादन सन् १९१३ में प्रकाशित हुआ। सम्पादन प० अश्विनीकुमार व्यास<sup>१</sup> की पर्याप्त टिप्पणियाँ दी गई हैं। निबन्धनात्मक जो व्याकरण की भी इसमें अनाचना की गई है और इस व्याकरण में ही यह घोषणा की गई कि 'भाषाभाषाग्रन्थ' गीष्म में पाणिनीय वररवि हम्बट्ट धारि की पद्धति पर हिन्दी की व्याकरण भी बनाई जाएगी। व्यास जी का योगदान ये कारण इसमें मौखिकता के दान होत हैं। जैसे—सना के पाँच में भिन्न प्रकार में रिय जा सकते हैं वृत्तवाचक—रेतनवाला, वत वाचक—रेतताहुमा, वरगवाचक—रती भाववाचक—रेतन क्रियाद्योतक—रेतता हुआ। कर्ता की परिभाषा का चित्रण किया गया है 'उत्ता उस कहते हैं जिसमें व्यापार हो अर्थात् जो किया जा कर। हमारे तीन चिह्न हैं १ 'तूय'—'तूय' में कोई यह न समझे कि एक मुना देना चाहिए जिस 'राम' परन्तु यहाँ 'तूय' में तात्पर्य यही है कि चिह्न का अभाव। और जान पड़ता है कि विभवयन्त्र का पत्र मानन के लिए न कुछ को भी कुछ माना है। सम्बन्ध में ऐसे ठिकाने मक्काप कर देत हैं<sup>२</sup>। २ ने। ३ से।'

इस व्याकरण में राजा निबन्धनात्मक मिनारहिन्द की व्याकरण भाषाचन्द्रिका हरगोपालापाध्याय प० देवीगीन आदि के व्याकरणा की आलोचना स्थान-स्थान पर है। जैसे राजा निबन्धनात्मक यहाँ, वहाँ को सना मानत हैं जैसे वहाँ में वहाँ से यहाँ से माना गया है। इस व्याकरण की राय में इनको अव्यय ही मानना उत्तम है क्योंकि कर्तावाचक इनका नहीं होता है।

सन् १८९० ई० में सन्तन मर्सेपसन की 'The Syntax and Idiom of Hindustani' शीषक पुस्तक प्रकाशित हुई। इसी वर्ष सेंट जॉन रतीडे का व्याकरण भी प्रकाशित हुआ। इन वर्षों प्रकाशित होने वाले व्याकरणा में स्मिथ का 'तूय व्याकरण' तथा बनारस से मुद्राकर द्विवेदी का 'हिन्दी भाषा का व्याकरण' (१८९३ ई०) उल्लेखनीय हैं। इसी वर्ष भागलपुर से अश्विनीकुमार व्यास की पुस्तक विभक्ति विलास भागलपुर से प्रकाशित हुई।

१८९१ ई०० सन् १८९२ ई० में बाकीपुर, पटना से बालिकाप्रसाद तिवारी बत 'भाषायाकरणदण्ड' प्रकाशित हुआ। इसी वर्ष देवीन्याय जी की 'भाषाशब्द निरूपण' प्रकाशित हुई।

१ भाषा प्रभाकर पृथक् में १८८५ ई० में प्रकाशित हुई।

२ आज पदविज्ञान में 'तूय' रूप में की वचा विशेष महत्त्व रखती है।

सन् १८६३ ई० में दरभंगा से इस्पकिटिंग पंडित गोबुल प्रसाद शर्मा भाषा मासपत्र प्रकाशित हुई। इस व्याकरण में ६६ पृष्ठा में वर्णविचार गण विचार वाक्य विचार तथा छंदरचना पर विचार किया गया है। संस्कृत के शतव्य विधान तथा पदविधान पर भी चर्चा है। उच्चारण प्रक्रिया को समझाने के लिए गणक उच्चारण रोमन लिपि में दिये गये हैं। जैसे—

वर्ण Vansh वारिण Varid वर्ण Varg ।

दिल्ली आगरे की बोली को महत्त्व दिया गया है। लिग नियम में नियम ८ देकर पृष्ठ १३ पर लिखत हैं जिस गण को पहले ज्ञान अर्थात् दिल्ली आगर वाले पुलिग बोलत हैं उसको पुलिग और जिस गण का स्त्रीलिग बोलते हैं उसका स्त्रीलिग बोलना उचित है जिस काम बीज आदि पुलिग हैं और आल आग हवा दवा भाहू लाहू इट दीवार आदि स्त्रीलिग हैं।

अथर्व का विवेचन इस व्याकरण में भी नये ढंग से है। इसने अतगत १ क्रियाविशेषण २ उभयावधी ३ शब्दयोगी वा सम्बन्धवाचक ४ विस्मयादिबोधक उभयावधी के पुनः ५ भेद किया गया है ममुच्चयवाचक वारणवाचक स्वरूपबोधक पक्षान्तरबोधक, सकेताद्यक आदि।

विस्मयादिबोधक के अन्तर्गत दुःख धिक्कारवाचक हय ध्वन्यावाचक, सम्मुखीकरण तीन भेद हैं।

सन् १८६५ ई० में सपिटनट ग्रीन का आरम्भफोड से A Practical Hindustani Grammar नीयक व्याकरण प्रकाशित हुआ। इसी वर्ष एल० मैकार्थी जी० रन्किंग तथा जी० स्माल के छोटे छोटे व्याकरण प्रकाशित हुए। इन व्याकरणों का कोई विशेष महत्त्व नहीं है।

रायल एशियाटिक सासायटी के जनरल में भी कई लेख प्रकाशित होते रहे हैं जिनमें से बलात्मक स्वाराधात पर सन् १८६५ में प्रकाशित लेख महत्त्वपूर्ण है।

सन् १८६६ ई० में बनारस से A Grammar of Modern Hindi नीयक से प्रकाशित हुई। इसके पूर्व सन् १८६५ ई० में ही श्री-द्व महोदय नोटस ग्रामर द ग्रामर भाव तुलसीदास ज रामायण प्रकाशित करवा चुके थे। यह एक छोटा सा व्याकरण था जिसमें केवल २६ पृष्ठ थे। आपन हिन्दी व्याकरण में अंग्रेजी पद्धति पर अंग्रेजी भाषा भाषी लोगों के लिए हिन्दी भाषा बोलने तथा लिखने के नियमों का विश्लेषण प्रस्तुत किया था।

सन् १८६७ ई० में डा० रामनारायणसिंह का बाकीपुर, पटना, से 'हिन्दी व्याकरण' प्रकाशित हुआ। इस व्याकरण में भाषा के तीन रूप प्रस्तुत किये गये हैं स्वाभाविक, बोलने की लिखने की।

इस पुस्तक में ही हिन्दी के तदभव गणों की एक सूची भी दी गई है जिसका अपभ्रंश नाम दिया गया है।

सन् १८६७ में ही श्री नारायण शास्त्री पटवर्धन कृत 'भाषाचन्द्रिका' राज राजवरा प्रेस, बनारस से प्रकाशित हुई। इसमें केवल ७२ पृष्ठ थे। व्याकरण काई

विशेष महत्वपूर्ण नहीं थी। सना के अन्तर्गत ही जातिवाचक गुण, भाव तथा सव-  
नामा को सम्मिलित किया गया था। इसी वष मद्रास से भी एव 'हिंदुस्तानी भाषा  
सीखने का सरल तरीका' प्रकाशित हुआ।

सन् १८६६ ई० में जे० विमन की परिस से 'Manual de la Langue  
Hindustani' शीपक पुस्तक आयी।

गुरु जी का 'हिंदी व्याकरण' तो बहुत बाद में प्रकाशित हुआ और उससे  
बहुत पूर्व २१ मार्च १६०० को भाषावाक्य पृथक्करण पहिला भाग 'गीतक' में पुस्तक  
चन्द्रप्रभा प्रेस बनारस से प्रकाशित हुई। इस ग्रन्थ में आगरकर कृत 'वाक्यमीमांसा'  
मि० पाण्य कृत 'भाषातत्त्वदीपिका', मारले कृत 'एनानिमिमि आफ सटमज' तथा  
प्लाट कृत 'हिंदुस्तानी व्याकरण' का उल्लेख मिलता है। ५१ पृष्ठ के इस छोटे से ग्रन्थ  
में भाषा भास्वर में विशेष रूप से सहायता ली गई है। इस पुस्तक पर अंग्रेजी  
पद्धति का पूरा-पूरा प्रभाव दिखाई देता है।

इसके अनन्तर उन्होंने सरस्वती में अंग्रेजी में ग्रहण किया गया विराम चिह्न  
के हिंदी रचनाओं में प्रयोग के सम्बन्ध में दो नैव लिखे थे। धीरे धीरे आगे चलकर  
जा गुरु जी ने हिन्दी व्याकरण प्रस्तुत की उसका बीजारोपण १९वीं शताब्दी के  
विलकुल अन्तिम चरण में हो चुका था।

१६०१ १६१० सन् १६०१ में मुगलवाद में भाषा प्रतीप 'गीतक' में एक  
व्याकरण पुस्तक प्रकाशित हुई। इसके रचयिता मोहनलाल शर्मा थे। यह पुस्तक  
तीन भागों में प्रकाशित हुई। पहला भाग पृष्ठ १ से १३ दूसरा भाग पृष्ठ १०  
१४ से २६ तथा तीसरा भाग सन् १६०३ में प्रकाशित हुआ। पुस्तक माधारण है।  
मनोवनात्मक, समुच्चयक, अपक्षायानक, वारकात्मक, उपमाधानक, हपादिधानक  
आदि सभी निपात के अन्तर्गत स्वीकार किया गया है।

इसी समय बनारस में माधवप्रसाद पाठक के कई व्याकरण प्रकाशित जा  
जिनमें से हिन्दी व्याकरण मानवोद्य तथा नत्त्वज्ञान उल्लेखनीय हैं। इस व्याकरण का  
गिनु तथा भूल सूत्र रूप में प्रकाशित हुए।

सन् १६०१ में ही शतलाम से पी० एन० दरमावसिंह कृत व्याकरणमार  
'गीतक' पुस्तक प्रकाशित हुई।

सन् १६०२ में भागलपुर से राजाराम कृत 'भाषाप्रतीप' का छपा सम्स्करण  
प्रकाशित हुआ। प्रथम संस्करण इससे पूर्व प्रकाशित हो चुका होगा। व्याकरण  
वाक्य में है सना क्रिया अव्यय आई। माधक के यह भी बताइ ॥

इस व्याकरण का कोई विषय महत्व नहीं है।

सन् १६०३ में बिहारखु छापाखाना बांकीपुर पटना में पी० बंगव राम  
भट्ट की हिन्दी व्याकरण प्रकाशित हुई। व्याकरण की परम्परा में यह व्याकरण  
विशेष महत्व रखती है। परवर्ती सभी व्याकरणा न इसकी प्रणामा की है। व्याक  
रण के प्रारम्भ में ही भाषाभाषा तथा ८ ॥

साधुभाषा—जो पानी अगर मिला धानि म साधारण धान पर लिखी, पढ़ी और बोली जाती है वह पान मय प्राण को तब बना दिया है। धानिया म म लिखी पर प्रात की। प्राय जिसम गजपाती होती है। बाबो टरगाता मममा जानी है ध्याता वही मार दण का साधारण साधुभाषा मान ली जाती है। पानी पानी राजाधा के गज म लिखी ही मय गजपाती पनी दूसरा म लिखी ली बालात टवसाली या परी या मने या पररी मममी जाती है। धाण्य लिखी धान विम उचन विभक्ति शिवाया के पान राजमरी और धनुरा (काणाग) धानि पान धान जमा करत हैं उमी का टोत मान वरक उमता धनुराण ध्यागभव मय लिखी का करना चाहिए।

हिन्दी ध्वनि विज्ञान की दृष्टि से भी इन व्यंजन्य का महत्त्व है। सरस्वी फारसी की क ए, स ड ष आदि व्यंजनों का विवचन प्रस्तुत किया गया है जम ज—मज्जहा मुखा आदि गण म ड का वमा ही उच्चारण होता है जमा ध्वनेत्री क (Pleasure) म—जह स शिखलाया जाण्णा। उस युग की दंत शिखरा शब्द विवचन विषय महत्त्व रखता है। फारसी की धातु—भाजमा तगास पात तमा सरस्वी की धातु—बल्ल, प्लम गुण तलज माणि की धुरी मूची भी गई है।

विदग्धा शब्दा म भरती पारमा सुर्वा मुरादीय छात्रि गल्ग की सूचिया प्रस्तुत की गई हैं । अव्यय व दो भा किय गय है । व्यीर्गान्तर—द्वय तद्धितात सुप्तविभ०, समस्यन्त लिय गए हैं । अशोत्पत्तिक—स्माः सूची दी गई है जिसम ता ताभी तो तथापि आदि लिख गए हैं ।

व्याख्यान म पद परिचय नाथव वाग्धारा (मुहावग) गजमरा वास्य  
विद्यास चित्तविचार आदि पर भी विवचन प्रस्तुत किया गया है। यही व्याख्यान  
भाषासामुदायक नाम म भी है।

सन् १९०४ ई० में पन्नालाल की छोटी सी पुस्तक 'लिंगबोध' प्रकाशित हुई।

सन् १९०५ में मुजफ्फरपुर से रामनाथराय की व्याख्यान वाक्यबोध शीपक  
में प्रकाशित हुई।

मन् १६०६ ई० में बाबू श्यामसुन्दर दास की हिन्दी उर्दू की 'सामर' का भाग १ प्रकाशित हुआ। मूल्य व्याकरण चार भागों में है १ ब्रह्मालो, शब्दभेद (पाठ श्राव स्पीच) २ व्युत्पत्ति (एटीमोलॉजी) ३ वाक्यविचार (सिन्टेक्स) ४ प्राज्ञापी छान्विचार। यह पुस्तक भी कोई विषय महत्त्व नहीं रखती।

इस वष हो हनरायड का ताहौर और लन्न म एक साथ Hindustani for every day गोपक पुस्तक प्रकाशित हुई।

सन् १९०७ में अग्रजो व्याकरण के ढंग पर इंडियन प्रेम में गंगाप्रसाद कृत हिन्दी व्याकरण प्रकाशित हुआ। इस व्याकरण में सज्ञा, विनेषण, भवनात्म क्रिया, क्रियाविनेषण सत्र-अवाचक, ममुच्चयवाचक, विस्मयादिवाचक आदि शेषको में विचार दिया गया है। यही आधार आगे के सभी व्याकरणों में अपनाया गया। इस पुस्तक

के अन्त में हिंदी व्याकरण का नक्शा' प्रस्तुत किया गया है जिसमें छंद विभाग वाक्यविभाग, शब्द विभाग, वरुण विभाग आदि उपशीर्षक हैं।

इसी वर्ष प्रयाग से प्रकाशित आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की पुस्तक 'हिंदी भाषा की उत्पत्ति' में भी व्याकरण सम्बन्धी सामग्री यत्र तत्र है। लंदन से एफ० पी० ल्यूजी की पुस्तक प्रकाशित हुई है। मदन मोहन मालवीय की 'हिंदी व्याकरण' भाग १ में आयी। सन् १९०७ ई० में प्रयाग से भाषाविद चन्द्र जैन की 'हिंदी व्याकरण' प्रकाशित हुई।

सन् १९०६ ई० में फिनीट की लंदन में व्याकरण सम्बन्धी पुस्तक प्रकाशित हुई जिसका विवरण इस प्रकार है, Hindustani stumbling Block, being difficult points in the Syntax and Idiom of Hindustani explained and exemplified

सन् १९१० में मुम्बई में बन्नीनारायण सिंह की छोटी सी ३६ पृष्ठों में व्याकरण भाषादिवाचक शीर्षक से प्रकाशित हुई। यह व्याकरण विशेष रूप से बिहारवालों के लिए लिखी गई थी।

इस वर्ष ही इन्दौर के कल्याणलाल उपाध्याय लिखित 'हिंदी व्याकरण प्रवर्णिका' नियममांगर प्रेस बर्बई से प्रकाशित हुई। इस व्याकरण में स्पष्ट रूप में यह लिखा गया कि कोई कोई अ तथा 'अ' का भी स्वरों में भिन्न अंश हैं परन्तु ये स्वर नहीं हैं। व्यंजन का असली रूप हल चिह्न ( ) व्यंजन सहित है जैसे, क ख ग, घ ङ परन्तु भाषा में इनका हल चिह्न उड़ाकर लिखने की परिपाटी पड़ गई है। मस्कृत की पद्धति पर जो बतनी चल रही थी और उच्चारण नितान्त भिन्न हो चुका था उन शब्दों की नई उतनी ही और स्पष्ट संकेत दिया गया जम—

काच काच न कि काच ।

बूढ़, बूढ़ न कि बूढ़

भाति, भाति न कि भान्ति

नियम २३ में 'औ' के उस समय प्रचलित उच्चारण का देन का प्रयास किया गया है

नौकर—नऔकर

और—अऔर

नियम ३४ में लिखा गया है भाषा में अकारान्त शब्दों का हलन्त जसा उच्चारण होता है उसे किस—किस, जप—जप, मन—मन ।

व्याकरण काव्यमय भी है, जैसे क्रियाविशेषणा को इस प्रकार पद्यबद्ध किया गया है

बहुत, कुछ ऐसे ही शब्द

अतिशय अधिक विरले, दायरे ।

इधर, उधर नेरे जहाँ तहाँ

दूर निकट समीप, यहाँ, वहाँ ।

इसका दूसरा भाग सन् १९२२ में प्रकाशित हुआ ।

श्रीसदो गताब्दी के इस प्रथम दशक के व्याकरणों में केशवराम भट्ट के व्या



करण के बाद दूसरा अत्यधिक महत्वपूर्ण व्याकरण म० म० प० रामानुज के द्वारा है। अभिाव हिन्दी व्याकरण जो भाषाविज्ञान के आधार पर तैयार किया गया हिन्दी व्याकरणकार नीलम म मन् १९१० म हिन्दी द्वािर्भेदों के कानी व्याकरण म प्रकाशित हुआ। गुप्तार के दिग्गो गर्द इस मन्त्र ॥ शर्मा जी के उपाध्याय म लिखा है गर्द यह हूण मी निवचनामन्त्र के आधार पर एक नवीन शैली के व्याकरण की रचना कर स्वनामर म प्रकाशित करवाया था। यह व्याकरण शरी का नया आविष्कार है। इस व्याकरण का एक दवनामर के सम्पादन का बड़ा उत्कर्ष हुई कि इस शरी का एक विस्तृत व्याकरण बन पर धवगर के धभाव म ऐसा व्याकरण नहीं बन सका। मन् यह वगीय गिना विभाग के अध्यक्ष महामन्त्र के ध्याना नुसार मीने हिन्दी व्याकरण और वाक्पत्रना के पड़ान के प्रसार पर एक गतिज निवन्ध लिखा था और उगम म मूचित किया था कि प्राचीन गता के व्याकरण धनुडिया से भरे हैं।

इस प्रकार एक व्याकरण का श्रेय दवनामर के सम्पादक बाबू यगान्तन प्रवीरी को है।

यह व्याकरण वस्तुतः नवीन गली म है। प्रारम्भ म सिद्धान्त रूप म एक या दो परिच्छेद लिखे जाते हैं और बाद म उनका आधार पर ही प्रश्न। एक व्याकरण म कुछ मौलिक बातों की धार सबप्रथम सवेत मिलना है यद्यपि पारिभाषिक गतावनी परम्परागत ही प्रवाग म साई गई है जिसम भ्रम उत्पन्न हो सक्ता है कि भी जो कुछ लिखा गया है वह अत्यधिक महत्वपूर्ण है।

संज्ञा के दो लिंग दो विभक्ति और दो वचन होते हैं।

नाम से और धातु स कुछ प्रत्यय एक आते हैं जिन्हें विभक्ति कहते हैं। नाम म दो विभक्तियाँ आती हैं—प्रथमा और द्वितीया। इस पर पादटिप्पणी दी गई है सस्कृत आदि प्राचीन भाषाभाषा म सात विभक्तियाँ का देखकर हिन्दी आदि प्राधुनिक भाषाभाषा म भी विचारगून्य व्याकरण लेखकों म सात विभक्तियों की कल्पना की है। भागे स्पष्ट दिखलाया गया है कि हिन्दी म दो ही विभक्तियाँ हैं। सस्कृत की विभक्तियों के बदले हिन्दी में वैसे काम चलता है सो भागे दिखलाया गया है।

प्रथमा दो प्रकार की होती है साधार और सम्बोधनाधक। प्रथमा और द्वितीया दोनों म दो वचन होते हैं—एकवचन और बहुवचन। एक को कहना होता है एक वचन होता है और एक स अधिक कहना होता है बहुवचन आता है।

प्र० सा०

द्वि०

प्र० सं०

घोड़ा

घोड

घाड़ा घोडे

घाडे

घोड़ा

घाडो

अव्यय के चार विभाग किये गये हैं—कारवाक्य, क्रिया विशेषण, याजक ममुच्चायक और शेषक। कारवाक्य वे हैं जो दो शब्दों का सम्बन्ध बताते हैं। जैसे का न इत्यादि। जो दो वाक्यों का सम्बन्ध बताते हैं वयाजक हैं जैसे और या इत्यादि। जो क्रिया या गुण म विशेषता बताते हैं वे क्रिया विशेषण हैं। जैसे—

सूत्र घीरे इत्यादि । जा अपने ही स पूरा अर्थ देकर एक ही शब्द का अलग वाक्य बनाते हैं वे शेषक हैं । जैसे 'आ अरे ओ' इत्यादि ।

कुछ नवीन पारिभाषिक शब्द दिये गये हैं जस नामधातु के लिए नामज धातु और वृद्धन्त के लिए 'धातुज नाम' ।

अन्त में वाक्यविभाजन और पदनिर्देश, 'वाक्य पञ्चवर्तन' 'विराम' लेख गनी पर विवेचन है । क्रिया के अनुसार वाक्य के तीन भेद अर्थ के अनुसार वाक्य के चार भेद, सम्बन्ध के अनुसार वाक्य के दो प्रकार तथा व्याप्ति के अनुसार वाक्य के दो भेद किये गये हैं समस्तगामी और अल्पगामी । स्वल्प के अनुसार वाक्य तीन प्रकार के माने गये हैं—गुढ़ ससृष्ट और सवीण ।

व्याकरणा की परम्परा में यह व्याकरण कुछ सीक में हटकर लिखी गई है । लेखन के पीछे मौलिक चिन्तन है और हिन्दी की प्रकृति तथा प्रवृत्ति का ध्यान रखा गया है । पता नहीं क्या इस व्याकरण का ५० अम्बिका प्रसाद बाजपेयी ने अपना पुस्तक 'हिन्दी कौमुदी' में उल्लेख करते हुए भी महत्त्व की दृष्टि में केलाग तथा केदाराम भट्ट की व्याकरण के बाद इसका उल्लेख नहीं किया है ? इस दशक में मन् १९०२ ई० में श्री विद्वान् यमेल्ला द्वारा रचित 'हिन्दुस्तानी व्याकरण' का भी प्रकाशन हुआ ।

हिन्दी व्याकरणा की यह दीर्घ परम्परा ही कामताप्रसाद गुरु के हिन्दी व्याकरण की आधारगिला बनी है ।

## हिंदी भाषा-विश्लेषण की परंपरा

आधुनिक भारतीय आय भाषाशास्त्र में हिंदी का अपना विशिष्ट स्थान है। पिछले लगभग ३५० वर्षों से हिंदी भाषा का विश्लेषण किया जा रहा है। आज आवश्यकता इस बात की है कि सम्पूर्ण विश्लेषण का उचित आकलन किया जाए। यह तभी सम्भव है जब विश्लेषित सम्पूर्ण सामग्री एक स्थान पर उपलब्ध हो। प्रस्तुत लेख में यही प्रयास किया गया है। ५० चंद्रधर शर्मा गुनेरी का पुरानी हिंदी तथा ५० चंद्रवली पांडेय के अनेक ग्रंथ ऐसे हैं जो किसी वय विशेष में विभाजित करके प्रस्तुत नहीं किए जा सकते। पांडेय जी के बहुत सारे छोटे बड़े ग्रंथ आज महज उपलब्ध भी नहीं हैं। फिर भी भाषा विश्लेषण की दृष्टि से इन ग्रंथों का विशेष महत्त्व है। प्रस्तुत लेख में हिंदी भाषा विश्लेषण की परंपरा को तीन वर्गों में रख कर प्रस्तुत किया जा रहा है (१) व्याकरण (२) भाषा विज्ञान (३) काश। निबंध के अंत में विभिन्न यक्षिण्या के विभिन्न याग्यन का उल्लेख भी किया गया है।

### १ व्याकरण<sup>१</sup>

हिंदी व्याकरण के अध्ययन का प्रारम्भ सत्रहवीं शताब्दी के अंत्य चरण में मानना होगा। तुहफतुल हिंद शीघ्र से फारसी भाषा में ब्रजभाषा के व्याकरण काय और अलकार से सम्बद्ध ग्रंथ का उल्लेख डा० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या ने ऋतम्भरा नामक निबंधसंग्रह में किया है (पृ० १४३-१४४)। इस पुस्तक में ध्वनि और रूप रचना सम्बन्धी व्याकरणिक नियम दिए गए हैं। डा० चाटुर्ज्या ने इसे हिंदी का एक विविष्ट रूप का सबसे प्राचीन व्याकरण कहा है। इसके पश्चात् कुछ ग्रंथ प्रयास किए गए जो आज उपलब्ध नहीं हैं। डा० मन् १७१५ ई० में जान जांगुमा कटेलेर के डच भाषा में लिख गए हिंदुस्तानी व्याकरण के दावीद मिल (David Mill) द्वारा लटिन भाषा में अनूदित ग्रंथ का उल्लेख मिलता है। यह ग्रंथ सूरत आदि दक्षिणी भू-भाग के राजा की वाज्जह हिंदुस्तानी<sup>२</sup> सीधन सिलान के लिए उपयोगी था। पुस्तक के अंत में लटिन हिंदुस्तानी अरबी फारसी का एक छोटा-सा गण-नाप है जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

व्याकरण की इस परंपरा को रूसी तथा अन्य मिशनरी विद्वानों ने आगे बढ़ाया जिनमें वाउएर लविदर गुग्ज हनडे जे० फर्गुसन मिलक्राइस्ट आदि

१ इस विवरण में पाश्चात्य विद्वानों द्वारा लिख गए व्याकरणों का संकेत करवा ही छोड़ा जा रहा है।

२ ऋतम्भरा—डा० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या पृष्ठ १५७।

के नाम उल्लेखनीय हैं।<sup>१</sup> इस दिशा में 'भौनवी अमानतुल्ला के तलक्ते से प्रकाशित हिंदुस्तानी भाषा के सम्बन्धित व्याकरण का विशेष महत्त्व है। ग्रन्थ सन् १८१० ई० में प्रकाशित हुआ तथा इसका नाम सफ ए उद्दू है। ग्रन्थ में १८११ ई० में नल्लू जी लाल ने राजभाषा का व्याकरण लिखा जो संस्कृत और अंग्रेजी दोनों अध्ययन पद्धतियाँ में प्रभावित है। इस व्याकरण का माध्यम अंग्रेजी है तथा इसमें अरबी फारसी की गणवली ग्रहण की गई है। तत्पश्चात् सन् १८४८ तक अनेक विदेशी विद्वानों के ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है जो विशेषकर लन्दन पेरिस तथा बर्लिन के प्रकाशित हुए। सन् १८४८ में इगा अल्साट्ज़ा और मुहम्मद हसन की पुस्तक 'दरम-ए-लन्हीन' मुगलवाद में प्रकाशित हुई जिसमें उद्दू (हिंदुस्तानी) भाषा के व्याकरण और मुहावरों पर प्रकाश डाला गया है। सन् १८५४ में देवीप्रसाद ने पानी ग्लोटे व्याकरण कलक्ते में प्रकाशित किया जिसमें फारसी अंग्रेजी, अरबी हिन्दी उर्दू और बंगाली के पाठ भी दिए गए हैं। सन् १८५६ में श्रीलाल कृत 'भाषा-चन्द्रोदय' प्रकाशित हुआ। इस व्याकरण की विवेचन-पद्धति प्राचीन है। लल्लू जी लाल के पश्चात् भारतीयों द्वारा लिखे गए व्याकरणों में इस ग्रन्थ का नाम सर्वप्रथम आता है।

सन् १८५७ के लगभग लिखे गए 'रामजसन के 'भाषा-तत्त्व-बोधिनी' ग्रन्थ का उल्लेख किया जाता है। यह ग्रन्थ बनारस में १८५८ ई० में प्रकाशित हुआ था। इसके पश्चात् सन् १८६६ ई० में 'नवीन चन्द्रोदय' शीर्षक में हिन्दी व्याकरण प्रकाशित हुआ। इसमें लेखक बाबू नवीन चन्द्र राय हैं। यह पुस्तक भी संस्कृत विज्ञान पण्य-पद्धति में प्रभावित है। सन् १८७० में हरिगोपाल पाध्ये की 'भाषा-तत्त्व-शीर्षिका' तथा गीतल प्रसाद गुप्त की 'गण प्रकाशिका' पुस्तकें प्रकाशित हुईं। सन् १८७१ में लखनऊ में हिन्दी 'नष्ट व्याकरण' प्रकाशित हुआ। इसके लेखक भगवत्प्रसाद मिश्र हैं। हिन्दी व्याकरण अध्ययन के इतिहास में पादरी एथरिंगटन का नामोल्लेख करना भी आवश्यक है। इनके व्याकरण भाषा शास्त्र की प्रगति हिन्दी के प्रसिद्ध व्याकरण पं० कामताप्रसाद गुरु ने भी की है। इस ग्रन्थ के निर्माण में पं० विष्णु-दत्त जी ने विशेष सहायता की थी। सन् १८७३ में सदाशिव लाल ने 'दलाहाबाद में जो ऐंसा उद्गम्य प्रकाशित किया उसमें व्याकरण सम्बन्धी महत्वपूर्ण बातें भी दी गई हैं। जान टी० प्लेट्स का प्रसिद्ध व्याकरण 'सके एन' रूप पश्चात् लन्दन में प्रकाशित हुआ। इसी वर्ष (सन् १८७४ ई०) लामान्तर गाम्ब्री की पुस्तक 'भाषा' प्रकाशित हुई। सन् १८७५ में राजा गिबप्रसाद मिश्र की हिन्दी व्याकरण और उर्दू व्याकरण की पुस्तक 'उद्दू मय' का नया प्रकाशित हुई। हिन्दी व्याकरण में नए ढंग से विचारण करने का प्रयास किया गया है। व्याकरण की

१ व्याकरण-परम्परा की विस्तृत सूची के लिए दक्षिण—श्री पुरुषोत्तम दास टंडन प्रसिद्ध ग्रन्थ—'हिन्दी भाषा के अध्ययन की परम्परा' लेख जो प्रस्तुत लेखक द्वारा ही लिखा गया था।

परम्परा में यह ग्रन्थ इतना विशिष्ट महत्त्व रखता है। इसी वर्ष (सन् १८७५ ई०) बेलगुवा का प्रसिद्ध व्याकरण प्रकाशित हुआ। इस ग्रन्थ में विस्तार से हिन्दी की विभिन्न बोलियाँ का तुलनात्मक अध्ययन भी किया गया है। सन् १८७७ में अयोध्या प्रसाद खत्री का लघु ग्रन्थ 'हिन्दी व्याकरण', पटना से प्रकाशित हुआ। सन् १८८१ ई० में देवीप्रसाद कृत 'भाषा-तत्त्व-शीर्षिका तथा सन् १८८३ में मूय प्रसाद मिश्र कृत 'भाषा कुमुद वाचक' प्रकाशित हुए। दूसरी पुस्तक समृत और अंग्रेजी दाना पद्धतियाँ के अनुकरण पर लिखी गई है। सन् १८८६ ई० में दा पुस्तकें प्रकाशित हुई—एक दीनानाथ शर्मा की 'हिन्दुस्तानी व्याकरण' तथा दूसरी माहनलाल कृत व्याकरण रत्न। रामचरण सिंह का भाषा प्रभाव शीर्षक से ग्रन्थ सन् १८८७ ई० में प्रकाशित हुआ। इस ग्रन्थ पर संस्कृत का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। सन् १८९० में हीरालाल काव्यापाध्याय लिखित छत्तीसगढ़ी बोली का व्याकरण नामक भाषा जिनका प्रियसन ने अनुवाद और सम्पादन किया था। यह व्याकरण बंगाल की रायल एग्नियाटिक सामायटी के जर्नल (Vol IX) में प्रकाशित हुआ था। १८९१ ई० में यह अलग से छपा।

सन् १८९२ में बालिकाप्रसाद तिवारी का 'भाषा व्याकरण दर्पण' तथा देवीदयान का भाषा शब्द निरूपण प्रकाशित हुआ। सन् १८९३ में व्याकरण सम्बन्धी तीन ग्रन्थ प्रकाशित हुए—(१) 'हिन्दी भाषा का व्याकरण—सुधाकर द्विवेदी (२) भाषा मातृशब्द—पं० गोबुलप्रसाद (३) विभक्ति विज्ञान—पं० अम्बिकादत्त 'याम'। इनमें दूसरा व्याकरण अधिक उपयोगी है। इन ग्रन्थों में बोल शब्द और वाक्य दोनों पर विचार किया गया है। आवश्यक स्थलों पर विभिन्न नियमों का निर्देश भी किया गया है। सन् १८९४ में गंगादत्त उपरेशी की कुमाऊँ और गढ़वाल के मुहावरों से सम्बन्धित पुस्तक प्रकाशित हुई तथा बाद में सन् १९०० में दहान पहाड़ी बोलियाँ पर एक ग्रन्थ अल्माडा से प्रकाशित किया। इसी वर्ष (सन् १९०० ई०) पं० बालिकाप्रसाद गुरु ने भाषा वाक्य पृथक्करण ग्रन्थ बनारस से प्रकाशित कराया। सन् १९०१ में पं० रामचरण शर्मा कृत मारवाड़ी व्याकरण प्रकाशित हुआ। सन् १९०३ में पं० कान्दराय कृत हिन्दी व्याकरण प्रकाशित हुआ। इस व्याकरण की स्पष्टता सभी बातों के व्याख्या द्वारा प्रशंसित है। सन् १९०४ में लिंग बोध शीर्षक से छोटी सी पुस्तिका प्रकाशित हुई जिसके लेखक पन्नालाल शान्तीवाल थे। इसके एक वर्ष बाद पं० चन्द्रधर नर्माल गुप्तेरी की अन्व नाम की पुस्तक मिलती है। सन् १९०७ में दो महत्त्वपूर्ण पुस्तकें प्रकाशित हुई—(१) महावीर प्रसाद द्विवेदी की हिन्दी भाषा की उत्पत्ति। इसके उपसंहार में कुछ व्याकरणिक विशेषताएँ यत्र तत्र उद्धृत की गई हैं। (२) गंगाप्रसाद लिखित हिन्दी व्याकरण। इस ग्रन्थ पर अंग्रेजी प्रभाव स्पष्ट है। सन् १९०८ में बालमुकुन्द गुप्त कृत 'हिन्दी भाषा' पुस्तक प्रकाशित हुई। सन् १९१० में तीन व्याकरण प्रकाशित हुए—(१) भाषा दिवाकर—बद्रीनारायण सिंह (२) हिन्दी व्याकरण प्रवर्धिका—कल्याणलाल उपाध्याय (३) हिन्दी व्याकरण सार—पं० रामानन्दर शर्मा। इनमें

तीमरा ग्रंथ बाबू यशोदानन्दन अखीरी की प्रेरणा से भाषा विज्ञान के आधार पर तैयार किया गया था। इस ग्रंथ की शैली नवीन तथा प्रभावशाली है। सम्पूर्ण विषय में वैज्ञानिकता अपनाए जाने का प्रयास किया गया है। सन् १९११ में गोविन्द नारायण मिश्र द्वारा 'विभक्ति विचार' पुस्तक प्रकाशित हुई। इसके पश्चात् प्रियमन के 'भारत के भाषा सर्वेक्षण' के विभिन्न भाग प्रकाशित हुए जिसका भाग ९ हिम्सा १ सन् १९१६ में प्रकाशित हुआ जिसमें पश्चिमी हिंदी पर विस्तार से विचार किया गया है। तत्पश्चात् सन् १९२० में पं० कामताप्रसाद गुरु का 'हिंदी व्याकरण' प्रकाशित हुआ। यह व्याकरण विस्तृत है तथा इसमें सैद्धांतिक और प्रयोगात्मक दोनों दृष्टियाँ से विचार किया गया है। व्याकरण की परंपरा में इस ग्रंथ का स्थान आज भी सर्वोपरि है। इसके 'मध्यम', 'सम्प्लि' अनेक संस्करण अब तक प्रकाशित हो चुके हैं।

गुरु जी के व्याकरण के पश्चात् सन् १९२४-२५ में बाबू श्यामसुंदर दाम की अनन्त पुस्तकें प्रकाशित हुईं जो मूलतः भाषा, वैज्ञानिक हैं। यत्र तत्र उनमें व्याकरणिक सामग्री भी उपलब्ध हो जाती है। इसी प्रकार १९२६ में दुनीचन्द की प्रसिद्ध पुस्तक 'पंजाबी और हिंदी का भाषा विज्ञान' प्रकाश में आई। यह पुस्तक भाषा विज्ञान की है फिर भी इसमें पंजाबी हिंदी व्याकरण पर विचार प्रकाश डाला गया है। इसी वर्ष डा० सुनील कुमार चाटुर्ज्या की बंगाली भाषा की उत्पत्ति और विकास' अंग्रेजी में प्रकाशित हुई। इसमें विहारी की विभिन्न बोलियों के भी उदाहरण दिए गए हैं। इसके पश्चात् लगभग १० वर्षों तक विद्वानों का ध्यान भाषा विज्ञान की ओर आकृष्ट हुआ। सन् १९३७ में डा० धीरेंद्र वर्मा की पुस्तक 'ब्रजभाषा व्याकरण' प्रकाशित हुई। आधार में संक्षिप्त होत हुए भी इसमें वैज्ञानिकता का आधार ग्रहण किया गया है। इसके बाद पं० विनोदीदास वाजपेयी लिखित 'ब्रजभाषा का व्याकरण' प्रयाग से प्रकाशित हुआ, इसका दूसरा संस्करण सन् १९४३ में छपा। वाजपेयी जी का 'राष्ट्रभाषा का प्रथम व्याकरण' ग्रंथ सन् १९४६ में बलवत्ते से प्रकाशित हुआ। सन् १९५० में दुनीचंद की प्रसिद्ध पुस्तक 'हिंदी व्याकरण' हाजिपूर में प्रकाशित हुई। गुरु जी के व्याकरण के पश्चात् वैज्ञानिक दृष्टिकोण का आधार पर लिखी गई यह पहली पुस्तक थी जो सशक्त विद्वानों द्वारा प्रमाणित हुई है। यह व्याकरण मूलतः बखानात्मक है। वहीं वहीं ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक दृष्टि में भी विचार किया गया है। तत्पश्चात् सन् १९५७ में पं० विनोदीदास वाजपेयी लिखित हिंदी भाषा विज्ञान' ग्रंथ प्रकाशित हुआ। व्याकरण तथा भाषा विज्ञान दोनों विज्ञानों में इस ग्रंथ का योगदान महत्वपूर्ण है। सम्पूर्ण ग्रंथ रचित करने में है तथा विद्वान् लेखक के मौलिक चिंतन का परिचायक है। सन् १९५८ में तीन व्याकरण प्रकाशित हुए—(१) डॉ० भालानाथ तिवारी लिखित 'हिंदी भाषा का सरल व्याकरण', (२) भारत सरकार द्वारा अंग्रेजी में 'आधुनिक हिंदी का मूल व्याकरण' (३) शान्ति कण्ठ मिश्र तथा साधवत धाप्ते का 'हिंदी व्याकरण'। इनमें तीमरा व्याकरण यन्त्रुत पहुँचे लिखा गया था। १९५८ में इनका तीमरा संस्करण प्रकाशित हुआ। इसी



प० किशोरीदास वाजपेयी कृत हिंदी शब्दानुशासन, और डॉ० ज म दीमशित्त कृत हिन्दी व्याकरण की रूपरेखा। दोमसित्त इसी विद्वान हैं तथा अन्य दोना विद्वान् भारतीय हैं। वस्तुतः एक अच्छे व्याकरण की आवश्यकता अभी भी बनी हुई है।

## २ भाषा विज्ञान

हिन्दी में भाषावैज्ञानिक साहित्य का प्रारम्भ सन् १९२४ ई० में माना जा सकता है किन्तु लगभग १९१० ई० तक कुछ सद्भावित ग्रन्थों के अतिरिक्त इस दिशा में बहुत कम कार्य हुआ। तत्पश्चात् भाषा विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में सम्बद्ध ग्रन्थ प्रतिवर्ष निरन्तर प्रकाशित होत रह रहे हैं। बहुत सी पुस्तकें तो केवल छात्राभ्यासयोगी हैं। ये पुस्तकें विभिन्न विश्वविद्यालयों में छात्रों के पाठ्य क्रम को ध्यान में रखकर लिखी गई हैं। इस प्रकार के ग्रन्थों में भाषा विश्लेषण परम्परा को न तो धारा ही बढ़ाया है और न चिन्तन की स्वस्थ परम्परा का विकास ही किया है। कुछ ग्रन्थ ऐसे भी प्रकाशित हुए हैं जो नीचे के व्याकरण ग्रन्थ हैं किन्तु उनमें प्रस्तुत विवेचन मूलतः भाषा वैज्ञानिक है। इसी प्रकार विभिन्न व्याकरण ग्रन्थों में भी भाषावैज्ञानिक सामग्री उपलब्ध हो जाती है। प्रस्तुत लेख में पुनरावृत्ति को बचाने का यथावत् प्रयत्न किया गया है। अतः विषय के आधार पर पीछे व्याकरण ग्रन्थों में तथा यहाँ भाषाविज्ञान ग्रन्थों में ग्रन्थों को पृथक् पृथक् वर्गीकृत करने दिया जा रहा है।

भाषावैज्ञानिक साहित्य को निम्नलिखित ६ वर्गों में रखकर प्रस्तुत किया जा सकता है। हम वर्गीकरण का आधार यही है कि प्रवृत्ति के आधार पर सम्बद्ध ग्रन्थ एक साथ रखे गए हैं—

(क) सद्धान्तिक ग्रन्थ

(ख) भाषा के इतिहास ग्रन्थ,

(ग) हिन्दी भाषा के किसी एक अंग विशेष अथवा प्रवृत्ति में सम्बद्ध ग्रन्थ

(घ) हिन्दी भाषा की एक बोली विशेष में सम्बद्ध ग्रन्थ

(ङ) किसी बलि अथवा ग्रन्थ की भाषा के अध्ययन में सम्बद्ध ग्रन्थ,

(च) अभिनन्दन ग्रन्थ भूमिकाएँ तथा निबन्ध संग्रह।

(ज) सद्धान्तिक ग्रन्थ—भाषा विज्ञान के सद्धान्तिक पक्ष में सम्बद्धित ग्रन्थ निम्नलिखित तीन वर्गों में रखकर प्रस्तुत किए जा सकते हैं—

(१) मौलिक—भाषाविज्ञान नीचे के मन् १९२४ में डॉ० क्षाममुन्दराम का ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। इस भाषा विज्ञान की पहली पुस्तक कहा जा सकता है। हिन्दी भाषा के आधार बनाकर कुछ ग्रन्थ पहले भी प्रकाशित हो चुके थे किन्तु सद्धान्तिक भाषा विज्ञान के प्रारम्भ का येय इसी ग्रन्थ को है। इसके एक वर्ष पश्चात् तुलनात्मक भाषा विज्ञान छाया। यह डॉ० मंगसदव गाम्भीरी का ग्रन्थ है। मात्र इस ग्रन्थ का इतिहासिक महत्त्व अधिक है। सन् १९४३ में डॉ० वाट्सलाम मन्मथना का सामान्य भाषा विज्ञान ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। यह ग्रन्थ भाषा विज्ञान के प्रति विविध रुचि उत्पन्न करने में बहुत सहायता दी है। सन् १९४० में बाबू क्षाममुन्दराम



की पुस्तक 'भाषा रहस्य' छपी। इनके एक वर्ष पश्चात् 'भाषा विज्ञान' नाम से डॉ० भोलानाथ तिवारी का ग्रंथ प्रकाशित हुआ। तब से लेकर आज तक इसके अनेक संस्करण निकल चुके हैं। इस ग्रंथ का वैशिष्ट्य इस बात में है कि प्रत्येक संस्करण में भाषा विज्ञान की नवीनतम सामग्री जोड़ दी जाती है। इस रूप में यह ग्रंथ विद्यार्थियों के लिए बहुत उपयोगी रहा है। सन् १९५३ में प० सीताराम चतुर्वेदी कृत 'भाषालोचन' छपा। सन् १९५८ में ध्वनि विज्ञान' को लेकर गोलोक बिहारी ने एक लघु पुस्तक प्रकाशित कराई। हिंदी में भाषा विज्ञान के किसी विशिष्ट ग्रंथ से सम्बद्ध यह प्रथम व्यवस्थित अध्ययन कहा जा सकता है। सन् १९५९ में प० किशोरी दास वाजपेयी का ग्रंथ 'भारतीय भाषा विज्ञान' प्रकाशित हुआ। ग्रंथ के लेखक का ध्यान विषय की महत्ता पर अधिक केन्द्रित रहा है। तत्पश्चात् पिछले १०-१२ वर्षों में लगभग १५ पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं जिनमें रामस्वरूप अग्निहोत्री—'भाषा विज्ञान जयवन्शी झा—भाषा विज्ञान' पद्म नारायण—आधुनिक भाषा विज्ञान, जयकुमार जलज—भाषा शास्त्र' अमर बहादुर सिंह—भाषा शास्त्र प्रवेशिका' मनमोहन गोतम—'सरल भाषा विज्ञान जे० सुमन—भाषा विज्ञान के सिद्धांत' राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी—भाषा विज्ञान डा० हरीश शर्मा—'भाषा विज्ञान की रूपरेखा' अयाप्रसाद सुमन—भाषा विज्ञान सिद्धांत और प्रयोग और रामेश्वर दयाल अग्रवाल—भाषा विज्ञान के सिद्धांत सामान्य स्तर की पुस्तक हैं। इनके अतिरिक्त सन् १९६३ में डॉ० उदयनारायण तिवारी कृत 'भाषा शास्त्र की रूपरेखा' ग्रंथ छपा। इस ग्रंथ में बहनात्मक भाषा विज्ञान' की अनेक नई दिशाओं पर विस्तार से विचार किया गया है। सन् १९६४ में प्रकाशित डा० देवी गवर द्विवेदी की पुस्तक 'भाषा और भाषिकी' भी महत्वपूर्ण है। सन् १९६६ में ग० देवेन्द्रनाथ गर्मा की 'भाषाविज्ञान की भूमिका' पुस्तक छपी। ग्रंथ में सामग्री ग्रंथ पुस्तक की तुलना में अधिक उपयोगी तथा व्यवस्थित है। सन् १९६९ में डा० भोलानाथ तिवारी का ग्रंथ 'भाषा का अध्ययन' छपा। ग्रंथ में लेखक की निष्कर्षित तथ्या विवेचन की स्पष्टता सबत्र दृष्टिगत होती है।

भाषा शिक्षण में सम्बद्ध सैद्धान्तिक ग्रंथ दो हैं जो उल्लेखनीय हैं—(१) भाषा शिक्षण की रूपरेखा—लक्ष्मीनारायण गुप्त (२) ग्रंथ भाषा शिक्षण—डा० महावीर गरण जैन। इनमें दूसरा ग्रंथ अधिक उपयोगी है।

(२) अनुवादित—सन् १९६३ में डा० गुण के ग्रंथ का ग० भोलानाथ तिवारी ने तुलनात्मक भाषाविज्ञान नाम से अनुवाद प्रकाशित कराया। मक्समूलर द्वारा दिए गए भाषण का हिन्दी अनुवाद 'भाषाविज्ञान पर भाषण' नाम से सन् १९६४ में प्रकाशित हुआ। अनुवादक डा० हेमचन्द्र जोशी हैं। जगबन किशोर बनवीर ने डा० वाट्रियेज के ग्रंथ का भाषा' नीपक' में सन् १९६६ में अनुवाद किया। रमा विद्वान एफ० ए० फातुनाबाव के ग्रंथ का डॉ० केमरी नारायण गुप्त ने तुलनात्मक भाषाविज्ञान नाम से अनुवाद प्रस्तुत किया। इधर सन् १९६८ में प्रसिद्ध भाषा विज्ञान वक्ता रूम्फील्ड के Language का अनुवाद भी प्रकाशित हुआ, इसके अनुवादक

डा० विश्वनाथ प्रसाद हैं। सैद्धान्तिक विषय से सम्बन्ध न होते हुए भी दो अन्य अनुवाद ग्रंथों का यहाँ उल्लेखनरूप अनुचित न होगा। पिछले के प्रसिद्ध ग्रंथ का डा० हेमचंद्र जोशी ने 'प्राकृत भाषाया का व्याकरण' नाम से अनुवाद किया। इसी प्रकार T Burrow के ग्रंथ का 'संस्कृत का भाषाशास्त्रीय अध्ययन शीपक' से भोलाशंकर व्यास ने अनुवाद प्रस्तुत किया।

(३) संस्कृत भाषा में विवेचित भाषा वैज्ञानिक अध्ययन से सम्बद्ध—इस प्रकार के चार ग्रंथ महत्त्वपूर्ण हैं। डा० कपिलदेव द्विवेदी द्वारा 'अविविक्त और व्याकरण दशा' युधिष्ठिर भीमासक का वैदिक स्वरभीमासा डा० सत्यकाम वर्मा का 'भाषा तत्त्व और वाक्यपदीय और श्री निबनारायण शास्त्री का 'निरुक्तभीमामा'। वस्तुतः इस दिशा में बहुत कार्य होना शेष है।

(ख) भाषा के इतिहास ग्रंथ—वस्तुतः सैद्धान्तिक ग्रंथों में भाषा के इतिहास से सम्बद्ध सामग्री प्रकाशित हुई है। यहाँ उन ग्रंथों का उल्लेख किया जा रहा है जो स्वतंत्र ग्रंथ रूप में इस दृष्टि में महत्त्वपूर्ण हैं। सन १९३३ में डा० धीरेंद्र वर्मा ने पहली बार हिंदी भाषा का इतिहास लिखकर इस प्रकार का अध्ययन का प्रारम्भ किया। तत्पश्चात् सन १९५८ में डा० मुनीति कुमार चाटुज्या ने अपने ग्रंथ का 'भारतीय आर्यभाषा और हिंदी नाम से अनुवाद करके प्रस्तुत किया। लखनऊ का ध्यान भाषा के इतिहास पर अधिक रहा है। सन १९५८ में डा० उदय नारायण तिवारी द्वारा अनुवादित 'भारत का भाषा सर्वेक्षण' ग्रंथ प्रकाशित हुआ। यह ग्रंथ सन के भाषा सर्वेक्षण के प्रथम खण्ड प्रथम भाग का ही अनुवाद है। सन १९६१ में बाबू श्याम सुन्दर दास का हिंदी भाषा लघु ग्रंथ प्रकाशित हुआ। डा० उदय नारायण तिवारी ने सन १९६२ में 'हिंदी भाषा का उत्पत्ति और विकास' ग्रंथ प्रस्तुत किया। इसी प्रकार की अन्य महत्त्वपूर्ण पुस्तक है—'हिंदी भाषा और विपि का ऐतिहासिक विकास—सत्यनारायण त्रिपाठी हिंदी के विकास में अग्रगण्य का योगदान'—डॉ० नामवर सिंह हिंदी साहित्य का बहुत इतिहास (द्वितीय भाग) हिन्दी और उसकी उपभाषाओं का स्वरूप—डा० अम्बाप्रसाद मुन्शी हिन्दी साहित्यानुशासन—प० किशोरीनाथ वाजपेयी हिंदी भाषा—डा० भालानाथ तिवारी भारतीय आर्य भाषाओं का इतिहास—जगदीश प्रसाद कौणिक हिन्दी भाषा की भूमिका—डा० शिवशंकर प्रसाद वर्मा हिंदी भाषा विकास और विश्लेषण—डा० चंद्रभान गजानन तथा हिंदी भाषा का विकास—डा० देवेन्द्र नाथ गर्मा तथा रामदेव त्रिपाठी।

(ग) हिंदी भाषा के किसी एक अंग विशेष अथवा प्रवृत्ति से सम्बद्ध ग्रंथ—हिंदी में सबसे अधिक ग्रंथ इसी विषय से सम्बद्ध हैं। निम्न की भीमा का देखते हुए यह सम्भव नहीं है कि सभी का उल्लेख यहाँ किया जाए। इन दिशा में उपलब्ध महत्त्वपूर्ण ग्रंथ हैं—हिंदी प्रयोग प० राम चन्द्र वर्मा मुन्शीवरा भीमामा—डॉ० ओमप्रकाश गुप्त, हिंदी में प्रत्यय विचार—ग० मुगरी लाल उद्रेति हिन्दी ममास रचना का अध्ययन—डा० रमेशचंद्र जन 'हिन्दी गद्य रचना—भाषा व्याकरण जन, हिंदी काव्य का विकास—निबनाथ हिन्दी सम्भव शास्त्र—मुरलीधर

श्रीवास्तव हिन्दी भाषा का अध्ययन विभाग—डॉ० गिबनाथ 'गोपी बोनी का स्वरूप'—प्रातर नाथ वर्मा, 'हिन्दी की व्याकरणगत गणना', हिन्दी की व्याकरण हिन्दी धर्मग्रन्थ—प्रेमीय हिन्दी सम्मान आगरा हिन्दी मध्यमरी व व्याकरण का भाषा-साहित्य अध्ययन' डॉ० वत्सना चन्द्र भाटिया हिन्दी गद्यमीमांसा तथा मच्छी हिन्दी हिन्दी की वतनी तथा शब्द विश्लेषण—डॉ० गिबानी दाग वत्सनी 'हिन्दी भाषा पर पारसी और अरबी का प्रभाव'—डॉ० मातेन मान गिबानी 'हिन्दी प्रशरी'—डॉ० वत्सनी नाथ कपूर हिन्दी ध्वनि ध्वनिमी—डॉ० रमेश चन्द्र मन्हाषा, हिन्दी त्रिधा स्वरूप और शिक्कन—डॉ० वासुदेव हिन्दी भाषा म अन्तर तथा शब्द की गीमा'—डॉ० वत्सना चन्द्र भाटिया हिन्दी की शब्द मन्हाषा डा० विद्यानिवात मिश्र तथा हिन्दी वाक्य विज्ञान—डॉ० मुधा गानरा । जग कि इन पक्तियों के लेखन की बात है डॉ० पूण मिह ने 'दार्ज' का । पर बाय दिया है । यह ध्य प्रयोगाधीन है ।

(घ) हिन्दी भाषा की ओली विशेष से सम्बद्ध ग्रन्थ—इस अध्ययन की गिना का प्रारम्भ डा० वावराय सवमना के ग्रन्थ 'गिबानी हिन्दी म मानना होगा । यह ग्रन्थ १९५२ ई० म प्रकाशित हुआ । सन १९५४ म डॉ० धीरेन्द्र वर्मा के पत्र भाषा म प्रकाशित गोप प्रकाश का हिन्दी रूपान्तर ब्रजभाषा नाम म छाया । श्री वय डॉ० उदयनारामण तिवारी का 'भोजपुरी भाषा और साहित्य' ग्रन्थ प्रकाशित हुआ । सन १९५५ मे डा 'तस्तिहरी के ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद पुरानी राजस्थानी 'गीप' म छाया । इसके अनुवादक डा० नामवरमिह हैं । म्बर १५ वर्षों म इस क्षेत्र क लगभग २५ स ऊपर ग्रन्थ प्रकाशित हा चुक हैं जिनम महत्वपूर्ण ग्रन्थ इस प्रकार हैं—सूर्यव ब्रजभाषा और उसका साहित्य—डा० गिबप्रसाद निम्न राजस्थानी भाषा प्रीर साहित्य'—डा० हीरा लाल माहेश्वरी मातकी ए भाषा गान्धीय अध्ययन डा० चित्तामणि उपाध्याय, आगरा जिले की बानी—डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी ब्रजभाषा और लड़ी बोली का तुलनात्मक अध्ययन—डा० कलाचन्द्र भाटिया बुन्देली का भाषागान्धीय अध्ययन—डा० रामस्वर प्रसाद अग्रवाल 'नेतावदी बोली का वणनात्मक अध्ययन—डा० कैलाचन्द्र अग्रवाल मधुरा जिले की बोली—डा० चन्द्रभान रावत 'राजस्थानी भाषा'—डा० चादुर्ग्या मगही भाषा—डॉ० मोहेश्वर, मध्य पहाड़ी भाषा का अनुशीलन और उसका हिन्दी स सम्बन्ध'—डा० गुणानन्द जुआल मगही व्याकरण का—सम्पत्ति अर्पणी बुलगाहर एच लुरजा तहसील की बालिया का सनातिक अध्ययन—डा० महावीरगण जने, छत्तीसगढ़ी बोली 'व्याकरण और कोश' Linguistic Survey of Manbhum Dalbhum—डा० विश्वनाथप्रसाद तथा ताजुल्लेकी—डा० भोलानाथ तिवारी । इनम बहुत कम ग्रन्थ ऐसे हैं जो भाषा-भूगोल की वैज्ञानिक पद्धति के आधार पर तयार किए गए हैं । इस दिशा म सुदान्ति ग्रन्थ की आवश्यकता अभी बनी हुई है ।

इस दिशा मे दो अन्य ग्रन्थों का उल्लेखन आवश्यक है । एक ग्रन्थ अग्रजी मे है एक हिन्दी मे । डा० मुमद का न मधिली भाषा पर विस्तार मे काय किया है

उनका ग्रंथ अंग्रेजी में प्रकाशित है। इसी प्रकार नलिनीमोहन सायल ने बिहारी भाषाभाषा पर विस्तार से कार्य किया है।

(इ) किसी कवि ग्रंथवाग्रंथ की भाषा के अध्ययन से सम्बद्ध ग्रंथ—इस प्रकार के अध्ययन का प्रारम्भ सन् १९५५ में प्रकाशित 'कीर्तिलता और अवहट्ट भाषा में मानना होगा। यह अध्ययन डा० निवप्रसाद मिहू द्वारा किया गया था। इसके पश्चात् डा० नामवर मिहू कृत 'पद्मवीराज रामो की भाषा' सन् १९५६ में प्रकाशित हुआ। ग्रंथ में रामो के मुख्य भाग कनकज समय का आधार रखा गया है जिस आधार पर ग्रंथ का नाम भ्रामक है। फिर भी सम्पूर्ण ग्रंथ वज्रानिर्गुण विश्लेषण-पद्धति के अनुसरण का सकेत देता है। सन् १९५७ में डा० प्रेम नागयण टंडन द्वारा लिखित मूर की भाषा ग्रंथ में अनेक सद्भाषिक धारित हैं फिर भी विवेचन महत्वपूर्ण है। इसी वर्ष डॉ० देवकीनन्दन श्रीवास्तव ने तुलसीदास की भाषा ग्रंथ भी विद्यमान है। भाषा के आधार पर तुलसी की रचनाभाषा वर्गीकरण का अर्थ उन्नतनीय है। सन् १९६२ में डॉ० माता प्रसाद गुप्त ने राउलबेल और उसकी भाषा ग्रंथ प्रकाशित कराया। शिलालिखित राउलबेल का पुस्तकाकार रूप में प्रस्तुत कर तथा उसकी भाषा का विवेचन करने लेखक ने महत्वपूर्ण योगदान किया है। इसी वर्ष डा० निमला सक्सेना का मूरसागर गंगावली (एक सांस्कृतिक अध्ययन) प्रकाशित हुआ। ग्रंथ तत्त्वात्मक अधिक है। मूर द्वारा प्रयुक्त सनाशब्दों को व्यवस्थित करने लेखिका ने उपादेय कार्य किया है। सन् १९६५ में डा० माता बदल जायनवान का 'कबीर की भाषा ग्रंथ छपा। कबीर की भाषा का तत्कालीन हिंदी मानने में लेखक का दुराग्रह ही प्रकट होता है। इसी वर्ष जायसी की भाषा नाम से डा० प्रभाकर शुक्ल का ग्रंथ भी प्रकाशित हुआ। सन् १९३९ में डा० भगवत प्रसाद दुबे कृत कबीर-काव्य का भाषाशास्त्रीय अध्ययन दिल्ली में प्रकाशित हुआ। ग्रंथ के अन्त में मापदंड प्रयोग्य वस्तुओं की तालिकाएँ दी गई हैं। इन तालिकाओं से निकाले गए निष्कर्षों से सहमत होना सम्भव नहीं है क्योंकि उस पद्धति का आधार वैज्ञानिक नहीं है। प्रस्तुत लेख के लेखक का ग्रंथ कबीर की भाषा सन् १९६९ में ही दिल्ली में प्रकाशित हुआ। भाषावैज्ञानिक अध्ययन खंड १ में दिया गया है। सन् १९७२ में डा० विदुमाधवमिश्र कृत कबीर ग्रंथावली की भाषा छपा। ग्रंथ में वृणारामर विवेचन के साथ ऐतिहासिक विवेचन भी है।

(घ) १ अभिनन्दन ग्रंथ, २ भूमिकाएँ तथा ३ निबंध-संग्रह—

(१) अभिनन्दन ग्रंथ—भाषावैज्ञानिक दृष्टि में दो अभिनन्दन ग्रंथ महत्वपूर्ण हैं। हिंदी अनुगीतन का घोरद्वर्मा विभाषा सन् १९६० में प्रकाशित हुआ। इसमें अनेक दार्शनिक विद्वानों के लेख संग्रहीत हैं। इसका प्रथम खंड भाषा वैज्ञानिक विवेचन में सम्बद्ध है जिसमें अतिवारी विद्वानों के २८ लेख दिए गए हैं। लेखों में विषय से सम्बंधित गम्भीर चिन्तन लक्षित होता है। यह ग्रंथ भारत में भाषा विज्ञान की स्वस्थ परम्परा के प्रति आवेग देता है। सन् १९७२ में श्री पुरुषोत्तमदास टंडन अभिनन्दन ग्रंथ भी प्रकाशित हुआ।



अधेजा में है। पुस्तक में समूहित लेखों में शोधनकर्तियों की जिज्ञासु दृष्टि का परिचय मिलता है। सन् १९०० में डा० रमेशचंद्र महरोत्रा की भाष्यपणा नाम से ११ लेखों का संग्रह छपा। इसमें सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनों प्रकार के निबंध हैं। डॉ० भोलानाथ तिवारी द्वारा दिए गए विभिन्न भाषणा तथा समय पर प्रकाशित लेखों का संग्रह भाषा चिन्तन नाम से सन १९७१ में प्रकाशित हुआ। संग्रह में मंडास्तिन लेख रुचक हैं तथा व्यावहारिक अधिक हैं। सम्पूर्ण ग्रंथ लेखक के चिन्तन गाम्भीर्य का परिचायक है।

इन ६ वर्षों के ग्रंथों के विवेचन के पश्चात् कुछ अन्य बातों का उल्लेख करना भी आवश्यक है। इधर तीन पत्रिकाएँ ऐसी हैं जिनमें भाषा विश्लेषण में सम्बंधित सामग्री निरंतर प्रकाशित हो रही है। 'भाषा' में श्रीमती तारा तिवारू, 'अनुवाद' में डॉ० भोलानाथ तिवारी तथा श्री महेंद्र चतुर्वेदी और भाषिकी में डा० भोलानाथ तिवारी तथा डा० रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव। 'भाषिकी' का प्रकाशन हाल ही में प्रारम्भ हुआ है जहाँ 'भाषा' और अनुवाद पिछले कई वर्षों में प्रकाशित हो रही हैं। 'अनुवाद' पत्रिका में अनुवाद सम्बंधी लेखों और अनूदित रचनाओं के अतिरिक्त भाषा विज्ञान के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों पक्षों से सम्बद्ध लेख प्रकाशित हुए हैं। 'भाषा' में हिन्दी के अतिरिक्त अन्य भाषाओं के विषयों में भी लेख छपे हैं।

अधुनातन दृष्टि से पाश्चात्य विद्वान् पाश्च और नाइटा की परम्परा का प्रपनात हुए टैगमैमिक्स सिद्धांत (Tagmemics) के आधार पर भारत में डॉ० भोलानाथ सहाय तथा डा० विश्वजीत ने हिन्दी भाषा पर कार्य किया है। ध्वनि से सम्बंधित कार्य करने वाला मल्लिकार्जुन स्कूल के पथ का नाम विशेष उल्लेखनीय है। भारत में डॉ० विश्वनाथ प्रसाद इटली के पिप्पेय जिज्ञानि भाजपुरी और हिन्दी ध्वनिया पर कार्य किया था। फल के ही शिष्य हैलिडे ने अपने मौलिक चिन्तन के आधार पर नई विनियम व्यवस्था को जन्म दिया है जिस Systemic Grammar कहते हैं। भारत में इनके एवमात्र अनुयायी डॉ० सिद्धेश्वर किशोर वमा हैं जिन्होंने हिन्दी तथा हिन्दी अधेजी क्रिया-वर्णों की पुनरा पर कार्य किया है। अमरीकी विद्वान चाम्स्की (Chomsky) ने रूपांतरण (Transformational) पद्धति का विकास किया है। इस क्षेत्र में डा० एम० क० वमा और यमुना काचरु के नाम उल्लेखनीय हैं। अतिनिराल स्कूल में प्रकाशित डा० रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव ने लेनिन भाद स्कूल, चाम्स्की गैरीविज्ञान तथा केस ग्रामर आदि की दृष्टि से हिन्दी भाषा पर बहुत महत्वपूर्ण कार्य किया है।

भाषा विज्ञान के अनेक क्षेत्र ऐसे हैं जिनमें हिन्दी भाषा का आधार बनाकर अभी कार्य प्रारम्भ ही नहीं हुआ है। मंडास्तिन दृष्टि में वाणी श्रृंखला का क्षेत्र ऐसा है जिसमें बहुत कुछ कार्य होना चाहिए। पस्तुत लेख का लेखक दस निष्ठा में कार्य कर रहा है जो भीम ही पूरा हो जाएगा। इधर डॉ० भोलानाथ तिवारी भी कोण विज्ञान व्याकरण विज्ञान तथा अनुवाचविज्ञान आदि कुछ सैद्धान्तिक विषयों को

तयार काय कर रह हैं ।

### ३ कोश

हिन्दी का 'गो' साहित्य सस्कृत और अंग्रेजी दोनों भाषाओं का भी प्रभावित है । 'यात्रा' के समान 'गो-साहित्य' का भी विपुल भंडार विद्यमान है । इस सम्पूर्ण साहित्य के वर्गीकरण और भूँचालन की समस्या सभी को यकीनी है । परिणामतः कुछ अग्रणीयों को छोड़कर अंग्रेज सरकार के 'गो' का निर्माण नहीं हो पाया है । डा० भोनानाथ तिवारी ने अपने एक नए म हिन्दी 'गो' का परम्परा की १३ नीयता में वर्गीकृत करने प्रस्तुत किया है । 'अतः हि उहने मय ही सक्न कर दिया है यः वर्गीकरण बनाम न होकर सामान्य मितः हुआ वर्गीकरण' है इस कारण इसमें अनेक स्थानों पर पुनरावृत्ति देने का भित्ति है । फिर भी समग्र रूप में एक स्थान पर एकत्रित सामग्री की सूचना देने में यह लेख बहुत उपयोगी है ।

हिन्दी में प्रकाशित कोष साहित्य का निम्नलिखित वर्गों में विभजन करने प्रस्तुत करना अधिक वश्यानिष्ठ होगा । सस्कृत परम्परा के कुछ अनेकार्थी कोष १५६८ ई० और १६०० ई० के बीच में बनाये गये । वस्तुतः इस प्रकार के कोषों का हिन्दी में प्रभाव है ।

(क) पर्यायवाची कोष—सस्कृतक 'अमरकोश' और 'गणेश' की परम्परा में तयार किए गए कोष प्रायः नाममात्र के नाम से हिन्दी में प्रचलित हुए । ये मुख्यतः पर्यायवाची हैं । इस प्रकार के कुछ कोषों में ममानार्थी के साथ-साथ अनेकार्थी या एकाक्षरी अर्थ भी हैं । सन् १५६१ के लगभग डिग्वर नाममाला लघुग्रन्थ हर्षाज द्वारा तैयार किया गया था । हिन्दी में घातुषा का प्रथम कोष गुजराती शक्ति द्वारा 'भाषा घातु भाषा' नाम से सन् १७१३ ई० में निर्मित किया गया । तब से लेकर सन् १६०६ तक लगभग दो दर्जन इसी प्रकार के कोष तैयार हुए जो अधिकांशतः सस्कृत के अमरकोश के मयावत् या छायानुवाद हैं । सन् १८७३ में फरल ने हिन्दी में पर्यायवाची कोष प्रकाशित कराया । यह यूरोपीय परम्परा का कोष है । सन् १८३५ ई० में श्रीकृष्ण गुप्त ने भारतीय और यूरोपीय दोनों परम्पराओं के अनुकरण पर हिन्दी पर्यायवाची कोष बनारस से प्रकाशित कराया । वस्तुतः इसे किसी भारतीय व्यक्ति के द्वारा लिखित हिन्दी का प्रथम पर्यायवाची कोष कहा जा सकता है । तत्पश्चात् सन् १८५४ में डा० भोनानाथ तिवारी का 'वृहन् पर्यायवाची' का प्रकाशित हुआ । यह कोष अंग्रेजी के 'बेकार्स' बह जाने वाले कोशों की पद्धति पर तयार किया गया है । अब तक इस कोष का सर्वाधिक सम्स्करण भी प्रकाशित हो चुका है । सन् १८६५ में बदरी नाथ कपूर द्वारा राजलमल अंग्रेजी हिन्दी पर्यायवाची कोष दिल्ली से प्रकाशित हुआ । इधर सन् १८६८ में श्रीकृष्ण शुक्ल के कोष का सर्वाधिक परिवर्धित सम्स्करण भी प्रकाशित हुआ है । वस्तुतः इस दिशा में अभी

भी गुहार की अपेक्षा है।

(ख) मुहावरा कोश—स्वतंत्र सग्रह के रूप में १९२३ में हिन्दी मुहावर नाम से ग्रंथ प्रकाशित हुआ। इसे प० रामदहिन मिश्र ने तैयार किया था और यह बौलीपुर से प्रकाशित हुआ था। इसके पश्चात् रमूल ग्रहमद का हिन्दुस्तानी मुहावराकोश छपा। सन् १९३२ में लाहौर में बहादुरचंद्र वृत्त लाओक्तिर्मा और मुहावर नाम से ग्रंथ प्रकाशित हुआ। नवम्बर १९३५ ई० में बंगलूर से और १९३७ ई० में इलाहाबाद से 'हिंदी मुहावरा कोश' ग्रंथ छप। दाना का नाम एक ही था किन्तु पहले का जम्मुनायन ने तथा दूसरा का आर जे सरहिंदी ने संकलन किया था। इनके एक वर्ष पश्चात् श्रद्धास्वरूप दामा दिग्गज ने हिन्दी मुहावर कलकत्ता से प्रकाशित किया। सन् १९४० में 'हिन्दुस्तानी मुहावरें' नाम से एक संकलन अम्बिका प्रसाद बाजपेयी ने तैयार किया जो कलकत्ता से छपा। इनके लगभग १० वर्ष तक कोई अच्छा मुहावरा कोश प्रकाश में नहीं आया। सन् १९५१ में डा० भोलानाथ तिवारी 'हिंदी मुहावरा कोश' तैयार किया जिसका दूसरा सम्स्करण बाद में सन् १९६४ में प्रकाशित हुआ। यह कोश अपनी कमियाँ के बावजूद भी महत्वपूर्ण है। सन् १९५६ में पटना में प० रामदहिन मिश्र ने 'बृहद् मुहावरा कोश' का प्रथम भाग प्रकाशित कराया। वस्तुतः प्रासंगिक स्तर पर इस दिशा में कार्य होना अभी बाकी है।

(ग) लोकोक्ति कोश—इस प्रकार का प्राचीनतम सग्रह जायसी का 'मसला नामा' है किन्तु आधुनिक ग्रंथ में दामस रोवकन A Collection of Proverbs and Proverbial Phrases in the Persian and Hindoostanee Language नाम से सन् १८२४ में कोश प्रकाशित किया यह ग्रंथ कलकत्ता में प्रकाशित हुआ था। इसके पश्चात् सन् १९०२ तक कुछ ऐसे सग्रह प्रकाशित हुए जिनमें हिंदी का साथ-साथ अन्य भाषाओं की भी कहावतें संगृहीत थीं। सन् १९०२ में 'कहावत सग्रह' नाम से सत प्रसाद ने एक कोश तैयार किया। मिर्ज़ेवर शमा ने १९०७ में लोकोक्ति या कहावत प्रकाशित कराया। रामरत्न अध्यापक की रामरत्न लोकोक्ति सग्रह बहुत पहले तैयार हुआ था किन्तु इसका दूसरा सम्स्करण १९१५ में प्रकाशित हुआ। हिन्दी लोकोक्ति कोश नाम से सन् १९२३ में विश्वनाथ खत्री ने कलकत्ता से एक कोश प्रकाशित किया। सन् १९३२ में बहादुर चंद्र का काग प्रकाशित हुआ जिसमें लोकोक्तियाँ और मुहावरों दाना का सग्रह किया गया था। इसके पश्चात् चाप भट्टरी गढ़वाली भवाड़ी राजस्थानी मराठी मालवी कुमाऊँनी आदि बालियाँ में भी अनेक काग प्रकाशित हुए जिनमें सम्बद्ध बोलियों की लोकोक्तियाँ संगृहीत की गईं। इधर सन् १९५६ में 'कहावत कोश' नाम से भुवनेश्वर नाथ मिश्र ने एक काग प्रकाशित कराया जिसमें भोजपुरी मगही भयिली की लोकोक्तियाँ दी गई हैं। हिन्दी आडिया तथा हिन्दी मलयालम की लोकोक्तियों के तुलनात्मक कोश भी प्रकाशित हुए हैं। जसा कि इन पक्तियों के लेखकों को ज्ञात है सन् १९६६ में डा० भोलानाथ तिवारी ने 'बृहद् लोकोक्ति कोश' का सम्पादन



विज्ञान का। हमारे हिन्दी के भाषा विज्ञान में यह विज्ञानों की भूमिकाओं का तुलनात्मक रूप भी विज्ञान का है। यहाँ है एक ही तरह का प्रयोग है प्रयोग।

(घ) हिन्दी हिन्दी बोध—हिन्दी में एक प्रकार के बोधों की परम्परा सन् १८७१ ई० में प्रारम्भ हुई। बंगाल का एक महान् हिन्दी भाषा विज्ञान बोध प्रकाशित किया गया। उसके पक्ष में सन् १८८३ में रामचन्द्र वर्मा का प्रकाशित हुआ विज्ञान उद्योग डॉ० भा० नाथ त्रिवेदी के द्वारा रचित हिन्दी है। सन्तुष्ट यह सभी सामान्य ज्ञान का प्रयोग है। एक प्रकार का एक प्रकार का प्रकाशित हिन्दी १८७७ में वही भाषा विज्ञान बोधों की प्रकाशित द्वारा किया गया। सन् १८८८ में रामचन्द्र वर्मा का रामचन्द्र वर्मा का विज्ञान के विषय में हिन्दी में भाषा विज्ञान विज्ञान का महान् प्रयोग १८९६ १८९० १८९२ तथा १८९८ में प्रकाशित हुए। यहाँ विज्ञान का वास्तव में भी एक बोध का महान् प्रयोग है। इसी कारण से यह महान् बोध संग्रहण का प्रकाशित हो चुका है। सन् १८९३ में रामचन्द्र वर्मा द्वारा प्रकाशित हिन्दी का भाषा विज्ञान प्रकाशित हुआ था तथा हिन्दी का भी भाषा विज्ञान का महान् प्रयोग है। उसके भी भाषा विज्ञान संग्रहण प्रकाशित हुआ है। यह हमारे पूर्व तीन महान् प्रयोगों का समाप्ति के थे—(१) भाषा विज्ञान—द्वारा प्रकाशित वर्मा (२) हिन्दी का भाषा विज्ञान—रामचन्द्र वर्मा द्वारा प्रकाशित—मुकुन्दलाल श्रीवास्तव। सन् १८९६ में डॉ० रामचन्द्र वर्मा द्वारा 'भाषा विज्ञान' प्रकाशित हुआ। रामचन्द्र वर्मा का प्रकाशित हिन्दी बोध बंगाल में १८४६ ई० में छापा। सन् १८५० में तीन बोध प्रकाशित हुए बंगाल में रामचन्द्र वर्मा का भाषा विज्ञान हिन्दी बोध तथा रामचन्द्र वर्मा द्वारा 'प्रचारक हिन्दी बोध', पटना से तब तक जो का नाम का विज्ञान का नाम सन् १८२५ में बंगाल से ही प्रकाशित प्रकाशित तथा यह वृत्त हिन्दी बोध छापा। इसका नवीन संग्रहण सन् १८६५ में छापा है। इस संग्रहण में १,३८,००० शब्द सम्मिलित हैं। सन् १८५६ में दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार समाज द्वारा भारतीय हिन्दी का प्रकाशित कराया गया। सन् १८५२ में भारतपास 'साहित्य सम्मेलन इलाहाबाद से एक बोध का वास्तविक रूप का जितने प्रधान डॉ० भोलानाथ त्रिवेदी थे। बाद में यह वास्तविक रूप का पूरा कराया और उन्हीं के सम्पादन में 'मानव हिन्दी बोध' के रूप में पाँच भागों में (१८६२ १८६२ १८६३ १८६४ १८६५) प्रकाशित हुआ। यह बोध अधिक सामग्री से पूर्ण है और अब तक प्रकाशित बोधों की तुलना में विस्तृत भी है। यद्यपि हमारे व्युत्पत्ति और अर्थ की दृष्टि से प्रामाणिक हिन्दी भाषा की सामग्री का अधिक उपयोग किया गया है।

इस हिन्दी की कुछ बोलियाँ व भाषा भी प्रकाशित हुए हैं। सन् १८५५ में रामानाथ द्विवेदी समीर द्वारा 'अवधी भाषा इलाहाबाद से प्रकाशित हुआ। राजस्थानी सबदोस—सीताराम लाल—सं० नित्यानन्द सन् १८६१ में छापा। मगही व्याकरण

काश-सम्पत्ति ग्रंथाली' दिल्ली से सन् १९६५ में प्रकाशित हुआ। डा० कान्ति कुमार कं ग्रंथ 'छत्तीसगढ़ी बोली, व्याकरण और कोश' में 'छत्तीसगढ़ी कोश' भी है यह ग्रंथ सन् १९६९ ई० में प्रकाशित हुआ। डा० प्रेम नारायण टंडन ने सन् १९६२ में सूर-ब्रजभाषा कोश प्रकाशित कराया था। वस्तुतः इसमें सूर शब्दावली ही है, कुछ थोड़े से ब्रजभाषा में प्रयुक्त होने वाले अन्य शब्द भी ले लिए गए हैं। जैसा कि इन पत्रियों के लेखकों ने पात है डॉ० भोलानाथ तिवारी ने ताजुज्जेवी कोश सम्पादित किया था। किंतु स्वतंत्र ग्रंथ के रूप में यह अभी भी अप्रकाशित ही है। सोवियत संघ में बाली जाने वाली हिंदी की इस बोली का संक्षिप्त शब्दकोश उहा ने अपने ग्रंथ 'ताजुज्जेवी' में प्रकाशित करा दिया है। यह ग्रंथ दिल्ली से सन् १९७० में प्रकाशित हुआ है।

(इ) हिंदी अन्य भाषा अथवा अन्य भाषा हिंदी कोश—इस प्रकार के कोशों को अनेक उपवर्गों में रखकर देखा जा सकता है।

(१) हिंदी फारसी कोश—सन् १९७५ ई० में तयार किए गए लुगतए हिंदी को इस वर्ग का प्रथम कोश मानना अत्युक्ति न होगा। इस से पूर्व खालिब-बारी का उल्लेख मिलता है जो अभीर खुसरो की रचना है जिसके रचना-काल के विषय में आज भी संदेह विद्यमान है। इस प्रकार के कोशों की परम्परा १८०० ई० के पश्चात् प्राग नहीं बढ़ पायी।

(२) हिंदी अंग्रेजी कोश—१७वीं १८वीं और १९वीं शताब्दी में मिशनरी विद्वानों द्वारा इस प्रकार के कोशों की रचना हुई है। हिंदी संस्कृत अंग्रेजी का त्रभाषिक विद्वकोश सन् १९१५ में प० राम स्वरूप द्वारा तयार किया गया। किसी भारतीय द्वारा इस दिशा का यह पहला कोश कहा जा सकता है। इसी पद्धति पर सन् १९६२ में दीपचंद त्रिलोक चंद तथा अन्य कृत 'हिंदी इंगलिश सिंधी शब्दकोश' प्रकाशित हुआ। सन् १९४६ में बनारस में रामचंद्र पाठक का भागव हिंदी अंग्रेजी कोश छपा। इधर १९६६ में केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय ने व्यावहारिक हिंदी अंग्रेजी शब्द कोश प्रकाशित कराया है। सन् १९७० में इसी प्रकार के दो कोश प्रकाशित हुए हैं (१) राममूर्ति सिंह कृत मानक हिंदी अंग्रेजी कोश, (२) महेंद्र चतुर्वेणी तथा डा० भोलानाथ तिवारी द्वारा सम्पादित व्यावहारिक हिंदी अंग्रेजी कोश। इनमें दूसरा कोश वैज्ञानिक पद्धति पर तयार किया गया है।

(३) हिंदी-अन्य भारतीय भाषा कोश—अमुक्त इस प्रकार के कोश दूसरी भाषा सीखने सिखाने के लिए उपयोगी हैं। इनके द्वारा भाषा विश्लेषण की परम्परा में विशेष सहायता नहीं मिलती। एक भाषा के प्रचलित शब्द लेकर ये कोश तयार किए जाते हैं। हिन्दी के साथ उर्दू, पंजाबी, गुजराती बंगाली मराठी निधी, सयाली तथा दक्षिण भारतीय भाषाओं के कोश तयार किए गए हैं। सबसे अधिक कोश हिन्दी-मराठी के हैं। हिन्दी के साथ दक्षिण भारतीय भाषाओं के कोशों को तयार करने में दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा का विशेष योगदान रहा है।

(४) सातजन हिंदी कोश—दश प्रकाश का पहला कोश सन् १९१७ में द्वारा तयार किया था। सन् १९२८ में एक कोश भाषा साहित्य कोश नाम से प्रकाशित कराया। यह कोश धर्मिष्ठ भाषिण तथा उद्योगी भी है। इसपर आगे के प्रसिद्ध कोश का हिन्दी अनुवाद भी किया गया सन् १९६६ में प्रकाशित हो चुका है।

(५) प्राकृत हिन्दी कोश—सन् १९२८ में लम्पारि दाम प्रियम्वद नाम की पादप-मह महन्गवा प्रकाशित हुआ। डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल ने भाषांतर में इसका दूसरा संस्करण सन् १९६७ में प्रकाशित हुआ। यह कोश अत्यन्त महत्वपूर्ण तथा अच्छा है। सन् १९६० में वेदरत्न जीवदाम ज्ञानी का संशोधित कोश भी प्रकाशित हुआ।

(६) अष्टेजी हिन्दी कोश—दश प्रकार के छोटे नाम मिश्रित विद्या द्वारा तयार किया गया था। सन् १८६८ में मयुरा प्रकाश मिश्र ने अष्टेजी उर्दू हिन्दी कोश प्रकाशित किया था। सन् १८८७ में मुन्नी साहू की अष्टेजी हिन्दी कोश प्रकाशित हुआ। इसका पन्नात् रामचन्द्र पाठान गुप्तानाम ताराजाल अग्रवाल तथा धन गायीनाथ श्रीवास्तव डॉ० सुयशान्त बेहरावा भट्ट नामित कुन्ने डॉ० हरदेव बाहरी और राममूर्ति मिश्र ने अष्टेजी हिन्दी कोश छपा। इनमें डॉ० बाहरी का बहुत अष्टेजी हिन्दी कोश धर्मिष्ठ अच्छा है।

(७) अन्य भारतीय भाषा हिन्दी कोश—दश प्रकार के कुछ भाषा की धर्मिष्ठ ऊपर हो चुकी है। कम भोली, मराठी तमिल तनुगु भाषा के पक्ष से कोश भी प्रकाशित हुए हैं। १६ भाषाओं का तुलनात्मक शब्दकोश 'भारतीय व्यवहार कोश' नाम से बम्बई भाषा विभाग द्वारा तयार किया गया है।

(८) उर्दू हिन्दी कोश—सन् १८६६ में शिरजीलाल बागीर द्वारा उर्दू हिन्दी अष्टेजी शब्द समूह नाम से कोश तयार किया गया था। इसके पश्चात् 'उर्दू-हिन्दी कोश'—रामचन्द्र वर्मा का सन् १९३६ में प्रकाशित हुआ। इसमें पूर्व कुछ अन्य छोटे कोश भी छपे हैं वे बहुत ही सामान्य स्तर के थे। इसी वर्ष जवुनाथाना उर्दू हिन्दी कोश भी छपा। सन् १९४६ में कुसवर्णी और भिवरे का उर्दू हिन्दी मराठी कोश प्रकाशित हुआ। अलीगढ़ में १९४५ में अजुमन तरकी वृत्त 'उर्दू हिन्दी कोश' छपा। इसी वर्ष इलाहाबाद में भी वेदरत्न भट्ट वृत्त उर्दू हिन्दी कोश प्रकाशित हुआ। सन् १९५६ में लखनऊ से मुहम्मद मुस्तफा जी मदाह का उर्दू हिन्दी शब्दकोश छपा। अब तक प्रकाशित कोशों में यही सर्वोत्तम है।

(९) रसी हिन्दी कोश—इसका सन् १९५७ में दो रसी हिन्दी शब्दकोश भी प्रकाशित हुए हैं एक मास्को से दूसरा दिल्ली से। मास्को से यह कोश व० म० वेस्ट्रोवनी ने और दिल्ली से वार राजेंद्र ऋषि ने तयार किया है।

(१०) पारिभाषिक शब्दकोश—विभिन्न विषयों के अनेक पारिभाषिक कोश भी प्रकाशित हुए हैं। इनमें सबसे अधिक महत्वपूर्ण डॉ० रघुवीर द्वारा सम्पादित है। यह कोश सन् १९८५ में A Comprehensive English Hindi Dictionary

नाम से दिल्ली से प्रकाशित हुआ है। इसमें पारिभाषिक और सामान्य दोनों प्रकार के शब्द हैं। मनाविज्ञान, जीवविज्ञान विद्युत खनिज, चिकित्सा, व्यवसाय, अर्थ-शास्त्र गणित, पत्रकारिता पुस्तकालय, दर्शन, भौतिकशास्त्र, रसायनशास्त्र, कवि, समाजशास्त्र, राजनीति, शासन, भूगोल, साहित्य और भाषाविज्ञान विषया के पारिभाषिक कोश भी प्रकाशित हो चुके हैं। इन कोषों की सहायता से विषया का समझने में विशेष सहायता मिलती है। साहित्य सं सम्बंधित सन १९५८ में हिंदी साहित्य कोष' डॉ० घोरद्वर्मा के सम्पादनत्व में प्रकाशित हुआ। सन १९६६ में मुरलीधर श्रीवास्तव का हिंदी धातु कोश छपा। मानपिकी पारिभाषिक कोष' का साहित्य खंड डा० नगद्वर द्वारा सम्पादित है। यह १८६५ ई० में दिल्ली से प्रकाशित हुआ था। इसी प्रकार भाषा विज्ञान से सम्बद्ध दो महत्वपूर्ण कोश प्रकाशित हो चुके हैं—(१) राजेन्द्र त्रिबेदी कृत 'भाषा शास्त्र का पारिभाषिक शब्दकोश (१९६३ ई०), (२) डा० भोलानाथ तिवारी कृत भाषाविज्ञान कोश (१९६४ ई०)। इनमें दूसरा कोष अधिक पूर्ण है।

(घ) व्यक्ति तथा कृति-कोश—इस प्रकार का पहला काश विलियम प्राइस का था जिसने प्रेमसागर के शब्दों का 'हिन्दी अंग्रेजी काश सन १८६४ में तैयार किया था। सन १९२८ में महावीर प्रसाद मालवीय का 'विनय पत्रिका' के मुख्य गण का विनय कोश प्रकाशित हुआ। सन् १९४८ में वेदरनाथ भट्ट का रामायण कोश छपा। डा० भोलानाथ तिवारी कृत तुलसी शब्द सागर सन १९५४ में प्रकाशित हुआ। डा० प्रेम नारायण टंडन ने इसी प्रकार ब्रजभाषा सूर-कोश निर्मित किया जो सन १९६२ में लखनऊ से प्रकाशित हुआ। प्रसाद से सम्बद्ध दो कोश छपे हैं (१) हरदेव बाहरी का प्रसाद साहित्य काश (१९५७ ई०)। (२) सुधाकरपांडेय का प्रसाद काव्य कोश (१९५७ ई०)। अब कबीर काव्य का काव्य भी पूरा हो चुका है और यह प्रकाशनाधीन है। इसे प० परशुराम चतुर्वेदी तथा इन पत्रिका के लेखक ने तैयार किया है। जसा कि मुझे पता है मीरा कोश भी पूर्ण है जो डा० शशिप्रभा शुक्ल ने तैयार किया है।

(ज) विश्वकोश—हिन्दी में प्रथम विश्वकोश नरेन्द्रनाथ बसु का हिन्दी विश्वकोश सन १९२५ में प्रकाशित हुआ था। इसका गगरी प्रचारिणी सभा ने विश्वकोश' प्रकाशन की विस्तृत योजना बनाई थी। काव्य बहुत पहले ही प्रारम्भ हो चुका था तथा इस कोश के कई खंड प्रकाशित हो चुके हैं। वस्तुतः इस दिशा में मेरे दोनो काव्य सामान्य ही बड़े जा सकते हैं। अन्त्ये स्तर के विश्वकोश की प्रकाशन-योजनाएँ बनाई जानी चाहिए। हिन्दी में आशा है इस प्रकार के काव्य शीघ्र ही प्रारम्भ होंगे।

### प्रथम परिशिष्ट

हिंदी भाषा के क्षेत्र में काव्य करने वालों में कुछ मुख्य नाम हैं अवाप्रसाद 'मुमन' अविकाप्रसाद बाजपेयी, अनिल विद्यालकार, अमरबहादुर सिंह, अशोक केलकर, आनन्द स्वरूप पाठक, भार० एन० साहा, आर्येन्द्र शर्मा ईश्वरी, उदयनाथराय

तिवारी ऋषि गायान, लम० टी० घादम, लम० पी० जायसवाल लत० ए० मित्तल, लल० बी० राम लम० मगागी घोमप्रवाण कानिका सिन्हास कानिकास शिवनी, कानिका देव शास्त्री परणापति त्रिपाठी कानिकुमार कामाप्रसाद गुरु कालीचरण बहल कालीराम किशोरीनाथ बाजपेयी कृष्णानन्द मिह कृष्णकुमार गावामी, कृष्णगोपाल रस्तोगी, कृष्णलाल हम, कृष्णाण्ड कानिकाचन्द्र अग्रवाल कानिकाचन्द्र भाटिया गगादत्त उपरेशी गणेशदत्त इन्द्र गिरीन्द्रनाथ दत्त गुणानन्द जुधाण गानेशसिंहारी दत्त, गान्धिव कानरी, गोविन्द धातर, गान्धिव नारायण मिश्र गोरीनाथ भट्ट गोरीनाथ गुप्ता गोरीनाथ हीराचन्द्र भाभा चन्द्रधर गर्मा गुजरी चन्द्रबली पाण्डेय चन्द्रमान रायत, चतुर्भुज द्विवेदी, चतुर्भुज सहाय चमननाथ अग्रवाल धान रानी सचदेव धितामणि उपाध्याय जनुनाथ जगदेव मिह, जनानाप्रसाद काला, डी० डी० कामा तारिणी चरण, दयानन्द श्रीवास्तव दामोदर शर्मा दीनानाथ डे दुनीचन्द दुर्गा प्रसाद देवकीनन्दन श्रीवास्तव दवीनाथ दवीप्रसाद दवीनाथ द्विवेदी दवदनाथ गर्मा धीरेन्द्र वर्मा नगेन्द्रनाथ बभ्रु नरेंद्र व्यास नरोत्तम स्वामी नलिनी माहन् मायाल, नवीनचन्द्र राय, नानक सत्य निगम नामवरसिंह निगमानन्द परमहंस पद्म सिंह शर्मा पन्नालाल बानसीवाल पुरषोत्तम लाल मेनारिया पुष्पचन्द जन पूरुषसिंह डबास प्रेमनारायण टटन यदवीनाथ कपूर बन्नीनाथ भट्ट बहादुर चन्द बहादुर सिंह बाबूराम सक्सेना बानगावि मिश्र बालमुकुन्द गुप्त ब्रजवासी लाल श्रीवास्तव ब्रह्मस्वरूप दिनकर भगतसिंह, भगवत प्रसाद दुव भगवती प्रसाद गुप्ता भगवदत्त भारतेन्दु हरिश्चन्द्र भालचन्द्र राव तलंग, भरवप्रसाद मिश्र भालानाथ तिवारी भोला शर्मा व्यास भगलदेव शास्त्री, मणीन्द्रकुमार वर्मा मधु खत्री महावीरप्रसाद द्विवेदी, महावीर सत्य जन महेन्द्र माणिकलाल चतुर्वेदी माताबदल जायसवाल, माताप्रसाद गुप्ता मुरलीधर व्यास मुरलीधर श्रीवास्तव, मुरारी लाल उपरि माणीलाल मना रिया, यदुवशी यमुनाकाचरु युगेश्वर रतीलाल रमानाथ सहाय रमशचन्द्र जन रमशचन्द्र महरोत्रा रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव रजिन्द्र शर्मा राजगापालन, राजाराम तिवारी, राजा शिवप्रसाद रामचरण शर्मा रामचन्द्र गग रामचन्द्र वर्मा रामचन्द्र शुक्ल, रामचरण सिंह रामचन्द्र मिश्र रामचरण त्रिपाठी रामदेव त्रिपाठी, राममूर्ति महरोत्रा, रामरजपाल द्विवेदी रामरत्न रामविलास शर्मा रामसजन, रामसिंह तोमर रामस्वरूप चतुर्वेदी रामाधीन मिश्र रामावतार गर्मा रामश्वरप्रसाद अग्रवाल लक्ष्मीधर, वशीधर पडा बामुदेवशरण अग्रवाल विद्यानिवास मिश्र विश्वजीत विश्व नाथ त्रिपाठी विश्वनाथ प्रसाद विश्वम्भर नाथ शर्मा वीरेंद्र श्रीवास्तव, शशि प्रभा शितिकठ मिश्र शिवदास शिवनाथ, शिवनारायण शास्त्री शिवप्रसाद सिंह शिवप्रसाद सितारे हिंद शिवेंद्र किशोर वर्मा शीतलप्रसाद गुप्ता शुरुदेव मिह श्यामसुन्दर दास सतप्रसाद सतोष जैन सपत्ति अर्याणी सत्यनारायण त्रिपाठी सदाशुल लाल, सरस्व प्रसाद अग्रवाल सिद्धेश्वर वर्मा सीताराम चतुर्वेदी सुधा कालरा सुनीतिकुमार चटर्जी सुभद्र भा सुयकात, हर्षदेव बाहरी, हरिनाथ जोशी हरिहरप्रसाद गुप्ता हरीचन्द हरीश शर्मा हीरालाल काव्यापायाय हीरालाल महेश्वरी तथा हमचन्द्र जोशी ।

## द्वितीय परिशिष्ट

हिंदी में भाषा के क्षेत्र में कुल जितने लोग ने काम किया है या जो कर रहे हैं उनकी संख्या सौ से ऊपर है। इनमें मुख्य विद्वान् निम्नावित हैं

कामता प्रसाद गुरु ग्रन्थ—हिंदी व्याकरण। इसके दो (मध्यम तथा सक्षिप्त) छोटे संस्करण भी प्रकाशित हो चुके हैं। हिंदी का किसी हिंदीभाषी द्वारा लिखा गया यह प्रथम व्यवस्थित, विस्तृत और गम्भीर व्याकरणिक विश्लेषण है। इसके लेखन में लेखक ने भारतीय तथा यूरोपीय दोनों ही परम्पराओं का यथावसर उपयोग किया है। हिन्दी के व्याकरण के विवेचन के साथ इस व्याकरण में दिए गए व्याकरण द्वातविषयक सन्निप्त संकेत बड़े महत्त्वपूर्ण हैं और भाषा के क्षेत्र में हुई नवीनतम खोजों से काफी भेल खाते हैं।

श्यामसुंदर दास ग्रन्थ—(१) भाषारहस्य (२) भाषाविज्ञान, (३) हिंदी भाषा का विकास। बाबू श्याम सुंदर दास 'हिंदीशब्दसागर' के सम्पादकों में थे और कोशिका को भी आप की दान महत्त्वपूर्ण है। हिंदी भाषा का विकास पुस्तक भूत इस कोष की भूमिका का एक अंश था। 'भाषारहस्य' पुस्तक भारतीय भाषाओं में भाषाविज्ञान पर उच्च स्तर की पहली पाठ्य पुस्तक थी। हिन्दी के पाठ्यक्रम में भाषाविज्ञान को रखवाने का श्रेय श्यामसुंदर दास जी को ही है। इस रूप में हिंदी भाषा में इस दिशा में जो कुछ कार्य हुआ है उसके मूल प्रेरणास्रोत के रूप में आप का नाम अविस्मरणीय है।

रामचंद्र वर्मा ग्रन्थ—(१) प्रामाणिक हिन्दी कोश (२) अच्छी हिन्दी (३) शब्द-साधना (४) शब्दाय भीमामा, (५) मानक हिन्दी कोश, (६) उर्दू-हिन्दी कोश (७) हिन्दी प्रयोग, (८) मानक हिन्दी व्याकरण (९) कोशिका (१०) शब्दाय विवेचन (११) शब्द और अर्थ (१२) शब्दाय दशन। वर्मा जी हिन्दीशब्द सागर' के सम्पादकों में थे और बाद में आपों उसका एक सक्षिप्त संस्करण 'हिन्दी शब्द सागर' प्रकाशित किया था। वर्मा जी की प्रतिभा का मुख्य श्रेय कोशिका है। भारतीय भाषाओं में अब तक के कोशकारों में वर्मा जी का श्रेय मुख्य है। प्रयोग के क्षेत्र में भी आपकी देन महत्त्वपूर्ण है।

धीरेन्द्र वर्मा ग्रन्थ—(१) हिन्दी भाषा का इतिहास, (२) ब्रजभाषा व्याकरण (३) ब्रजभाषा (४) ग्रामीण हिन्दी, (५) हिन्दी-साहित्य कोश (सम्पादित) (६) हिन्दी भाषा का विकास (सम्पादित)। श्याम सुंदर दास ने हिन्दी में भाषा विज्ञान की जो नाव रखी थी उसे यूरोपीय शिक्षा से प्राप्त अपने अधुनातन ज्ञान तथा व्यवस्थित अध्ययन अध्यापन से पल्लवित किया वर्मा जी ने। उपर्युक्त पुस्तकों के प्रति-रिक्त आपने भाषा तथा लिपि सम्बन्धी अनेक लघु भी लिखे जिनमें कुछ उनके सग्रह 'विचार धारा' में प्रकाशित हैं। हिन्दी साहित्य के इतिहास की भूमिका 'हिन्दी भाषा और लिपि' नाम से अलग भी प्रकाशित हो चुकी है।

बाबूराम सक्सेना ग्रन्थ—(१) सामान्य भाषाविज्ञान (२) ब्रजभाषा का विकास (३) ग्रन्थविज्ञान (४) संस्कृतव्याकरणप्रवेगिका (५) हिन्दी भाषा का विकास

विकास' हिंदी की किसी बोली का प्रथम सर्वेक्षण तथा व्यवस्थित इतिहास है तथा उस स्तर का अभी तक कोई दूसरा काय प्रारंभ में नहीं आया। हिंदी प्रयोग में भाषा विस्लेषण की परम्परा को यज्ञादिन परातन पर आगे बढ़ाने वाला मैं मयमना जी का नाम अत्यंत है। पाणिनि के गणानुपासनों के अध्ययन के रूप में सक्सना जी ने भारतीय भाषाओं में पाणिनि के गणानुपासनों के निर्माण और निरूपण के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

किशोरीदास वाजपेयी ग्रन्थ—(१) वज्रभाषा का व्याकरण (२) अष्टाध्यायी का नमूना (३) राष्ट्रभाषा का इतिहास (४) राष्ट्रभाषा का प्रथम व्याकरण, (५) हिंदी निरूपण (६) हिंदी गणानुपासनों, (मणिपल रूप—सरल गणानुपासनों) (७) हिंदी गणानुपासनों (८) अष्टाध्यायी हिंदी (९) हिंदी गणानुपासनों (१०) भारतीय भाषा विज्ञान (११) हिंदी की यत्नशीलता तथा राष्ट्र विस्लेषण। वाजपेयी जी हिंदी भाषा के विस्लेषण को चिन्तन के परातन पर गहराई देने वाले प्रथम विद्वान् हैं अंग्रेजी का ज्ञान न होने का लाभ उठाते हुए वाजपेयी जी ने पश्चिम के प्रभाव में अडबूते रहकर भारतीय परम्परा के अध्ययन मनन से अपने सिद्धान्तों का निर्माण किया है और उन्हीं के आधार पर हिंदी का विस्लेषण किया है। वाजपेयी जी का पाठक उनके स्वभाव के अनुभूत अक्षय्य किंतु रोचक और व्यापारमय शैली को कभी कभी बालनिक विषय विवेचन में अनुभूत नहीं पाता किन्तु उस अक्षय्यता और व्यंग्य के भीतर निहित रूप से पाणिनि की परम्परा की एक महत्वपूर्ण कड़ी के रूप में होते हैं। वाजपेयी जी का मुख्य क्षेत्र व्याकरण है।

विश्वनाथप्रसाद ग्रन्थ—(१) कथिक्कोश (२) भाषा (०. लूमफील्ड की Language का अनुवाद)। आपने भोजपुरी ध्वनियाँ पर (A phonetic and phonological study of Bhojapuri) पथ के माडल पर शोधकाय किया था जो अप्रकाशित है। हिंदी ध्वनियाँ के सम्बन्ध में आप के कई लेख हैं। आपका मुख्य विषय ध्वनि है। पथ के माडल पर ध्वनि के क्षेत्र में काम करने वाले आप प्रथम भारतीय हैं। हिंदी की भाषावैज्ञानिक गणानुपासनों के क्षेत्र में भी आपने काम किया था। शब्दावली आयोग के अध्यक्ष के रूप में भारतीय परिभाषित शब्दावली को भी आप का योगदान महत्वपूर्ण है।

उदयनारायण तिवारी ग्रन्थ—(१) भोजपुरी भाषा और साहित्य, (२) हिंदी भाषा का उद्गम और विकास (३) भारत का भाषा सर्वेक्षण (प्रियसन के सर्वेक्षण के प्रथम खण्ड का अनुवाद), (४) पाणिनि के उत्तराधिकारी, (५) भाषा शास्त्र की स्पष्टता। तिवारी जी का विशेष योगदान भोजपुरी तथा मानक हिंदी के व्याकरणिक रूपों के इतिहास के क्षेत्र में है।

हरदेव बाहरी ग्रन्थ—(१) हिंदी अर्थ विचार (Hindi Semantics), (२) वृहद् अंग्रेजी हिंदी शब्दावली (३) हिंदी उद्भव विकास और रूप (४) ग्रामीण हिंदी बोलियाँ (५) शुद्ध हिंदी (६) प्रसार साहित्य का। बाहरी जी की विशेष देन अर्थ विज्ञान तथा अंग्रेजी हिंदी शब्दावली के क्षेत्र में है।

मोलानाथ तिवारी ग्रंथ—(१) भाषाविज्ञान, (२) शब्दों का जीवन, (३) शब्दों का अध्ययन, (४) भाषा चिंतन, (५) हिन्दी भाषा, (६) ताजुबकी, (७) हिन्दी भाषा का सरल व्याकरण, (८) भाषाविज्ञान प्रवेश, (९) हिन्दी मुहावरों कोश, (१०) बृहद पर्यायवाची कोश, (११) भाषाविज्ञान कोश (१२) तुलसी शब्द सागर (१३) व्याकरण, (१४) हिन्दी साहित्य की अन्वयाएँ, (१५) संक्षिप्त हिन्दी शब्द कोश, (१६) हिन्दी अंग्रेजी व्यावहारिक कोश (श्री महद्व चतुर्वेदी के साथ) (१७) तुलनात्मक भाषाविज्ञान (गुरे की पुस्तक का अनुवाद) (१८) हिन्दी ध्वनियाँ और उनका उच्चारण (ग्रन्थ) (१९) बृहद हिन्दी शब्दावली काश (ग्रन्थ), (२०) अनुवादविज्ञान (ग्रन्थ)। तिवारी जी अनुवाद (मुख्यतः व्यावहारिक भाषाविज्ञान की पत्रिका) तथा भाषिकी (मुख्यतः सदातिक ध्वनिविज्ञान की पत्रिका) दो पत्रिकाओं के सम्पादक हैं। हिन्दी में भाषा के क्षेत्र में आपने सर्वाधिक काय किया है और ये काय लगभग सभी अप्रतिष्ठित भाषाओं में हैं। आपके विनोद क्षेत्र हैं शब्दविज्ञान ध्वनिविज्ञान तथा व्यावहारिक भाषाविज्ञान।

कलाशचन्द्र भाटिया ग्रंथ—(१) राजभाषा तथा खड़ी बोली का तुलनात्मक अध्ययन (२) हिन्दी में अंग्रेजी के आगत शब्दों का भाषाशास्त्रिक अध्ययन, (३) हिन्दी की विसिक्त शब्दावली (४) हिन्दी भाषा में अक्षर तथा शब्द की सीमा (५) भाषा भूगोल (ग्रन्थ)। डा भाटिया की व्यावहारिक भाषाविज्ञान में विशेष रुचि है। सामयिक समस्याओं पर भी आपका ध्यान जाना रहा है। आजकल आप हिन्दी तथा द्रविड भाषाओं की समान शब्दावली पर काय कर रहे हैं।

डा रमेशचन्द्र महरोज ग्रंथ—हिन्दी ध्वनिकी और ध्वनिमी। डा महरोज का विनोद विषय ध्वनिविज्ञान है।

रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव ग्रंथ—नीला विज्ञान और आलोचना की नई भूमिका। हिन्दी के आदि समुक्त व्यक्तियों का आपने आसिलोग्राफ तथा स्पेक्टोग्राफ पर विश्लेषण किया था जिस पर आपका नेनिनवाद से डॉक्टर की उपाधि मिली थी। ध्वनिविज्ञान, व्याकरण तथा गणितविज्ञान आपका विनोद विषय है। हफातर व्युत्पादक व्याकरण नामक व्याकरण तथा व्युत्पादन ध्वनिविज्ञान की दृष्टि में आपन हिन्दी पर महत्वपूर्ण काय किए हैं। आप कई निबंध विदेशी तथा भारतीय पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं।

निखिलकिशोर वर्मा—हैलिडे के Systemic Grammar के माडल पर आपन अंग्रेजी और हिन्दी क्रियाओं पर शोधकाय किया है। आपका मुख्य विषय व्याकरण है। भारतीय तथा विदेशी पत्रिकाओं में आप के कई निबंध प्रकाशित हो चुके हैं।



## मराठी व्याकरण का संक्षिप्त इतिहास

मराठी भाषा के व्याकरण से सम्बद्ध सामग्री सर्वप्रथम हमें उन ग्रन्थों में उपलब्ध होती है जिनमें मराठी भाषा का इतिहास प्रस्तुत किया गया है। ये ग्रन्थ दो प्रकार के हैं—(१) वे जिनमें मराठी भाषा का साक्षात्कार इतिहास प्रस्तुत किया गया है तथा (२) वे जिनमें भाषा का ऐतिहासिक व्याकरण दिया गया है। दूसरी कोटि के ग्रन्थों में ही व्याकरण से सम्बद्ध सामग्री मिलती है। इनमें से अधिकांश ग्रन्थों में संस्कृत और प्राकृत में मराठी भाषा का विकास निरूपित किया गया है। इन ग्रन्थों में प्रमुख हैं—भार की जोशी द्वारा मराठी भाषा की घटना की एक भिन्न का मराठी भाषा का वाङ्मयाचा इतिहास' के पी कुतकर्णी का मराठी भाषा का विकास की घटना की निम्नरूप में मराठी भाषा का विकास और वाई भार दाते की महाराष्ट्र भाषायाँ । मराठी व्याकरण की कुछ ऐतिहासिक समस्याओं पर अनन्त लेखों के अतिरिक्त की के राजवाडे की कृतियाँ सुबन्तविचार' और तिष्ठन्तविचार भी उल्लेखनीय हैं। प्रथम में मराठी संज्ञाओं और दूसरे में मराठी क्रियाओं के इतिहास की कुछ समस्याओं पर विचार किया गया है। मराठी व्याकरण की ऐतिहासिक समस्याओं पर लिखे गये विवेचनात्मक लेखों में महत्वपूर्ण लेख हैं—एस कोनी के महाराष्ट्री और मराठी (I A 1903) तथा मराठी के भूतकाल पर टिप्पणी (J E A S 1902), की एन सरनेसाई का मराठी में अनुनासिकता की कुछ समस्याएँ (J R A S 1930), भार की जहागीरदार का पुरानी मराठी पर ब्रह्म का प्रभाव' (ABORI XI)। ये सभी लेख अंग्रेजी में हैं। १९४८ में भार एस वेले ने अपने शोध ग्रन्थ में मराठी के क्रियात्मक प्रयोगों पर विचार किया। पर सबसे महत्वपूर्ण ग्रन्थ, जो मराठी के ऐतिहासिक व्याकरण पर लिखा गया वह है जे ब्लाक का फ्रांसीसी भाषा में लिखा गया *La formation de la langue marathi*। बाद में की जी पराजपे ने इसका अनुवाद मराठी में मराठी भाषा का विकास नाम से किया। इस विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि न तो अंग्रेजी में और न मराठी में ही मराठी भाषा का कोई ऐतिहासिक व्याकरण उपलब्ध है।

यदि मराठी विद्वानों ने मराठी के प्राचीन उत्कृष्ट गौरव ग्रन्थों का भाषा-शास्त्र की दृष्टि से सम्यक् विवेचन किया होता तो भी मराठी व्याकरण समृद्ध हो सकता था। पर खेद का विषय है कि ज्ञानेश्वरी को छोड़कर अन्य गौरव ग्रन्थों का इस दृष्टि से सम्यक् अध्ययन नहीं किया गया। हाँ, ज्ञानेश्वरी पर अवश्य काम किया गया। इस सन्दर्भ में विशेष उल्लेखनीय कृतियाँ हैं—डब्ल्यू डोडरेट की पुस्तक

'The Grammar of Jñānes varā' (BJOS 1926), और राजवाडे की कवि ज्ञानेश्वरीतील मराठी भाषेचे व्याकरण (१९०६)। 'ज्ञानेश्वरदशन' में मकलिन एन एच नने की एच निजसुरे तथा वाई जी कानटकर के लेख भी महत्त्वपूर्ण हैं। १९१४ ई० में के के जागी न लीपजिग विश्वविद्यालय के निप लिप गय अपन गोच प्रबन्ध Declension of nouns in Marathi as seen in ज्ञानेश्वर's works में मराठी के संज्ञारूपा पर काम किया था। फिर भी ज्ञानेश्वर की रच नाया पर अब तक कोई व्यापक व्याकरण नहीं लिखा गया। मराठी भाषा के विकास के अग्र युग में मराठी भाषा की स्थिति पर भी कुछ ग्रन्थ और गोच प्रबन्ध लिखे गए जिन की दो सामोपाध्य की पुस्तक 'पंचवे दफनरातील मराठी भाषा के एस मर्ठेकर का 'शिवरात्रीतील मराठीची भाषिक पहचानी' एम एस कनाडे का दासबाबाका भाषाशास्त्रीय अभ्यास', तथा यू एस पठान का मराठी शब्दरीतील फारसीचे स्वल्प।

मराठी के वरुणात्मक व्याकरण से सम्बद्ध साहित्य प्रचुर भी है और वैविध्यपूर्ण भी। प्रारम्भिक मराठी व्याकरण और व्याकरणों का परिचय हम एम एम मनि की पुस्तक 'मराठी भाषेचे व्याकरणकार (१९२७ ई०) तथा ए के प्रियोळकर की पुस्तक 'मराठी व्याकरणची सद्युक्त्या' (१९२६ ई०) में मिलता है।

मराठी के वरुणात्मक व्याकरण पर तीन प्रकार के ग्रन्थ लिखे गए हैं (१) के व्याकरण ग्रन्थ जो १९ वीं शताब्दी के प्रारम्भिक काल में लिखे गए और जिनका महत्त्व केवल ऐतिहासिक है। ये व्याकरण-पुस्तकें दोसचाल की मराठी भाषा पर अग्रजी में लिखी गई हैं और उनके लेखक प्रायः विदेशी हैं। इनमें उल्लेखनीय हैं—डा० विलियम करकी 'Grammar of the Mahratta language' (१८०५) स्टीवेसन की 'The principles of Marathee Grammar (१८३३) रलेटाइन की 'A grammar of the Mahratta language (१८३६) यंगर की 'Grammar of the Marathi language' (१८५४) तथा कान्हाजी भाषा पर लिखी गयी कुछ व्याकरण पुस्तकें। इन व्याकरण की पुस्तकें का उद्देश्य विदेशी भाषिका का मराठी भाषा सिखाना था अतः इन पुस्तकों का वैज्ञानिक मूल्य अधिक नहीं है। इनके लेखक यूरोपीय विद्वान् थे, अतः मराठी भाषा का विवचन करते समय उन्होंने पृष्ठभूमि में लैटिन व्याकरण की गठन का ध्यान भ रखा जिनके फलस्वरूप इनके विवचन का वैज्ञानिक मूल्य कम हो गया है।

मराठी भाषा को लेने वाला की उनके व्याकरण के तत्व सिमाना आवश्यक था यह बात प्रारम्भ में ही अनुभव की गयी। अतः इस आवश्यकता का पूरा करने और वक्ता में विद्यार्थियों की व्याकरण सम्बन्धी पाठ्य-पुस्तक उपलब्ध कराने के लिए प्रारम्भिक व्याकरण लिखने के अन्तर्गत प्रयत्न किये गए। व्याकरण की ये पुस्तकें भारतीय विद्वानों द्वारा लिखी गयीं। ये विद्वान् एवं और पारम्परिक सम्भूत व्याकरण में पूर्ण निष्णात थे और दूसरी ओर अंग्रेजी के माध्यम से पश्चिम की व्याकरण

[illegible]

संस्कृत व्याकरण की मूल धारणा घोर पश्चिम की मति परम्परा पर आधारित व्याकरण ग्रन्थों की विद्वेपण में स्पष्ट आर है। मराठी व्याकरण लिखने वालों ने व्याकरण लिखते समय इन दोनों परम्पराओं का उपयोग किया था। इसका परिणाम यह हुआ कि मराठी भाषा की सामग्री घोर सरचना का जो विद्वेपण हुआ, वह परस्पर विरोधी था। इसी मतभेद ने प्रायः तीव्र विवाद को जन्म दिया। शब्द भेद समुक्त क्रियारूपों के साथ पुरुषों का नामकरण और वाक्य विद्वेपण से सम्बद्ध समस्याओं पर पर्याप्त विचार विमर्श हुआ जिससे इन स्वरूप अधिवक्ताओं के मूल्य वाले व्याकरण व्याकरण ग्रन्थ लिखे गये। इन ग्रन्थों में उल्लेखनीय हैं—डी पी तारपाडकर का महाराष्ट्र भाषा के व्याकरण, इण्डियाना स्त्री गण्डवोले का मराठी भाषा के नवीन व्याकरण, जी जी आयरर का वाक्यविचार जिसका अंग्रेजी रूपान्तर आर बी जोशी ने 'A Comprehensive Marathi Grammar' नाम से किया, ए के सेर का 'A Higher Marathi Grammar' एम के दामले का १००० पृष्ठों का भी अधिवक्ता का शास्त्रीय मराठी व्याकरण (१९११), एम पी सबनीस का आधुनिक मराठी के उच्चतर व्याकरण<sup>क</sup>। मराठी व्याकरण पर नतिपथ मूल्यवान् निबन्ध भी लिखे गये—सेर के इण्डियाना स्त्री

चिपलूणकर, आर बी गुंजीकर तथा जी के मोदक<sup>६</sup> । ये सभी रचनाएँ विद्वत्तापूर्ण तथा उपयोगी थीं, परन्तु उनके लेखकों का दृष्टिकोण पुराना था तथा उन्होंने विगत २० वर्षों में विकसित भाषा विश्लेषण की अधिक परिष्कृत पद्धतियाँ का उपयोग नहीं किया था । इन नयी पद्धतियाँ का उपयोग करते हुए मराठी व्याकरण लिखने का केवल एक प्रयत्न हुआ । वह है श्री ए आर केलकर का ग्रन्थ प्रबंध Phonology and Morphology of Marathi । पर यह शोध प्रबंध अभी प्रकाशित नहीं हुआ है । 'सो प्रवार के अन्य शोध प्रबंध हैं—डी पी अग्निहोत्री का 'मराठी वर्णोच्चारविकास', श्री पोद्दार का 'मराठी अक्षप्रक्रिया', एन एच पुनवरे का 'मराठी अक्षसिद्धि' । पर प्रकाशित न होने के कारण यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि वैज्ञानिक दृष्टि से इनका क्या मूल्य और महत्व है ।

मराठी की वतनी (orthography) भी विवाद का विषय रही है और अभी तक कोई अंतिम निराय नहीं हो सका है । इस विवाद के फलस्वरूप इस विषय पर बहुत सा साहित्य लिखा गया है । भाषा शास्त्र की दृष्टि से यह बहुत महत्व का विषय नहीं है, फिर भी उसका सम्बन्ध साक्षरता तथा सुनखन में है अतः उस पर ही नहीं टाला जा सकता । वस्तुतः बालबाल की भाषा का अच्चा सा बोलानामक विश्लेषण अभी तक नहीं हो पाया है । इसीलिए वतनी सम्बन्धी महत्वपूर्ण समस्याएँ स्वरों की मात्रा (length in vowels) सध्वनिक अनुनामिकता मूक्य ऊम वर्णों (allaphonic status of a retroflex sibilant) अभी भी अनिर्णीत हैं । बाल क्रमानुसार शुद्धलेखनसम्बन्धी शोधों की सूची इस प्रकार है—आर बी ओक मराठी शुद्ध लिहिण्याविषयी अनुगम (१८६४), जी जे केलकर मराठी शुद्ध लिहिण्या विषयी नियम (१८६७) आर बी गुंजीकर महाराष्ट्र भाषाची लेखनशुद्धि (१८७८) टी एन गोडबोले शुद्ध लेखनविचार (१८६३), जी एन माधनाकर मुखन विद्या (१८६१), एन डी जोगी शुद्धलेखनबोध (१८६५) के एन साने मराठी भाषेची लेखनपद्धति (१९०५) एन बी आष्टे शुद्धलेखनशैली (१९११), एम के दामने शुद्धलेखन (१९०५) बी पी जोगी मराठी भाषाची शुद्धलिपि (१९१२) बी बी गोमानो शुद्धलेखनशास्त्र (१९१३), जी आर कुलकर्णी लेखनशुद्धि अपना शुद्धलेखनदीपिका (१९१८) बी एस कुलकर्णी मराठी शुद्धलेखन (१९२०) बी आर साने सुप्रभा शुद्धलेखन (१९२८), जी एम चिपलूणकर शुद्ध लेखनाचा राजमाग (१९२७) एन डी बनहट्टी मराठी भाषाची लेखनपद्धति (१९३२) एम एन गोखन मराठीचे शुद्धलेखन (१९३३) म मा रॉय द्वारा मर्यादित शुद्ध लेखनाचे नवे नियम (१९३५) बी जी ऊम्वरण मराठी शुद्धलेखन (१९३५) बी एस कोहटकर शुद्धलेखन (१९३७), पी एन वतन गुजरात शुद्धलेखन (१९५१), नावले और दामले मराठी शुद्धलेखन महाभाषा (१९५०) एम आ-

जाय और उसका अधिनाधिक प्रचार किया जाए। यदि ऐसा किया गया तो प्राणा है कि सब सहमत हो सकेंगे। सबसे बड़ी समस्या मराठी में संस्कृत शब्दों की स्थिति, कतिपय ध्वनियाँ के ध्वनिग्रामित्व तथा कुछ व्यंजनस्थिति विभेदांगों की है। यह समस्या प्राधुनिक ब्रह्मनात्मक विद्वत्पण द्वारा हल की जा सकती है। यह भी ध्यान रखना होगा कि शुद्ध लेखन पद्धति ऐसी हो जो केवल एक बोली के लिए ही नहीं अनेक बोलियों के लिखने के लिए उपयोगी हो। अतः आवश्यक है कि यह ध्वनिग्राम-गठन पर आधारित हो।

शब्दों की व्युत्पत्ति की समस्या पर मराठी विद्वानों ने अधिक ध्यान नहीं दिया है। इसका प्रधान कारण वदाचित यह है कि अतः तक संस्कृत प्राकृत और पालि भाषाओं के व्युत्पत्तिपरक रूप उपलब्ध नहीं हैं। हमारे इस क्षेत्र में कार्य करने वाले व्युत्पत्ति में सम्यक् मूल सिद्धान्तों से अनभिज्ञ हैं अतः उन्होंने मराठी शब्दों की व्युत्पत्ति भी संस्कृत शब्दों से जोड़ी है वीर की अवस्थाओं की और ध्यान नहीं दिया है। इस क्षेत्र में किये गये आरम्भिक प्रयत्न, जैसे गो० ग० वापट त्रिवर क शब्दसिद्धिनिबन्ध या कृष्ण शास्त्री गोडबोल और अन्यत्र के इसी नाम के ग्रन्थ का केवल ऐतिहासिक महत्त्व है। बाद के ग्रन्थ जैसे आर वी जोशी का 'शब्दसिद्धि' किसी भी दृष्टि से महत्त्वपूर्ण नहीं बने जा सकते। वी के राजवाडे का ग्रन्थ नामादिशब्द-व्युत्पत्तिवर्ण और के पी नुसकरणी के दो ग्रन्थ मराठी व्युत्पत्तिवर्ण एक शब्द उत्पत्ति आदि विज्ञान भी बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं हैं क्योंकि न तो लेखक व्युत्पत्ति के किसी ठोस सिद्धान्त से परिचित थे और न उनको भारत इतर सामग्री ही उपलब्ध थी।<sup>15</sup> हाँ कतिपय मूल्यवान् व्युत्पत्तियाँ और व्युत्पत्ति सिद्धान्त सम्बन्धी कुछ सुझाव विभिन्न लेखों में अवश्य मिलते हैं। अतः मराठी भाषा का व्युत्पत्तिपरक रूप लिखने से पूर्व इस विषय की सामग्री का सफल उपयोग ही नहीं किन्तु आवश्यक भी होगा।

मराठी बोलियों और उपबोलियों के वर्गीकरण का प्रश्न भी विवादास्पद है। कोंकणी मराठी की एक प्रधान बोली है और इसका विवेचन भी पर्याप्त हुआ है। पर विवेचन करने वाला ने कोंकणी के उसी स्वरूप का विवेचन किया है जो सुदूर समुद्र तटवर्ती प्रदेश में बोली जाती है उत्तरी तथा मध्यवर्ती कारण में बोली जाने वाली बोलियों पर प्रायः कार्य नहीं किया गया है। उन पर कार्य करना नितान्त आवश्यक है। गोआ की दक्षिणी कावली पर पर्याप्त व्याकरण साहित्य है। पुत गाली ईसाई मिशनरियाँ न इस भाषा की अनेक व्याकरण पुस्तकें लिखीं। यह कार्य उन्होंने १६३५ ई० से आरम्भ किया। उन्होंने १६०७ में कोंकणी भाषा के लघु व्याकरण प्रकाशित किया। १६१०, १६२६ और १६३३ में उन्होंने पुतगाली भाषा में तीन व्याकरण पुस्तकें लिखा। परन्तु कावली भाषा का ऐतिहासिक व्याकरण लिखन का श्रेय श्री एस एम कत्र की है। उन्होंने अपनी पुस्तक 'The Formation of Konkani' में इस बोली का ध्वनि विज्ञान और तुलनात्मक शब्द ग्रह भी दिया है। वी पी चावन ने एक छोटी सी पुस्तक 'The Konkani and

the Konkani language' में इस बोली और उसके साहित्य का सामान्य तथा ससिप्त परिचय दिया है। इस बोली के कुछ शब्द-कोष भी मिलते हैं जैसे 'Konkani English Dictionary' तथा 'Konkani Portuguese Dictionary'। इसके अनिर्विन्न की पी चावन ने कावणी बहावतों का भी संग्रह किया है। फिर भी कावणी व्याकरण पर एक अच्छी सी पुस्तक लिखी जाने की आवश्यकता है। साथ ही इस विभागा के समुचित ज्ञान के लिए यह भी आवश्यक है कि कावणी-मराठी शब्द-कोश तैयार किया जाये।

जहाँ तक मराठी की ग्रन्थ बोलिया का सम्बन्ध है उनके विषय में हमारा ज्ञान बहुत कम है। 'The Linguistic Survey of India' के सातवें खण्ड में मराठी की बोलिया का सामान्य परिचय दिया गया है। मराठी भाषा शास्त्र पर लिखी गयी पुस्तकों में भी एक एक अध्याय मराठी बोलिया पर है। मराठी की तीन मुख्य बोलियों का विवरण हमें एन जी कालेलकर की पुस्तक 'प्रादेशिक बाली प्राणी लोकभाषा' में मिलता है। इसके अनिर्विन्न कुछ लेखा और प्रतिबद्धता में भी कुछ सामग्री मिलती है। जिन बोलिया पर सामग्री मिलती है वे हैं—ठाणी बोली नानदेशी तथा दापाली ताल्लुके के माहारो की बोली।

इधर मराठी बोलिया का सर्वेक्षण हो रहा है और उसके कुछ खड प्रकाशित हुए हैं।

मराठी शब्द-कोशों का तीन विभागों में बाँटा जा सकता है प्रथम वर्ग में वे शब्द-कोश आते हैं जिनमें मराठी शब्दों के अंग्रेजी समानार्थी शब्द दिए गए हैं। जैसे डब्लू कैरी द्वारा लिखा गया शब्द-कोश 'Dictionary of the Mahratta Language (१८१०)', बी बी आचले का A Marathi English Dictionary (१८७१) सेडकर का मराठी इंग्रजी कोश (१८८८)। जी स देव का 'मराठी इंग्रजी कोश (१९१०)', एस जी वाजे का Marathi English Dictionary (१९११) और 'Marathi English Dictionary' (१९१६)। परन्तु इन सबमें सर्वोत्कृष्ट शब्द-कोश है माल्त्सवर्ग का 'A Marathi and English Dictionary (१८५७)। लेखक का लक्ष्य इसके द्वारा मराठी भाषा की सेवा करना था जबकि ग्रन्थ शब्दकोशों का उद्देश्य महागण्ट के अंग्रेजी बोलने वालों का अंग्रेजी शब्दों का ज्ञान कराना था।

दूसरे वर्ग में वे शब्द-कोश आते हैं जिनमें मराठी शब्दों के मराठी ग्रन्थ दिए गए हैं। उनमें उल्लेखनीय हैं—जगन्नाथ गान्धी क्रमवन्त का 'महागण्ट भाषेचा काग', पहलू जी का 'गन्दरत्नावली', गोन्डोले का 'मराठी भाषेचा नवीन कोश', बापट का 'गुड मराठी कोश', जाशी का 'मराठी भाषेचा बख कोश' मिडे का 'मराठी भाषेचा सरस्वती काग' आष्ट का 'मराठी शब्द रत्नाकर' और दाते का सात खण्डों में विभाजित 'महागण्ट गद काग'। 'मराठी घातु' अपन प्रकार का ग्रन्थ महत्वपूर्ण ग्रन्थ है।

मराठी बहावता और मुहावरों से सम्बद्ध कुछ

लिखित किए गए

हैं। काल क्रम से उनकी सूची इस प्रकार है—एन जी चात्रे का 'मराठी व्यवहार' तील म्हणी (१८७०)', जी जी सपनार की 'मराठी प्रचारातील म्हणी', वे क पडवे का महाराष्ट्र भाषेतील चढवचनें प्रथवा म्हणी ज पी धारार का 'म्हणी आणि दाखले ए मानचारिण का Marathi Proverbs collected and translated', जी एन देशपांडे का Dictionary of Marathi Proverbs' तथा 'मराठी म्हणीचा कोश बी जे आष्टे का मराठी भाषाचे संप्रदाय व म्हणी, बी बी भिडे का मराठी भाषाचे वाकप्रचार जी एन मुवे का Hand book of Marathi phrases and proverbs explained in English, एन एन पडनीस का मराठी म्हणी रत्नकोश और दात तथा बर्वे द्वारा संपादित दो भागों में विभक्त महाराष्ट्र वाकसम्प्रदाय कोश'।

अंतिम वग उन शब्दकोशों का है जिसमें ग्रन्थ भाषाओं हिंदी बंगाली फारसी आदि के शब्दों के मराठी पर्याय दिये गये हैं। कुछ पुस्तकों में मराठी शब्दों की व्याख्या है तो एक में मराठी पर्यायों पर काम किया गया है। शब्दकोशों के क्षेत्र में पर्याप्त कार्य हुआ है, फिर भी एक ऐसे शब्दकोश की आवश्यकता है जिसमें शब्दों के ऐतिहासिक एवं वर्णनात्मक पक्ष पर बल हो तथा जिसमें मराठी शब्दों को मराठी तथा अंग्रेजी दोनों में समझाया गया हो।

### टिप्पणियाँ

१ १९११ ई० में प्रकाशित पाण्डे मट्टजी की 'स्वर व्यञ्जन व्यवस्था' भी व्याकरणसम्बन्धी अच्छा कार्य है।

२ मराठी व्याकरण का आद्य ग्रन्थ और ग्रन्थकार कौन सा है इस विषय में विद्वानों में मतभेद है। कुछ समय पूर्व तक यह धारणा थी कि सत्रहवीं शताब्दी में फादर स्टीफंस ने रोमन लिपि में बाईबिल लिखी और उसी समय मराठी व्याकरण से सम्बद्ध कुछ नियम निर्धारित किए। उन्होंने A Grammar of the Konkani Language नामक पुस्तक भी लिखी थी। परन्तु अब यह स्पष्ट हो चुका है कि उनसे पूर्व ही तेरहवीं शताब्दी में महानुभाव पंडित श्रीधामाचार्य ने मराठी व्याकरण से सम्बद्ध कुछ प्रकरण लिखे थे। इससे अतिरिक्त उन्होंने अपने ग्रन्थ में चारहवीं शताब्दी के महानुभावी व्याकरणकारों का भी उल्लेख किया है। पंडित श्रीधामाचार्य महानुभाव का व्याकरण शास्त्र पर उल्लेखनीय ग्रन्थ है 'नामविभक्ति'। अन्य महानुभाव पंडित—बबीश्वर व्यास आनराज व्यास विश्वनाथ वघनस्य—ने भी व्याकरण पर काम किया था, पर उनकी रचनाएँ उपलब्ध नहीं हैं और न यह पता चलता है कि उनमें विषय प्रतिपादन किस प्रकार का है। पर पूना के महानुभाव मठ का अभिपति गोविंदराज ने जो पत्र रा० विठ्ठल रामजी शिंदे को लिखा था उससे इतना तो स्पष्ट है कि महानुभाव पंडितों के कुछ व्याकरण ग्रन्थ मठ में हैं।

३ इन तीनों पंडितों को यह कार्य कराने के लिए सन् १९२२ ई० में न० ११ मोमायनी के प्रमुख सदस्य कर्नेल जॉर्ज जेम्स ने नियुक्त किया था।

४ १६३६ ई० में प्रकाशित लदोसाहृत महागण्ड भाषण व्याकरण भी उल्लेखनीय है। नोटप्रिन्ट हाथ के कागज इसका दूसरा सम्बर्ण १८५० ई० में प्रकाशित हुआ और १९०४ ई० तक चौथी प्रवृत्ति का हुआ।

५ गोस्वाम की पुस्तक में विचार किया गया है कि मराठी में प्राकृत के साथ हाथ हुए मराठी भाषा का विकास का हुआ। इसमें अतिहासिक और ध्रुत्वति की दृष्टि में भाषा का अध्ययन किया गया है। साथ ही इस व्याकरण ग्रंथ में वाक्य विवरण पदविचार और प्रकृत भाषा का संपिप्त व्याकरण भी दिया गया है।

६ १८७१ ई० के लगभग बालगंगाधर तिलक ने जो उस समय पूना के 'मन ट्रेनिंग गतिज' के प्रतिपक्ष में विद्यार्थियों के लिए व्याकरण सम्बन्धी कतिपय समस्याओं पर विचार किया और लदोसा के व्याकरण ग्रंथ पर एक आलोचक लेख लिखा जो 'गानापत्र' में प्रकाशित हुआ। इस लेख में प्राग्वह व्याकरण द्वारा की संपिप्त-भाग प्रगल्भ हुआ। रामचन्द्र मिश्रानी गुनीवर ने भी रामचन्द्र गंगाधर के व्याकरण ग्रंथ पर एक आलोचनात्मक लेख लिखा। वह भी तिलक के लेख के समान मार्मिक है। इनके अनिश्चित इन्होंने १८८६ में मुद्राण व्याकरण नाम में एक ग्रंथ छोटी-सी पुस्तक भी लिखी।

७ बरिस्टर विनायक दामोदर मावरेकर ने 'केसरी' में मराठी ससप्त शुद्धि सम्बन्धी लेख लिखकर इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य किया था।

८ इस क्षेत्र में काम करने वालों में उल्लेखनीय हैं—रामभाऊ जागी, गिरामय पराजप, रामजी गिद और डॉ० विट्ठल पादुरण चहाण।





पंजाबी विभाकरण	बिहारी लाल पुरी लुधियाना	१९६६	(अप्राप्य)
{ पंजाबी मयुधल एण्ड ग्रामर	बले एवं सूटन लुधियाना/ पटियाला	१८६२-१९१२	(अप्राप्य)
पंजाबी लघु विभाकरण	नारायणमिह	—	१८६६ (प्राप्य)
			नानक सम्बन्ध ४७७ (प्राप्य)

{ बहु पंजाबी विभाकरण			
{ (१) भाग द्वितीय भाग उपलब्ध	राममिह अमृतसर	१९१४/३०	(प्राप्य)
अमान पंजाबी विभाकरण	एस एम अमोल अमृतसर	१९३१	(अप्राप्य)
पंजाबी विभाकरण	गंगा बाल करम मिह	—	१८३५ (अप्राप्य)
सिन्हाज अन्तरस इन पंजाबी निहानमिह	मूरी	—	१९४४ (अप्राप्य)
{ विभाकरण मिश्रिका	बलदेव मिह अमृतसर	१९४०/	(अप्राप्य)
{ (४ भाग)		१८४५	
पंजाबी विभाकरण	भानू माहनमिह अमृतसर	१९४७	(प्राप्य)
विभाकरण	गंगाजीतमिह दिनाद भटिडा	१९४१	(अप्राप्य)
पंजाबी विभाकरण	हरिलाल	—	१९५२ (अप्राप्य)
{ पंजाबी भाषा दा	सन्त मिह मेवा पटियाला	१९६१	(प्राप्य)
{ विभाकरण			
{ रफरम ग्रामर आफ मिल तथा ग्लोसन यू एस ए		१९६३	(प्राप्य)
{ दो पंजाबी लगन			
पंजाबी भाषा दा विभाकरण	दुनीचन्द्र चड्डीगढ़	१९६४	(प्राप्य)
नवीन प्रणाली पंजाबी	मुरिंदर सिंह मानी	—	१९६५ (प्राप्य)
विभाकरण			

### गुरुवाणी व्याकरण

श्री गुरु वाणी व्याकरण	बलराम सिंह दासा अमृतसर	१९४५	(प्राप्य)
गुरुवाणी विभाकरण	निहाल	अमृतसर	१९४६ (प्राप्य)
गुरुवाणी विभाकरण	साहिब मिह	अमृतसर	१९५० (प्राप्य)

### सामान्य या स्तुति स्तर की व्याकरण

अभिन्न पंजाबी विभाकरण	महिनाब मिह दिल्ली	१९५२	(अप्राप्य)
मनोहर पंजाबी	उजागर मिह लुधियाना	१८५३/६०	(अप्राप्य)
विभाकरण ते हार रचना			
{ पंजाबी विभाकरण त बलराम सिंह	लुधियाना	१९६७	(अप्राप्य)
{ नेत्र रचना			
{ उच्चतम पंजाबी विभा	दीवान मिह ग्राम अमृतसर	१९६७	(प्राप्य)
{ करण ते तेस रचना	मेवा मिह		

## भाषा तथा व्याकरण आदि मिश्रित रूप

पंजाबी भाषा का इतिहास विद्या आस्कर अरुण दुषियाना	१९१६	(प्राप्य)
पंजाबी से लहिंदी	हरनेय बाहगी	पटियाला १९१८/७० (प्राप्य)
पंजाबी भाषा का विकास दुनीचंद	चट्टीगढ़	१९५६ (प्राप्य)
{ पंजाबी भाषा का विकास प्रेमप्रकाश मिह	लुधियाना	१९५७/१९७१ (प्राप्य)
{ त विकास (नवीन संस्करण, दो भाग)		

पंजाबी बोझा का निम्नांकित रूप में वर्गीकरण किया जा सकता है

## १. गुरु बानी से सम्बंधित एक भाषी कोश

(इसी शोधक के अन्तर्गत पर्याय तथा भाषा का भी रखा गए हैं)

## (क) पर्याय कोश

आदिग्रन्थ श्री गुरुग्रन्थसाहिब जी के पर्याय	मुत्ते प्रकाश	१८६८	अमृतसर
पर्याय श्री गुरुग्रन्थजी	चंदा मिह	१९०२	अमृतसर
पर्याय श्री ग्रन्थ साहिब जी भाग (३ भाग)	{ हरीसिंह	१९०७	अमृतसर
	{ गुरन्ति सिंह		
पर्याय श्री ग्रन्थसाहिब जी भाग	शाबिदगास	१९२६	अमृतसर
पर्याय श्री गुरु ग्रन्थ साहिब जी	शामसिंह	१९३६	अमृतसर
पर्याय श्री दसम ग्रन्थ	बाबा ठाकुर मिह		अमृतसर

## (ख) भाषा कोश

श्री गुरु ग्रन्थ कोश	तारा मिह	१८६८	पटियाला
श्री गुरु ग्रन्थ कोश (दो भाग)	हजारा मिह	{ १८६६/ १९५५	अमृतसर
श्री गुरुबानी प्रदूनी कोश	महिताय सिंह	१९२३	अमृतसर
श्री गुरु शब्द प्रकाश	बीर सिंह	१९२६	पेगावर
गुरु शब्द रत्नाकर भगवानवीर	काहन सिंह	१९३०	अमृतसर
{ श्री गुरुग्रन्थजी (अर्थान् ग्रन्थ साहिब	बीर सिंह	१९३६	अमृतसर
{ की शब्द सूची)			
कोश श्री दसम ग्रन्थ	नान सिंह	१९४६	सगहन
गुरु बानी का	प्यारा सिंह पन्थ	१८६०	अमृतसर
श्री गुरु ग्रन्थ कोश	गुरुमुखामिह निमता	—	अमृतसर

## २. अभिधान कोश (या स्वतंत्र रूप में एक भाषी का)

नाममाला का	मुद्गल प्रस	१८३६	अमृतसर
------------	-------------	------	--------

## ३. पारिभाषिक कोश (चिन्तिता सम्बंधी)

चिन्तिता का (चार भाग)	गुरन्तिमिह माधु	१८८८	अमृतसर
-----------------------	-----------------	------	--------

## ४. सेवोक्ति या मुहावरा कोश

पंजाबी प्रयोग	भानुवंत	१८६१	लाहौर
---------------	---------	------	-------

{ पंजाबी बुभारता अर्थात् (फारसी लिपि के कोष)	शिवदयान	१९२१	लाहौर
पंजाबी अक्षरों	जीवन मिह	१९२५	अमृतसर
पंजाबी अक्षरान भंडार	इंद्रमिह मित	१९४४	अमृतसर
अक्षराना दी रान	हिरपाल मिह बनबीर सिंह	—	अमृतसर
{ पंजाबी साहज प्रकाश (अर्थात् मुहावर तथा कहावतें)	माहिम सिंह	१९४१/	लाहौर
	महिनाब मिह	१९५२	

## ५ पर्याय काश

एक नाम गनव नामावली	साल हरी	—	अमृतसर
--------------------	---------	---	--------

## ६ भाषा कोश

पंजाबी शब्द भंडार	विनय सिंह पुरी	१९२२	लाहौर
पंजाबी कोश	पप्पू पंजाबी विभाग पटियाला	१९५५	पटियाला
मरन पंजाबी कोश	—	१९५६	अमृतसर

## ७ बोली या उपभाषा कोश

शब्द कोश बाबन अरथ सजम	पंजाबी भाषा विभाग	१९५०	पटियाला
पोषोहारी शब्दकोश	पंजाबी भाषा विभाग	१९६०	पटियाला
पुष्पाभी शब्द काश	पंजाबी भाषा विभाग	१९६०	पटियाला

## द्विभाषी कोश

### (क) पंजाबी-अंग्रेजी

#### १ भाषा कोश

डिक्शनरी आफ दी पंजाबी लंग्वेज	लुधियाना मिशन प्रेस	१८५४/	लुधियाना
		१९६१	पटियाला
{ दि पंजाबी डिक्शनरी	भाषा विभाग पंजाब	१८९५	लाहौर
	मयासिंह	१९६१	पटियाला
पंजाबी इंग्लिश डिक्शनरी	गुरचरन सिंह मरन मिह	—	अमृतसर

#### २ बोली या उपभाषा कोश

{ डिक्शनरी आफ दी जटकी एण्ड	जुत्स ए /	१९००/	लाहौर
{ वेस्टन पंजाबी लंग्वेज	भाषा विभाग पंजाब	१९६१	पटियाला
{ ग्नामरी आफ दी मुलतानी लंग्वेज एंड	ओ बी ई	१९०३	लाहौर
{ साऊथ वेस्टन पंजाबी			

#### ३ पारिभाषिक कोश

### (अ) तकनीकी कोश

टेकनीकल टर्म्स इन पंजाबी	टक्सटबुक सासाइटी
--------------------------	------------------

एग्लो पंजाबी डिक्शनरी प्राण टापीलर एम एम भाषाविभाग १९४३ पश्चिमा

४ बोल तथा व्याकरण (मिनि ११ म)

{ पंजाबी ग्रामर वि० एमएमएमिड मुद्रा ११ १८९९ सुधियाना  
{ एण यात्रुनरी

पंजाबी प्रप्रेजी बोय प्रप्रेजी पंजाबी गङ्गाणा मुद्रा ११ —/ सुधियाना

{ प्रप्रेजी पाठाभ्यास पंजाबी व्याकरण एम १९९१ पश्चिमा  
{ एडवावली महिन कोय

५ बोली या उपभाषा बोल

{ ग्रामर एण पश्चिमा बोय वि० एमएम २८९९ साणी  
{ वेगटन पंजाबी गान्गुनी इन्डिक्

६ साहित्य बोल

माहित तबत सम्पा०—जीगाय मि प्रेमनि पाणि १८९९ जालघर

(स) अग्रजी पंजाबी बोल

१ भाषा बोल

एग्लो गुरुमुखी पश्चिमा बोय सानियाम १८९७ १८९३ साणी

एग्लो पंजाबी डिक्शनरी बजार ए हिम प्रम १९१५ अमनमर

पंजाबी बोकेयुलरी भाष ५ ८०० बड म नी ग्राहम बने १९१९ बनवसा

दी स्टडड इग्लिश पंजाबी डिक्शनरी पंजाबी भाषा विभाग १९५३ गिमला  
(५ भाग)

एग्लो पंजाबी डिक्शनरी तेजा सिंह १९४५ सुधियाना

पि जूनियर रीडस वेसिब डिक्शनरी बी एम समू १९५५ सुधियाना

पंजाबी डिक्शनरी (अग्रजी म) ह्यस बाट्टर पुनिन १९२९ लायलपुर  
१९६५ जालघर

अग्रजी गुरुमुखी डिक्शनरी बोल — — —

इग्लिश टु पंजाबी डिक्शनरी — — —

स्टुडेंटस जवाहर इलस्ट्रेटिड एग्लो डिक्० हरमिन्दर सिन् १८९६ अमनमर

२ लोकोक्ति मुहावरा कोश

ए ग्राहम टु पंजाबी या बहावते मुग़ावर ए मी पाठ एण मस १९३० अमनमर

अग्रजी पंजाबी गब्दावली (तत्तीयसम्बरण)

पंजाबी कहाना दा संग्रह (पंजाबी अग्रजी) रेखासहित — —

३ व्याकरण सगुम्फित बोल

अग्रजी पंजाबी बोल व्याकरण नी रूपरेखा महिन — —

४ वतनी बोल (एकभाषी)

गब्द जोड कोश (गुरुमुखी लिपि म) पंजाबी वि० वि० १८६८ पश्चिमा

(ग) फारसी पंजाबी

निमव ए दमनी अथात ए पशियन पंजाबी } बाकबुलरी इन वस विद भाजिनल } नाम इन पशियन }	खुदाबक्श	१८६८ लाहौर ७४
{ फारसीनामह विद नाहिस्वाटी अर्थात् } { फोर पशियन पंजाबी साबुलराज इन वस }		१८७४ लाहौर

(घ) पंजाबी हस्त कोश

पंजाबिस्वा लस्वा म्नावार	आर्द एम राबिनोविच १९९१ मास्को तथा आइ डी प्रिन्सायोव
--------------------------	--

(ङ) हिन्दी पंजाबी कोश

हिन्दी-पंजाबी काश	भाषा विभाग पंजाब १९६१ पटियाला
-------------------	-------------------------------

## कश्मीरी व्याकरण तथा कोशों की परंपरा

वदमीरी भाषा का इतिहास भाषागत संसारा व कारण अवश्य ही बहुत प्राचीन एवं महत्वपूर्ण है। इस भाषा की भाषात्मक संरचना जहां प्रायः भाषा के समान ही है पर कुछ एक विशेषताएं अवश्य अति चिरंतन हैं। भारतीय भाषाएं जहां समीक्षात्मक शैली की ओर प्रवृत्त हैं वहीं वदमीरी भाषा अपनी अपनी विशेषताओं के लिए वही है। सत्य विमर्श के कारण भारतीय एवं वदमीरी भाषा का उच्चारण दो भिन्न प्रक्रियाओं में चलता है। प्रथम—जब शब्द नितान्त स्वतंत्र हो और द्वितीय जब शब्द वाक्य विद्या में संचित हो। यद्यपि यह नियम समस्त भाषाओं पर लागू होता है पर जिस सूत्रता से इसका प्रयोग वदमीरी भाषा में होता है वह न तो यिना में उपलब्ध है न गुरेसी भाषा में। इस भाषा का आदिम स्वरूप वदिक भाषा है। डा० सुनील कुमार चटर्जी इस मत को भाष्य ठहराते हैं। वदमीरी भाषा की श्रियाएं अब भी वदिक क्रियाओं की जटिलता को ग्रहण किए हुए हैं और वदिक भाषा के धनुरूप हैं। वदिक भाषा की जटिलता को ग्रहण किए हुए हैं और वदिक भाषा के धनुरूप हैं। वदिक भाषा की जटिलता को ग्रहण किए हुए हैं और वदिक भाषा के धनुरूप हैं।

- (१) सधि प्रकरण (मूल सख्या ११) (२) लिङ्ग प्रकरण—(क) लिङ्गपाद  
 (मूल सख्या ७६) (ख) लिङ्ग प्रकरण सतुद्धिपाद (मूल स० ३१) (ग) लिङ्ग प्र  
 रण मवनाम पाद (मूल सख्या ४६) (३) स्त्री प्रत्यय (मूल स० ३१) (४) समास  
 (मूल स० १४) (५) तद्धित (मूल स० १६) (६) अव्यय (मूल स० ५) (७)  
 धातु पाठ (६१६ धातु) (८) परिशिष्ट धातु (२४ धातु) (९) आख्यात प्रक्रिया—  
 (क) वतमान काल (मूल स० ५६) (ख) भूतकाल (मूल स० ६७) (ग) भविष्य  
 काल (मूल स० ३५) (घ) ह्युदात्त (मूल स० १०)—(क) वृत्तिया (मूल स०  
 ५१) (ख) भाववाद (मूल स० ६२) ।  
 अष्टाध्यायी गीता का प्रारम्भ म वहा उद्गीत  
 नाम्न एव कश्मीरी व्याकरण लिख  
 ही मिला है ।

नामक एक वन्दनीय व्याकरण लिखा। इस व्याकरण का मुद्रण का सौभाग्य हमी नहीं मिला है। इसकी पाठ्यपुत्रि रायल एजियटिन् नामागण बंगाल में सुरक्षित है। इसकी मश्रूम किन्म वन्दमा प्रण व राजकीय पाठ्य विभाग में है। इस व्याकरण पर पारसी और अरबी व्याकरण का प्रभाव है। निम्न मधि एक धातु पर लेख का

ध्यान नहीं गया है। अब्दुल नसर ने एक भरवी फारसी-कश्मीरी का तुलनात्मक रूप में व्याकरणमिश्रित शब्दकोष 'उनीसवीं शती में लिखा था। इसकी पाण्डुलिपि कश्मीर प्रदेश के राजकीय शोध विभाग के पाण्डुलिपि-वक्ष में है।

ईश्वर कौल ने कश्मीर 'गद्दा'मृत के प्रतिरिक्त एक कश्मीरी कोष की भी रचना की थी। त्रियसन के अनुसार इश्वर कौल मात्र 'क' अक्षर तक ही यह काय बना सका थे कि उनका दहान हो गया, किन्तु महामहोपाध्याय का कथन है कि कोष की सुलेख काफी थोड़ा 'क' अक्षर तक कर सका था या पूरा काय उन्हीं का है। कश्मीरी का यह प्रथम कोष है जिसका संपादन १९३१ में चार भागों में समाप्त हुआ। दूसरा कश्मीरी का 'उनीसवीं शती रचित दशमाध्याय' है। 'म' में फारसी ध्याय के अनिरिक्त संस्कृत और कश्मीरी शब्दावली भी है। इसके नेवक के विषय में अभी अन्तिम निष्कर्ष मभव नहीं है। कश्मीरी पर पुराने काय केवल ये ही हैं। इस सती में इस निम्ना में काफी काय हुआ है। प्राणनाथ नसल न १९६४ में 'कश्मीरी भाषा का तुलनात्मक व्याकरण' शीर्षक 'भाषाप्रबंध' प्रस्तुत किया। यह अध्ययन श्रीनगर के शिक्षित-वर्ग की भाषा का ही प्रतिनिधित्व करता है। इसमें कश्मीर के प्रमुख दो जिले कामराज और मगज का प्रतिनिधित्व नहीं है। वज्रविहारी काचरू न ३० १९६६ में कश्मीरी व्याकरण का प्रकाशन किया। यह भी पूरी कश्मीरी भाषा का प्रतिनिधित्व नहीं करता। श्री काचरू न इसके अनिरिक्त कश्मीरी भाषा का संपिप्त व्याकरण भी लिखा है। डा० तसल और बेलकर ने समुक्त योजना के अन्तर्गत कश्मीरी ध्वनिशास्त्र पर एक विवचनात्मक ग्रंथ लिखा है। राजकीय सरकार ने कश्मीरी कोष के निर्माणार्थ श्रीकान्त तोशाखानी की अध्यक्षता में एक बोर्ड की स्थापना की है। कश्मीरी भाषा-काय का प्रथम भाग प्रायः तैयार है। यह कश्मीरी का प्रथम बानात्मक कोष होगा। इसकी लिपि फारसी है। सुगान कश्मीरी न १९६२ में कश्मीरी भाषा की प्रता 'शीर्षक पुस्तक' लिखी जिसमें कश्मीरी के मुहावरों और कहावतों है, तथा उन पर संक्षिप्त टिप्पणी भी है। डा० निमन कपूर रेणा न कश्मीरी कहावतों और मुहावरों के तुलनात्मक अध्ययन पर कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय में पी० एच० डी० की उपाधि ग्रहण की है। इसके अनिरिक्त वितस्ता पत्रिका में स्थायी स्तम्भ के रूप में कश्मीरी 'गद्दा' वातायन में कश्मीरी भाषा के 'गद्दा' की व्युत्पत्ति का एक बृहत् 'गद्दा' भण्डार प्रकाशित हुआ है।

यूरोप के जान फ्रिस्टाफ एडिंगवर्थ लीच त्रियसन निधिम, कामराज बोनिंग हिंडन, काठ नारेंस ग्राहम बली आदि कई विद्वानों ने कश्मीरी भाषा पर काम किया है। कुछ एक अ-कश्मीरी भारतीय विद्वानों ने भी कश्मीरी व्याकरण के निर्माण में अपना योगदान दिया है। इनमें सर्वप्रथम विद्वान् नागपण्डित हैं जिनका चतुर्थ कश्मीरी व्याकरण है। इसका प्रकाशन १८७३ ई० में ताहौर में हुआ था। उसमें लिखित व्याख्या में इसका स्तर अच्छा है। इसी प्रकार मिर्देश्वरनाथ बर्मन ने कश्मीरी ध्वनि एवं अक्षर विन्यास पर महत्त्वपूर्ण पुस्तक लिखी है। कुछ छोटे मोटे पुस्तकें काय और भी हुई हैं।







# तेलुगु भाषा के व्याकरण

तेलुगु भाषा के (स्वतंत्र भाषा के रूप में) व्यवहार के प्रमाण नवी शताब्दी ईस्वी से प्राप्त होते हैं। उस समय के गिनालेवा में तेलुगु भाषा के गद्य तथा पद्य के अनेक नमूने मिले हैं। ग्याहर्खी शताब्दी तक—जब कि राजमहदपुरम् में चोल राज्य की तब शाखा राजराजनरेड्ड के आधिपत्य में स्थिर हुई, इस भाषा को राजादर प्राप्त हुआ और नामन भाषा के रूप में संस्कृत या प्राकृत के स्थान पर तेलुगु या आंध्र भाषा का व्यवहार होने लगा। इस नामन की एक अतिमहत्वपूर्ण घटना श्रीमहाभारतम् की रचना है जो सम्पूर्ण 'महा भारत' का तेलुगु अनुवाद है। इसकी रचना श्री भ्रभाषा के पितामह माने जानेवाले नन्नय भट्टारक ने की। वास्तव में यह अनुवाद तीन कवियों के द्वारा सम्पूर्ण किया जा सका नन्नय के पञ्चाश काल में एरद्वेण्ड और 'निबन्धन' नामक दो अन्य कवियों ने इस अनुवाद काय की पूर्ण किया जिनका समय तेरहवीं तथा चौदहवीं शताब्दी का। नामन की रचना तेलुगु भाषा के स्वरूप को स्थिर रूप दिया और वही परम्परा आद्य के माहित्य में स्वीकृत की गई, आज भी यह महाभारत मापीय धार्मिक प्रस्तुत करता है। साहित्य की भाँति ही तेलुगु-व्याकरण एवं वाक्य-संज्ञा के प्रारम्भ भी नन्नय ही हैं। नन्नय भट्टारक द्वारा संस्कृत के आर्यावृत्त छंद में निर्मित एक छोटा ग्रंथ 'आध्रगणितानामणि' तेलुगु का प्रथम व्याकरण है तथा वाक्यसंज्ञाप्रयोग में भी प्रथम रचना के रूप में इस रचना की परिगणना होती है। उस समय जिनने भी भाषा व्याकरण रचें वे राय से लगे थे भी प्रतिपादित करते हैं क्योंकि इन ग्रंथों का निर्माण कवित्व गिता के लिए होता था। तात्कावियम् (संज्ञा से पूर्व लीया गतात्मा) में भी यही शक्ति है। पञ्चम भाषा का कविराजमाग जो कि संस्कृत के (दंडित) व्याकरण पर आधारित है प्रमुख तथा वाक्य-संज्ञा का प्रतिपादित करने हुए प्रयोग माधुत्य की भी खोज करता है। जिस प्रकार संस्कृत के पाणिनीयानि व्याकरणों की भाँति ही वाक्य-संज्ञा की परम्परा में भिन्न एक स्वतंत्र परम्परा विकसित हुई वही इन दशमायामा में नहीं है। संस्कृत में भी प्रथम वाक्य-संज्ञा ग्रंथ 'अरानायाताम्बम्' में भाषा प्रयोग का विवरण दिया गया है। तेलुगु की यह 'आध्रगणितानामणि' मान्यता गतात्मा तक लगी है। मगरही इनका नाम 'आध्रगणितानामणि' नियमा का बताने वाले स्वतंत्र व्याकरणग्रंथों की रचना हुई।

तेलुगु में प्राप्त इन संपन्न व्याकरण ग्रंथों का विविध श्रवण में परस्पर संबन्ध है और विभिन्न वर्गों में एक साथ है। एक तो भाषा भेद में—संस्कृत में लिखित और तेलुगुभाषा में लिखित—आधा के दो वर्ग किए जा सकते हैं। संस्कृत में लिखित वाक्य-संज्ञा 'आध्रगणितानामणि' उपरान्त लिखित ग्रंथों में उक्तप्रकार

की 'याह्या जो 'विकृतिविवक' तथा 'अहोवक्षपडितीय' नाम से विख्यात है आध्र-  
वोमुदी तथा हरिहारिका ग्रन्थ हैं। दूसरे वग म आध्रभाषा भूपणमु, वाव्यालकार  
चूडामणि, कविलोकचिन्तामणि, नविजनसजोवनी, अप्पकवीयमु, कविशिरोभूषणमु,  
सवलक्षणसारसग्रहमु आदि ग्रन्थ हैं।

इनका वर्गीकरण एक और प्रकारसे भी हो सकता है। छन्द या पद्य के रूप में  
निमित्त तथा सूत्रों के रूपमें निमित्त—१ वग हैं। तीसरा वग व्याख्याआ अथवा  
टीकाआ का है जो गद्यरूपमें हैं। कुछ ऐसे भी ग्रन्थ हैं जिनमें लक्षण पद्यमें हैं और  
लक्ष्य गद्य में।

इन व्याकरणग्रन्थों की प्रतिपादनशैली, भाषा सम्बन्धी दृष्टि तथा विवेचन  
पद्धति को दृष्टि में रखते हुए इह बालक्रम के अनुसार निम्नलिखित प्रकारसे वर्गीकृत  
किया जा सकता है—१ प्रारम्भिकयुग—ग्यारहवीं शतीमें तेरहवीं शती ईस्वी तक,  
२ द्वितीय चरण—तेरहवीं शती से सोलहवीं शती ईस्वी तक ३ तृतीय चरण—  
सोलहवीं से उनीसवीं शती ईस्वी तक ४ आधुनिक युग—उनीसवीं तथा बीसवीं  
शती।

प्रारम्भिक युग—इस युग की दो प्रमुख कृतियाँ उपलब्ध हुई हैं य हैं नन्नय  
भट्टारक कृत आध्रगण्डचिन्तामणि (ग्यारहवां शती) और अथवगकारिकावली अथ  
वग के द्वारा लिखित व्याख्या अथवा कृति जो नन्नय कृत चिन्तामणि पर लिखी गई  
है (तेरहवीं शती)। इस युगमें कदाचित् ये दो ही कृतियाँ लिखी गयी थीं। ये दोनों  
सम्स्कृत में हैं और श्लोक रूप में हैं। इनमें तेलुगु भाषा व्याकरण के अनिश्चित वाक्य  
लक्षणा की भी चर्चा है। आध्रगण्ड चिन्तामणि यह स्पष्ट घायणा करती है कि  
संस्कृत तथा प्राकृत भाषाओं के व्याकरण तेलुगु भाषा प्रयोग के लिए अथवा अध्येय  
हैं क्या कि तेलुगु भाषा में संस्कृत प्राकृतप्रयोग अधिक मात्रा में आते हैं। नन्नय ने  
उन ग्रन्थों की चर्चा अपने ग्रन्थ में नहीं की है जो संस्कृत के पाणिनीय तथा प्राकृत  
के वामीकीयादि व्याकरणा में चर्चित हैं। उन्होंने केवल उन ग्रन्थों की चर्चा की है  
जो तेलुगुभाषा के लिए विनिष्ट हैं और संस्कृत प्राकृत व्याकरणा में अप्राप्य हैं। इन  
दोनों ग्रन्थों में कहीं संस्कृत के उन पारिभाषिक शब्दों की परिभाषा भी नहीं दी गई  
है जो पाणिनीय में आये हैं किन्तु उन शब्दों का प्रयोग तेलुगु व्याकरणा में बराबर  
होना रहा है, जैसे सजा क्रिया अव्यय समाम अथ हम निः तद्धित, कन् इत्यादि।  
इससे स्पष्ट है कि ये तेलुगु व्याकरण पाणिनीयादि व्याकरणा के मूलरूप अथवा के  
रूप में ही निमित्त थे, न कि पूरा स्वतन्त्र ग्रन्थों के रूप में। नन्नय ने तेलुगु के लिए  
आवश्यक कुछ नये पारिभाषिक शब्द प्रयुक्त किये हैं और उनकी परिभाषा भी दी  
है। जैसे तेलुगु भाषा के शब्दों की रचना की अथवा स्वर सङ्केत की दृष्टि में दो  
वर्गों में रखा गया है द्रुतप्रवर्तित शब्द वे हैं जिनकी समाप्ति न में हा, क्त  
(प्रकारान्त) शब्द वे हैं जो न से समाप्त न हा। नन्नय कति चिन्तामणि का एक  
नमूना है—

विश्वधेय वाक्य, लट्ठदोषी, परिकृतो च वाग्यो।

सा वाग या रसवृत्ति साध्योऽयं हि रसो यथायय कविभिः ॥ (श्लोक १)

[काव्य वह है जिसमें बिद्वत् का श्रेय होता है, दोषहीन गुण प्रतकार युक्त वाग्य ही काव्य है काव्यगत वाक्य सम्पूर्ण होती है कवियों के द्वारा उपयुक्त रीति में रस साध्य किया जाता है]

स्वस्वान्वेगभूषाभिभवात्पत्रो रसप्रचुषपिषः ।

लोके बहु भयते वक्तकायानि चायदपहाय ॥ (श्लोक २)

[रस के आस्वादन में तत्पर जितना हृदय है ऐसे में न विज्ञात् योग आश्रय प्रदेश में अपने स्थान के वाग्य वेपभूषा में अभिमानमुक्त होने हैं और बहुत काव्य —अर्थात् तेलुगु भाषीय काव्या को ही—मय स्वस्व प्राक्कन काव्य को छोड़ कर आदर नष्टि से स्वीकार करते हैं ।]

सिद्धिर्लोकाद् दृष्ट्या लोकीज्जगद्वाच्यमित्येव ।

सत्कारनियमो नियमाद् वाच्य हि यत्स्वभ्रमः ॥ (श्लोक ३)

[जगत् को साधुता प्राप्त व्यवहार से अर्थात् सिद्धजन व्यवहार से सिद्ध होती है जो व्यवहार परिवर्तनशील न हो नित्य ही उसी को लोक जगत् में ग्रहण किया है । (अर्थात् सामान्य व्यवहार में निरन्तर उच्चारण में अथवा व्याकरणित प्रयोग में भिन्नता प्राप्त करने वाले व्यवहार ग्राह्य नहीं है जिस व्यवहार भाषा के स्वरूप का ग्रहण करना है) ऐस जगत् व्यवहार के सत्कार के लिए व्याकरणित नियम दिये जाते हैं । जो इन नियमों को ग्रहण न करे वह व्यवहार वाच्य माना जाता है और वही अश्रुत है ।]

उपयुक्त चिन्तामणि श्लोकों से यह प्रकट है कि कवियों ने नित्य में काव्य रचना ही भाषीय साधु प्रयोगों के नियम देने का मुख्य सत्य है जिस व्यवहार ही वाच्य भाषा है और उसका स्व स्वरूप हास है । सत्स्व प्राक्कन की परंपरा में तत्पुत्र का जोड़ देने का यह प्रयत्न इतना सफल हुआ कि भाषा के लक्षणों का तथा कथा रचना में भी तत्पुत्र का इसी हृष्टि में विवेचन किया और स्वतंत्र विवेचन नहीं किया ।

अथ अथवाणवारिवावली का एक नमूना लीजिए जो कि नामानि की वृत्ति है

भाषा महार्हा सा भूय सबस्थिति निगच्छते ।

तदनुताप्य वापस्य वक्ता भवति पाणिनि ॥

भूतेष्वाम्ने प्रोक्ते वा प्रमाणान् पाणिनि स्मरेत् ।

अथवा पाणिनामोऽयं चितयेद् बहुलो भूय ॥

प्राक्कने वदविव धावि वाचोर्हि वा महेश्वरम् ।

व्यापद्वय तु भावेन स्मरेत् पंडितमतम् ॥

(अथवाण न्याय ४ ५ ६)

(महेश्वर भाषा धर्मिक ३ अथवाण न्याय है सभी भाषाओं का मूल है—

भाषा का जाना है । अथ विज्ञान ज्ञान वाचा अथ भाषाया वा व्याकरण म जो अनुन है उसका वक्ता पाणिनि ३ (अथवा मन्त्र भाषाया का ग्रहण है विज्ञान व्याकरण पाणिनि न दिया है) । अथ अथवाण न्याय का मूल है या मुने ता

पाणिनि का स्मरण करें। अथवा फलिषा के राजा (महाभाष्यकर्ता पतञ्जलि) का स्मरण करें। छ प्रकार की प्राकृत भाषाओं में अपशब्दा का प्रयोग करें या सुनें तो (प्राकृत व्याकरणकर्ता) महेद्वर और वाल्मीकि का स्मरण करें। इस तेलुगु भाषा में यदि अपशब्द प्रयोग हो जाए तो हम दोनों का—अर्थात् चिन्तामणिकता नमन्य और अथर्वणनारिकावली के रचयिता अथर्वण—का स्मरण करें।]

अथर्वण ने यह भी कहा है कि आध्रभाषा को अपभ्रंश नहीं कह सकते क्योंकि यह सस्कृतमूलक है, रूढ़ है और निष्ठजन के द्वारा स्वीकृत है।

ननय तथा अथर्वण के द्वारा स्थिरीकृत य आधार ही आगे के सभी लक्षणों के लिए आदान बन गये। अतः उन लोगों की रचनाओं में भाषा सम्यगी कोई स्वतन्त्र या इससे भिन्न चिन्तन नहीं प्राप्त होता है। उन सबन सस्कृत प्राकृत व्याकरणों को यथावत् स्वीकार करके तेलुगु के विशिष्ट नियमों का प्रतिपादन किया है यह अवश्य है कि सस्कृत प्राकृत प्रयोगों में से कुछ ही को तेलुगु के लिए ग्रहण माना गया, कुछ प्रयोग तेलुगु के लिए अनावश्यक करार दे दिये गये हैं। वह तु प्रव्याहार्यं संकेतितस्तुप्रसिद्धमव पदम् —अर्थात् इन (तेलुगु) भाषा में सस्कृत प्राकृत के वे ही पद प्रयोग-योग्य हैं जो विवक्षित अर्थ का संकेत देने में समर्थ हैं, अन्य पद नहीं।

द्वितीय चरण में 'केनन' (अकांगत शब्द) का नाम प्रथम ग्राह्य है। (तरहवी गती) उनकी एक पद्यवृत्ति 'दाकुमारचरित' अत्यन्त सुन्दर काव्य है। इनका रचित व्याकरण तथा काव्य लक्षण गये हैं—आध्रभाषाभूषणम्। यह तेलुगु भाषा के छंदा में विरचित है। ग्रंथ के आरम्भ में इन्होंने कहा है कि ननय आदि ने सस्कृत प्राकृत के तत्सम शब्दों का लक्षण तो प्रतिपादित किया, किन्तु तेलुगु भाषा के बारे में बहुत कुछ कहना रह गया अतः ननय आदि की कृपा से मैं य लक्षण कह रहा हूँ मुनुनु तनुगुनुकु सनण मेनुहु जेववरुनु जेपपर ए जेपपद" (केनन कृत आध्रभाषाभूषणम् पद्य २), यह ग्रंथ छोटा है, तो भी तेलुगु और सस्कृत भाषागत अन्तर को दृष्टि में रखते हुए सवि सभास, विभक्ति आदि का भोदाहरण प्रतिपादन करता है। दूसरा उल्लेखनीय ग्रंथ है नाव्यालकारचूडामणि जिसके रचयिता हैं विन्तूनकोट पेहदन' (पद्महवी शती) इसमें नौ अध्याय हैं आठ अध्यायों में फायाओं का निरूपण है और नवम अध्याय में तेलुगु का व्याकरण है सज्ञा, तत्सम शब्द सवि विभक्ति, लक्षित रूप, क्रियाकर्म—आदि का विवेचन है।

इसी समय के एक अन्य विद्वान् वेन्तवि तातमट्ट विरचित 'वविलोक चिन्तामणि' है। इसमें भी व्याकरण के साथ काव्यांगों का विवेचन है।

मोनहवी शती के मुददगजुरामन्' कृत 'वविलोकचिन्तामणि' में जो कि पद्या में है यतिप्रासप्रवरण, शब्दप्रकरण समासप्रवरण, अधिप्रवरण नाम से चार प्रवरण हैं इनके नामों में ही प्रतिपाद्य विषय का संकेत मिलता है।

तृतीय चरण में—अर्थात् सत्रहवाँ अठारहवीं आठ उन्नीसवीं शती में अनेक प्रसिद्ध रचनाएँ हुई जिनका प्रचार आज भी प्रचुर है। इनमें अत्यधिक लोकप्रिय

तथा माय प्रथ है —

‘वाल्सरस्वनीयम्’ जो प्राध्वान्चिन्तामणि की टीका है, इमम प्राध्वान्चिन्तामणि के स्तोत्र की मूल बनाने दिया गया है तथा व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। प्राधुनिक युग में वास्तव में इसी टीका के प्राप्ति का मूल प्रथम चिन्तामणि का पता चलता है। इसके रचयिता थे ‘गणपति वालसरस्वति’ — जो प्रसिद्ध अध्यापक थे।

दूसरी प्रसिद्ध कृति है अध्वनीयम् (गान्धी गी) जिसका रचयिता है ‘वाल्सरस्वनीयम्’। वास्तव में यह प्राध्वान्चिन्तामणि पर आधारित है, जिस प्रकार अन्य लक्षणप्रथा का आधार नवन प्रामाणिक लक्षण का उद्घरण दा हुए इसमें विस्तार से भाषा तथा वाक्य के लक्षण बताये गये हैं। इमम पाँच भागों में, पहले चार भागों में वाक्यलक्षण है और अन्तिम में तनुगु व्याकरण—मुद्रण नधि। ऐसा प्रतीत होता है कि प्राध्वान्चिन्तामणि के समान इमम भी भाषा के प्रथम लक्षण—अन्तर्गत, किया गया भाषा का नियन्त्रण करता अभीष्ट था किन्तु अन्त के भाग प्राप्ति नहीं हुये कर्तव्य प्रथम अध्यापक ही रच गया। तृतीय प्रसिद्ध कृति है कविशिरोभूषणम् जिसके रचयिता अज्ञानपद्धति हैं। अन्तर्गत यह प्रथम ‘महायन्त्र पद्धिनीयम्’ नाम से जाना है। यह प्राध्वान्चिन्तामणि तथा अध्वनीयम् पर लिखित भाष्य है, वालसरस्वनीयम् का आधार इमम लिया गया है। चिन्तामणि कारिकावलि के साथ अज्ञानपद्धिनीयम् का भी अध्वनन किया जाता है जब कि मन्त्र में गणपति वररवि के साथ पतञ्जलिवृत्त महाभाष्य पढ़ा जाता है। अन्तर्गत हैं (१) प्राध्वनीमुदी (सोलहवीं शती) मदनरामिह कविद्वय संहृत में लिखित मूल। (२) सबलक्षणसारसंग्रहम् (सोलहवीं शती) गणेश्वरयु वेङ्कटविक्रम। इसका प्रत्यक्ष अध्यापक एक स्वतन्त्र ग्रन्थ माना जाता है जिसके नाम हैं—प्राध्वनीयम् गणपतिप्राप्त लक्षण, अन्तर्गत काव्यलक्षण रसविचार इत्यादि। व्याकरण भाग का नाम है प्राध्वनीमुदी जो एक हजार चरण वाला एक बड़ा छन्द है। (३) सबलक्षणसारसंग्रहम् (१८वीं शती) कूचिमणि तिमम कवि कृत। इसमें तीन भागों में भाषीय विवेचन है। अन्तर्गत रंगराट्टम् (१८वीं शती) कस्तूरि रंगविक्रम। इसका प्रधान प्रतिपाद्य अन्तर्गत है, व्याकरण विषय गौण है। कविसंज्ञाविवेचनम् (१८वीं १९वीं शती में स्थित) अद्विदमुसूर कवि के द्वारा विरचित व्याकरणपरक पद्यग्रन्थ जो बहुत प्रसिद्ध हुआ। हरिवारिकलु (१८वीं शती) शिष्टु कल्याणमूर्ति कृत। यह संहृत में है और रचयिता ने स्वयं इसकी तेलुगु व्याख्या भी की है।

प्राधुनिक युग में प्रसिद्ध व्याकरण कृति हैं चिन्तयमूर्ति तिनका वाल व्याकरण तेलुगु भाषा का प्रामाणिक तथा अवलोकित पर्याप्त व्याकरण माना जाता है। संस्कृत प्राकृत व्याकरणों से निरपेक्ष होकर स्वतन्त्र रूप में समग्र तेलुगु भाषा का विवेचन करना इस ग्रन्थ का उद्देश्य है और इस उद्देश्य में यह बहुत हद तक सफल हुआ है। यह अवश्य है कि इस ग्रन्थ की निर्माण पद्धति प्रयोग-व्याप्ति भाषा पर विवाद होते रहे हैं अनेक पूर्वकवि प्रयोग इसमें स्वीकृत नहीं हुए समकालिक प्रयोग कुछ छूट गये। फिर भी तेलुगु भाषा के व्याकरण के रूप में यह पद्धति का

आदर प्राप्त कर सका है, इस बात का एक प्रमाण इस ग्रन्थ पर लिखी व्याख्याओं की संख्या से ही प्राप्त है। इससे अधिक व्याख्याएँ प्राप्त होती हैं। इसकी अत्यंत प्रामाणिक व्याख्या है 'सजीवनी' जिसके रचयिता हैं 'आध्रव्याकरणसहितासवस्व' नामक अत्यंत पांडित्यपूर्ण ग्रन्थ के रचयिता वज्रम चिन सीताराम स्वामि शास्त्री। शास्त्री जी के अनुसार बालव्याकरण आध्रशब्दचिन्तामणि तथा अथवणकारिका पर आधारित है।

बालव्याकरण में दस परिच्छेद हैं और सवा पांच सौ के करीब सूत्र हैं। इन परिच्छेदों में क्रमशः सप्ता सधि, सत्सम शब्द, आच्छिन्नशब्द (अर्थात् शुद्ध तेलुगु शब्द) कारक, समास संहित किया, कृदंत तथा प्रकीर्ण विषयों की चर्चा की गयी है। तेलुगु के वण, सवणता सधिनियम इत्यादि उन्नी पद्धति में दिये गये हैं जिस पद्धति से अष्टाध्यायी में दिये गए हैं। इसमें प्रयुक्त पारिभाषिक शब्द अधिकतर संस्कृत व्याकरणों में प्रसिद्ध ही हैं, किन्तु अनेक तेलुगु पारिभाषिक शब्द भी दिये गये हैं जो तेलुगु पारिभाषिक शब्द आध्रशब्दचिन्तामणिकार के द्वारा प्रयुक्त ही हैं।

इसमें कुछ सूत्रों के नमूने हैं —

मञ्जापरिच्छेद — मस्कतमुनकु वणमु लैवदि (संस्कृत के पचास वण हैं)।

प्राकृतमुनकु वणमुनु नलुवदि (प्राकृत के बालीस वण हैं)। तेनेगुनकु वणमुनु मुप पवियाव (तेलुगु के छत्तीस वण हैं)। नकारवु द्रुतवु (नकार 'द्रुत' कहलाता है)। द्रुतातमुलमिन पडमुलु द्रुतप्रकृतिवमुलु (द्रुतात पद द्रुत प्रकृति कहलाते हैं)। द्रुतप्रकृतुलु गानि शब्दुलु कळलनबडु (जो द्रुतप्रकृतिक नहीं है वे पद 'कल' कहलाते हैं)।

बाल व्याकरणकर्ता ने तेलुगु पदा के नियम बनाते समय प्रकृति प्रत्ययों का विखंडन मनमाने ढंग से कर दिया है और विभिन्नकालिक (अर्थात् प्राचीन तथा आधुनिक) प्रयोगों में कोई अंतर स्पष्ट न करने हुए एक समान नियम बना दिये—इत्यादि आरोपण किये जाते हैं। इस बाल व्याकरण में छूटे कुछ पदों के नियम बनाते हुए वदुजनपल्लि सीतारामाचार्य ने त्रिलिङ्गसंक्षेपमु नाम से एक अथ व्याकरण की रचना की। यह बाल व्याकरण का पूरक ग्रन्थ है। अतएव यह प्रौढ व्याकरण नाम से विख्यात हो गया है। फिर भी बालव्याकरण के समान इसमें समग्रता नहीं आयी है।

दोसवीं गतान्नी में स्त्रुलों तथा कान्जों के पाठ्य ग्रन्थ के रूप में अनेक व्याकरण ग्रन्थों की रचना की गयी इनका आधार एक आध्र बालव्याकरण है और दूसरी और अग्रेजी व्याकरण गतों का अनुकरण करने का प्रयत्न भी है। प्रयोग सिखाने के उद्देश्य से विहित इन व्याकरणों में विशेष मौलिकता नहीं दिखाई पड़ती है। फिर भी कुछ विद्वत्तापूर्ण व्याकरण लिखे गये—जैसे आध्रवाल्मीकि वाविलिकोलु मुन्वरु वत मुनम व्याकरणमु—जो चार भाषा में प्रकाशित हुआ तथा मरल व्याकरण बोरय्यव्याकरण गेपयव्याकरण आदि अन्य कुछ ग्रन्थें।

इनके साथ ही आध्रशब्दचिन्तामणि अथवणकारिका आदि की व्याख्याएँ भी लिखी जाती रही हैं। इनमें उल्लेखनीय है—चर्सा नारायणशास्त्रिकृत पञ्चात्मक



विवेचन, इनके मुमुत्र गणपति नास्ति विरचित व्याख्या आदि। बालरविभारण्यमु, आध्रभाषाशासनमु (मल्लादि मूय नारायण शास्त्री कृत) वज्रशस चिन सीताराम म्बामि शास्त्रिकृत अनेक शोधात्मक ग्रंथ उल्लेखनीय हैं।

इधर आध्रप्रदेश में 'यावहारिक' भाषा तथा आधिक भाषा को लेकर पड़िता में एक बड़ा शास्त्राग्रह चल पड़ा है। तेलुगु भाषा का बालबाल में जसा रूप हो गया है वह प्राचीन पारंपरिक ग्रंथप्रयुक्त शैली से भिन्न है। अतः कुछ विद्वानों का कथन है कि बालबाल में प्रचलित (तथा कथित अपभ्रष्ट) रूपों को मायता दी जाए और साहित्य रचना में उन्हें प्रयुक्त किया जाए। किंतु परंपरावादी हम मत का विरोध करते रहे हैं। इस शास्त्राग्रह के दौरान अनेक ऐसे 'शोधात्मक-निबंधों' का प्रकाशन हुआ जिनमें तेलुगु भाषा की संरचना पर उपयोगी सामग्री प्राप्त होती है।

भाषा विज्ञान के विकास के साथ-साथ तेलुगु तथा द्राविड परिवार की भाषाओं के अनेक विवेचन प्रकाशित हुए हैं। आज से एक सौ वर्ष पूर्व ही कार्ल डेवेल ने 'द्राविड भाषाओं का तुलनात्मक व्याकरण' नाम से एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ लिखा और पहली बार वैज्ञानिक ढंग से यह सिद्ध किया कि तेलुगु भाषा भूलतः द्राविड परिवार का अंग है और उसकी संरचना संस्कृत प्राकृत संरचना से भिन्न प्रकार की है। इसी दिशा या प्रक्रिया में अनन्त ग्रंथों तथा 'गांध पत्रों' का प्रकाशन हुआ है जिनका पूर्ण विवरण लेख के विस्तार की अपेक्षा रखना है। कुछ उल्लेखनीय ग्रंथ हैं—चिबुक्रूरि नारायण राव कृत आध्रभाषाचरित्रमु जिसमें कार्ल डेवेल के सिद्धांतों का खंडन करते तेलुगु का आपरिवार का अंग सिद्ध करने का यत्न किया गया है।

किंतु यह यत्न पूर्णतया सफल नहीं हो पाया। यौराज रामकृष्णस्य का मधि नामक ग्रंथ भी उल्लेखनीय है। विद्वान जि ज माधवाजुलु ने आध्रभाषा विकासमु नामक शोधग्रंथ की रचना की है। इसमें चिबुक्रूरि नारायण राव के मत की समालोचना की गयी है। आधुनिक भाषाविज्ञान के विद्वानों ने भी तेलुगु की रचना-संरचना व्याकरण सम्बन्धी आदि का विवेचन आधुनिक प्रक्रिया से प्रस्तुत किया है। ऐसे विद्वानों में भारतीय तथा अंग्रेजी व्यक्तियों सम्मिलित हैं। इनका पूर्ण विज्ञान इस छद्म निबंध में देना संभव नहीं है।

अतः हम यह कहना चाहते हैं कि नगमन एवं हजार वर्ष की अवधि में निमित्त का व्याकरण ग्रंथों ने तेलुगु भाषा प्रयोगों का स्थिर करने तथा तेलुगु साहित्यकारों का महायत्न देने का कार्य अत्यंत गहनता प्राप्त की है, और तेलुगु में भाषा चिन्तन तथा भाषीय चेतना को विस्तारित करने में योग दिया है। तेलुगु वाचक इन ग्रंथों पर गौरव कर सकते हैं।

## मलयालम व्याकरण की परम्परा

मलयालम भाषा की व्याकरण अविनाश आधुनिक भारतीय भाषाओं के प्राधुनिक व्याकरणों के समान संस्कृत भाषा के व्याकरण ग्रंथों से अधिक प्रभावित नहीं है। यद्यपि संस्कृत के व्याकरण ग्रंथों के अनुवाद मलयालम में मिलते हैं। तथा संस्कृत के और भी अनक लक्षण ग्रंथों के एक से अधिक अनुवाद हुए हैं। परंतु संस्कृत व्याकरण के आदेश पर मलयालम का कोई सवालपूर्ण व्याकरण ग्रंथ नहीं लिखा गया। वस कहा जाता है कि मलयालम का प्रथम व्याकरण सन् १३८१ ई० में लिखा गया था परंतु इसका रचयिता अज्ञात है। प्रस्तुत ग्रंथ की रचना उस अज्ञात साहित्यकार ने तब की थी जबकि कविमणि व्याकरण के नियमों की उपस्था करने हुए अपने मताभावा के अनुसार मणिप्रवाल शैली में पुष्पों लिखन रहा थे। इसमें ग्रंथकार ने यह दिखाया है कि मणिप्रवाल शैली में लिखित उत्तम रचना किम प्रकार की होनी चाहिए तथा प्रान्तीय एवं संस्कृत भाषा के शब्दों के लिए यह ग्रंथ मनुष्य ही एक रत्न की खान है। इसमें तत्कालीन कविता पर बड़ा प्रभाव डाला और प्रकृति का सा काम किया।

तदुपरांत दीर्घकाल तक किसी नवीन व्याकरण ग्रंथ की रचना मलयालम में नहीं हुई और संस्कृत के लक्षण ग्रंथों की छत्रछाया में मलयालम साहित्य पनपता रहा। सन् १७२१ में राबर्ट डेमण्ड ने मलयालम भाषाशुद्ध व्याकरणम् (मलयालम भाषा का व्याकरण) नामक ग्रंथ की रचना की। उन्होंने प्राचीन ग्रंथों की आधार बनाकर मलयालम व्याकरण को नवीन रूप में उपस्थित करने की कोशिश की। इसके कई दशकों के पश्चात् सन् १८४१ में राबर्ट विट ने 'The Grammar of the Malayalam Language' की रचना अंग्रेजी पद्धति की अपनाते हुए की। उसमें व कोई ठोस सामग्री देने में असमर्थ रहें हैं। हा इसके ऐतिहासिक महत्त्व को नकारा नहीं जा सकता।

इस समय रचे गए व्याकरण ग्रंथों में प्रथम स्थान डा० गुण्डट के व्याकरण का दिया जाना चाहिए। डा० गुण्डट ईसाई धर्म का प्रचार करने के लिए सन् १८३८ में कर्ल आये थे। विभिन्न भाषाओं के अध्ययन करने की उनकी विषय रुचि थी। मलयालम, तेलुगु, तमिल, कन्नड जैसी द्राविड भाषाएँ उन्होंने अच्छी तरह सीख लीं थी। लोग उनके आचारविचार दंतकथाओं आदि का ज्ञान भी जनता के निकट सम्पर्क से उन्होंने प्राप्त किया था। सरकार ने नवीन शिक्षा-पद्धति के अनुसार विद्याभ्यास के लिए पाठ्यक्रम निर्माण का भार उन पर सौंप दिया था। तब उन्होंने 'मलयालम व्याकरण' की रचना की। सन् १८६२ में उनका व्याकरण प्रकाशित हुआ। उस वय

तब अथक परिश्रम करके उन्होंने १८७२ में एक कोश प्रकाशित किया जिसमें शब्दों की उत्पत्ति अथवा आलम्ब्यार्थ अथ उच्चारण की रीति आदि विविध पहलुओं पर प्रकाश डाला गया है। उनका व्याकरण भी उनके इसी तरह के गम्भीर शोधों का प्रतीक है।

कहा जाता है कि निरुक्तिवृत्त (आज निरुद्धम के नाम से प्रसिद्ध) के राजा आपत्त्यम तिम्नार ने अपने दीवान की सहायता से मनमाने भाषा की प्रगति के लिए अनेक कार्य किए। अर्द्ध शतक या का पुरस्कार भी मिले। उस पुस्तक प्रतिपादिता में दिजेना एन ईमाइ पुनर्गठित जाज मात्तन ने मनु १८९३ में एक व्याकरण ग्रन्थ की रचना की। यह व्याकरण अंग्रेजी शैली पर लिखा है तथा एक उत्तम ग्रन्थ है इसमें कोई सन्देह नहीं। इसके अतिरिक्त उन्होंने 'वासाभ्यसनम्' नामक उत्तम निरुद्धग्रन्थ की भी रचना की है जिस पर उन्हें पुरस्कार प्राप्त हुआ था।

श्लियशायिनपुरान के मन्त्रालय निरुद्धमत्तु ने मनमाने भाषा की समर बनान का पर्याप्त प्रयत्न किया। वे मन्त्रालय के प्रारम्भ पणित तथा कई मन्त्रालय ग्रन्थों की रचना में। उनका द्वारा रचित निरुक्तिवृत्त राज्य का दृष्टिगत का मन्त्रालय ग्रन्थ के रूप में मन्त्रालय स्थान है। मनु १८७६ में उनका ग्रन्थ भाषा व्याकरण नामक मौलिक ग्रन्थ प्रकाश में आया जिसे वा करन की जनता ने हृदय से स्वीकृत किया।

सन् १९१७ में माट्टूरकृष्ण पिगोरटी ने 'भाषादण्डम्' नामक एक बहुवचन ग्रन्थ की रचना की जो दो भागों में प्रकाशित हुआ है। संस्कृत के उद्भट विद्वान् होने के नाते इन्होंने संस्कृत की पद्धति को ही अपना आधार बनाया है। सन् १८३१ में मातु वट एल० ने 'व्याकरण सग्रहम्' नामक ग्रन्थ की रचना करके मलयालम व्याकरण का सुन्दर और सरल रूप में उपस्थित करने की कोशिश की है।

इस सदी में सन् १९३९ में विद्वान् वेलायुधन् आचार्य एन० ने 'व्याकरण कौमुदी' नामक सुप्रसिद्ध ग्रन्थ की रचना की जिसमें सुधी लेखक ने पूर्ववर्तित व्याकरण का आधार बनाकर एक नया रूप में सुव्यवस्थित ढंग से मलयालम व्याकरण का उपस्थित करने का उपक्रम किया है। सन् १९४१ में संस्कृत के वरिष्ठ प्रवक्ता एक उद्भट विद्वान् वामुदन भूषण के० (के० एम० वी० एम० नाम से प्रसिद्ध) ने 'व्याकरणकौमुदी' नामक सुप्रसिद्ध ग्रन्थ की रचना की जिसमें उन्होंने मलयालम व्याकरण का प्रत्यक्ष सुव्यवस्थित ढंग से मलयालम के समस्त उपस्थित करने का प्रयास किया है। मलयालम के सुप्रतिष्ठित समालोचक तथा संस्कृत के प्रसिद्ध पण्डित कुट्टिकृष्ण मागर ने सन् १९४२ में स्कूलों में शिक्षा देने वाले विद्यार्थियों की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए 'भाषापरिचयम्' नामक ग्रन्थ की रचना की जिसमें उन्होंने मलयालम भाषा के व्याकरण को बड़े ही सरल सुस्पष्ट और सुव्यवस्थित रूप में लिखने की कोशिश की है।

सन् १९४२ में ही मलयालम के धातुकार के के राजा ने 'कौमुदी' नामक एक कृति की रचना की जिसमें उन्होंने मलयालम भाषा के व्याकरण का निष्काह देने की कोशिश की है। सन् १९४४ में आर्द० सी० चावको का 'पाणिनि प्रघातम्' नामक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। इस व्याकरण ग्रन्थ का विद्वज्जनां ने बहुत सम्मान किया है। कर्नाटक साहित्य अकादमी ने इस ग्रन्थ पर पुरस्कार स्वरूप इसका उचित पदार्पण किया है। मलयालम व्याकरण की परम्परा में इसका एक विनिष्ठ स्थान है। सन् १९४५ में एन० कुविराम पिल्ल ने 'श्रीविजयव्याकरणम्' नामक ग्रन्थ की रचना की। श्री पिल्ल ने संस्कृत और अंग्रेजी में लिखे गए व्याकरणों तथा अपने में पूर्व लिखित मलयालम व्याकरणों का आधार बनाकर ही इस ग्रन्थ की रचना की है। यह ग्रन्थ पूर्ववर्तित व्याकरणों का अनुकरण मात्र नहीं है बल्कि इस व्याकरण-परम्परा के विकास में महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। सन् १९४८ में एक और व्याकरण ग्रन्थ प्रकाशित हुआ—'वर्गास टी० का नवीन व्याकरण पाठावली'। इसमें विद्वान् अध्यापक वच्चन का व्याकरण सम्मान की पवीन पद्धति का अपनाया है। इसमें अंग्रेजी भाषा का साथ दिया गया है। यह ग्रन्थ विद्यार्थियों के लिए प्रत्यक्ष उपयोगी है। यह ग्रन्थ पाठ भाग में विभक्त है।

इन ग्रन्थों के अलावा फार्नमयर एल० जू० (Farhnamer L. J.) द्वारा रचित व्याकरण का प्राथमिक पाठ्य भी एक उत्तेजनोद्यक ग्रन्थ है। साथ ही साथ महारवि जी० नरेंद्र कुम्भारी साहित्य परिषद् और 'भाषा प्रवर्धिका' की उन्नत नीति रचनाएँ हैं। आ० नरेंद्र कुम्भार ने 'भाषाविवरणम्' नामक ग्रन्थ लिख

वर मलयालम भाषा की महती सेवा की है।

उपरिलिखित व्याकरण ग्रन्थों के अतिरिक्त अथ ग्रन्थ भी मलयालम में लिखे अवश्य गये होंगे। परन्तु उनका उल्लेख न तो किसी इतिहास में मिलता है और न वे पुस्तकालयों में ही उपलब्ध होते हैं। मलयालम भाषा में समालोचना का इतना अभाव है कि मुझ से कुछ लेख तैयार करने के लिए इन पुस्तकों को खोजा पड़ा है और इनकी प्रकाशन तिथियाँ देखनी पड़ी हैं। आज तक मलयालम की व्याकरण परम्परा पर कोई भी लेख प्रकाशित नहीं हुआ है। प्रस्तुत लेख में मलयालम की परम्परा का विहंगावलोकन ही सम्भव हो सका है। अस्तु ।

# कन्नड के प्राचीन व्याकरण : एक टिप्पणी

कन्नड भाषा के प्राचीन प्रयोग के प्रमाण छठी सदी से मिलने लगते हैं किंतु जमा कि स्वाभाविक है इस भाषा के विश्लेषण की परम्परा काफी बाद में प्रारम्भ हुई कन्नड के प्रथम ग्रात वैयाकरण नागवर्मा (१२ वी सदी) हैं। इन्होंने दो व्याकरणों की रचना की। पहला व्याकरण कन्नड भाषा में बड़ पद्यों में रचित है। यह वस्तु स्वतंत्र ग्रंथ न होकर नागवर्मा के नाव्यशास्त्रीय ग्रंथ 'वाध्यावलोकन' का पहला अध्याय है। इनका दूसरा व्याकरण कण्टकभाषाभूषण है जो पाणिनि की गीतों में समृद्ध भाषा में सूत्रों (कुल २६६ सूत्र) में लिखा गया है। अपने सूत्रों पर प्रत्येक न स्वयं एक टीका भी लिखी है। या तो इन दोनों व्याकरणों के पहले भी ६ वी सदी के एक वाच्यशास्त्रीय ग्रंथ कविराजमार्ग में कन्नड भाषा की कुछ बातों का विवचन है, किंतु उस व्याकरण की सज्ञा नहीं दी जा सकती। कर्नाटक भाषाभूषण में कुल दस अध्यायों में कन्नड भाषा की ध्वनियाँ उसकी रूपरचना तथा गठ रचना आदि पर गहराई से विचार किया गया है। यह व्याकरण पाणिनि से स्पष्ट प्रभावित है। कन्नड के दूसरे प्रसिद्ध वैयाकरण केशिराज (१३ वी सदी) है जिसका ग्रंथ 'शब्दमण्डपण' है। केशिराज ने नागवर्मा के दोनों ग्रंथों से पर्याप्त सामग्री ली है किन्तु साथ ही अपने समय की कन्नड का विश्लेषण करते हुए प्राक्क पद्यक संगोपन भी किया है। कन्नड का चौथा प्रसिद्ध व्याकरण है 'शब्दानुशासन' (कुल ५६२ सूत्र)। इसके लेखक हैं भट्टाचलक (रचना १६०० ई० के आसपास)। यह अनुशासन भी पाणिनि में पूरक प्रभावित है। इन्होंने स्वयं अपने सूत्रों पर भाषा मजरी नाम की टीका लिखी और फिर उसका भा विस्तृत विवेचन 'मजरीमकरद' नामक एक व्याख्या में किया। पाणिनि परम्परा में पाणिनि के सूत्र कात्यायन के चार्तिक तथा पतञ्जलि का महाभाष्य प्रसिद्ध है। कन्नड भाषा के लिए भट्टाचलक ने अपने तीनों ग्रंथों द्वारा यह तीनों काय किए। भट्टाचलक ने भी नागवर्मा से बहुत कुछ लिया है। कन्नड के इन प्राचीन व्याकरणों की कुछ विशेषताओं की धोर मकेत करना आवश्यक हो गया (१) आज जस ध्वनिग्रामविज्ञान में युनितम विरोधी युग्मों के आधार पर दो ध्वनियों में निरोध दिखलाते हैं भाषाभूषणकार ने ह्रस्व ए तथा ह्रस्व ओ की स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध करने के लिए ऐसे ही उदाहरण दिए हैं। (२) सध के प्रकरण में यह स्पष्ट है कि समृद्ध के सधिनियम तत्सम गणों तक ही सीमित रह जायें कन्नड के अपने गणों में नहीं। (३) कन्नड के अपने गणों का देशज कहा गया है तथा तदुक्त का अपभ्रंश। (४) कारक छ हैं। सवध तथा मवाधन कारक नहीं हैं। (५) एक कारक के लिए दूसर की निर्भाति का प्रयोग हो सकता है। स्पष्ट ही यहाँ बाह्य संरचना और आंतरिक संरचना जैसे बात है। (६) नागवर्मा का ध्यान ऐतिहासिक ध्वनिविज्ञान की ओर भी गया है। उन्होंने समृद्ध गणों के कन्नड में होने वाले परिवर्तन का विश्लेषण किया है।

वस्तुतः इन चारों व्याकरणों के देखने से स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन कन्नड के पूर्व ही कन्नड विद्वानों ने पाणिनीय परम्परा के आदर्श को गहराई से ग्रहण करना प्रारम्भ कर दिया था।

{A manual of Gujarati Grammar—D D Dalal, Bombay, 1889

गुजराती व्याकरण ना मूल तत्त्व—भगवान स० भट्ट, १९०१ ।

गुजराती भाषानु बहद व्याकरण—कमलाशंकर प० त्रिवेदी, बंबई, १९१९ ।

{Gujarati Language and literature—N H Divatia Bombay, 1921

{Accent In Gujarati—G N Saswadkar, M A London dissertation, 1929

गुजराती भाषा नी उत्क्रांति—बी जे दाशी बंबई १९४३ ।

प्रक्षर घन शब्द—के के शास्त्री, १९४५ ।

The Language of Mahagujarat—T N Dave, Bombay 1948

गण धने अथ—बी जे सदेमरा बंबई १९५४ ।

गुजराती रूपरचना—के के शास्त्री बम्बई १९५८ ।

गुजराती भाषानु पारपरिवर्तन—के के शास्त्री, १९६० ।

Vowel system of Gujarati—Patel and Modi Baroda 1961

Phonemic and Morphemic analysis of Gujarati Language

poona 1966

गुजराती भाषानु ध्वनिस्वरूप धन ध्वनिपरिवर्तन — पी० बी० पंडित  
ग्रहमण्डाद १९६६ ।

बंगला

A Bengali Grammar for Natives—इयामाशरण मरकार कलकत्ता  
१८६० ।

व्याकरणमञ्जरी—बनारनाथ तबरेन कलकत्ता १८७८ ।

व्याकरण प्रवर्ग—नित्यानन्द चक्रवर्ती कलकत्ता १८७८ ।

व्याकरण मनु—प्रजनाथ विद्यानगर १८७८ कलकत्ता ।

Rudiments of Bengali Grammar in English—K P Benerji

Calcutta 1893

The Origin and Development of Bengali language—S K

Chatterjee Calcutta 1926

Bengali Phonetic Reader—S K Chatterjee, London 1928

गणबाध बंगला व्याकरण—चर्जी तथा मन कलकत्ता १९३७ ।

आनु बाध बंगला व्याकरण—चर्जी तथा मन कलकत्ता १९३९ ।

बंगला भाषानुस्वर भूमिका—गु० कु० चर्जी कलकत्ता १९४० ।

मरस प्रकाश बंगला व्याकरण—गु० कु० चर्जी, कलकत्ता १९४१ ।

सिंधी

Sindi Grammar in Sindhi—D V Mirchandani, 1904

बंगाल सिंधी व्याकरण—महेश्वर भेम्बर हैराबाद (सिंध) १९२४ ।

मरना सिंधी व्याकरण—छन्दमल माहूनगल, तानासाह, १९३० ।

सिंधी व्याकरण—कलीच वेग भेम्मल अडवानी, कराची १९४१ ।

सिंधी बोली जी तारीख—भेम्मल कराची, १९४१ ।

सिंधी ग्रामरु—नागपाल तथा पुगवानी सक्कर, १९४७ ।

नवो सिंधी ग्रामरु—आगा खा ताज मोहम्मद खा कराची १९४७ ।

सिंधी व्याकरण—उकराम गमा कल्याण, १९५३ ।

सिंधी भाषा ना सक्षिप्त परिचय—के टी जेतली, पूना १९५७ ।

The Phonology and Morphonemics of Sindhi—L M Khubchandan (M A Dissertation) 1961

सिंधी व्याकरण—मिर्जा कलीच वेग (४ भागो मे), कराची १९६० ।

सिंधी झलक वे जी इतिहा—अब्दुल करीम लागरी एम ए (सिंध) का डिप्लोमा १९६२ ।

The Acculturation of Indian Sindhi to Hindi (Ph D Thesis)—L M Khubchandan 1963

/ सिंधी व्याकरण (देवनागरी मे)—मीरचदानी बबई, १९६४ ।

Morphology of Sindhi (Vilochi)—K T Jetli Ph D (Poona) Thesis, 1965

सिंधी भाषा लिपि और माहिर्य—मोहनलाल जानवती दिल्ली १९६६ ।

Descriptive Analysis of Kacchi—S K Rohra 1966 Ph D Thesis Poona



# भारतीय भाषावैज्ञानिक शब्दावली की परम्परा

भाषा विदलेपण के भी पारिभाषिक शब्द अथ विषय की ही भाँति घलन होत हैं। भारत में भाषा विषयक चिन्तन और विदलेपण की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। यही कारण है कि इस विषय की पारिभाषिक शब्दावली की परम्परा भी पर्याप्त प्राचीन है। शायद यह कहना भी अनुपयुक्त न होगा कि भाषाविज्ञान विषयक पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग भारत में ही सर्वप्रथम हुआ। और यही नहीं बल्कि प्राचीन भारत में भाषा वैज्ञानिक विदलेपण की परम्परा बड़ी ही सम्पन्न रही है, इसीलिए हमारा भाषा वैज्ञानिक साहित्य भी पारिभाषिक शब्दावली की दृष्टि में काफी सम्पन्न रहा है और आधुनिक युग में पश्चिमी भाषा विज्ञान जैसे-जैसे प्राचीन भारतीय भाषा विज्ञान में प्रभावित होता गया है वैसे वैसे उसकी पारिभाषिक शब्दावली भी एक सीमा तक प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में वचार्थिक धारणा पर प्राचीन भारत की भाषावैज्ञानिक पारिभाषिक शब्दावली से प्रभावित होती रही है। सिंधि तथा तत्पुरण आदि समाजा के नाम तो पश्चिमी भाषावैज्ञानिक साहित्य में अनेक लेखकों द्वारा इसी रूप में प्रयुक्त भी होने रहे हैं।

हमारी पारिभाषिक शब्दावली सातवीं आठवीं सदी ईस्वी पूर्व में पन्द्रहवीं सोलहवीं सदी ईस्वी तक अनुनादिक रूप में बराबर संपन्न होती गई है। यह संपन्नता संस्कृत में ही सर्वाधिक है और पश्चिम का भी उसी ने प्रभावित किया है। पालि प्राकृत अपभ्रंश में इस शब्दावली में काई उन्नत्य प्रगति नहीं हुई। हाँ दक्षिण भारत में द्रविड साहित्य विज्ञान तमिल का भाषावैज्ञानिक साहित्य भी इस दृष्टि से काफी सम्पन्न रहा है। या वह भी मूलतः संस्कृत का ही करणी रहा है।

भारत की आधुनिक भाषावैज्ञानिक शब्दावली में मुख्यतः दो प्रकार के शब्द हैं — (क) भाषा विदलेपण विषयक परंपरागत मूल्यनामा के लिए। इनमें तीन प्रकार के शब्द हैं — (अ) भारतीय भाषा भाषा में संस्कृत में गहीत शब्द। (आ) द्रविड परिवार की भाषाओं में संस्कृत या प्राचीन द्रविड साहित्य से गहीत शब्द। (इ) उर्दू तथा सिंधी आदि में अरबी फारसी में गहीत शब्द हैं। (ख) भाषा विदलेपणविषयक नई संकल्पनाओं के लिए। इनमें भी तीन प्रकार के शब्द हैं — (अ) पश्चिमी भाषाओं मुख्यतः अंग्रेजी, के पारिभाषिक शब्दों के अनुवाद। (आ) पश्चिमी भाषाओं के शब्दों के आधार पर निर्मित नए शब्द। (इ) कुछ बहुत थोड़े स्वतंत्र रूप से निर्मित शब्द।

संस्कृत में भाषा वैज्ञानिक पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग वैदिक साहित्यादि में ही मितन लगता है। प्राचीनतम यन्त्रि महिना ऋग्वेद में पण वाक नाम तथा अक्षर

भाषा का प्रयोग हुआ है —

चत्वारि वाक् परिमिता पदानि नानि विदुर्गम्यहृणा य मनीषिणः ।

गुण श्रीणि निहितानेभ्यस्तितुगीयवाचा मनुष्या वदन्ति (अष्टक १।१६४।४५)

इसी प्रकार ८।१००।१० ११ भी द्रष्टव्य है ।

त्रि मत्त नामाध्या विमन्ति त्रिहापदस्य मुह्यायवाचत । (७।८।४)

वाक्चनवाचम द्विपदा चतुष्पदा अक्षरणं मिमते मत्त वाणी । (१।१६४।२४)

यन् वाणी अर्थात् भाषा को अक्षर से वनन यात्रा बताया गया है । ग्राह्यग  
अक्षर तदा उपनिषद् अथा म यद् गत्यावली अपभाक्त आर श्री अधिव मित्र  
लपता है । हमसे स्पष्ट है कि जैसे-जैसे भाषाविवरण बढ़ता गया वैसे वैसे आत्म-यन्त्रा  
नुसार भाषा वचनिक गद्यावली भी बढ़ती गई । और इन अथा म तम अनन्त नम  
गत् प्रयुक्त हुए जा वैदिक साहित्याभा में नहीं मिलते ।

याम्बक का निरुक्त विभिन्न प्रातिपद्य एव गित्या अथ भाषावचनानि श्रेत  
म भारत की प्राचीनतम उपलब्धि हैं । इन अथा म सप्रथम भाषावचनानि पाणि  
भाषिक गद्यावली का प्रचुर प्रयोग मिलता है । ये पारिभाषिक गद्य मुख्यतः  
धनि विज्ञान तथा व्याकरण के हैं । उदाहरण के लिए याम्बक के निरुक्त म कुछ  
मुख्य पारिभाषिक गद्य ये हैं — व्याकरण आख्यात उपसर्ग निपात धातु  
प्रत्यय गुण प्रथमपुरुष मध्यमपुरुष, उत्तम पुरुष अभ्यास वृत्ति, सवनाम विभक्ति  
वचन लोप उपधा, सहिता उपात्त अनुपात्त स्वरित तथा ह्रस्व आदि । आ-  
श्राग चलने पर हम सम्पूर्ण व्याकरण के विभिन्न संप्रदाय मिलते हैं जिनमें व्याकरण  
गवक्षी पारिभाषिक गद्यावली प्रभूत मात्रा में मिलती है । इन संप्रदायों में आ-  
पाणिनि आ-जैन आ-वाक्यायन आ-हमचन्द्र आ-तत्र आ-सर्वस्व तथा बोधिव मुख्य  
हैं । इन सभी संप्रदायों की भाषाविज्ञानविषयक व्याकरणिक गद्यावली दो प्रकार  
की है एक तो यह है जो परंपरागत रूप से प्राचीन काल में आ रही थी और एक  
भीमा तक कुछ अपराधा ता आ-तत्र आ-सर्वस्व आ-सर्वस्व आ-सर्वस्व आ-सर्वस्व  
है जो सभी संप्रदायों की अपनी अलग है । उदाहरण के लिए बोधिव्याख्या में धातु  
के लिए पारिभाषिक गद्य ये हैं तथा वृद्धि के लिए व ।

उपयुक्त संप्रदायों के अन्तर्गत तथा कुछ अन्य लोग म भाषाविज्ञान की पाणि  
भाषिक गद्यावलीविषय कुछ बड़ी मनोरंजक बात मिलती है । उदाहरण के लिए  
विसर्ग के प्राचीन नाम अभिनिष्ठान विसर्जनीय तथा विगच्छि आदि मिलते हैं ।  
प्रातिपदिका तथा पाणिनि आदि में विगच्छि गद्य नहीं है । सम्प्रति विज्ञान गद्य का  
प्रथम प्रयोग हमचन्द्र ने किया है । तुर्गमिह विगच्छनीय का समझना है— तुमारी  
स्मरणशक्तिवर्णन विगच्छनीयमना भवति । अथवा तुमारी वचना स्मरण का धारण  
के वक्ष की मना विगच्छनीय है ।



देव शास्त्री (तुलनात्मक भाषाशास्त्र अथवा भाषाविज्ञान), डा० बाबूराम सक्सेना (सामान्य भाषाविज्ञान, अर्थविज्ञान) तथा डा० धीरेन्द्र वर्मा (हिंदी भाषा का इतिहास तथा ब्रजभाषा) आदि को है। इन लोगों ने तत्कालीन आवश्यकता के अनुसार कुछ शब्द संस्कृत से लिए कुछ अंग्रेजी से लिए तथा कुछ अंग्रेजी शब्दों के आधार पर हिंदी में बनाए। उदाहरण के लिए सायाल ने 'Stem' के लिए 'अग्र affirmative' के लिए 'अस्तिवाचक', 'prothesis' के लिए 'आदि में वर्णान्तर', 'analogy' के लिए 'उपमान' Monosyllable के लिए एकाक्षर Morphology के लिए 'पठन-तत्त्व' तथा Glottis के लिए 'ग्लोटिस' आदि शब्द दिए हैं। इसी तरह डा० राममुन्दर दास ने Linguistic Paleontology के लिए भाषामूलक प्राचीन शोध Semantics के लिए अर्थ विचार, Morphology के लिए रूप विचार, Primary Suffixes के लिए प्राथमिक प्रत्यय तथा Secondary Suffixes के लिए अर्थात् प्रत्यय Morpheme के लिए रूप मात्र तथा Semanteme के लिए अर्थ मात्र का प्रयोग किया है।

डा० सक्सेना ने हिंदी की भाषा वैज्ञानिक पारिभाषिक गव्दावली को गहराई से सीकता आदि दृष्टियों से आगे बढ़ाया। उनके ग्रंथों में पारिभाषिक गव्दावली की संख्या लगभग एक हजार होगी। कुछ उदाहरण हैं bilingual के लिए द्विभाषा भाषी, allophone के लिए व्यंजि ध्वनिग्राम, morphology के लिए पदरचना-विज्ञान infix के लिए मध्यवियन्त प्रत्यय आदि। इस प्रसंग में डा० धीरेन्द्र वर्मा का नाम विशेष रूप से उल्लेख्य है। वे इलाहाबाद विश्वविद्यालय में हिंदी के माध्यम से काफी समय तक भाषाविज्ञान पढ़ाते रहे और आवश्यकतानुसार ऊपर संकेतित तीनों ही क्षेत्रों से हिंदी के गव्दमंडार को सम्पन्न बनाते रहे। डा० वर्मा द्वारा निर्मित कुछ शब्द हैं Glottal के लिए 'स्वरयंत्रमुखी' International phonetic Alphabet के लिए अन्तर्राष्ट्रीय ध्वन्यात्मक लिपि चिह्न, low vowel के लिए निम्नस्थानीय स्वर तथा loan word के लिए 'उद्धत शब्द' आदि।

इसके बाद हिंदी की भाषावैज्ञानिक पारिभाषिक गव्दावली को आगे बढ़ाने का श्रेय डा० उदयनारायण तिवारी (हिंदी भाषा का उद्गम और विकास भाजपुरी भाषा और साहित्य तथा भाषाशास्त्र की रूपरेखा) को है। डा० उदयनारायण तिवारी ने कुछ शब्द तो स्वयं बनाए हैं और कुछ ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है जो भाषा विज्ञान में पहले से चले आ रहे थे। उदाहरण के लिये वगना में गहीत कुछ शब्द हैं पुरस्कृत्य अपिनिहित असंपन्न विप्रकथ घटमान घटमान समान्य अतीत तथा पुराघटित यत्तमान आदि।

इस दिशा में उपयुक्त विज्ञानों के काम को आगे बढ़ाने का श्रेय डा० भानु नाथ तिवारी को है। डा० तिवारी ने हिंदीमाध्यम से भाषाविज्ञानविषयक सहायक ग्रंथों (भाषाविज्ञान शब्दों का जीवन भाषाविज्ञान की हिंदी भाषा शब्दों का अध्ययन ताजुज्जवाही तथा भाषा चिंतन) का रचना की है। जसा कि काफी लिपि में कारण है, जो पारिभाषिक गव्दावली की

‘वचना पठ’, जिसका परिणाम यह हुआ कि उन्होंने हम सब को बताया कि वचना ही। डा० निवारी ने जिन नए शब्दों का प्रयोग है वह नए शब्द हैं। तावे है जो अंग्रेजी के शब्दों के लिए हैं। जम glottochronology के लिए भाषा वादग्रह विज्ञान linguistic ontogeny के लिए व्यंजितशक्तिविज्ञान, idiograph के लिए भाषामूर्तर विधि morphophonemics के लिए स्वरान्ति ग्राम विज्ञान, infir के लिए मन्यगम Psycholinguistics के लिए मनोभाषा विज्ञान Transformational generative grammar के लिए स्वरान्ति उदाहरण Spoonerism के लिए साद्यगत्या विषय immediate constituent के लिए निवट्टर अवयव तथा exocentric endocentric के लिए अन्ति केन्द्रित अन्त केन्द्रित आदि। दूसरे प्रकार के शब्दों का बिनी अन्त पश्चिमा शब्दों के प्रतिशब्द नहीं हैं अन्ति निवट्टी भूत मान्यता डा० निवारी की धारणा है। उदाहरण के लिए भाषाविज्ञान में प्रायः Phonetics Morphology Semantics तथा Syntax इन चारों का ही नामों के रूप में प्रयोग होता रहा है। डा० निवारी ने ‘शब्दों’ के अध्ययन का एक स्वतन्त्र शाखा के रूप में स्थापना किया और हमारे लिए अंग्रेजी में wordology तथा हिन्दी में शब्दविज्ञान शब्दों की रचना की है। हमारे प्रकार प्रयोगविज्ञान अन्तान्युत्पत्ति (देशज के स्थान पर) तथा परवर्ती तद्भव (अन्तःसम के लिए) आदि संकल्पना के स्तर पर भी उनके अन्त शब्द हैं।

वस्तुतः डा० श्यामसुन्दर दाम बाबूराम सक्सेना डा० धीरेन्द्र कर्मा भोलानाथ तिवारी आदि ने काफी नए शब्दों का प्रयोग किया है और उन शब्दों में से काफी शब्द इतने चल पड़े हैं कि आज ठीक ठीक यह बता पाना अनुमत्त नहीं है। विषय है कि इन नए शब्दों में कौन सा शब्द मूलतः इन विद्वानों में किसका बनाया हुआ है।

हिन्दी में भाषासम्बन्धी पारिभाषिक शब्दों के कोशों की भी एक सम्पन्न परम्परा रही है। यों तो अपनी पुस्तिका में डा० श्यामसुन्दर दाम डा० बाबूराम सक्सेना डा० धीरेन्द्र कर्मा डा० उष्यनारायण तिवारी तथा डा० भोलानाथ तिवारी आदि ने पारिभाषिक शब्दों की मलिन सूचियाँ भी दी हैं किन्तु उनसे अन्त भी शब्दों कोशों की रचना हुई है। हिन्दी में प्रयुक्त भाषावैज्ञानिक पारिभाषिक शब्दों का पहला कागज हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा संकलित करवाया गया था जिसका अन्तिम रूप से संशोधन डा० भोलानाथ तिवारी ने १९४३ में किया था। यह वाश अभी तक अग्रणी गीत है। इसके कुछ ही दिनों बाद डा० विश्वनाथ प्रसाद ने इस प्रकार के शब्दों का एक कागज तैयार करवाया किन्तु यह भी प्रकाशित नहीं हुआ। १९६२ में डा० भोलानाथ तिवारी ने भाषा विज्ञान कागज का संपादन किया जिसके परिणाम में भाषा विज्ञान की हिन्दी अंग्रेजी पारिभाषिक शब्दावली की काफी लम्बी सूची है। वस्तुतः हिन्दी में प्रकाशित भाषावैज्ञानिक शब्दावली इस रूप में पहली बार अन्त विस्तृत रूप में आई है। इसमें कुल १०००० शब्दों का संख्या है। इस कागज का प्रकाशन १९६४ में हुआ। इसी बीच श्री राजेंद्र द्विवेदी का भाषाशास्त्रकोश भी प्रकाशित हुआ किन्तु उसमें अन्त रूप से शब्दावली नहीं दी गई है।

अथ इस तरह का अपभ्रंशित अक्षर पूरा वाक्य भारत सरकार न बरखाया है। विश्वामित्रालय के वक्तानिक तथा तकनीकी गणित की आधार न मानविकी गणित की गण पाच व अन्तर्गत भाषाविज्ञान के पारिभाषिक गण का अंग्रेजी शिष्टी तथा हिंदी अंग्रेजी का प्रकाशित किया है। इस तैयार करने में हिंदी विद्वानों में डा० बाबू राम मकमना, डा० विन्वलाय प्रसाद डा० जयनाथगिरा निवागी डा० मधुप्रसाद अग्रवाल डा० रमानाथ महाय तथा डा० भागानाथ निवागी आदि न भाग किया है हिन्दी विद्वानों में डा० कृष्ण डा० सुकुमार नन डा० घाटक डा० पण्डित डा० केशव आदि का इस काम का तैयार करने में महभाग मिला है। सब पूरा जाए ता इस काम के रूप में भारतीय तथा हिंदी भाषाविज्ञान का पारिभाषिक शब्दावली का अच्छा आधार मिला है किंतु ऊपर उल्लिखित विद्वानों व व्यक्तिगत प्रयासों की तरह ही इस महाप्रयास के भी सभी गुरु बल उपयुक्त नहीं हैं। वर्यो का प्रयास ही यह निगम कर पाया कि इन गुरु में कितने हमारे काम के हैं और कितने व्यर्थ। जैसाकि ऊपर भी कहा जा चुका है इस शब्दकोष में भी पारिभाषिक शब्द तीन प्रकार के हैं एक तो वे जो संस्कृत में आए हैं। जैसे मन्त्रा नवनाम विवेचन श्रिया स्वर, व्यञ्जन आदि। दूसरे वे हैं जो अंग्रेजी में जहाँ कदा या कुछ शब्दार्थ परिवर्तन के साथ ल लिए गए हैं। जैसे noeme के लिए नोइम cliché के लिए क्लिक के लिए क्लिक cedilla के लिए सेन्टी तथा ceneme के लिए 'सेन्टी' आदि। तीसरे प्रकार के शब्द वे जो नवनिर्मित हैं। जैसे Phoneme के लिए स्वरनिम acoustic के लिए 'अकस्टिक' allophone के लिए उपस्वन bilabial के लिए उभयप्राण्य तथा binony के लिए 'द्विचर' आदि। उपयुक्त विद्वानों के अनिर्विकल डा० कलाचन्द्र नाटिया डा० रमणचन्द्र मन्नाडा डा० रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव डा० दवीगकर द्विवेदी आदिजनक प्रय विद्वानों ने भी अपने जहाँ या पुस्तक। आदि में आवश्यकतानुसार नए शब्दों का निमाण और प्रयोग किया है।

महरोत्रा ने 'ध्वनिकी' कहा है तो आयोग ने 'स्वनविज्ञान' कहा है तथा डा० सबसेना, डा० भालानाथ तिवारी आदि ने 'ध्वनिविज्ञान' ।

अतः भारतीय भाषावैज्ञानिक शब्दावली में सबसे दो तीन बातों का संवेन आवश्यक है । पहली तो यह कि हमारी भाषाभाषा में शब्दावली की सम्पन्नता बढ़ाने की आवश्यकता और शब्दावली के निर्माण से नहीं आ सकती । आवश्यकता है मौलिक तथा अनुसृत प्रयोगों में पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग की । प्रयोग से ही शब्द जीवन्त बनता है । इस तरह हम विषय का पर्याप्त साहित्यनिर्माण हमारे लिए आवश्यक है । हमारे भाषावैज्ञानिक अभिव्यक्ति की सम्पन्नता की दिशा में केवल पश्चिम के अनुकरण में काम नही करना । इस क्षेत्र में मौलिक चिंतन और मौलिक लेखन पश्चिम से अलग गहनता के स्तर पर हमारी शब्दावली को सम्पन्न बनाएगा । तीसरी बात अनिवार्यता की है । या तो कुछ न कुछ अनिवार्य रूपताएँ सभी क्षेत्रों में रहती हैं किन्तु हम शिवा में एकता का प्रयोग किया जाना चाहिए । इससे पारस्परिक बोधगम्यता का मार्ग प्रशस्त होगा ।

## भारत और भाषा-विज्ञान

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि दो सहस्राब्दियों से भी अधिक प्राचीन भारतीय भाषा विज्ञान में ही आज के पश्चिमी जगत् के आधुनिक भाषा विज्ञान का मूलपात हुआ है। अतः उनके ऐतिहासिक विकास का पर्याप्त सभ्यता उपयोगी सिद्ध हो सकता है।<sup>१</sup>

उत्तर पश्चिमी भारत के वैदिक लोगों का धर्म वैदिक संहिता ग्रंथों पर आधारित था जो परंपराानुसार माध्याह्निक माने जाते रहे हैं। ससार के अन्य धर्मों के लागू भी अपने धर्म ग्रंथों को भी उसी प्रकार समझते हैं परन्तु वैदिक लोगों के लिए वेदा के संहिता अर्थात् ग्रंथ रूप की अपेक्षा उनका वाक रूप उच्चरित भाषा का रूप सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण था। अतः संहिताग्रंथ के उच्चरित रूप को यथावत् सुरक्षित रखना उनका प्रधान कर्तव्य था। वैदिक संहिताग्रंथों तथा उनके विषय में उक्त मायना के विकास के विविध सोपानों के विषय में सम्प्रति कुछ भी नहीं कहा जा सकता है परन्तु यह निश्चित है कि इतिहास में एक ऐसा समय आया जब कि सामान्यतः भाषाग्रंथ में घटित होने वाले परिवर्तनों में बदो का यथावत् सुरक्षित रखने के लिए विशेष प्रयास करने पड़े। वैदिक मनीषियों ने अपनी भाषा को यथावत् सुरक्षित रखने के लिए जो बहाने प्रयास किए वस प्रयास अथवा नहीं नहीं हुए। इसका मूल कारण यही था कि वैदिक धर्म में 'गन्ध' अर्थात् वेदा का सर्वाधिक महत्त्व था। वैदिक संहिताग्रंथों पर आधारित समस्त कार्यानुष्ठानों के नियामक ये साक्षात्कृत 'गन्ध' ही थे। क्योंकि वैदिक धर्म मुख्यतः अर्थात् सम्यक् उच्चरित 'गन्ध' में मनावाधिन फल और दुष्टकृत 'गन्ध' में दुष्परिणाम प्रदान करने की शक्ति मानते थे, अतः भाषा में क्रमशः घटित होते रहने वाले निरन्तर परिवर्तनों का विपरीत वैदिक भाषा को यथावत् सुरक्षित रखना पड़ा। यही उनके लिए मूल प्रश्न था। ऐसी समस्या का सामना समार के अन्य लोगों ने भी किया है परन्तु वैदिक ऋषियों ने इस का सर्वाधिक श्रेष्ठ निदान दिया। वस्तुतः वैदिक ऋषि 'गन्ध' 'गुण' की इस साधना का परिणामस्वरूप ही उस समय मध्यम दृष्टि ध्वनि-वैज्ञानिक बन गए थे जबकि ससार के अन्य सभी लोग या तो इस दिशा में कुछ भी नहीं जानते थे या कुछ भ्रामक कल्पनाओं में उलभे हुए थे। (इन ध्वनि-वैज्ञानिकों का समय ईसवी पूर्व की प्रथम सहस्राब्दी या उससे कुछ पूर्व या बाद माना जाता है।) इन ध्वनि-वैज्ञानिकों का प्रयासों का ही परिणाम है कि आज ऋग्वेद का सब 'गुण' पाठ उपलब्ध है।<sup>२</sup> ऋग्वेद-शास्त्रियों का ध्वनि विवेचन निश्चित ही इस बात का प्रमाण है कि तीन

१. जान का बाद भी



वदिक मंत्रों का यथावत् सुरंगित रग्यन के निम्न मात्र ध्वनि विज्ञान ही पर्याप्त नहीं है। सवता था उसके लिए ग्रन्थ का भी महत्त्व था। अतः वदों की परम्परा के सहायक मुनियों ने ग्रन्थ सूचियाँ अर्थात् निघण्टु भी तैयार किए जिसमें वदिक सहित ताग्रो व योगों का प्रयोजन मिद्ध हुआ। जस जस परवर्ती काल में वदों का ग्रन्थ दुष्ट होता गया य ग्रन्थ सूचियाँ विवर्धित होती गई तथा उन पर टीकाएँ भी लिखी जान लगी थी। प्राचीन संहिताओं के समोद्घाटन या सम्पूर्ण ग्रन्थ परिज्ञान के लिए इनका एक पञ्चानिक दृष्टिवा स भी विवर्धन विवचन आदि भी महत्त्वपूर्ण था और यह निश्चित है कि ग्रन्थ विज्ञान में भी पर्याप्त वाय भी हुआ होगा परन्तु इस समय उस समय का पालन मात्र ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है जिसमें बतल जा कि भाषा का क्या प्रयोग था।

प्राचीन भारतीय उच्चतर सम्पत्ति (धर्म, धर्म अभिहित सम्पत्ति) की यह पर प्रमाण सिद्धता है कि उसमें वादिकता ही जितनी व्याप्ति है उतनी ही तीव्र अभिज्ञान उसमें मिद्धता की तरंग मगन स्थापना तथा तथ्या के विवर्धन और विवर्धन धर्मि ज्ञान ही है। सामान्यतः ग्रन्थ ग्रन्थ ३१ ग्रन्थ मगन सिद्ध जाना है।

पद्यान पद्य या पाद्य के रूप में अपने आपका दूसरा म भिन्न बताया है। कभी कभी एक ही धार्मिक पद्य या पाद्य में उपासना पद्धति के अन्तर के कारण कुछ उपव्यास हुए हैं। परन्तु इन सभी पद्या, पाद्यों तथा दण्डों के मूल में एक विशेष प्रयोग का आत्मसात् है।

प्राचीन भारतीय व्याकरणिक अध्ययन में भी शैलिकता का उही स्तर गति गावर होता है जो अथ 'पास्तो या दण्डा म गतिगवर हाना' के तथा व्याकरणिक अध्ययन का साक्षात्कार बद का पद्यावत् सुगमिन् रचन के भौतिक प्रयोजन में प्रति हा रर प्रारम्भ हुए। अथ चन कर भारतीय मनीषा की उत्पत्ति के अन्त में रूप में मित्र और प्रमित्र हुए। सामान्य ध्वनि भाषा का कुछ ध्वनि साम्प्रदायिक विवरण (Phonetic description) के साथ साथ रूप एवं वाक्य शास्त्रीय (Morphological and Syntactic) अध्ययन की वृत्ति की सुरक्षा के लिए पद्यात्मक माना जा सकता है परन्तु यह मायना पश्चिमी जगत् में तो सम्भव है मरती है जिन् बुद्धि बारी के लिए नहीं। इसीलिए वे हजारों वर्ष पहले 'पास्तो' के लिए व्याकरण ज्ञान में प्रवृत्त न थे। वे बहुत पहले ही माध्याम्य ध्वनिक विवेचनाओं का सामान्य उद्देश्य के बहुत प्राग आधुनिक दृष्टि में संस्कृत की ध्वनि व्यवस्था (Phonology) का साक्षात्कार बखान (Phonemic description) करने लगे। क्योंकि उनका अपनी भाषा की संरचना (linguistic structure आधुनिक अर्थ में) की सुरक्षा की अभीष्ट और उद्दिष्ट थी। इसके पश्चात् भारतीय व्याकरण का ध्यान भाषा के पद (morpheme) तथा वाक्य संरचना (syntax) के अध्ययन पर विशेष रूप से केंद्रित रहा, तथा संस्कृत भाषा का ब्यापक विवेचन एवं वर्णन उस पुण्य के साथ किया कि उस मात्र पवित्र वेदा की सुरक्षा के धार्मिक प्रयोजन की पूर्ति के लिए किए गए वाक्य के रूप में कदापि स्वीकार नहीं किया जा सकता।

कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि विश्व व्याकरण द्वारा रचित समस्त व्याकरणों में सर्वश्रेष्ठ पाणिनि का व्याकरण है जना उत्तम धारि उनसे कारण वेदों के ध्वनि

के आदान के रूप में प्रतिष्ठित हो सके। (पाणिनि के पदानु ही मन्त्र भाषा न केवल भारत की एक सार्वभौम राष्ट्रभाषा सिद्ध हुई थी बरन् वह समूह एशिया में एक अतर्देशीय भाषा के रूप में प्रसिद्ध और प्रतिष्ठित थी।) वास्तव में अभी तक यह एक उलझी हुई समस्या ही है क्योंकि पाणिनि न स्वयं अपने व्याकरण नामक विषय में कुछ भी नहीं कहा है। एमी ग्योमि में यह भी सत्य ही सरता है कि जिस भाषा का रूप-वर्णन पाणिनि ने कर दिया वही उमके कारण भारत की एक सामान्य साहित्यिक भाषा सिद्ध हो गई।<sup>१६</sup> यहाँ एक समस्या के विषय में विशेष कुछ और कहने की आवश्यकता नहीं है। परन्तु हम बात का उल्लेख दिया जा सकता है कि लटिन और ग्राक दोनों ही भाषाओं की दीर्घजीवी साहित्यिक परम्पराएँ रही हैं यद्यपि आधुनिक तथा प्राचीन भारतीय दृष्टि से उनका अर्थ व्याकरण नहीं था तथा परवर्ती काल में ग्राक तथा लटिन की अन्तर्देशीय साहित्यिक कृतियों के आदर्शों का सामान्यतः अनुसरण भी हुआ है जिनके परिणाम अभी अर्द्ध हुए हैं और अभी दूरे। परन्तु जिस प्रकार का आदान व्याकरण भारत में संस्कृत के लिए सम्भव हुआ था उसी प्रकार का व्याकरण लटिन और ग्रीक भाषाओं का भी होता तो परवर्ती कृतियों में रूपान्तरण (morphological) वाक्यारम्भ (syntactic) तथा शब्द प्रयोग विषयक जो विविध प्रकार के परिवर्तन (Variations) दृष्टिगोचर होते हैं वे न हुए होते। परन्तु यह सत्य है कि भाषा में स्वाभाविक रूप में होने वाले परिवर्तनों की तो सम्भन जसी देश भाषा के श्रेष्ठ व्याकरण भी नहीं रोक सकते थे। फलतः मध्यकालीन संस्कृत की वाक्य संरचना तथा गद्य प्रयोग अनेक दृष्टियों से पाणिनि की समकालीन या उमके आस पास के समय की सम्भन भाषा की वाक्य संरचना तथा गद्य प्रयोग से भिन्न है। पाणिनि के नियन्त्रण के बावजूद भी समय के साथ विकसित होती गई तथा उसके विकास के भी वैसे ही कालखण्ड संस्कृत भाषा है जम लटिन भाषा के विकास के हैं।

पाणिनि के व्याकरण लेखन का सन्दर्भ कुछ भी क्यों न रहा हो (वह निश्चित ही एक ऐसा उलझा हुआ प्रश्न है कि जिसके विषय में अन्तिम रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता) परन्तु यह सत्य है कि पाणिनि के व्याकरण में अपने विषय की परिपूर्णता तथा व्याप्ति कुछ ऐसी है कि उसको देखकर मानना पड़ता है कि उसका लेखक भारतीय मनीषियों के उस समूह का है जिनमें अपने विवेच्य विषय के मात्र प्राविधिक सिद्धान्तों के अनुरूप सूक्ष्मतम विश्लेषण करने के उच्चतम हिदू-बुद्धि-जीवी के सभी लक्षण स्पष्ट और पूर्णतः परिलक्षित होते हैं।

उच्च हिदू संस्कृति का एक दूसरा पहलू और भी है जिसके कारण उनके व्याकरणिक अध्ययन एक प्रकार की सवश्रद्धता पा सके हैं। हिदू दृष्टि में मानवीय सत्ता के उन रूपों या अवस्थाओं का विशेष महत्त्व रहा है जिन्हें न पूर्ण चेतन कहा जा सकता है और न अचेतन या अवचेतन तथा जो बिना किसी प्रयास के अपने आप घटित होती हैं अर्थात् जो या तो सहजात होती हैं या सहज क्रियाओं के लम्बे समय तक प्रणिधान के परिणाम स्वरूप होती हैं। जस श्वास प्रश्वास तथा पाचन की

प्रक्रिया मनुष्य में अपने आप घटित होती है और उसे सीखा भी नहीं जाता, परन्तु सकतन और वाच्यब्यवहार अपने आप तो घटित होते हैं, परन्तु उसे सीखा जाता है। हिंदुओं की मानवीय चेतना के रूप में इतनी विशेष रुचि थी कि उन्होंने इनके सूक्ष्म अध्ययन तथा उपयोग प्रयोग करने की अनवरत प्रविधियाँ या तकनीक विकसित कर ली थी। जैसी कि हिंदू धर्म की मातृ-विषयक मायता है उसी के अनुसंधान उनकी, इस कारण भगुर ससार चक्र से आत्मा की मुक्ति प्राप्त करने की तीव्र इच्छा के परिणाम स्वरूप उन्हें यह बात उपमाणी प्रतीत हुई होगी कि इस भौतिक शरीर की सहज प्रवृत्तियाँ एवं प्रक्रियाएँ पर भी आत्मा का अधिकार रह। मोक्ष को, इसीलिए, आत्म-स्वातंत्र्य के रूप में स्वीकार किया गया है। व्यक्ति के मनो-शारीरिक अध्ययन के आधार पर ऐसी प्रविधियाँ को खोजा गया, जिनके द्वारा स्वासोच्छ्वास, पाचन एवं रति प्रक्रिया आदि का समय समझ हुआ। परिणामस्वरूप प्राचीन हिंदू मनीषा द्वारा योग-व्यसन एवं शास्त्र विकसित हुआ। अतः उमकं त्रिकाम के मूल में भी उनकी पूर्वोक्तित आत्म-मोक्ष विषयक तीव्र इच्छा को ही स्वीकार किया जा सकता है। वस्तुतः यह मुमुक्षा मानवीय उत्पत्ति नस्ल के पूर्ण चेतन्य के रूप में उन्नयन का ही दूसरा नाम है जो भारतीय मन्त्रि के मन्त्री ललित रूप में प्रतिबिम्बित है। शास्त्रीय हिंदू नृत्य भी मूलतः प्रशिक्षित किन्तु सहज मुद्राओं का ही संकेतीकरण तथा उनका विस्तार एवं प्रसार है तथा उसके मूल में हिंदू मोक्ष दृष्टि ही प्रतीत होती है। वदिक भाषा में जिसे ऋत कहा गया है वही नृत्य में नियमित गति द्वारा अभिव्यक्त होता है तथा अग संचालन (गति तत्त्व) के द्वारा मुद्रा विन्यास (स्थायी तत्त्व जिसे वदिक भाषा में 'मत्य' कहा गया है) के माध्यम से भाव या रूप की सृष्टि समझ जाती है जिस निश्चित ही शास्त्रीय हिंदू नृत्य का सारस्वत माना जा सकता है तथा यही सार तत्त्व सभी हिंदू साधना पद्धतियों में भी मुद्रा विन्यास आदि के विस्तार में दृष्टिगत होता है जिसके अंतर्गत सामान्य ईश्वर नाम-कीर्तन आदि से लेकर विविध तान्त्रिक सम्प्रदायों में 'ॐ' से लेकर 'हूँ', 'ह्रीं', 'क्लृं' आदि बीज मंत्रों तक का विकास को स्वीकार किया जा सकता है। निश्चित ही मानवीय वाच्यब्यवहार या भाषा के विशेषण तथा उसके सद्भाषितक विनियोग के लिए भारतीय भाषाविज्ञान का विकास इसी तथ्य का एक दूसरा निदर्शन है जिसके मूल में संस्कार जगत् किन्तु उदात्त मानवीय क्रिया का पूर्ण चेतन्य रूप में उन्नयन-रूपी हिंदू मोक्ष दृष्टि ही कारण भूत प्रतीत होती है। क्या यह उल्लेखनीय नहीं है कि प्राचीन भूमध्य सागरीय देश क्यानि अवचेतन के विषय में अत्यधिक अज्ञानियों में इसीलिए वे श्रेष्ठ व्याकरणिक प्राविधान न कर सके? तथा क्या यह और भी अधिक महत्वपूर्ण नहीं है कि आधुनिक युग में विवरणात्मक भाषा विज्ञान (Descriptive Linguistics) में पाश्चात्य जगत् की विशेष रुचि तथा अवचेतन के मनो-विज्ञान (Psychology of Subconscious) का विशेष विकास बहुत कुछ समान एवं समकालीन है?\*

हिंदू व्याकरण शास्त्र के लिए अब तक 'तथा सर्वांगीण' शब्दों

के आदर्श के रूप में प्रतिष्ठित हो सके। (पाणिनि के पदचान् ही संस्कृत भाषा न केवल भारत की एक सब सामान्य राष्ट्रभाषा सिद्ध हुई थी वरन् वह समूचे एशिया में एक अतर्देशीय भाषा के रूप में प्रसिद्ध और प्रतिष्ठित थी।) वास्तव में अभी तक यह एक उलझी हुई समस्या ही है क्या पाणिनि न स्वयं अपने व्याकरण शास्त्र के विषय में कुछ भी नहीं कहा है। एमी स्थिति में यह भी सत्य हो सकता है कि जिस भाषा का रूप वरुण पाणिनि ने रर दिया वही उसके कारण भारत की एक सामान्य साहित्यिक भाषा सिद्ध हो गई।<sup>१६</sup> यहाँ उस समस्या के विषय में विशेष कुछ और कहने की आवश्यकता नहीं है। परन्तु इस बात का उल्लेख किया जा सकता है कि लटिन और ग्रीक दोनों ही भाषाओं की दीर्घजीवी साहित्यिक परम्पराएँ रही हैं यद्यपि आधुनिक तथा प्राचीन भारतीय दृष्टियाँ उनसे अन्धे व्याकरण नहीं थे तथा परवर्ती काल में ग्रीक तथा लटिन की अन्धवी साहित्यिक कृतियों के आदर्शों का सामान्यतः अनुकरण भी हुआ है जिसके परिणाम अभी अन्धे हुए हैं और अभी घुरे। परन्तु जिस प्रकार का आदर्श व्याकरण भारत में संस्कृत के लिए सम्भव हुआ था उसी प्रकार का व्याकरण लटिन और ग्रीक भाषाओं का भी होता तो परवर्ती कृतियों में रूपान्तर (morphological) वाक्यात्मक (syntactic) तथा शब्द प्रयोग विषयक जो विविध प्रकार के परिवर्तन (Variations) दृष्टिगोचर होते हैं वे न हुए होते। परन्तु यह सत्य है कि भाषा में स्वाभाविक रूप में होने वाले परिवर्तनों को तो सम्भव जैसी देव भाषा के श्रेष्ठ व्याकरण भी नहीं रोक सकते थे। फलतः मध्यकालीन संस्कृत की वाक्य संरचना तथा शब्द प्रयोग अनेक दृष्टियों से पाणिनि की समकालीन या उसके आस पास के समय की संस्कृत भाषा की वाक्य संरचना तथा शब्द प्रयोग से भिन्न हैं। पाणिनि के नियन्त्रण के बावजूद भी समय के साथ विकसित हुनी गई तथा उसके विकास के भी वैसे ही कालखण्ड संस्कृत भाषा हैं जम लटिन भाषा के विकास के हैं।

पाणिनि का व्याकरण लेखन का सदभ कुछ भी क्यों न रहा हो (वह निश्चित ही एक ऐसा उलझा हुआ प्रश्न है कि जिसका विषय में अन्तिम रूप में कुछ भी नहीं कहा जा सकता) परन्तु यह सत्य है कि पाणिनि के व्याकरण में अपने विषय की परिपूर्णता तथा व्याप्ति कुछ ऐसी है कि उसको देखकर मानना पड़ता है कि उसका संस्कृत भारतीय मनीषियों का उस समूह का है जिनमें अपने विवेच्य विषय के मात्र प्राविधिक सिद्धान्तों के अनुस्यू मूखमन विमलपण करने के उच्चतम हिन्दू-बुद्धि जीवी के सभी सम्पूर्ण स्पष्ट और पूर्ण परिनिष्ठित होते हैं।

उच्च हिन्दू संस्कृति का एक दूसरा पट्टा और भी है जिसका कारण उनके व्याकरणिक अध्ययन एक प्रकार की अवश्रुतिता या सके है। हिन्दू दृष्टि में मानवीय सत्ता का उन रूपों या अवस्थाओं का विषय महत्त्व रहा है जिन्हें न पूर्ण चेतन कहा जा सकता है और न अचेतन या अवचेतन तथा या बिना किसी प्रयत्न के अपने आप घटित हुनी है अर्थात् या या तो सहजात होती हैं या सहज क्रियाओं के सम्य समय तक प्रणिष्ठा के परिणाम स्वरूप होती हैं। जम श्वास प्रश्वास तथा पाचन की



का ही प्रयोग किया है यद्यपि कुछ अन्य पाश्चात्य विद्वानां न समझना और भा-  
ग्यविक प्रणमात्मक गान्धर्व (उत्तारगंगाधर निम्ननाड १००००० व उद्गार  
'नवत्र नामन परिवर्तन व खण्ड १ पृष्ठ २१३ २७६ म गान्धर्व') हितु भाग्यविक  
भाषाविज्ञान के समुचित सूचनन के लिए लगना स्पष्ट गान्धर्विक विवचन  
आवश्यक है।

किसी भी वस्तु या तथ्य गणिता की विवरण बनानि विवरण बनाना है जो वस्तु या तथ्य गणिता में मध्यम मभी समानताओं का पता लगाने का प्रयास करता है। उन समानताओं का कुछ वर्गों (classes) में वर्गीकृत करता है तथा इन वर्गों का पुनः तब तक अधिक व्यापक समावर्क वर्गों (inclusive classes) में समाविष्ट करता जाता है जब तक कि वर्गों का अन्त्य समावर्क वर्ग सिद्ध नहीं हो जाय ? वस्तु या तथ्य गणिता में प्राप्त समानताओं तथा आणविक समानताओं का वर्गीकरण की प्रविधि का विषय में यहाँ बताना आवश्यक प्रतीत नहीं होता। और न ही यह पहलू की आवश्यकता है कि बहानिक विवरण सदा वस्तु या घटना तथा समानता का होता है तथा उनके अध्ययन की विधियाँ तथा उनके विषय में प्राविधान गाना की निर्णय स्पष्ट एवं लघु (सूत्र) होना चाहिए। बहानिक में यथा तथा विवरण की उच्च प्रतिपाद बहानिक का कीच गाना किया जाता है। हा यद्यपि बहानिक विवरण का माध्यम सिद्धांतों का विषय में भाषा विज्ञान का पश्चिम कुछ वर्गों में ही अधिक गहन है तथा भाषाओं के वर्गीकरण विवरणों में अध्ययन में गहन उत्तरांतर उनका आधार स्वीकार किया जाता है। परन्तु पाणिनि द्वारा किया गया वर्गीकरण भाषा का विवरण बहानिक विवरण के सभी सिद्धांतों का विनियम का एक ऐसा आदर्श उदाहरण है कि उसमें भी भाषा वर्गीकरण का वर्गीकरण विवरण कम किया जाता चाहिए तथा प्राच्य भाषाविज्ञान में भाषा विवरण तथा विवरण का अर्थवाद का माध्यम सभी क्षेत्रों में एक (पाणिनि द्वारा किया गया भाषा विवरण) सिद्धि ही अत्यंत एक ऐसा आदर्श है जिसमें अत्यंत नया बनाया जा सके। वस्तुतः पाणिनि के विवरण में भाषा का आदर्श अर्थ मध्यम-वर्ग और पद के स्तर—पर वर्गीकृत गया मध्यम मध्य समानताओं का वस्तु पर विवरण का आधार पर अर्थ अर्थ दिया गया है। उन वर्गों में विभाजित किया गया है तथा वर्गों का एक प्रकार का पद वर्गों में विभाजित किया गया है कि उनमें भाषा का भाग विवरण अर्थ का वर्ग तथा वर्गों द्वारा मध्यम का वर्गीकरण है।

उत्पन्न मीत तथा उत्पन्न तापयता न अथवा भाषाया क सजातेण विनियोग  
 ता एता वा प्रयोग नी १ । क्रिया तथा उत्पन्न भाषाया क म विनियोग तथा  
 विनियोग न तापयता । किम मत्र का भाषा वचनित अन्तिवत् विनियोग पर छाया  
 गित न विनियोग या वर्गीकरण नी मानता तथा यत् विनियोग न भी प्राप्त  
 १ । उत्पन्न भाषाया क व्याख्याता ता एता एता ता उम भी उत्पन्न प्रयोग प्रतीत  
 २ । उत्पन्न विनियोग प्रयोग विनियोग (Conjugations) क विनियोग

चन वा लिया जा सकता है जिसमें क्रियाया के घातु रूपा (roots) मूल प्रत्यया (Stem Suffixes) तथा प्रवागे प्रत्यया (Inflectional Suffixes) के सम्मिलन का जोड़ विग्रह प्रयोग नहीं किया गया है तथा विविध क्रिया रूपा में प्राप्तात्म साध्याओं और भी कम ही ध्यान दिया गया है चित्त विज्ञान दिया जा सकता था। चित्तित ही हिन्दू द्वारा किए गए मन्त्र भाषा के ध्वनि बनाविक मन्त्रिमात्मक (मधिया के) विवरण की तुलना में मूल और मध्यवर्तीन शीव तथा लटिन भाषाओं की ध्वनि व्यवस्था का विवरण अपरिपक्व तथा भ्रमर रहा जाएगा। मन्त्रित तथा शीव लटिन भाषाओं के ध्याकरण के उत्तर अंतर का एक परिणाम यह है कि अनेक बार हम कल्पना ही करनी पड़ती है कि ग्रीक और लटिन प्राचीन ग्रन्थों में मध्यस्थान में किम प्रकार उच्चरित की जाती थी जहाँ परिणि के समय में मन्त्रित भाषा किम प्रकार उच्चरित होती थी, इसके विषय में निर्दिष्ट प्रमाणों जानकारी हमारे पास है। यह बात केवल गान के विषय में ही सत्य नहीं है भारतीय श्रुतियाँ की दृष्टि वाक्य रूप में उच्चरित वाक्यांश पर थी अतः उहाने वाक्य में हाने बाल सभी ध्वनिक प्रसारों का भी विवरण दिया है। यस्तुन मन्त्रित भाषा मप्रतिन वाक्या के रूप में ही लिखी जाती है। दूसरे गान में मन्त्रित की गत व्यवस्था के अनुसार वाक्य के गान का पृथक् नहीं किया जाता। यद्यपि हिन्दू दृष्टि में उक्ति या वाक्य मूलतः वाक्यात्मक है मात्र अलग अलग शब्दों की श्रवता के रूप में भाषा की कल्पना जैसी कि रामन विचारना न की गी तथा आज तक पश्चिम में यही दृष्टि कोण अधिक प्रचलित है भारतीय भाषा गान में स्वीकार्य रहा है। हम दृष्टि में ग्रीक विचारकों का भाषा दर्शन कुछ भिन्न प्रतीत होता है जहाँ कि ग्रीक भाषा के वाक्या में सुर (tone) अन्त की व्यवस्था से प्रमाणित होता है। परन्तु ग्रीक भाषा के सुर अन्त से बढिक साहस्यमा के सुर अन्त की व्यवस्था निर्दिष्ट ही श्रेष्ठ नहीं जायगी।

रूपिमा या रूप विज्ञान (Morphology) के क्षेत्र में ता भारतीय भाषाविज्ञान की उपनिषा कुछ कम प्रकार की है कि पश्चिम में अभी कुछ ही शास्त्रियों में उन में होने के सत की ग्यति हो पाई है। परन्तु फिर भी मन्त्रित के तापा रैनातिक विवरण से श्रेष्ठ किसी ग्रन्थ भाषा या भाषा वातनिक विवरण अभी तक समक नहीं हो सका है। सहरूपिमा (allomorphs) या विज्ञान सहरूपिमा के रूप में शून्य (zero) की संकल्पना (अर्थात् ताप) का भाषा वनानिक विवरण में प्रयोग सह रूपिमा के विविध वर्गों या गणा (sets), निरुद्ध अक्षर रूप मन्त्रिय (morpho phonemes) कहते हैं अर्थात् मन्त्रि में परस्पर समान उपकरणों या समानताओं का समन्वित निर्माण और विशेषकर कुछ साधु भाषिक मरचनाओं के वर्णन का मुकरता के लिए विविध रूप मन्त्रिमा की संकल्पना (उदाहरणार्थ श्रु की मन्त्रि) तथा पद तथा वाक्य दर्शन पर भाषिक वर्गों या शब्दों (class es) के वर्गों के विषय में स्पष्ट व्यवस्था तथा इसी प्रकार की अन्त विवेचनाओं मन्त्रित के पद तथा वाक्य के विस्तृत विवरणों के लिए विज्ञान विज्ञान मन्त्रित





और नाइडा द्वारा ब्लूमफील्ड द्वारा प्रस्तावित पाणिनि जैसे हल की अस्वीकृति का स्मरण हो आता है। वस्तुतः ब्लूमफील्ड द्वारा प्रस्तावित हल से नाइडा की असहमति पूर्णतः तर्कसम्मत प्रतीत नहीं होती।<sup>११</sup>

संस्कृत व्याकरण नाम्न्य अथवा भारतीय व्याकरणिक विवरण की जमीन कि अब तक व्याख्या की गई है उससे अनुमान यद्यपि उसे मूलतः प्रक्रिया (Process) परक विवरण ही कहा जा सकता है। परन्तु अभी तक यह पूर्णतः स्पष्ट नहीं है कि उसकी उक्त व्याख्या ही उचित है या नहीं। क्योंकि यह निश्चित करने के लिए कि पाणिनि की विवरेण एव वरुण पद्धति स्पष्टतः संयोजन और 'प्रक्रिया' परक ही है या उसमें इन दोनों प्रविधियों का समन्वित रूप मिलता है पाणिनि की अष्टाध्यायी और उस पर लिखी गई टीकाभाषा के गहन अध्ययन की अभी बड़ी आवश्यकता है।

१८वीं शताब्दी के अंत में संस्कृत और उसके स्थानीय व्याकरणों का कुछ ज्ञान पाश्चात्य जगत् में पहुंचा था। मर विलियम जोस ने बड़े उत्साह के साथ कभी-बड़ा आठ वर्षों तक संस्कृत का गहन अध्ययन किया तथा २ फरवरी १७८६ में एशियाटिक सोसायटी के अनेक तनीय कापिन अभिभाषण में यह प्रसिद्ध घोषणा की कि संस्कृत भाषा चाहे निम्नी प्राचीन हो उसकी संरचना निश्चित ही आश्चर्यजनक है। वह न केवल ग्रीक से भी अधिक पूर्ण तथा लटिन से भी अधिक व्यापक है, अपितु दोनों से अधिक परिष्कृत भी है। साथ ही प्रिया धातुशास्त्र और व्याकरण के रूपा दोनों में संस्कृत की ग्रीक और लटिन के साथ अधिक समानता है जो बिना किसी मौलिक सम्बंध के सम्भव नहीं हो सकती। वस्तुतः इन तीनों भाषाओं की समानताओं की व्याख्या यह मान बिना नहीं की जा सकती कि ये तीनों एक ही समान स्रोत से विकसित हुई हैं जो अब त्रिलकुल हो चुका है। इसी प्रकार के तर्कों के आधार पर मौखिक और वैदिक भाषाओं के विषय में भी कहा जा सकता है, कि ये भी संस्कृत के समान ही एक ही मूल भाषा से विकसित हुई थी यद्यपि इन्होंने कालान्तर में एक भिन्न प्रकार का मुहाबरा विकसित कर लिया था और यदि प्राचीन फारसी की प्राचीनता से सम्बद्ध प्रश्न पर भी यहाँ विचार किया जाए तो इस भाषा परिवार में उसे भी जोड़ा जा सकता है।<sup>१२</sup>

निश्चित ही प्राचीन परम्परा के स्थानीय विद्वानों के साथ अध्ययन करके ही जोस ने संस्कृत भाषा का ज्ञान प्राप्त किया था तथा स्थानीय पारम्परिक व्याकरण की किसी पाठ्यपुस्तक के माध्यम से ही वह इस प्रकार का अनुमान लगा सका होगा। जिन यूरोपीय भाषाओं को वह मनी भाति जानता था उनमें और संस्कृत में सुनिश्चित प्रकार की समानताओं का पता कर ही वह इस निष्कर्ष पर पहुंचा होगा तथा उसने उक्त धारणा की होगी जिस विद्वानों ने इसके बाद-बार-बार उद्धृत किया है। यद्यपि अठारहवीं शताब्दी में सामान्यतः दृष्टिगत होने वाली ऐतिहासिकता की भावना का जोस का उक्त खोज की भूमिका के रूप में स्वीकृत किया जा सकता है परन्तु सम्प्रति ऐसा और कोई धारणा हमारे पास नहीं है जिससे यह



द्वारा भाषा का पणन करता है। वस्तुतः सना तथा त्रिया के प्रमुन रूपिमा (रूपा यनिय) के विवरण सन सा भाषा की मभी रूपिमा इनाम्या (morphological units) का स्पष्ट निर्णय हा पाता है और न ही विविध प्रकार की मधिया का निर्नेपण सम्भव होता है। इस प्रकार युरोपीय रूपायति मूनन व्याकरण मात्र सन का ही एक इकाई के रूप म चलन करता है, निम्बित ही उमवे माध्यम स पाणिनीय व्या करण की श्रेष्ठता नही देगी जा सती। हाँ, यह विसा निशार्थी की भाषा सिगाने के लिए अधिक् उपयायी हा करना है।<sup>१४</sup> दूसर गन म यह रहा ता सयता है कि विहटनी आदि पाणिनीय व्याकरण की सनवन विवरणात्मक पद्धति (Descriptive technique) की पहिचानने मे असपन रहे और अय भाषामा के विश्लेषण विवरण के लिए उस पद्धति का प्रयोग करने के विषय म भी विचार नही कर सके। हाँ, उस समय अपवादस्वरूप कुछ मस श्रेष्ठ भाषा विवरण अवय हा हैं जिहें पाणिनीय परम्परा के अनु रूप नहा जा सता है।<sup>१५</sup>

महाँ हम बात का उल्लेख कर देना परमावयव है कि उन्नीसवीं तथा बीसवीं शताब्दी के पूर्वाध म एक सशम पाश्चात्य विवरणात्मक भाषाविज्ञान के मयर विपास के कारण के रूप मे, सपूर्णत या नही तो बहुत प्रागेनक भारतीय वैया करण ही थे। स्वयं सर विलियम जोन द्वारा लिगित 'A dissertation on the orthography of Asiatick words in Roman Letters' मे उनके भारतीय ध्वनि विज्ञान के गान का परिचय मिल जाता है। विगत कुछ वर्षों मे अंग्रेज ध्वनि वैज्ञानिक तथा भाषा विज्ञान के अय पद्धिता ने जोन क उक्त प्रबन्ध स पाश्चात्य ध्वनि विज्ञान के विपास का प्रारम्भ माना है तथा उसमे लैप्सिग्रस, विलियम डी० विहटनी, ए० ज० ऐलिस और बल एव स्विट आदि जस महान् विशेषता का योगदान प्रनिपासित किया है।<sup>१६</sup> परन्तु इतना स्पष्ट है कि यद्यपि प्राधुनिक पाश्चात्य ध्वनि विज्ञान की अनन उपलब्धियाँ हैं तथा उनके परिणामस्वरूप अक् उच्चारण प्रक्रिया (articulatory processes) के विषय मे बहुत कुछ निश्चित रूप स कहा जा सकता है, परन्तु युरोपीय भाषा विवरणा मे ध्वनि वानिक विवचन तभी कुछ श्रेष्ठ हाने लगा था, जबकि युरोपीय सस्कृत पंडित भारतीय ध्वनिविज्ञान से बली भाँति परिचित हा गए थे तथा उनके द्वारा वह ज्ञान युरोपीय विद्वत्ता की सामाय परम्परा का अग बना दिया गया था।

पश्चिम मे व्याकरणिक विश्लेषण के अन्य क्षेत्रा जसे ध्वनिक विज्ञान (Phonemics) रूप विज्ञान (Morphology) तथा वाक्य विज्ञान (Syntax) पर भारतीय व्याकरण का प्रभाव काफी लम्बे समय तक बहुत अधिक नही था। पाश्चात्य भाषा वज्ञानिकों को भारतीय भाषा विश्लेषण की पद्धति तथा विवरण के विधान की श्रेष्ठता (सूत्रात्मक वचन) का परिचय बनफी और विहटनी के सस्कृत व्याकरण तथा भाषा और भाषा विज्ञानविषयक कुछ पुस्तकों के माध्यम से ही प्राप्तव्य था। परन्तु उसके परोक्ष प्रभाव से भी उसके अनुसरण के कुछ प्रयास अवश्य हुए जिहें अपवादस्वरूप ही सम्भनता चाहिए। काफी समय तक पश्चिमी जगत् म भाषामा

वे व्याकरण पारम्परिक यूरोपीय व्याकरण के अद्वैतानुसार ही लिखे जाते थे। हाँ साइबरिया की 'तर्किश याकूत' (Turkic Yakut) भाषा का व्याकरण अत्यन्त एक प्रपञ्च है जिसे प्रसिद्ध सम्बन्धन तथा पाणिनि के विरोध में ओटो बोह्लिंग (Otto Bohtlingk) ने एक गता-नी भी अधिक पहले सन् १८५१ में प्रकाशित किया था।<sup>१६</sup> भाषा विश्लेषण तथा विवरण की एक श्रेष्ठ आदर्श-पद्धति के प्रयोग के रूप में इस की प्रशंसा एडवर्ड सपीर ने अनेक स्थानों पर की है। इस व्याकरण या भाषा विवरण में पाणिनि की गली में ध्वनि प्रक्रिया (Phonology) रूप प्रक्रिया (Morphology) तथा वाक्य-संरचना (Syntax) का संविस्तार और पूर्ण विवेचन है। यहाँ इस बात को भी बिना किसी शका के कहा जा सकता है कि ओटो बोह्लिंग के संहृत और पाणिनि के गहन अध्ययन के परिणामस्वरूप ही इस व्याकरण में उक्त पद्धति दृष्टिगोचर होती है। इसकी एक विशेषता यह भी है कि इस में सद्यः भाषा के साम्प्रत विवरण (Synchronic description) के साथ साथ उसके ऐतिहासिक पक्ष पर भी प्रकाश डाला गया है, जिस आधुनिक विवरणात्मक भाषा विज्ञान के पक्षधर अन्यथा रूप में भी समझ सकते हैं।

यह निश्चित ही अत्यधिक आधुनिक समय में सम्भव हुआ है जबकि विवरणात्मक भाषाविज्ञान में विशेषकर अमेरिका में विवरणात्मक पद्धति के लिए पाणिनि का अनुसरण असफलतापूर्वक हुआ है। फ्रान्स बोय्स (Frans Boijs) का जहाँ तक व्याकरण शास्त्र में व्यावहारिक प्रक्रिया या वह सम्पूर्ण प्राचीन यूरोपीय व्याकरण परम्परा में ही था। उन्होंने मूल अमेरिकी भाषाओं (American Indian languages) के जो विवरणात्मक अध्ययन किए थे वे उन्होंने अपनी स्वतंत्र प्रतिभा के अनुसार ही किए थे। निश्चित ही उनकी तकनीक अपाणिनीय थी। हाँ, पाणिनि के समान उन्होंने भी भाषा का प्रक्रिया परक वर्णन किया है। परन्तु तकनीक की दृष्टि से उनकी तकनीक उतनी सशक्त नहीं कही जा सकती जितनी कि पाणिनि की है। बागड के शिष्यों में एडवर्ड सपीर ने निश्चित ही पाणिनि का अध्ययन किया था तथा उन्होंने उसकी प्रशंसा भी की है। उन्होंने भी प्रक्रिया-परक पद्धति में भाषा विवरण किया है। लेकिन यह सत्य है तथा इसे मैं सपीर का शिष्य होने के नाते व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर कह सकता हूँ, कि उन्होंने भारतीय व्याकरणों से कोई प्रेरणा ग्रहण नहीं की थी। परन्तु निम्नो नाइ ब्लूमफील्ड की बात दूसरी थी। वह एक ऐसा विद्वान् था जिसने पाणिनि का गहन अध्ययन किया था तथा वह पाणिनि पर लिखे गए व्याख्यात्मक साहित्य से भी परिचित था। उसने हिंदू व्याकरणों की पद्धति तथा उनके परिणामों की भूरि भूरि प्रशंसा भी की है।<sup>१७</sup> पाणिनि में वह जो कुछ श्रेष्ठ प्राप्त हुआ था तथा जिसे वे भाषा विज्ञान के अन्य विद्वानों के लिए भी प्राप्तव्य समझते थे उसका बड़ा ही स्पष्ट विवरण लीबिच ((Liebich) की 'Konkrdanz Panini candra' नामक पुस्तक की समीक्षा में मिलता है जो Language पत्रिका की जिल्द V (१९२६) पृष्ठ २६७-७६ में प्रकाशित हुई थी। ब्लूमफील्ड का यह लेख भाषा

विज्ञान के अध्येता तथा पढ़िता के बीच अधिक प्रसिद्ध नहीं है। विद्वानों को गंभीरतापूर्वक उसका अध्ययन करना चाहिए। ब्लूमफील्ड पर भारतीय भाषाविज्ञान के प्रभाव के सन्दर्भ में यह सर्वाधिक महत्वपूर्ण है कि जिस भाषा वैज्ञानिक प्रविधि का विधान ब्लूमफील्ड ने अपनी 'Language' नामक पुस्तक में किया है वह बहुत कुछ अंग्रेजी में उनके भारतीय व्याकरण शास्त्र के अध्ययन का ही परिपाक है। यह कहना कोई अत्युक्ति नहीं होगा कि यदि ब्लूमफील्ड ने भारतीय व्याकरण शास्त्र का गहरा अध्ययन न किया होता, तो मुश्किल से ही स्वनिर्मित विज्ञान रूपी विज्ञान तथा वाक्य विज्ञान में उनकी विद्वत्पणा की पद्धतियाँ ऐसी होती जैसी कि हैं, या जैसी पद्धतियाँ का विधान उन्होंने अपनी पुस्तक में किया है। ब्लूमफील्ड, वस्तुतः भारतीय व्याकरण शास्त्र के अपने गहन अध्ययन के कारण ही उनकी 'वैज्ञानिक गहनता' (Scientific Condensation) जो भाषा के विवरण में उसके प्रत्येक उपलक्षण (feature) का उसका उपयुक्त सन्दर्भ प्रदान कर देती है उसकी 'पूर्णता' (Completeness) तथा विधान की साक्षरता व स्पष्टता (Brevity and stringency of statement) के परम प्राप्ति के लिए (तुलनीय है Language Vol 5 P 27 47)। अमरीकी सेना के लिए तैयार किए गए 'मैंग्रुमल' (A S T P पुस्तकमाला में प्रकाशित) के अतिरिक्त उनके जीवन के उत्तरार्ध में इस प्रकार की उनकी वैज्ञानिक विवरणात्मक रचनाएँ इतनी कम प्रकाशित हुई हैं कि उनके द्वारा मातृ भाषा विवरण के आदर्श का पूरा चरित्रात्मक रूप स्पष्ट नहीं हो पाता। फिर भी जो पाणिनि से परिचित है वह उनके सना के लिए लिखे गए 'मैंग्रुमल अथवा Linguistic Structure of Native America'<sup>21</sup> में Algonquian पर लिखे उनके अध्यायों को उन पर भारतीय प्रभाव की पहचान बिना नहीं पढ़ सकता। Algonquian पर लिखा अध्याय इसलिए भी विशेष महत्वपूर्ण है कि उसमें यह देखा जा सकता है कि कितनी तुलनात्मक-व्याकरण (Comparative Grammar) की रचना में भी विवरणात्मक 'गहनता' (Descriptive Condensation) 'पूर्णता' (Completeness) तथा कथन या विधान की 'स्पष्टता' का प्रयोग किस प्रकार किया जाता है। अमरीकी भाषा विज्ञान के अधिकांश नवीन विद्वानों पर ब्लूमफील्ड के व्यापक प्रभाव की विस्तार चर्चा करने की जहाँ कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। यहाँ इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि वे विशेष लक्षण जिनके आधार पर भाषा विज्ञान के अन्य सम्प्रदायों से अमरीकी-सम्प्रदाय का पाथक्षय स्थापित किया जाता है, अधिकांश में वे ब्लूमफील्डीय ही हैं, तथा यदि मेरी ध्यानाधीन है, तो उनमें से अनेक विशेषताओं को पाणिनीय कहा जा सकता है।<sup>22</sup> सम्प्रति ऐसे पाणिनीय लक्षण, मुश्किल से ही, भाषाविज्ञान के विद्वानों के किमी अन्य समूह या सम्प्रदाय की विशेषता के रूप में स्वीकृत किये जा सकते हैं।

कुछ समय से अमरीकी भाषा विज्ञान में भाषा विवरण की प्रक्रिया-परक पद्धति तथा प्रक्रिया विषयक विधानों या कथनों से बचना एक फैशन बन गया है यद्यपि विवरणात्मक भाषा विज्ञान में सम्प्रति स्वीकृत एवं प्रचलित भाषा विवरण

के पूर्वोल्लिखित सभी मानक रूपा या आदर्शों (Models) के आधुनिक काल में हुए परीक्षणों के आधार पर भी उक्त प्रक्रिया-परक पद्धति को स्वीकार करने में किसी प्रकार का विरोध नहीं पाया गया।<sup>२३</sup> यह फैसला हो या न हो परन्तु यह निश्चित रूप से कहा जाना चाहिए कि भाषा विज्ञान के विद्यार्थियों को अपने शास्त्र या विषय के मूल उत्स से अपरिचित नहीं रखा जाना चाहिए तथा उन्हें रूपिम-वैज्ञानिक दृष्टि से अत्यन्त सख्त अपनी भाषा के लिए हिंदुओं द्वारा विकसित भाषा विश्लेषण तथा विवरण की एक सशक्त पद्धति का परिणाम अवश्य बताया जाना चाहिए। निश्चित ही उसका परिज्ञान उसी प्रकार के सख्त रूपिम के वैज्ञानिक विवरण में उपयोगी सिद्ध हो सकता है, जिस प्रकार बाउस (Boas) सपीर (Sapir) तथा अन्य विद्वानों की ऐसी ही तकनीकें उपयोगी सिद्ध हुई हैं। मेरी दृष्टि से पाणिनी की पद्धति के परिचय के स्पष्ट उद्देश्य से भाषा विज्ञान के प्रत्येक विद्यार्थी के लिए संस्कृत का अध्ययन अनिवार्य होना चाहिए चाहे थोड़ा ही क्यों न हो। संस्कृत का अध्ययन भाषा विज्ञान के विद्यार्थी के लिए निश्चित ही उपकारक होगा तथा जितना साहस्य यह काम होगा उतना ही अधिक सफल होगा।<sup>२४</sup>

सम्प्रति स्वन विज्ञान (Phonetics) स्वनिम विज्ञान (Phonemics) रूपिम विज्ञान (Morphology) तथा वाक्य विज्ञान (Syntax) के क्षेत्रों में आधुनिक भाषा वैज्ञानिकों को सशक्त हिंदू व्याकरणों से कुछ विशेष सीखने की न मिले। परन्तु यह भी हम निश्चित रूप से तब तक नहीं कह सकते जब तक आधुनिक भाषा विज्ञान में प्रशिक्षित विद्वान् पाणिनि का उक्त क्षेत्रों में पुनः परीक्षण उसी प्रकार नहीं कर लेते जिन प्रकार स्वर विज्ञान के क्षेत्र में किया गया है।<sup>२५</sup> परन्तु भाषा विज्ञान के अन्तर्गत अर्थ विज्ञान के क्षेत्र में, जिसका विकास अभी कुछ समय से पश्चिम में धीरे धीरे हो रहा है निश्चित ही पश्चिम भारत से बहुत कुछ सीख सकता है। भारत में व्याकरण काव्यशास्त्र के आचार्यों तथा दाशानिकों का सम्बन्ध अर्थ की समस्या के साथ रहा है और उन्होंने इस विषय में काफी चिन्तन किया है और लिखा है। निश्चित ही सभी व्यावहारिक भाषा वैज्ञानिक दृष्टियों से पश्चिम अभी इस क्षेत्र में विगणनता प्राप्त नहीं कर पाया है। साथ ही यह उल्लेखनीय है कि इस विषय के भारतीय ग्रन्थ, कठिन शैली में लिखे गए हैं और पश्चिम में, संस्कृत-दाशानिक और भाषा वैज्ञानिक के रूप में इन ग्रन्थों का अध्ययन करने के लिए उपयुक्त व्यक्ति भी बहुत कम हैं। किन्तु इतना निश्चित है कि इस दिशा में जो भी प्रयास होंगे उनके अच्छे ही परिणाम निकलेंगे। अतः यह एक ऐसा विषय है कि पश्चिम में इसके अध्ययन की सन्तुष्टि की जा सकती है।<sup>२६</sup>

पाणिनि और उनके प्रारम्भिक व्याख्याताओं के साथ भारतीय व्याकरण अपनी गौरवशाली पूरुता को प्राप्त कर चुका था। ऐसा लगता है कि जब एक व्याकरणिक अध्ययन का कथित उद्देश्य अर्थात् बंदों की भाषा की सुरक्षा और भाषा के विवरण में व्याकरण की दक्षिण का विस्तार सिद्ध हो गया, तो आगे उस दिशा में विगण कुछ करने की उनकी जानसा कम कि समाप्त हो गई थी। संभवतः इसी

लिए मध्यकालीन भारतीय भाषाभाषा का आंगिक बलून ही व्याकरणों में हुआ और यह भी मुख्यतः संस्कृत की तुलना में उनमें घटित अंतरों के अध्ययन के रूप में ही हुआ है। वस्तुतः इसकी सन् के पूर्ववर्ती महान् दिनों के पश्चान् से भारतीय व्याकरण प्रतिभा मोड़ी हुई है। इस मदम में सन् १९४० में तिरुपति में हुए अखिल भारतीय प्राच्य विद्या सम्मेलन (All India Oriental Conference) में स्वयं महापंडित श्री विष्णु सीताराम मुकयनकर द्वारा किए गए पुनर्जागरण के आह्वान का स्मरण कराया जा सकता है<sup>२०</sup> तथा इस बात का उल्लेख किया जा सकता है कि भारत में अब भाषावैज्ञानिक पुनर्जागृति के सकेन भी मिलन लगे हैं।

आधुनिक भाषा विज्ञान के पाश्चात्य विद्वान् प्रारम्भ से ही अनेक रूपों में भारत में भारत की अध्ययन का एक महत्वपूर्ण विषय मानकर अपने वैज्ञानिक प्रयासों का केन्द्र मानते रहे हैं। पाश्चात्य विद्वानों द्वारा संस्कृत तथा भारोपीय भाषाभाषा के सम्बन्ध में अनेक महत्वपूर्ण कार्य सम्पन्न हुए हैं जिन्हें मूलतः पाश्चात्य जगत् को सतार के सभी देगा के मनुष्यों तथा उनकी भाषाभाषा के विषय में वैज्ञानिक जानकारी पाने की सामान्य अभिलाषा के परिणाम-स्वरूप माना जा सकता है।

वस्तुतः प्रारम्भिक काल में संस्कृत के एक विराट् शब्द कोश की बड़ी आवश्यकता थी तथा सन् १८५५ में ओटो बोह्लिंग (Otto Bohtlingk) और रुडोल्फ रोथ (Rudolph Roth) ने (Kaiserliche Akademie der Wissenschaften) सेंट पीटर्सबर्ग में अपने Sanskrit Worterbuch का प्रथम खंड प्रकाशित किया था जिस परिधि में प्राच्य विद्या के विकास की एक महत्वपूर्ण घटना के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। इस ग्रन्थ का पूरा प्रकाशन ता बीस वर्ष बाद हुआ था परन्तु यह ग्रन्थ प्रारम्भ से ही भारतीय भाषाओं के अध्ययन के लिए एक महत्वपूर्ण साधन माना जान लगा था और अब भी अनेक दृष्टियों से यह ग्रन्थ अद्वितीय है। यद्यपि पूर्ववर्ती समय में नवीन भाषा के परिणामस्वरूप ऐसी अनेक प्राचीन महत्वपूर्ण पाण्डुलिपियाँ प्रकाश में आ चुकी हैं कि जिनके विषय में इस कोश के संकलन-कत्ताभा का कोई जानकारी नहीं थी। अतः इस प्रकार के एक नये काश के संकलन की आवश्यकता और भी अधिक बढ़ गई है। यह उचित ही है कि भारत में इस प्रकार के एक नए कोश का कार्य प्रारम्भ हो चुका है।

संस्कृत-नाटकों में प्राप्त होने वाले मध्य भारतीय धार्मिक भाषाभाषा के कुछ नमूने तो पाश्चात्य विद्वान् सर विनियम जोस के समय से ही परिचित थे, परन्तु सन् १८३० के आस-पास से प्रिंसेप (Prinsep) द्वारा पढ़े जाने के बाद काफी समय से पूणत विष्मृत तथा अज्ञात बौद्ध सम्राट् यशावर्क के मध्य भारतीय धार्मिक भाषा में लिखे गए शिलालेखों का अध्ययन प्रारम्भ हुआ। इसी प्रकार विविध मध्य भारतीय धार्मिक भाषाओं में लिखे गये जनों और बौद्धों के धार्मिक साहित्य में या पाश्चात्य विद्वान् परिचित हुए। अनेक भारतीय विद्वानों के साथ साथ अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने मध्य भारतीय धार्मिक भाषाओं में लिखे अंशों के शिलालेखों के अतिरिक्त अन्य शिलालेखों तथा सिक्कों की भाषा की उनका सग्रह किया तथा उन्हें प्रकाशित भी





दृष्टि में विद्वत्सनीय नहीं समझी जा सकती। फिर भी इतनी सामग्री संकलित हो गई जो कि जिनके आधार पर भारतीय भाषिक यथायथ की लगभग सभी प्रमुख विशेषताएँ स्पष्टतः सामने आ जाती हैं और इस सर्वेक्षण को इसीलिए सफल भी कहा जा सकता है कि वह भारत के सभी भाषा-रूपा या बोलिया की प्रादेशिक सीमाओं का स्पष्ट मानचित्र प्रस्तुत करता है। जिनके अनुसार अब तत्तत् प्रदेशों की भाषाओं या बोलियों का सविस्तार वैज्ञानिक अध्ययन किया जा सकता है। ऐसी भाषा की जा सकती है कि भारतीय बोलियों के अध्ययन तथा बोलियों की प्राभाषिक मानचित्रावली तैयार करने की भारतीय विद्वानों की योजनाएँ जो अभी नियोजन और वर्चों के स्तर तक पहुँच चुकी हैं शीघ्र ही क्रियावित की जाएँगी।

भारतीय उपमहाद्वीप में प्राप्त अन्य भाषा-परिवारों अर्थात् द्रविड और मुण्डा परिवारों की भाषाओं का विवेचन भी इस सर्वेक्षण में प्राप्त होता है। द्रविड भाषा-परिवार की भाषाओं के बोलने वाला की संख्या ६ करोड़ है, तथा वह संसार के भाषा-परिवारों में पाँचवा या छठवा सर्वाधिक बड़ा भाषा-परिवार है। यदि संसार के भाषा-परिवारों में अपने स्थान के अनुरूप द्रविड भाषा-परिवार के प्रति संसार के भाषा-वैज्ञानिकों का ध्यान आकृष्ट हुआ होता तो प्रसन्नता की बात होती। परंतु दुभाग्यवश ऐसा हुआ नहीं। और जब कि इस परिवार की चार भाषाओं की महान् प्राचीन साहित्यिक परंपराएँ हैं। यह समझ में नहीं आता कि इस परिवार की भाषाओं का गम्भीरतापूर्वक भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन क्या नहीं हुआ? इस के कारणों का अध्ययन किया जा चुका है तथा इस उपेक्षा के परिणामों पर अमरीकी दार्शनिक संघ (American Philosophical Society) में पठित एक दूसरे लेख में विचार किया जा चुका है<sup>३१</sup> अतः इस विषय में यहाँ विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं है। परंतु बिशप काल्डवेल (Bishop Robert Caldwell) का द्रविड भाषाओं का तुलनात्मक व्याकरण (A Comparative Grammar of the Dravidian languages) निश्चित ही काफी पहले लिखा गया एक महत्वपूर्ण ग्रंथ है जो सन् १८५८ में प्रकाशित हुआ था। यद्यपि इसे अब प्रकाशित हुए एक शताब्दी से भी अधिक समय हो गया है परन्तु इस बीच इस परिवार की भाषाओं के कुछ ही अच्छे विवरणात्मक या तुलनात्मक अध्ययन हुए हैं। हाँ तुलनात्मक अध्ययन के क्षेत्र में स्व० ल० व० रामस्वामी अय्यर के योगदान का उल्लेख अवश्य किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त विवरणात्मक अध्ययन, यद्यपि बीस से भी अधिक हो चुके हैं (देखिए पादटिप्पणी ३६) परन्तु उनमें से कुछ ही को आधुनिक या पाणिनीय स्तर से माय कहा जा सकता है।<sup>३२</sup> द्रविड भाषाओं के अब तक प्रकाशित विवरणों के गुणात्मक दृष्टि से श्रेष्ठ न होने के कारण इस परिवार की भाषाओं के अच्छे तुलनात्मक अध्ययन भी संभव नहीं हो सके हैं। सन् १९४६ में ज्यूस ब्लाक ने अपने द्रविड भाषाओं की व्याकरणिक संरचना पर Structure Grammaticale des langues Dravidiennes<sup>३३</sup> नामक ग्रंथ में द्रविड भाषाओं की मात्र रूपिक संरचना (Morphological Structure) की

तुलना स आग भी कुछ काय किया है। परन्तु ध्वनि व्यवस्था के तुलनात्मक अध्ययन के लिए आवश्यक सामग्री के अभाव के कारण उन्होंने उसका प्रयास नहीं किया और इस बात के लिए खेद प्रकट किया है कि इस परिवार की भाषाओं का तुलनात्मक शब्द कोश (Vocabulaire Comparatif) अभी तक तैयार नहीं हुआ है। हा इन भाषाओं का एक व्युत्पत्त्यात्मक शब्द-नाम (Etymological dictionary) के तैयार होने की संभावना है जिसका काय आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के टी० बरो (T Burrow) और मैं प्रारम्भ कर लिया है। हम बीच में द्रविड भाषा(ओं) से संस्कृत में आए शब्दों का अच्छा अध्ययन हुआ है<sup>३४</sup> और संस्कृत के व्युत्पत्त्यारम्भ शब्द कोशों में इन्हीं संस्कृत शब्दों के एक स्रोत के रूप में स्वीकार किया जाना लगा है। यह काय अभी कुछ ही समय से प्रारम्भ हुआ है तथा आशा है शीघ्र ही यह काय पूरा हो जाएगा और वह अब तक प्रयोग में लागू जा रहे अनुपयुक्त कोशों का स्थान ले लगे।<sup>३५</sup>

यद्यपि भारत का भाषा सर्वेक्षण का चौथा सत्र पूर्ण द्रविड तथा मुण्डा भाषाओं पर है। परन्तु सर्वेक्षण का काय मद्रास हैन्गबाद तथा मसूर राज्या में सम्भव नहीं हुआ था परिणामतः द्रविड भाषा भाषी प्रदेश के एक विशाल भू-भाग में प्रयुक्त बोलियाँ का ज्ञान चित्र तैयार नहीं हो सका था। साथ ही इसकी सामग्री और उसके संकलन की प्रविधि ऐसी गड़बड़ थी कि मध्यभारत की अनेक द्रविड भाषाएँ बिल्कुल अज्ञात ही रह गई थी। ऐसी तीन भाषाओं जिनके नाम भी पहले अज्ञात थे का पता टी० बरो (T Burrow) तथा एस० भट्टाचार्यन सन् १९५०-५१ में अपनी गोघ यात्राओं के दौरान लगाया था और तभी संभावना है कि ऐसी ही दूसरी भाषाएँ अब भी प्रकाश में आ सकती हैं।<sup>३६</sup>

मुण्डा परिवार की भाषाओं के अध्ययन के विषय में विभाग कुछ भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि या तो सर्वेक्षण में उनका केवल नामाल्लिख है या उनका भ्रष्ट विवरण हुआ है। निश्चित ही सभी मुण्डा बोलियों की प्राग्निशिक सीमाओं के निर्धारण में सर्वेक्षण असफल रहा है। मुण्डा परिवार की भाषाओं का अब तक ऐसा कोई भी तुलनात्मक अध्ययन नहीं है जो किसी भी मसी भ्रांति विवेचित भाषा परिवार का भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन के विचार्यों को सतुष्ट कर सके। वैसे भी मुण्डा भाषाओं का सर्वत्र वृहत्तर भारत अथवा दक्षिण पूर्व एशिया के आग्नेय भाषा परिवार (Austro family of languages) की किसी भाषा के साथ स्थापित करने के प्रयास तथा मलेशिया आदि में प्राप्त महान् आग्नेय भाषा परिवार (Austro family of languages) की भाषाओं के साथ उन्हें रखने का विचार अब तक मुझे मात्र अनुमान पर आधारित प्रतीत होता है। यह अनुमान अतन्त सत्य भी सिद्ध हो सकता है। परन्तु यह तभी सम्भव है जब कि वगानिव विवरणों का आधार पर पहले मूल मुण्डा भाषा की परिवर्तना कर ली जाए।<sup>३७</sup>

बुरुमा की सभी उत्तरी पूर्वी सीमान्त की भाषाएँ (Tibeto Burmes) पश्चिमी सीमान्त की ईरानी भाषाएँ और तभी अन्य भारतीय भाषाओं

के विषय में मौन रहना ही अच्छा होगा। क्योंकि आधुनिक अर्थ में इन भाषाओं का भाषावैज्ञानिक विवरण हुआ ही नहीं है तथा कुछ ईरानी भाषाओं को छोड़कर अन्य किसी भाषा का कोई तुलनात्मक अध्ययन भी नहीं हुआ है।<sup>३८</sup>

सम्प्रति भाषा वैज्ञानिकों द्वारा डम प्रकार की याजनाएँ तैयार की जा रही हैं कि जिनमें भारतीय भाषाओं के वैज्ञानिक अध्ययन तथा भारतीय भाषा विज्ञान का विकास हो। आशा है इन प्रयासों के परिणामस्वरूप भारतीय भाषिक मानचित्र के रिक्त स्थानों की पूर्ति हो जायगी।

भारतीय भाषा विज्ञान के अध्ययन की अनक व्यापक समस्याएँ हैं, उन की प्रार विद्वानों का ध्यान जाना चाहिए। जस मुण्डा सहित आग्नेय भाषा परिवार की कल्पना बहुत अधिक पुष्ट प्रमाणों पर आधारित न होने के कारण स्वीकार्य प्रतीत नहीं होती। फिर भी यही एक जिम्मा है जिस और समस्या के विधान के लिए देखा जा सकता है। विशेषकर इसलिए कि पूर्वी और दक्षिण पूर्वी एशिया के साथ भारत के विविध प्रकार के सम्बन्ध हूँगे वष प्राचीन हैं तथा इन सबका के प्रभावचिह्न भारत की भाषाओं में अवश्य मिलन चाहिए। इस जिम्मा में विशेष गौरव काय की आवश्यकता है। विस्तारमय के कारण इस विषय को यही छोड़ा जा सकता है।

अतः में यह कहा जा सकता है कि आधुनिक पाश्चात्य भाषा विज्ञान के प्रभात काल में प्रकाश की प्रथम रश्मि भारत से आई थी तथा अब भारत में भाषा वैज्ञानिक अध्ययन में विद्वानों की अभिरुचि के विस्तार एवं विकास के परिणामस्वरूप पुनः भारत से नवीन प्रकाश प्रपात में सुभाषमन की आशा की जा सकती है।

### पाद टिप्पणी सवभ

१ मूलतः प्रस्तुत लेख कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय, स० रा० अमेरिका के सस्कृत एवं भाषाविज्ञान के प्राचार्य प्रो० एम० बी० एम्पू के एक भाषण का प्रकाशित रूप है जो उन्होंने तीरेंतो, कनडा में २० अप्रैल १९५५ को एक सम्मेलन में प्रथम पद से दिया था। मूलतः अंग्रेजी में लिखित इस लेख का छायानुवाद कुछ सम्पादन के साथ यहाँ सामान्य प्रकाशित किया जा रहा है। हिंदीसार हैं डॉ० माणिक लाल गाविंद चतुर्वेदी।—सम्पादन।

२ इस समूचे लेख में 'भारत' में तात्पर्य भारतीय उपमहाद्वीप से है तथा भारतीय एवं हिन्दू नाम समग्र पर्यायवाची हैं तथा प्राचीन भारतीय या हिन्दू के वाची हैं। इस दृष्टि में भारत और पाकिस्तान की दो पृथक राजनैतिक इकाइयों में कोई भ्रम नहीं है। विद्वान् मानते हैं कि पाणिनि का जन्म भारत के पश्चिमी पाकिस्तान में ही कही हुआ होगा।

३ इस के लिए तथा एतद्विषयक अन्य प्रमाणों के लिए द्रष्टव्य है M. Winternitz A History of Indian Literature Vol 1 (1927) P 285 और यन्त्र परम्परा में व्याकरणविषयक साहित्य के विषय में द्रष्टव्य।

४ समस्त पाणिनि का समय ईसा पूर्व छठवीं तथा चौथी शताब्दी के बीच ही हो सकता है। फ्रैंकलिन ऐडगटन का मत द्रष्टव्य है—Word Study Vol XXVII (1952) No 3 P 3। कुछ विद्वान् इसे ईसा पूर्व पाँचवीं शताब्दी ही मानते हैं। द्रष्टव्य है—M Winternitz, वही पृ० ४२ तथा अन्य कुछ विद्वानों ने उसी शताब्दी के मध्य भाग को पाणिनि का समय माना है। द्रष्टव्य है —V S Agrawala I dia—as known to Panini University of Lucknow 1953 P 475

५ M Winternitz—वही पृ० २८६।

6 Leonard Bloomfield, Language, Vol V (1929) PP 268 JAOS Vol XLVII (1927) P P 66 f

७ भारतीय नृत्य मुद्रा विषयक एक पुस्तक की समीक्षा में मैंने इसे ही प्राथमिक रूप में कहा है। देखिए JAOS Vol LXII (1942 P 149)

८ तुलनीय है W S Allen Phonetics in Ancient India London Oriental Series Vol I Oxford University Press 1953) P 13 तथा पाद टिप्पणी ४, अन्य सूची समेत।

9 Charles F Hockett Two models of grammatical Description Word Vol X (1954) PP 210 234

१० गाम्य शाकटायन के भिन्न अभिमतों की चर्चा यास्क के 'निरुक्त' (१।१२) में प्राप्त होती है। बह्विक निरुक्ताचार्य यास्क ने शाकटायन के मत के साथ अपनी सहमति प्रदर्शित की है। संभवतः पाणिनि सम्प्रदाय ने भी इसीलिए यह बात स्वीकार कर ली होगी। यहाँ प्रयुक्त विवरणात्मक पदवि को कुछ विद्वानों ने ऐतिहासिक व्युत्पत्ति के रूप में समझा है जो ठीक नहीं है। इस प्रकार के कथना के लिए द्रष्टव्य है —Lakshman Sarup The Nighantu and Nirukta, Vol 2 (1921) P 13 पाद टिप्पणी ६।

11 Leonard Bloomfield Language (1933) P 240 A B Nida Morphology The Descriptive Analysis of Words (2nd Ed 1949) P 60 f

१२ Asiatick Researches Vol I (1788) PP 422 f सन् १७८५ में अपने तीसरे यात्रा के समय सर विलियम जोन्स ने सस्कृत का अध्ययन प्रारम्भ किया था। Lord Teignmouth II ने The work of Sir William Jones (13 Vols London 1807) Vol II P 29 fn में उनके एक हस्त लिखित कांड का उल्लेख किया है जिसमें दीर्घ अवकाश के प्रातः काल का समय सस्कृत अध्ययन के लिए लिखा हुआ है। १७ नवम्बर १७८५ का उन्होंने चाल्मर्स विन्निंग्स को एक पत्र में लिखा था—मुझे एक वृद्ध बच्चा मिला गया है जो व्याकरण के विषय में जो कुछ जानता है मुझे सिखाता है। (JAOS Vol X (1880) P 115) २६ जुलाई १७८५ में एक पत्र में उन्होंने लिखा है जब कि अब तक उन्हें

संस्कृत बिल्कुल नहीं आती थी, तथा देवनागरी लिपि से भी वे परिचित नहीं थे (तुलनीय है वहीं, पृ० ११४)। अब तक प्रकाशित पत्रों के आधार पर निश्चय से नहीं बताया जा सकता कि जोस ने संस्कृत का अध्ययन कैसे किया। संभवतः लाइब्रेरी में मिले लिखे तथा अब तक उन प्रकाशित पत्रों में इस प्रकार की कुछ सूचना मिल सकती है जो मल स्पेंसर के संग्रह में सुरक्षित हैं, तथा जिनका अध्ययन ए० जे० ग्रावरेरी ने किया है। (BSOAS, Vol XI, 1643-46 P 673)। परंतु इतना निश्चित है कि जोस अपने जीवन के अन्तिम क्षण तक संस्कृत का अध्ययन करते रहे थे (JAOS Vol LXVI 1946), P 236। प्रकाशित एवं उपलब्ध दस्तावेजों के आधार पर जोस के संस्कृत अध्ययन की प्रविधि तथा प्रगति के विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। परंतु २८ सितम्बर १७८७ को लिखे अपने एक पत्र में उन्होंने लिखा है कि अब वे हितोपदेश पढ़ रहे हैं तथा अपने पंडित के साथ निरंतर संस्कृत में वार्तालाप करते हैं। जोस ने औपचारिक रूप से संस्कृत व्याकरण का अध्ययन किया था, इसका प्रमाण निम्नता है 'The work of Sir William Jones' के खंड XIII (पृ० ३६६-४२६) में। सर विलियम जोस तथा श्रीमती जोन्स द्वारा 'रायल सोसाइटी' को प्रदत्त 'संस्कृत तथा अन्य प्राच्य हस्तलिखित ग्रंथों की सूची' में पृ० ४१२ पर ह० लि० ग्रंथ ४११ पर 'मिथ्यात कौमुदी' (अपूर्ण) का उल्लेख है, जिस पर स्वयं जोस ने लिखा है 'इस व्याकरण का ध्यान पूर्वक अध्ययन मैं १८ अगस्त, १७६२ में पूरा किया। अन्य जिन्हें हस्तलिखित ग्रंथों का उल्लेख है वे हैं दुर्गादास कृत मुग्धबोधिका सरस्वती व्याकरण (अर्थात् सारस्वत प्रक्रिया) सारावली (संभवतः नारायण बड़ोपाध्याय कृत) अमर काश मेदिनी बोध विश्व प्रकाश, तथा जोस के लिए काशीनाथ गर्मा द्वारा संकलित शब्द सारसंग्रह। ये हस्तलिखित ग्रंथ Theodor Aufrecht के Catalogus Catalogorum, Part I (Leipzig 1891) P 111 में उल्लिखित हैं तथा इण्डिया आफिस के पुस्तकालय में सुरक्षित हैं।

१३ तुलनीय हैं Holger Pederson Linguistic Sciences in the Nineteenth Century (Tr spargo Cambridge mass 1931) साथ ही William Dwight Whitney 'Language and the study of language (1874 V Ed) P 227, AJP Vol v (1884) P 279

१४ तुलनीय Leonard Bloomfield Language P 12 तथा John Brough TPS 1951 P 27

१५ Hockett—पूर्वलिखित (पादटिप्पणी ६) पृ० २१० संस्कृत व्याकरण की शब्द तथा रूपावली परक आदर्श के अनुष्ण कहना होवेट की भूल है।

१६ इस प्रकार की कुछ विस्तारण व्हिटनी ने किया है। दविट Whitney, Language and the study of Language P 254

१७ Aschbach Researches vol I (1788) P 156। ६ मई १

मे सर जे० मक्फरसन को लिखे पत्र मे इस अध्ययन को प्रैस मे दिए जाने का उल्लेख है ।

१८ विशेष रूप से उल्लेखनीय है—J R Firth The English School of Phonetics TP 1946, PP 118 ff W S Allen Phonetics in Ancient India PP 34 देखिए पूर्वोक्त पादटिप्पणी ८ । अंतिम पुस्तक ह्विटने द्वारा प्रकाशित 'अथर्ववेद प्रातिशाख्य' JAOS, Vol VII (1862) pp 333 616 तथा 'तैत्तिरीय प्रातिशाख्य' (JAOS Vol IX (1871) Pp 1 469) के सस्वरण के मूल्यांकन की दृष्टि से विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं ।

१९ Die Sprach der Jakutan (A Th von Middendorff Reise in den aussersten Norden Und Osten Sibiriens Ed III St Petersburg Kais Ak d Wissen, 1851 71 ) बोतलिक ने पाणिनि के व्याकरण का प्रथम सस्वरण सन् १८३६-४० मे प्रकाशित किया था तथा दूसरा सन् १८८७ मे ।

२० ब्लूफील्ड सामान्यतः यह कहा करते थे कि पाणिनि का व्याकरण उन की उन पुस्तकों मे से थी जिहे वे विद्याम के क्षण मे सब पढ़ा करते थे । इस विषय मे मैं विशेष रूप से और कुछ भी नहीं कह सकता । परन्तु पाणिनि की उनकी व्याख्या की दृष्टि से निम्नलिखित लेख देखा जा सकता है — On Some Rules of Panini, JAOS Vol XLVII (1927) pp 61 70

21 Viking Fund publications in Anthropology 6, New York 1946 PP 85 122

२२ यह उल्लेखनीय है कि ऐलेन ने अपनी पुस्तक मे पाणिनि को प्राधुनिक स्वनिम वैज्ञानिकों के साथ रखा है जिनसे इनका आगत मुख्यतः अमरीकी स्वनिम वैज्ञानिक प्रतीत होता है ।

२३ देखिए पाद टिप्पणी-६ और Floyd G Lounsbury Oneida Verb Morphology (Yale University publications in Anthropology, No 48 New Haven Conn 1953) PP 11 17

२४ इसी उद्देश्य से मैंने Sanskrit Sandhi and Exercises नामक पुस्तिका प्रकाशित की थी । (University of California Press 1953) । इस पुस्तिका के प्रकाश के लिए मैंने लिओनाड ब्लूफील्ड का योगदान को भूमिका में स्वीकृत किया है । (P 1-2) इसी दृष्टि से रेनो के पाणिनीय व्याकरण के अनुवाद पर लिखी मेरी समीक्षा भी द्रष्टव्य है । JAOS Vol LXXIII (1953), PP 188 90

25 W S Allen की पूर्वोक्त पुस्तक पाठ टिप्पणी-८ ।

२६ प्रारम्भिक अध्ययन के लिए निम्नलिखित लेखों को लिया जा सकता है John Brough Audumbarayana's theory of Language BSOAS, Vol XI (1952) P 73 77 Theories of general linguistics in Sanskrit Grammarians TPS 1951) PP 27-46

27 V.S. Sukthankar Memorial Edition, Vol II (1945), PP, 386-399 पर पुनर्मुद्रित ।

28 Sample Bibliography R. Pischel Grammatik der Prakrit Sprachen (Grundriss der Indo-Arischen Philologie and Altertumskunde I 8 Strassburg 1900), Corpus Inscriptionum Indicarum Vol I E. Hultzsch Inscriptions of Asoka (Oxford, 2nd Ed 1925) Vol II Part I Stern Konow Kharoshthi Inscriptions (Oxford 1929) Franklin Edgerton 'Buddhist Hybrid Sanskrit Grammar and Dictionary' 2 Vols (New Haven, Conn 1953)

29 Jules Bloc L. Indo-Aryan du Ved aux temps modernes, (Paris 1934) Id. La formation de la langue marathe (Bibliothèque I 'Ecole des hautes études' p 215 Paris 1915) Sunil Kumar Chatterji The origin and Development of the Bengali Language, (Calcutta, 1926) (Sir) Ralph L. Turner A Comparative and Etymological Dictionary of the Nepali Language (London, 1931)

30 11 Vols in 20 Parts (Calcutta 1903-28)

31 'Linguistic Prehistory of India' PAPS, Vol XC VII (1954) PP 282-92

३२ साहित्यिक भाषाभाषा के जो व्याकरण लिखे गए हैं, उनमें निम्नलिखित को प्राधुनिक दृष्टि से उल्लेखनीय समझा जा सकता है ।

—Sir Denys Bray The Brahui Language (Calcutta, 1909, Delhi 1934) —A. Grignard, A Grammar of the Oraon Language, (Calcutta 1924) —W. W. Winfield A Grammar of the Kui language (Bibliotheca Indica No 245 Calcutta 1928) —M. B. Emeneau Kolami, A Dravidian Language (University of California publications in Linguistics Vol 12 Berkeley 1955)

33 Publications du Musée Guimet Bibliothèque de études 56, Paris, 1946

३४ पाद टिप्पणी २१ में उल्लिखित लेख द्रष्टव्य है ।

35 Manfred Mayrhofer, Kurzgefasstes etymologisches Wörterbuch des Altindischen (Indogermanische Bibliothek, herausg. v. Hans Krahe Heidelberg 1953), C. C. Uhlenback, Kurzgefasstes etymologisches worterbuch der altindischen sprache (Amsterdam, 1898/9)

36 T. Burrow and S. Bhattacharya, The Parji Language



(Hertford Stephen Austin 1953) P 1९ में चर्चा की, जहाँ यह कहा जाया है कि उद्देश्य है।

३७. यह सिद्धांत ३१ में उल्लिखित है।

३८. यद्यपि बुरुशान्की भाषा को हिंदी या अन्य के साथ जोड़कर के प्रयोग में लाया गया है कि भी विद्वानों ने बुरुशान्की में उसके अलग विवेक किया है D I R Lorimer The Burashanki Language 3 Vols Oslo 1935 8 )

